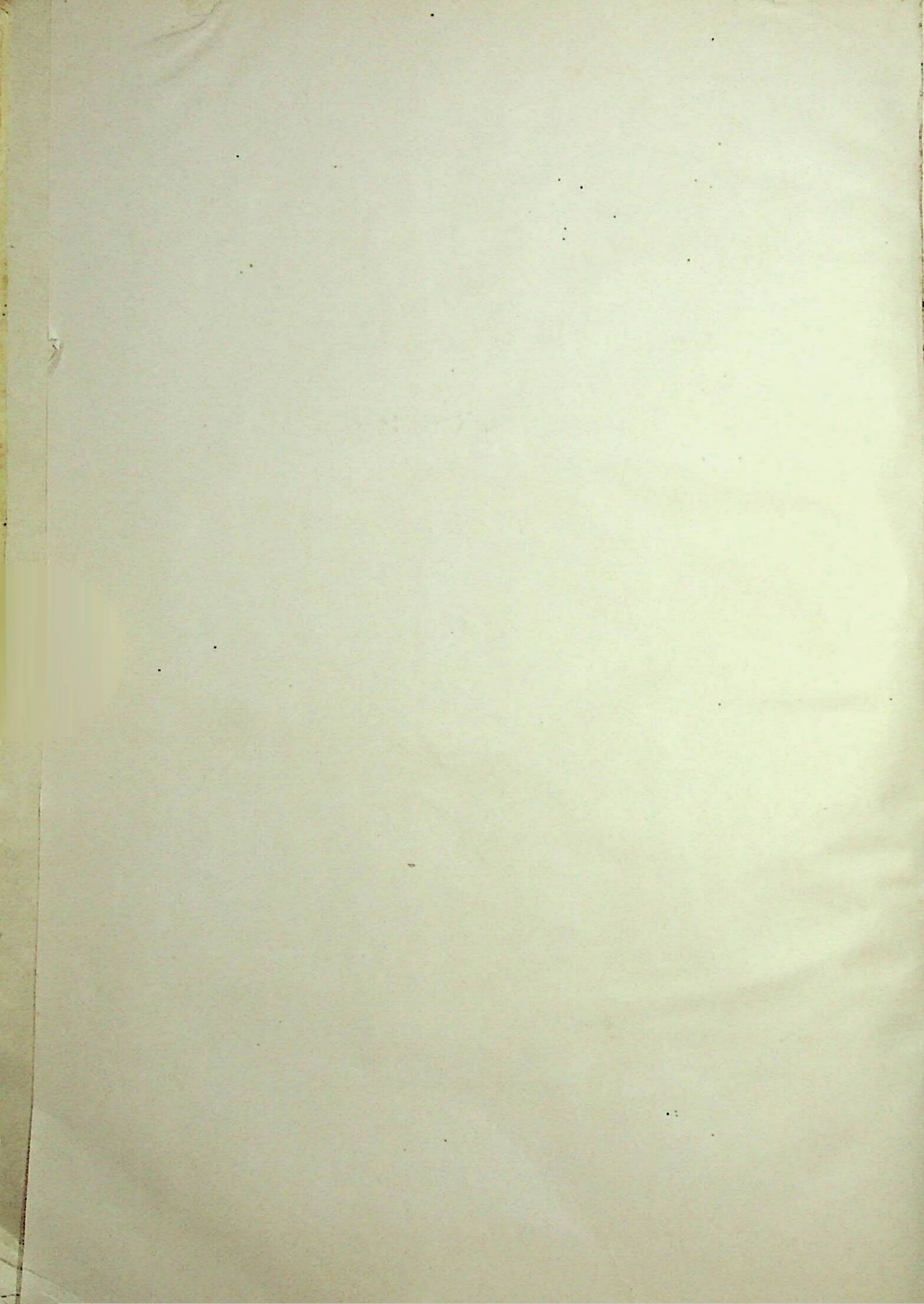
मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

[चतुर्थो भागः]

युधिष्ठिरो मीमांसकः





आचार्य-शबरस्वामि-विरचितम्

जैमिनीय-मीमांसा-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

[चतुर्थपञ्चमाध्यायात्मकश्चतुर्थोभागः]

व्याख्याकारः—युधिष्ठिरो मीमांसकः

प्रकाशकः—
युधिष्ठिर मीमांसक
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)
पिन १३१०२१

प्राप्ति स्थान—
रामलाल कपूर ट्रस्ट,
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्रथम संस्करण
संवत् २०४१, सन् १९८४
मूल्य—४०-००

मुद्रकः—
शान्तिस्वरूप कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

चतुर्थ-भाग की भूमिका

महर्षि जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा के शावर-भाष्य की आर्षमत-विमर्शिनी हिन्दी-व्याख्या का लेखन मैंने संवत् २०३३ (सन् १९७६) में आरम्भ किया था। इसका प्रथम भाग सं० २०३४ (सन् १९७७) में प्रकाशित हुआ द्वितीय भाग सं० २०३५ के उत्तरार्ध (सन् १९७८ के अन्त) में प्रकाशित किया। इसी वर्ष द्वितीय भाग के प्रकाशित होने से पूर्व कार्त्तिक (अक्टूबर) मास में अत्यधिक रुग्ण हो गया। वह रुग्णता अभी तक न केवल चल ही रही है अपितु दिन प्रतिदिन स्वास्थ्य गिरता जा रहा है। इसी अन्तराल में दो वर्ष पश्चात् तृतीयाध्याय तक का तृतीय भाग सं० २०३७ (सन् १९८०) में प्रकाशित हुआ। इस के अनन्तर लगभग तीन वर्ष का समय श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन के तृतीय संस्करण (चार भाग) सम्पादन और मुद्रण में लग गये। यह कार्य भी मेरे लिये अत्यावश्यक था। इस कार्य को भी मेरे अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति नहीं कर सकता था, क्यों कि इस कार्य की जितनी जानकारी मुझे थी अन्य को नहीं थी और न कोई अन्य व्यक्ति इस कार्य की महत्ता को ही समझता था।

शारीरिक निर्बलता के कारण दो कार्य एक साथ करने में असमर्थ था। अत: मीमांसाभाष्य के चतुर्थ भाग का लेखन और मुद्रण गत वर्ष सं० २०४० के उत्तरार्ध (सन् १९८३ के अन्त) में आरम्भ हुआ और किसी प्रकार अब प्रकाशित हो रहा है। इस भाग में मीमांसा के चतुर्थ पञ्चम अध्याय के भाष्य की व्याख्या है। अब शरीर की निर्बलता बहुत बढ़ चुकी है। फिर भी यथाशक्ति इस कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प है। प्रयास करूंगा कि षष्ठाध्याय, जिस में आठ पाद हैं, (आकार में चतुर्थ-पञ्चम अध्याय के बराबर) की व्याख्या अगले वर्ष प्रकाशित हो जाये।

पूर्वमीमांसा में संकर्ष काण्ड सहित १६ अध्याय हैं। इन में तृतीय, षष्ठ और दशम में आठ-आठ पाद होने से ये तीन अध्याय अन्य ६ अध्यायों के बराबर है। इस प्रकार अभी पांच अध्याय ही प्रकाशित हुए हैं। यह महान् कार्य मेरे जीवन में पूरा होगा इस की कल्पना कार्य आरम्भ करते समय भी नहीं थी और अब तो असम्भव ही है। मैं किसी भी गुरुत्तत कार्य को आरम्भ करने से पूर्व श्रीमद्भगवद्गीता के निम्न वचन को सर्वदा ध्यान में रखता हूं। भगवान् श्री कृष्ण जी ने कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२।४०॥

इस वचन के अनुसार जितना भी कोई ऐसा कार्य, जिस से कुछ भी मात्रा में ऋषि-ऋण से उऋण होने में सहायता मिले मैं अपना अहोभाग्य समझता हूं । जितना भी कार्य इस अतिदुरूह शास्त्र पर गुरुजनों की कृपा और आशीर्वाद से कर सकूंगा, अगले लेखकों के लिये मार्ग-दर्शक तो बनेगा ही, इसी से मुझे आत्म संतोष प्राप्त होता है ।

विशेष धन्यवाद—करनाल निवासी माननीय श्री चौधरी प्रतापसिंह जी ने पूर्व प्रकाशित भागों के तुल्य इस भाग के प्रकाशन में भी १००० (एक सहस्र) रुपये की सहायता दी । इस के अतिरिक्त भी आप यथाशक्ति समय-समय पर विविध प्रकार से सहायता करते रहते हैं । इस चिरकालीन अनवच्छिन्न सहयोग के लिये मैं आप का अत्यन्त कृतज्ञ हूं ।

भाद्र पूर्णिमा
सं० २०४१

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

मुद्रण-पत्र संशोधन—मैं अस्वस्थता के कारण इस भाग के प्रूफ भी भली प्रकार नहीं देख पाया । इस जटिल कार्य को श्री ओङ्कार जी ने बड़ी तन्मयता से किया । इस के लिये मैं उन के लिये शुभकामना करता हूं ।

मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या के

चतुर्थ-पञ्चम अध्यायों की अधिकरण-सूची

चतुर्थाऽध्याये प्रथमः पादः

चतुर्थाऽध्याये द्वितीयः पादः

चतुर्थाऽध्याये तृतीयः पादः

चतुर्थाऽध्याये चतुर्थः पादः

पञ्चमेऽध्याये प्रथम पादः

पञ्चमेऽध्याये द्वितीयः पादः

पञ्चमेऽध्याये तृतीयः पादः

पञ्चमेऽध्याये चतुर्थः पादः

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

[हिन्दी-व्याख्या-सहितम्]

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

[हिन्दी-व्याख्या-सहितम्]

चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः

[अथ प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥ १ ॥]

अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ॥१॥ (प्र० सू०)

तृतीयेऽध्याये श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानैः शेषविनियोगलक्षण-मुक्तम्[1]। इहेदानीं क्रत्वर्थपुरुषार्थौ जिज्ञास्येते। कः क्रत्वर्थः, कः पुरुषार्थ इति ? याऽपि प्रयोजकाप्रयोजकफलविध्यर्थवादाङ्गप्रधानचिन्ता, साऽपि क्रत्वर्थपुरुषार्थ-जिज्ञासैव। कथम् ? अङ्गं क्रत्वर्थः, प्रधानं पुरुषार्थः; फलविधिः पुरुषार्थः, अर्थवादः

अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ॥ १ ॥

सूत्रार्थः—(अथ) पूर्व अध्याय में श्रुति लिङ्ग आदि के द्वारा शेष विनियोगलक्षण के विधान के अनन्तर, (अतः) यतः शेष विनियोगलक्षण कह चुके अतः उन में (क्रत्वर्थ-पुरुषार्थयोः) कौन क्रतु=यज्ञ के लिये है और कौन पुरुष के लिये, इनकी (जिज्ञासा) जानने की इच्छा करनी चाहिये।

व्याख्या—तीसरे अध्याय में श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्यानों के द्वारा शेष विनियोगलक्षण (=स्वरूप) कह चुके[1]। यहां अब क्रत्वर्थ (=क्रतु के लिये है) और पुरुषार्थ (=पुरुष के लिये है इन) की जानने की इच्छा की जाती है—कौन क्रत्वर्थ है और कौन पुरुषार्थ है ? और जो भी प्रयोजक (=कर्म करने के लिये प्रेरक), अप्रयोजक (=अप्रेरक), फलविधि, अर्थवाद तथा अङ्ग और प्रधान की चिन्ता (=चिन्तन=विचार) है, वह भी क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ की ही जिज्ञासा है। कैसे ? अङ्ग क्रतु के लिये है

---

१. द्र०—मीमांसा ३।४।१—१३॥।

क्रत्वर्थः; प्रयोजकः कश्चित् पुरुषार्थोऽप्रयोजकः क्रत्वर्थः। तस्मात् क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासेति सूत्रितम्। तत्र **अथातः** शब्दौ प्रथम एवाध्याये प्रथमसूत्रे[1] वर्णितौ। अथेति पूर्वप्रकृतं शेषविनियोगलक्षणमपेक्षते। अत इति क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासाविशेषं प्रकुरुते। क्रतवे यः स क्रत्वर्थः। पुरुषाय यः स पुरुषार्थः। जिज्ञासाशब्दोऽपि तत्रैव[2] समधिगतः—ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेति। तदेतत् प्रतिज्ञासूत्रम्—**क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा** इति ॥१॥ **प्रतिज्ञाधिकरणम्** ॥१॥

और प्रधान पुरुष के लिये। फल की विधि पुरुष के लिये है और अर्थवाद क्रतु के लिये है। कोई प्रयोजक पुरुषार्थ है और अप्रयोजक क्रत्वर्थ है। इसलिये क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा **ऐसा सूत्र पढ़ा है। इस सूत्र के 'अथ' और 'अतः' शब्द** प्रथमाध्याय के प्रथम सूत्र में व्याख्यात **किये जा चुके हैं[1]। इसलिये यहां 'अथ' शब्द प्रकृत** शेष और विनियोग के लक्षण की अपेक्षा **रखता है। 'अतः' यह क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ की जिज्ञासा** विशेष को आरम्भ करता है। क्रतु के **लिये जो है वह क्रत्वर्थ कहा जाता है और पुरुष के लिये जो है वह पुरुषार्थ कहाता है। 'जिज्ञासा' शब्द भी वहीं जाना गया है—'जानने की इच्छा जिज्ञासा कहाती है'। इस प्रकार यह प्रतिज्ञाविषयक सूत्र है—'क्रतु के लिये क्या है और पुरुषार्थ के लिये क्या है? यह जानने की इच्छा करनी चाहिये'।**

विवरण—शेषविनियोगलक्षणम्—शेष शब्द यहां अप्रधान का वाचक है। मन्त्र याग के प्रति गुणभूत हैं, याग प्रधान है। अतः वह शेषी है। श्रुति लिङ्ग आदि प्रमाणों के द्वारा मन्त्र आदि के विनियोग का स्वरूप तृतीय अध्याय में कह चुके हैं। शेष का कथन करने से शेषी का ज्ञान स्वतः हो जाता है। **प्रयोजकाप्रयोजकचिन्ता—तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्** इस वचन का अर्थ है—'गरम = उबलते हुए दूध में दही डाला जाता है। दही डालने से दूध का जो घनाभाग एकत्रित होता है, वह आमिक्षा (=पनीर) कहाती है, और जो जलीय अंश पृथक् होता है वह वाजिन कहाता है।' यद्यपि यहां दधिप्रक्षेप शेषभूत है और उस से निष्पन्न आमिक्षा तथा वाजिन दोनों शेषी हैं, तथापि यहां आमिक्षा ही दधिप्रक्षेप की प्रयोजिका है। क्योंकि विना दधि के प्रक्षेप के आमिक्षा नहीं बनती। घनीभूत पदार्थ के पृथक् होने से वाजिन की उत्पत्ति स्वतः होती है, अतः वह दध्यानयन का प्रयोजक नहीं होता है (द्र० कुतुहलवृत्ति, यही सूत्र)। **फलविधि-अर्थवादचिन्ता** अनेक वाक्यों में सन्देह होता है कि यह फल की विधि है, अथवा अर्थवाद है। जैसे **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति** (तै० सं ३।५।७)—जिस की पलाश के वृक्ष की जुहू होती है, वह बुरा वचन नहीं सुनता। यहां **न स पापं श्लोकं शृणोति** यह पालाशी जुहू की फल विधायिका श्रुति है अथवा अर्थवाद है, यह सन्देह होता है (द्र० अ० ४, पाद ३, अधि० १)।

---

१. 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मी० १।१।१) इति सूत्रभाष्ये।

२. द्र०—भाग १, पृष्ठ ४—८।

[अथ क्रत्वर्थपुरुषार्थलक्षणाधिकरणम् ॥२॥]

अथ किंलक्षणः क्रत्वर्थः, किंलक्षणः पुरुषार्थ इति लक्षणं वाच्यम् । तथा हि लघीयसी प्रतिपत्तिः, पृष्ठाकोटेनोपदेशे गरीयसी । तदुच्यते—

कस्मिन प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात् ॥२॥ (उ०)

अङ्ग प्रधान चिन्ता—दर्शपूर्णमास आदि में विहित कर्मों में कौन अङ्ग कर्म है और कौन प्रधान कर्म हैं ? इस का विचार । अङ्गं क्रत्वर्थः, प्रधानं पुरुषार्थः- यथा दर्शपूर्णमास में पुरोडाश की निष्पत्ति यज्ञ की सिद्धि के लिये है । उस की आहुति से यज्ञ निष्पन्न होता है, अतः पुरोडाश-निष्पादन अङ्ग कर्म है और दर्शपूर्णमास प्रधान है। प्रधान कर्म पुरुष के लिये होता है । दर्शपूर्ण-मासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत आदि वचनों से विहित कर्म स्वर्ग की कामनावाले पुरुष के लिये विहित होने से वह पुरुषार्थ है ॥१॥

व्याख्या—क्रत्वर्थ किस लक्षणवाला है तथा पुरुषार्थ किस लक्षणवाला है ? [अर्थात् क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ का क्या लक्षण है ?] इसलिये इनका लक्षण कहना चाहिये । ऐसा करने (=लक्षण कहने) से ही प्रतिपत्ति लघीयसी होती है। [अर्थात् ज्ञान सरलता से होता है] । पृष्ठाकोट (=पीठ टेढी करके एक-एक पदार्थ गिनने) से उपदेश में प्रतिपत्ति गरीयसी होती है [अर्थात् एक-एक का निर्देश करके उपदेश करने में गुरुता=कठिनाई होती है] । इसलिये लक्षण कहते हैं—

विवरण—पृष्ठाकोटेन—इस शब्द का व्यवहार भाष्यकार ने २।१।३२ के भाष्य में भी किया है—न शक्यं पृष्ठाकोटेन तत्र तत्रोपदेष्टुम् । वहां (भाग २, पृष्ठ ४१० में) हमने जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह तात्पर्यमात्र है । इस शब्द का अर्थ भट्ट कुमारिल ने तन्त्र-वार्तिक २।१।३२ में इस प्रकार दर्शाया है—'पृथिवी पर स्थित प्रत्येक द्रव्य के निरीक्षण में पुनः पुनः पीठ टेढ़ी की जाती है=झुकाई जाती है' । पृष्ठ=पीठ, कोट=कुट कौटिल्ये धातु, घञ् प्रत्यय । 'पृष्ठाकोट' एक न्याय है । इस का तात्पर्य है—'पृथिवी पर स्थित पदार्थ देखने के लिये वार-बार पीठ झुकाने के समान प्रत्येक पदार्थ का निर्देश करके उपदेश करना' । इसे ही महाभाष्य अ० १, पा० १, के प्रथम आह्निक में प्रतिपदपाठ के रूप में उपस्थित किया है—अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः ।

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(यस्मिन्) जिस में (पुरुषस्य) पुरुष की प्रीति होती है, वह पुरुषार्थ=पुरुष के लिये होता है । क्योंकि (तस्य) उस पदार्थ की (लिप्सा) चाहना (अर्थलक्षणा) प्रयोजन लक्षणा अर्थात् प्रयोजनवश होती है (अविभक्तत्वात्) पुरुषार्थ के प्रीति से अविभक्त=संयुक्त होने से ।

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य, यस्मिन् कृते पदार्थे पुरुषस्य प्रीतिर्भवति स पुरुषार्थः पदार्थः। कुतः ? तस्य लिप्साऽर्थलक्षणा। तस्य लिप्साऽर्थेनैव भवति, न शास्त्रेण। क्रत्वर्थो हि शास्त्रादवगम्यते, नान्यथा । अविभक्तो हि पुरुषार्थः प्रीत्या। यो यः प्रीतिसाधनः स पुरुषार्थः। पुरुषार्थे लक्षिते तद्विपरीतः क्रत्वर्थ इति क्रत्वर्थस्य लक्षणं सिद्धम् ॥२॥ इति प्रथमवर्णकम् ॥१॥

[द्वितीयवर्णकम्]

एवं वा सूत्रं वर्ण्यते—

दर्शपूर्णमासयोराम्नायते—अनतिदृश्यं स्तृणाति अनतिदृश्यमेवैनं प्रजया पशुभिः करोति[1] इति। तथा, आहार्यपुरीषां पशुकामस्य वेदिं कुर्यात्[2], वत्सजानुं

विशेष—इस सूत्र का तात्पर्य है—जो प्रीति का साधन है, वह पुरुषार्थ है और उस से विपरीत अर्थात् जो प्रीतिसाधन न होवे वह क्रत्वर्थ होता है।

व्याख्या—जिस में पुरुष की प्रीति होती हैं, जिस पदार्थ के करने में पुरुष की प्रीति होती है वह पदार्थ पुरुष के लिये होता है। किस हेतु से ? उसकी चाहना प्रयोजन वश होती है, शास्त्र [के निर्देश] से नहीं होती है। क्रत्वर्थ पदार्थ शास्त्र से ही जाना जाता है, अन्य प्रकार से नहीं जाना जाता। प्रीति के साथ पुरुषार्थ अविभक्त (=संयुक्त) है। जो-जो [पदार्थ] प्रीति का साधन है, वह पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के लक्षित होने पर उस से विपरीत क्रत्वर्थ होता है। इस प्रकार क्रत्वर्थ का लक्षण सिद्ध होता है । [इति प्रथमवर्णकम्]

[द्वितीयवर्णकम्]

अथवा इस प्रकार सूत्र वर्णित (=व्याख्यात) किया जाता है—

दर्शपूर्णमास में पढ़ा है—अनतिदृश्यं स्तृणाति। अनतिदृश्यमेवैनं प्रजया पशुभिः करोति (=वेदि में बर्हि का आच्छादन अनतिदृश्य=जिस में भूमि का भाग दिखाई न पड़े, ऐसा घना करता है। वह यजमान को भी प्रजा और पशुओं से अनतिदृश्य करता है अर्थात् यजमान भी प्रजा और पशुओं से भले प्रकार आच्छादित होता है)। तथा आहार्यपुरीषां पशुकामस्य वेदिं कुर्यात् (=अन्य स्थान से लाई गई मिट्टीवाली[3] वेदि पशुकामना वाले की

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तु० कार्या—अनतिदृश्नं स्तृणाति प्रजयैवैनं पशुभिरनतिदृश्नं करोति । तै० स० २।६।५।२॥ अनतिदृश्नम्=अनतिविरलं घनीभूतमित्यर्थः; । दृशधातोरौणादिको नक् प्रत्ययः ।

२. अनुपलब्धमूलम्। तु० कार्या—आहार्यपुरीषां पशुकामस्य कुर्यात्। आप० श्रौत २।३।४॥

३. आहार्यं पुरीषं देशान्तराद् यस्याः सा तथोक्ता इति रुद्रदत्तः । आप० श्रौत० टीका २।३।४॥

पशुकामस्य वेदं कुर्यात्', गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' इत्येवमादीनि। तत्र संशयः—किमेवंजातीयकाः क्रत्वर्था उत पुरुषार्था इति? किं प्राप्तम्? क्रत्वर्था इति। कुतः? प्रत्यक्ष उपकाररतेभ्यो दृश्यते क्रतोः, पुरीषहरणं वेदिस्तरणं च[3]। तदुक्तम्—द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः[4] इति। तस्मात् क्रत्वर्था इत्येवं प्राप्तम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य········ऽविभक्तत्वात् ॥ २ ॥

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य स पुरुषार्थ एवेति। प्रीतिरतेभ्यो निर्वर्तते। तस्मादेते पुरुषार्था इति। ननु प्रत्यक्ष उपकारः क्रतोर्दृश्यत इत्युक्तम्। उच्यते। सत्यं दृश्यते,

---

करे=अर्थात् पशुकामना वाले यजमान की वेदि शुष्क तालाब आदि से लाई हुई मिट्टी से बनावे), वत्सजानु पशुकामस्य वेदं कुर्यात् (=पशु की कामनावाले यजमान का वेद बैठे हुऐ बछड़े की जानु=घुटने के समान बनावे[5]), गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत् (=जिस पात्र में गौएं दुही जाती हैं, उससे पशुकामनावाले यजमान के अपः का प्रणयन करे) इत्यादि। इन में सन्देह होता है—क्या इस प्रकार के पदार्थ क्रत्वर्थ हैं अथवा पुरुषार्थ? क्या प्राप्त होता है? क्रत्वर्थ हैं। किस हेतु से? इन से क्रतु का प्रत्यक्ष उपकार देखा जाता है-[जो] पुरीषहरण (=मिट्टी लाना) और वेदि का आच्छादन [कहा है उस से]। जैसा कि कहा है—द्रव्यगुण-संस्कारेषु वादरिः[6] (=द्रव्य गुण और संस्कारों में बादरि आचार्य शेषत्व=परार्थत्व मानते हैं)। इसलिये ये [पुरीष आहरण आदि] क्रत्वर्थ हैं. ऐसा प्राप्त होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य·····ऽविभक्तत्वात् ॥२॥

व्याख्या—जिस में पुरुष की प्रीति होती हैं वह पुरुषार्थ ही होता है। उन [पुरीष आहरण आदि] से प्रीति (=पशु आदि की कामना) सम्पन्न होती है। इस लिये ये पुरुषार्थ हैं। (आक्षेप) अभी कहा है-क्रतु का प्रत्यक्ष उपकार (वेदि-सिद्धि आदि) देखा जाता है। (समाधान) सत्य ही [क्रतु का उपकार] देखा जाता है, परन्तु क्रतु के उपकार के लिये कहा

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—कुशमुष्टि सव्यावृत्तं वत्सजानु त्रिवृतं मूतकार्षी वा। पशु-ब्रह्मवर्चसान्नाद्यकामा यथासंख्यम्। कात्या० श्रौत १।३।२३, २४॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—प्रणयेद्·········गोदोहनेन पशुकामस्य। आप० श्रौत १।१६।२॥

३. 'यदुक्तं तेभ्यः' इति शेषः। ४. मी० ३।१।३॥

५. द्र०—कात्या० श्रौत १।३।२३ टीका।

६. मी० ३।१।३॥

न तु क्रतोरुपकाराय संकीर्त्यते। तेभ्यो यतः फलं श्रूयते[1]। न च य उपकरोति स शेषः। यस्तु यदर्थः श्रूयते स तस्य शेष इत्युक्तम्—शेषः परार्थत्वाद्[2] इति ॥२॥

[तृतीयवर्णकम्]

एवं वा—

द्रव्यार्जनमुदाहरणम्। इह द्रव्यार्जनं तैस्तैर्नियमैः श्रूयते—ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादिना, राजन्यस्य जयादिना, वैश्यस्य कृष्यादिना। तत्र संदेहः—किं क्रत्वर्थो द्रव्यपरिग्रह उत पुरुषार्थ इति? किं प्राप्तम्? क्रत्वर्थो नियमात्। यद्येष पुरुषार्थः स्यान्नियमोऽनर्थको भवेत्। प्रत्यक्षेणैतदवगम्यते, नियमादनियमाच्चार्जितं द्रव्यं पुरुषं प्रीणयतीति। तस्मात् क्रत्वर्थः। कामश्रुतिभिश्चास्य सहैकवाक्यता दृष्टा। इतरथाऽनुमेयेन फलवाक्येन सहैकवाक्यतां यायात्।

नहीं गया है। जिस कारण उन (पुरीषाऽऽहरण आदि) से [पशु-प्राप्ति आदि] फल सुना जाता है [इसलिये वह पुरुष का उपकारक होता है।] और जो [क्रतु का] उपकारक होता है इस से ही वह क्रतु का शेष नहीं होता। क्योंकि जो जिस के लिये सुना जाता है, वह उसका शेष होता है—शेषः परार्थत्वात् (=पर के लिये होने से शेष होता है)। [इति द्वितीय वर्णकम्]

[तृतीयवर्णकम्]

अथवा इस प्रकार [सूत्र वर्णित किया जाता है]—

द्रव्य (=धन) का अर्जन (=प्राप्त करना) उदाहरण है। यहां [शास्त्र में] द्रव्य की प्राप्ति उन-उन नियमों से सुनी जाती है—ब्राह्मण का प्रतिग्रह (=दान ग्रहण करना) आदि से, क्षत्रिय का जय आदि से, और वैश्य का कृषि आदि से। उस (=द्रव्यार्जन) में सन्देह होता है—क्या द्रव्य का परिग्रह (=ग्रहण करना) क्रतु के लिये है अथवा पुरुषार्थ है? क्या प्राप्त होता है? नियम [का विधान] होने से क्रतु के लिये द्रव्य परिग्रह है। यदि यह (=द्रव्य परिग्रह) पुरुषार्थ होवे तो नियम अनर्थक होवे। यह प्रत्यक्ष रूप से ही जाना जाता है कि नियम से अथवा अनियम से उपार्जित द्रव्य पुरुष को तृप्त (=प्रसन्न) करता है। इसलिये [नियम से श्रुत द्रव्य का प्रतिग्रह] क्रत्वर्थ है। और कामश्रुतियों के साथ इस (=द्रव्यार्जन) की एक वाक्यता देखी जाती है। अन्यथा अनुमेय फलविधायक वाक्य के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होवे।

---

१. 'संकीर्त्यते……श्रूयते' इत्याचार्यपादैः पाठितः पाठः। अत्र 'श्रूयते' इत्यस्मादग्रे 'ततः क्रतोरुपकारो दृश्यते' इति शेषो ज्ञेयः। पूनासंस्करणे तु—'यत एभ्यः **संकीर्तितेभ्यः फलेभ्य एते श्रूयन्ते**' इति पाठो दृश्यते। अस्यायं भावः—'यत एभ्यो वाक्येभ्यः संकीर्तितेभ्यः फलेभ्यः पशुकामादिभ्यः एते आहार्यपुरीषादयः श्रूयन्ते'।

२. मी० ३।१।३॥

लिङ्गं चापि भवति—अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् यस्याऽऽहिताग्नेः सतोऽग्निर्गृहान् दहेत्[1], यस्य हिरण्यं नश्येदाग्नेयादीनि निर्वपेद्[2] इत्येवमादि। तद्धि द्रव्योपघाते चोद्यते। यदि द्रव्यपरिग्रहः कर्मार्थस्तत एतदपि सति संबन्धे कर्मार्थमित्युच्यते। इतरथाऽसति संबन्धे कर्मार्थमित्यनुमीयते। फलं चास्य कल्प्येत। तस्माद् यजतिश्रुतिगृहीतं द्रव्यार्जनम्। येन विना यागो न निर्वर्तते, स यागस्य श्रुत्या परिगृहीत इति गम्यते। तस्मात् क्रत्वर्थ इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

लिङ्ग भी होता है—अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् यस्याऽऽहिताग्नेः सतोऽग्निर्गृहान् दहेत् (=क्षामवान् अग्नि के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे जिसके आहिताग्नि होते हुए अग्नि गृहों को जला देवे)। यस्य हिरण्यं नश्येद् आग्नेयादीनि निर्वपेत् (=जिसका हिरण्य नष्ट हो जावे वह आग्नेय आदि याग करे) इत्यादि। वह (=आग्नेयादि याग) द्रव्य के नाश होने पर कहा गया है। यदि द्रव्य का ग्रहण कर्म के लिये है तब तो यह (द्रव्य) भी उस के साथ संबन्ध रखने पर कर्मार्थ है, ऐसा कहा जायगा। अन्यथा कर्म के साथ संबन्ध न रखने पर 'यह कर्म के लिये है' ऐसा अनुमान किया जायगा और इस के फल की भी कल्पना करनी होगी। इसलिये 'यजति' श्रुति से परिगृहीत द्रव्यार्जन है। जिस के विना याग उपपन्न नहीं होता है, वह याग की श्रुति (श्रवण) से परिगृहीत है, ऐसा जाना जाता है। इसलिये द्रव्यार्जन क्रत्वर्थ है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—कामश्रुतिभिश्चास्य—काम्यकर्मों में द्रव्यहीन का अधिकार नहीं है, ऐसा षष्ठाध्याय (६।१।३९) में कहेंगे। अतः कामश्रुतियों के साथ इस द्रव्यार्जन नियम की एक वाक्यता होगी—**प्रतिग्रहादिना द्रव्यमर्जयित्वा स्वर्गादिकामो दर्शपूर्णमासादिना यजेत**=स्वर्ग की कामनावाला प्रतिग्रह आदि से द्रव्य प्राप्त करके दर्शपूर्णमास आदि से यजन करे। **इतरथाऽनुमेयेन फलवाक्येन**—इस का भाव यह है—द्रव्यार्जन का नियम पुरुष के लिये होने पर उस [नियम] के फल की कल्पना करनी होगी। द्रव्य प्राप्ति ही फल होवे, ऐसा यदि कहते हो तो युक्त नहीं, द्रव्य प्राप्ति के नान्तरीयक (=अवश्यंभावी) होने से। इसलिये जैसे **विश्वजिता यजेत** में फल के श्रुत न होने से विश्वजित् याग के फल की कल्पना करके उस के साथ **विश्वजिता यजेत** की एक वाक्यता होती है, उसी प्रकार द्रव्यार्जन नियम को पुरुषार्थ मानने पर द्रव्यार्जन-नियम अनुमेय फलवाक्य के साथ एक वाक्यता को प्राप्त होगा—'इस प्रकार प्रतिग्रहादि नियम से किये गये द्रव्यार्जन से स्वर्गादि फल को सिद्ध करे'।

लिङ्गं च भवति—गृह के जलने और हिरण्य के नाश होने पर यागों का विधान भी यही दर्शाता है कि द्रव्य का परिग्रह कर्मार्थ है। यदि द्रव्य का परिग्रह पुरुषार्थ होवे तो उस के नाश होने

---

१. मैं० सं० १।८।६॥

२. अर्थतोऽयमनुवादः—द्र०—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् सावित्रं चरुं वायव्यां यवागूं प्रतिधुग्वा भौमनेककपालं यस्य हिरण्यं नश्येत्। मैं० सं० २।२।७॥

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य..........ऽविभक्तत्वात् ॥२॥

पुरुषार्थ इति । यस्मिन् कृते पदार्थे प्रीतिः पुरुषस्य भवति, तस्मादस्य लिप्साऽर्थलक्षणा शरीरधारणार्था । यस्य शरीरं ध्रियते, व्यक्तं तस्यास्ति द्रव्यम् । शरीरिणश्च यागः श्रूयते । तस्माद् विद्यमानद्रव्यस्य विनियोग उच्यते, न द्रव्यार्जनं श्रुतिगृहीतं[1], विनाऽपि हि द्रव्यार्जनवचनत्वेन शब्दस्य यागो निर्वर्तत एव । तस्मात् पुरुषार्थो द्रव्यपरिग्रहः । अपि च, यदि शास्त्रात् कर्मार्थं द्रव्यार्जनं, तन्नान्यत्र विनियुज्येत[2] तथाऽर्जितम् । तत्र सर्वतन्त्रपरिलोपः स्यात् । अपि च, उपक्रान्तानि सर्व-

---

पर कर्म का विधान न होवे । **अग्नये क्षामवते**—क्षाम=क्षेम(ताण्ड्य १।८।७ सा० भा०) तद्वान् अग्नि देवता के लिये । **यस्य हिरण्यं नश्येद् आग्नेयादीनि निर्वपेत्**—हिरण्य के नाश होने पर जिन आग्नेयादि के निर्वाप का यहां संकेत किया है, उस के लिये मै०सं० २।२।७ देखें—**आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्, सावित्रं चरुं, वायव्यां यवागूं प्रतिधुग्वा, भौममेकादशकपालं यस्य हिरण्यं नश्येत्** । यहां जिस के हिरण्य का नाश हो गया है उस के लिये आग्नेय अष्टाकपाल, सावित्र चरु, वायव्य यवागू अथवा प्रतिधुक् (दोहनपात्रस्थ दुग्ध—तै० सं० ३।३।६।२ सा० भा०), भौम (=भूमिदेवताक) एककपाल यागों का विधान किया है । **कर्मार्थमनुमीयते**—हिरण्य आदि के नाश होने पर क्रत्वर्थ द्रव्य के नाश होने से क्रतु का वैगुण्य होने पर क्षामवदादि क्रतुओं का प्रतिसमाधानार्थ उपदेश युक्त होता है, अन्यथा द्रव्यनाश होने पर क्रतु का वैगुण्य न होने से क्षामवदादि यागों के फलों की कल्पना करनी होगी (टुप्टीका) ।

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य......ऽविभक्तत्वात् ॥२॥

व्याख्या—**[द्रव्य का अर्जन] पुरुषार्थ है । जिस (=द्रव्यार्जन) के करने पर पदार्थ में पुरुष की प्रीति होती है । इसलिये इस (=द्रव्य) को प्राप्त करने की इच्छा शरीर के धारण के लिये प्रयोजनवती है । जिस का [इस द्रव्य से] शरीर धारण किया जाता है, स्पष्ट ही द्रव्य उसका है [अर्थात् उस जीवन धारण करनेवाले पुरुष के पास द्रव्य है, ऐसा जाना जाता है, क्योंकि द्रव्य के अभाव में शरीर का धारण नहीं हो सकता] । शरीरवाले का ही याग सुना जाता है । इसलिये विद्यमान (=जो याग के लिये अर्जित नहीं है उस) द्रव्य का [यागादि में] विनियोग कहा है, द्रव्यार्जन [यागविधायक] श्रुति से गृहीत (कथित वा प्रेरित) नहीं है । ['यजति' शब्द के] द्रव्यार्जन वाचक न होने पर भी यजति शब्द से याग तो निर्वर्तित(=सम्पन्न) हो ही जाता है । इसलिये द्रव्य का परिग्रह पुरुषार्थ है । और भी, यदि शास्त्र से द्रव्यार्जन कर्मार्थ होवे तो उस प्रकार से अर्जित द्रव्य [यागादि से] अन्यत्र [शरीरधारणादि में] विनियुक्त न होवे । उस अवस्था में [शरीर का धारण न होने पर] सारे तन्त्र (=यज्ञकर्म)**

---

१. कामश्रुतिगृहीतम् इति, श्रुतिगृहीतं क्रत्वर्थमिति च पाठान्तरे पूनासंस्करणे ।

२. 'विनियुज्येत तथा च सर्वतन्त्रलोपः स्यात्" इत्याचार्यवर्यैः प्रतिबोधितः पाठ. ।

कर्माणि द्रव्यार्जनेन भवेयुः। तत्रैतन्नोपपद्यते—**अप वा एष सुवर्गाल्लोकाच्छिद्यते, यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वाऽतिपातयेद्**[1] इति। एवं च सति, प्रयोगकालाद् बहिरेतदङ्गं सदनुपकारकं स्यात्। न चाऽऽधानवद् भवितुमर्हति। तत्र हि वचनम्—**वसन्तेऽग्निमादधीत**[2] इति, न चैतदङ्गम्।

का लोप हो जावे। और भी, [द्रव्यार्जन के क्रत्वङ्ग होने पर] द्रव्यार्जन से ही सब यज्ञकर्म आरम्भ हो जावें [क्योंकि अङ्ग कर्म के आरम्भ होने पर प्रधान कर्म=याग का आरम्भ भी हो ही जाता है]। उस अवस्था में यह [कथन] उपपन्न नहीं होगा—अप वा एष सुवर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां पौर्णमासीं वाऽतिपातयेत् (=वह निश्चिय ही स्वर्ग लोक से विच्छिन्न होता है, जो दर्शपूर्णमासयाजी होकर अमावास्या और पौर्णमासी का अतिपात करता है अर्थात् दर्श वा पूर्णमास इष्टि नहीं करता। इस प्रकार होने पर द्रव्यार्जन प्रयोगकाल से बाहर अङ्ग होता हुआ भी उपकारक नहीं होगा। और यह द्रव्यार्जन [अग्नि के] आधान के समान [प्रयोगकाल से बाहर होता हुआ उपकारक होवे, ऐसा] भी नहीं हो सकता, क्योंकि वहां (=आधान के विषय में) तो वचन है—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत (=वसन्त में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे)। और यह आधान किसी याग का अङ्ग भी नहीं है।

विवरण—पूना संस्करण में **न द्रव्यार्जनं कामश्रुतिगृहीतम्** ऐसा पाठ है। इस का भाव यह है कि पहले पूर्वपक्षी ने कहा था कि कामश्रुतियों के साथ द्रव्यार्जन की एकवाक्यता हो जायेगी। उस को लक्षित कर के कहा है—द्रव्यार्जन कामश्रुतियों से भी गृहीत नहीं है। **तदर्जितम्। तत्र सर्वतन्त्रलोपः स्यात्**—इस के स्थान में आचार्यवर ने अध्यापन काल में **तथा च सर्वतन्त्रलोपः स्यात्** इस प्रकार पाठ शुधवाया था। तदनुसार इस का भाव होगा—शास्त्र से द्रव्यार्जन कर्म के लिये होवे तो उस का शरीरधारण आदि कार्यों में उपयोग नहीं हो सकेगा। शरीरधारण में प्रयोग न होने से शरीर नहीं रहेगा। शरीर के न रहने पर सम्पूर्ण कर्म का लोप हो जायगा। अथवा इस का भाव इस प्रकार जानना चाहिये—क्रत्वर्थं द्रव्यार्जन स्वीकार करने पर सम्पूर्ण क्रतु का विघात होगा। क्योंकि देवतोद्देश्य से त्याग स्वद्रव्य का होता है। अर्जितद्रव्य क्रत्वर्थ है। अतः उस का यजमान त्याग नहीं कर सकता। **उपक्रान्तानि सर्वकर्माणि**—इस का भाव यह है कि द्रव्यार्जन को क्रतु का अङ्ग मानने पर द्रव्यार्जन समकाल ही सब याग कर्मों का आरम्भ हो जायगा, क्योंकि अङ्ग कर्म के आरम्भ से प्रधान कर्म का आरम्भ हो ही जाता है।

---

१. 'अव वा एष······वाऽतिपातयति' इति पाठान्तरेण तै० सं० २।२।५।४॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—वसन्ता ('वसन्ते' पाठा०) ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। तै० ब्रा० १।१।२।६॥

अथ यदुक्तम्—नियमवचनमनर्थकं, पुरुषार्थे द्रव्यपरिग्रहे सतीति । उच्यते, नैतावता पुरुषार्थता व्यावर्तते । प्रत्यक्षा हि सा । त्वया च परोक्षं युक्तिबुद्धया व्यपदिश्यते । न च परोक्षं प्रत्यक्षस्य बाधकं भवति । तस्मान्नियमवचनात् काममपरमदृष्टं कल्प्येत, न तु दृष्टहानम् । तस्माद् यत्पुरुषस्य प्रयोजनं प्रीतिः, तदर्थं धनस्यार्जनमिति । एवं च सति व्रीहिणा यागः कर्तव्यः, प्रीत्यर्थमर्जितेन वा क्रत्वर्थमर्जितेन वा, नात्र कश्चिद्विशेषः । प्रीत्यर्थमुपार्जितोऽपि व्रीहिर्व्रीहिरेव, कर्मार्थमुपार्जितोऽपि व्रीहिर्व्रीहिरेव, तस्मान्न प्रयोगचोदनागृहीतं द्रव्यार्जनम् ।

अथ यदुक्तम्—अनुमेयेनाप्रकृतेन वा शब्देन युष्मत्पक्षे नियमस्यैकवाक्यता, अस्मत्पक्षे तु दृष्टेन प्रयोगवचनेनेति । नैष दोषः । अस्मत्पक्षेऽपि दृष्टेन भुजिना, न फलवचनेन । कथं तर्हि नियमाददृष्टं भवतीति गम्यते ? यथैव भवदीये पक्षे । आह । अस्मत्पक्षे फलवतैकवाक्यभावात् फलवत उपकरोतीति गम्यते । उच्यते, अस्मत्पक्षेऽपि फलवतैवैकवाक्यभावः । एतावांस्तु विशेषः—तव श्रुतं फलं, मम तु दृष्टमिति ।

व्याख्या—और जो यह कहा है कि द्रव्य-परिग्रह के पुरुष के लिये होने पर [प्रतिग्रहादि से द्रव्यार्जन] नियम का वचन अनर्थक होगा । इस विषय में कहते हैं—इतना (=नियम के अनर्थक) मात्र होने से [द्रव्यपरिग्रह की] पुरुषार्थता निवृत्त नहीं होती । क्योंकि [द्रव्यपरिग्रह की पुरुषार्थता] प्रत्यक्ष है । और तुम्हारे द्वारा [द्रव्यपरिग्रह की कर्मार्थता] युक्तिरूप बुद्धि से परोक्ष रूप से कही जाती है । परोक्ष प्रत्यक्ष का बाधक नहीं होता । इसलिये [द्रव्यपरिग्रह के] नियमवचन से चाहे अन्य अदृष्ट की कल्पना की जाये, परन्तु दृष्ट [प्रयोजन] का त्याग नहीं हो सकता । इसलिये जो पुरुष का प्रयोजन प्रीति है उसके लिये धन का संग्रह होता है । ऐसा होने पर 'व्रीहि से याग करना चाहिये' प्रीति के लिये अर्जित व्रीहि से अथवा क्रत्वर्थ अर्जित व्रीहि से, इसमें कुछ भेद नहीं होता । प्रीत्यर्थ उपार्जित व्रीहि भी व्रीहि ही है और कर्मार्थ उपार्जित व्रीहि भी व्रीहि ही है । इस कारण प्रयोगवचन से द्रव्यार्जन गृहीत नहीं होता ।

और जो यह कहा कि तुम्हारे (=पुरुषार्थवादी के) पक्ष में अनुमेय अथवा अप्रकृत शब्द से [द्रव्यपरिग्रह] नियम की एकवाक्यता होगी और हमारे (=क्रत्वर्थवादी के) पक्ष में तो दृष्ट प्रयोगवचन से एकवाक्यता होती है । (समाधान) यह दोष नहीं है । हमारे पक्ष में भी दृष्ट 'भुजि' क्रिया के साथ [एकवाक्यता है] फलवचन के साथ नहीं है । तो फिर 'नियम से अदृष्ट होता है' यह कैसे जाना जाता है ? जैसे आप के पक्ष में । (आक्षेप) हमारे पक्ष में फलवाले वाक्य के साथ एकवाक्यता होने से फलयुक्त [यागादि] का उपकारक होता है, ऐसा जाना जाता है । (समाधान) हमारे पक्ष में भी फलयुक्त ['भुजि' क्रिया] के साथ ही एकवाक्यता है । इतना ही [दोनों पक्षों में] विशेष है—तुम्हारा फल [यागविधायक वाक्य में] श्रुत [स्वर्गादि] है और मेरा [क्षुधानिवृत्तिरूप] दृष्ट फल है ।

अथ यल्लिङ्गमुक्तम्—गृहदाहादिषु कर्म श्रूयत इति । तत्रोच्यते—यद्यपि न क्रत्वर्थं द्रव्यार्जनं, तथाऽपि दाहे निमित्ते फलाय वा कर्माङ्गभावाय वा क्षामवत्यादीनां विधानमुपपद्यत एव । तस्मात् पुरुषार्थं द्रव्यार्जनं, प्रीत्या हि तदविभक्तमिति ॥२॥ **इति तृतीयवर्णकम् । क्रत्वर्थपुरुषार्थलक्षणाधिकरणं वर्णकान्तरद्वयसहितम् ॥२॥**

—:०.—

[प्रजापतिव्रतानां पुरुषार्थताधिकरणम् ॥३॥]

इह प्रजापतिव्रतान्युदाहरणम्—**नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत नास्तं यन्तम्**[1] इत्यादीनि । तत्र संदेहः—किं क्रत्वर्थानि प्रजापतिव्रतान्युत पुरुषार्थानीति ? किं प्राप्तम् ? क्रत्वर्थानीति । कुतः ? एवं हि फलं न कल्पयितव्यं भविष्यतीति । ननु श्रूयत एवैतेषां फलम्- **एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति**[2] इति । उच्यते । नैतत्फलपरं वचनं, वर्तमानापदेश एवैष शब्द इति । तेन यत्राऽऽदित्य ईक्षितव्यः प्राप्तस्तत्रायं प्रतिषेधः । उद्यतोऽस्तं यतश्च नियमो वा स्यात् कश्चित् कर्माङ्गभूतः । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

और जो यह लिङ्ग कहा--गृह के जलने आदि पर याग कहा गया है । इस विषय में कहते हैं—यद्यपि द्रव्यार्जन क्रतु के लिये नहीं है, तथापि [गृह आदि के] दाह रूप निमित्त होने पर फल के लिये कर्म का विधान है अथवा अङ्गभाव के लिये, [दोनों पक्षों में] क्षामवती आदि इष्टियों का विधान उपपन्न होता ही है । इसलिये [पुरुष का] द्रव्यार्जन पुरुषार्थ है क्योंकि वह (=द्रव्यार्जन) प्रीति से अविभक्त (=संयुक्त) है । [इति तृतीयवर्णकम्] ॥२॥

—:०:—

व्याख्या--यहां प्रजापति व्रत उदाहरण हैं---नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत नास्तं यन्तम् **(=उदित होते हुए आदित्य को न देखे, अस्त होते हुए को न देखे) । इस में सन्देह है—क्या प्रजापति व्रत क्रत्वर्थ हैं अथवा पुरुषार्थ हैं । क्या प्राप्त होता है ? क्रत्वर्थ हैं । किस हेतु से ? इस प्रकार (=क्रत्वर्थ मानने पर) [प्रजापति व्रतों के] फल की कल्पना नहीं करनी होगी । (आक्षेप) इनका फल तो सुना ही जाता हैं—**एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति **(=इन से निश्चय ही पाप से युक्त नहीं होता है) । (समाधान) यह फलपरक (=फल को कहनेवाला) वचन नहीं है, यह (='भवति') शब्द वर्तमान को ही कहनेवाला है । इसलिये जहां [किसी कर्म में] आदित्य दर्शनीय (=आदित्य को देखना चाहिये, ऐसा) प्राप्त होता है, वहां यह [नोद्यन्तम् आदि] प्रतिषेध है । अथवा उदय होते हुए अथवा अस्त होते हुए [आदित्य के न देखने] का कोई कर्माङ्ग भूत नियम होवे । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विवरण—प्रजापतिव्रतानि—आगे कहे गये व्रत हमें 'प्रजापति-व्रत' अथवा प्राजापत्य-व्रत के नाम से किसी संहिता वा ब्राह्मण में उपलब्ध नहीं हुए । **नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत**

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०— मनु० ४।३७॥ २. अनुपलब्धमूलम् ।

नास्तं यन्तम्—यह वचन भी हमें संहिता ब्राह्मण वा श्रौतसूत्रों में उपलब्ध नहीं हुआ। भाट्ट-दीपिका आदि कतिपय मीमांसा-ग्रन्थों में इस वचन के स्थान में मनुस्मृति ४।३७ का **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन। नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्"** (=उदय होते हुए अस्त होते हुए, ग्रहण समयस्थ, जल में प्रतिबिम्बरूप और आकाश के मध्य में स्थित सूर्य को न देखे) वचन उद्घृत किया गया है। परन्तु मनुस्मृति में यह वचन स्नातक-व्रत के रूप में पठित है। इतना ही नहीं, आगे पठित **एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति** वचन भी यह दर्शा रहा है कि भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन किसी संहिता वा ब्राह्मण का है, तभी तो इस के कर्माङ्गता का विचार उपपन्न हो सकता है।

किं क्रत्वर्थानि उत पुरुषार्थानि—नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत इत्यादि में जब नञ् कर्तव्यता-वचन 'ईक्षेत' क्रिया से संबद्ध होता है तब पदों का श्रुत्यर्थ होता है, लाक्षणिक अर्थ 'आदित्य-भिन्न को देखे' नहीं करना पड़ता। जब नञ् का सम्बन्ध आदित्य के साथ होता है तब **नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिः** इस पातञ्जल (महाभाष्य ३।१।१२) वचन के अनुसार आदित्य पद स्वार्थ को छोड़ कर आदित्यसदृश वस्त्वन्तर का बोधक होता है[1]। लक्षणा से श्रुत्यर्थ प्रधान होता है। अतः यहां 'आदित्येक्षण का प्रतिषेध' अर्थ जानना चाहिये। प्रतिषेध प्राप्तिपूर्वक होता है। इसलिये कहा है—**यत्रादित्य ईक्षितव्यः प्राप्तस्तत्रायं प्रतिषेधः।** दर्शपूर्णमास आदि में का० श्रौत ३।८।१५ के **स्वयम्भूरिति सूर्यम्** (='स्वयंभूरसि' यजु० २।२६ मन्त्र से सूर्य को देखे[2]) वचनानुसार आदित्यदर्शन की प्राप्ति है। उस का उक्त वचन से प्रतिषेध होने पर यह क्रत्वर्थ विधि है। इस प्रकार फल की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती। **उद्यतोऽस्तं यतश्च नियमो वा स्यात्**—इस का भाव यह है कि यद्यपि यह सूर्यदर्शन का प्रतिषेध नहीं है तथापि पुरुषार्थ मानने पर फल की कल्पना करनी होती है। अतः फल की कल्पना के भय से 'उदय और अस्त होते हुए सूर्य को ही न देखे' इस प्रकार क्रत्वर्थ नियम हो सकता है।

---

१. नञ् के सम्बन्ध भेद से दो अर्थ जाने जाते हैं—प्रतिषेध की प्रधानता, यथा 'उदित होते हुए आदित्य को न देखे'। और प्रतिषेध में अप्रधानता—यथा 'आदित्य से भिन्न तत्सदृश पदार्थ को देखे'। इन्हीं दो प्रकार के प्रतिषेधों को वैयाकरण प्रसज्य प्रतिषेध और पर्युदास प्रतिषेध के नाम से कहते हैं। यथा—

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता। प्रसज्यः स तु विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ्॥
प्राधान्यं हि विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता। पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥

अर्थात् जहां विधि की अप्रधानता होवे और प्रतिषेध की प्रधातना होवे, वह प्रसज्य-प्रतिषेध होता है। वहां क्रिया के साथ नञ् का संबन्ध होता है। जहां विधि की प्रधानता होवे और प्रतिषेध की अप्रधानता होवे, वह पर्युदास प्रतिषेध होता है। इस में उत्तरपप के साथ नञ् का संम्बन्ध होता है।

२. इस विषय में रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'दर्शपौर्णमास-पद्धति' पृष्ठ १०७ देखें। दर्शपौर्णमास के प्रकृतिरूप होने से यह आदित्य दर्शन कर्म **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** इस अतिदेश से सब इष्टियों के साथ संबद्ध होता है।

तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वान्न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते तेनार्थेनाभिसंबन्धात् क्रियायां पुरुषश्रुतिः ॥३॥ (उ०)

तदुत्सर्गे प्रीत्युत्सर्गेऽपि, कर्माणि पुरुषार्थाय भवेयुरेवं जातीयकानि। कर्तु रेतान्युपदिश्यन्ते न कर्मणः । अर्थप्राप्तेन कर्त्रा संबन्धो यः स विधित्सितः, न कर्मसम्बन्धोऽविद्यमान एव । शास्त्रं चानतिशङ्क्यं पितृमातृवचनाद्[1] अपि प्रमाणतरम् । स्वयं हि तेन प्रत्येति, इन्द्रियस्थानीयं हि तत् । न चेवमादिभिर्द्रव्यस्य कश्चिद् दृष्ट उपकारः साध्यते । तस्मात् तेन पुरुषार्थेनाभि-

---

तदुत्सग कर्माणि ····क्रियायां पुरुषश्रुतिः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थः—(तदुत्सर्गे) पुरुषप्रीति के उत्सर्ग=त्याग होने पर भी (कर्माणि) 'नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत' इत्यादि कर्म (पुरुषार्थाय) पुरुषार्थ=पुरुष के लिये होवें। (शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वात्) शास्त्र से शङ्क्य=शंकनीय न होने से अर्थात् प्रमाण होने से। (न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते) यहां='नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत' अप्राकरणिक कर्मों से क्रतुसंबन्धि किसी द्रव्य का संस्कार करना भी इष्ट नहीं है। अर्थात् जहां आज्यावेक्षण आदि में द्रव्य की चिकीर्षा होती है, वहां उस संस्कृत द्रव्य से याग किया जाता है। यहां आदित्य न देखने से कोई आदित्य का संस्कार इष्ट नहीं है और ना ही उसका कर्म के साथ संबन्ध है। यतः क्रत्वर्थता का निराकरण कर चुके, अतः (तेन) इस (अर्थेन) पुरुष कार्य रूपी अर्थ के साथ (संयोगात्) संयोग होने से (क्रियायाम्) अनीक्षण रूप क्रिया में (पुरुषश्रुतिः) पुरुषविषयक श्रवण है।

व्याख्या—[पुरुष की] प्रीति के उत्सर्ग होने पर भी इस प्रकार के अर्थात् उदय अस्त होते हुए आदित्य को न देखना आदि कर्म पुरुषार्थ होवें। ये कर्म [यागादि के] कर्ता के लिये उपदेश किये जाते हैं, यागादि कर्म के लिये उपदेश नहीं किये जाते। अर्थ से प्राप्त कर्ता के साथ [इन कर्मों का] जो सम्बन्ध है उसे कहना इष्ट है, कर्म का सम्बन्ध कहना इष्ट नहीं हैं, क्योंकि वह [कर्मसम्बन्ध] अविद्यमान ही है [अर्थात् कर्मसम्बन्ध के लिये कोई श्रुति आदि नहीं है]। शास्त्रवचन शंका के योग्य नहीं है,वह माता-पिता के वचन से भी अधिक प्रमाण है। उस शास्त्रवचन से पुरुष स्वयं जानता है (=ज्ञान प्राप्त करता है)। वह शास्त्रवचन इन्द्रियस्थानी है। और इस प्रकार कर्म के बोधक वचनों से किसी द्रव्य का [संस्कारादि] दृष्ट उपकार भी साध्य नहीं होता है। इस लिये उक्त हेतु सें पुरुषार्थ के साथ सयोग होने

---

१. अत्र मातुः पूर्वनिपातः पूर्वपदस्य चानङ् न भवत्यनयोः प्रायिकत्वात् । पूर्वनिपातस्य प्रायिकत्वं तु अष्टाध्याय्यामेव बहुत्रोपलभ्यते । आनङः प्रायिकत्वाय **मातृपितृभ्याम्** (महा० शान्ति० १३८।८४), **मातृपितृवत्** (महा० उद्योग ६५।४५) **मातृपितृसंयोगाच्च** (निरुक्त १४।६) इत्यादयः प्रयोगा अनुसंधेयाः ।

संयोगात् क्रियायामेवंजातीयकायां पुरुषः श्रूयते । अपि च पुरुषप्रयत्नः पदार्थ-विधिमात्रं लक्षयितुमुच्चार्येत, स्वयमविवक्षितः स्यात् ।

से इस प्रकार की क्रिया में पुरुष का श्रवण है । और भी, [तुम्हारे मत में] पुरुष का [आदित्य का न देखना रूप] प्रयत्न पदार्थ की विधिमात्र को लक्षित करने के लिये उच्चारित होवे, स्वयं अविवक्षित होवे ।

विवरण—भट्ट कुमारिल का कहना है कि '**नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत** आदि में आदित्य-दर्शन का प्रतिषेध नहीं है । **तस्य व्रतम्** (=उस का व्रत) ऐसा कह कर (**नोद्यन्तमादित्य-मीक्षेत**) आदि कहा है । व्रत शब्द से सामान्यरूप से कर्म कहा जाता है । व्रत (=कर्म) विशेष की आकाङ्क्षा करनेवाले शब्द से विशेषित होता है—**इदं कर्म**=आदित्य का अनीक्षणरूप कर्म । प्रतिषेध स्वीकार करने पर पूर्व पठित **तस्य व्रतम्** साकाङ्क्ष ही रहता है ।' **अर्थप्राप्तेन कर्त्रा**—'**ईक्षेत**' क्रिया के कर्त्ता द्वारा सिद्ध होने से यहां कर्ता अर्थतः प्राप्त है । **पितृमातृवचनात्**—इस प्रयोग में आपाततः व्याकरण शास्त्रीय दो दोष हैं । प्रथम—**अभ्यर्हितं च पूर्वं निपतति** (महाभाष्य २।२।३४ वा०) वचन से पिता की अपेक्षा अधिक मानार्ह[1] माता का पूर्व प्रयोग होना चाहिये । द्वितीय—ऋकारान्त पितृ-मातृ शब्दों के द्वन्द्व समास में **आनङ् ऋतो द्वन्द्वे** (अष्टा० ६।३।२५) से उत्तरपद पर रहने पर पूर्वपद को आनङ् आदेश होना चाहिये । अतः **मातापितृवचनात्** ऐसा प्रयोग होना चाहिये । हमारी दृष्टि में शबर स्वामी का 'पितृमातृवत्' प्रयोग साधु है । यहां माता-पिता का आदेशरूप वचन इष्ट है । व्यावहारिक दृष्टि से माता की अपेक्षा पिता के आदेश का पालन अधिक किया जाता है । अतः प्रकृत में माता की अपेक्षा पिता का पूर्व प्रयोग युक्त है । पाणिनि का आनङ् का विधान प्रायिक है । आनङ्रहित प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः उपलब्ध होते हैं । यथा—**मातृपितृभ्याम्** (महाभारत शान्ति० १३८।८४) तथा **मातृपितृवत्** (उद्योग० ६५।४५) तथा **मातृपितृसंयोगाच्च** (निरुक्त० १४।६) । **मातृपितृभ्यां स्वसा** (८।३।८४) इस पाणिनीय सूत्र में भी आनङ् का अभाव देखा जाता है । **अपि च पुरुष-प्रयत्नः**—यहां आदित्य-अनीक्षणरूप मानसिक संकल्प की विधि को लक्षित करने के लिये **ईक्षेत** में लिङ् प्रत्यय का प्रयोग जानना चाहिये । इस का भाव यह है कि **ईक्षेत** में दो भाग हैं धातु और लिङ् प्रत्यय । मीमांसकों के मत में लिङ् प्रत्यय भावना को कहता है—भावयेत् । शेष जो धातु है उस के साथ नञ् का संबन्ध होने से **अनीक्षणं भावयेत्** । यह भावना मानसिक होगी । अतः 'आदित्य का अनीक्षण (=दर्शनाभाव) करना चाहिये, यह मन से संकल्प करे' यह उक्त वचन का अर्थ होगा (द्र० टुप्टीका) । प्रतिषेध पक्ष में नञ् का संबन्ध लिङ् प्रत्यय के साथ होगा । तब अर्थ होगा **आदित्यस्य ईक्षणं न भावयेत्=न कुर्यात्** । प्रतिषेध पक्ष में फल की आकांक्षा होगी । यहां फल श्रुत नहीं है । उसकी कल्पना करनी होगी । यह पहले पूर्वपक्ष-गत भाष्य में कहा जा चुका है । अतः यहां पर्युदासरूप **अनीक्षणं भावयेत्** अर्थ अभिप्रेत है ।

---

१. सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते । मनु० २।१४५॥

अथ यदुक्तम्—यत्राऽऽदित्यस्येक्षणं प्राप्तं, तत्रोद्यतोऽस्तं यतश्च प्रतिषेध इति। सत्यं प्रतिषेधो न्याय्यः। तथा श्रुतिरनुगृह्येत, इतरथा नियमो लक्ष्येतेति। किं त्विह नियमः शब्देन श्रूयते 'तस्य व्रतम्'[1] इति, तेन नियम एषः—नोद्यन्नादित्य ईक्षितव्य इति। अपि च, 'एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति'[1] इति पुरुषसम्बद्धो दोषः[2] कीर्त्यते, न कर्मसम्बद्धः। तस्मात् पुरुषार्थानि प्रजापतिव्रतानीति। गोलक्षणान्यप्येवमेव कर्तरी-कर्ण्यः[3] कर्तव्या इत्येवमादीनि ॥३॥

व्याख्या—और जो यह कहा है—'जहां (=जिस कर्म में) आदित्य का दर्शन प्राप्त है, वहां उदय और अस्त होते हुए [आदित्य के दर्शन] का प्रतिषेध है'। सत्य है, प्रतिषेध न्याय्य है। इस प्रकार श्रुति (=लिङ्-श्रुति) अनुगृहीत होगी, अन्यथा नियम लक्षित होगा [अर्थात् नियम मानने पर लक्षणा माननी होगी]। किन्तु यहां शब्द से नियम सुना जाता है—तस्य व्रतम् (=उस का व्रत) [इस वचन से]। इसलिये यह नियम है—उदय होते हुए आदित्य को नहीं देखना चाहिये। और भी, एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति (इन नियमों से निश्चय ही पाप से युक्त नहीं होता) इससे पुरुषसम्बद्ध दोष का कथन किया है, न कि कर्म सम्बद्ध दोष का [यतः द्रष्टा के 'पाप से युक्त न होने' का वचन में निर्देश किया है]। इसलिये प्रजापति व्रत पुरुषार्थ (=पुरुषसम्बद्ध) हैं। इसी प्रकार गौवों के कर्तरीकर्ण लक्षण (=गायों की पहिचान के लिये कान पर कर्तरी=कैंची आदि का चिह्न) करने चाहियें आदि भी पुरुषार्थ ही जानने चाहियें।

विवरण—गोलक्षणानि कर्त्तरीकर्ण्यः—विभिन्न पुरुषों की गायों के समुदाय में किस की कौन सी गाय है, इस के परिज्ञान के लिये गौवों के कान आदि अङ्गों पर जो चिह्न लगाये जाते हैं उनकी ओर यह संकेत है। पाणिनि ने भी इस प्रकार के चिह्नों का निर्देश **कर्णे लक्षणस्या०** (अष्टा० ६।३।११५) सूत्र में किया है। काशिकाकार ने उदाहरण दिये हैं—**दात्राकर्णः द्विगुणाकर्णः, अङ्गुलाकर्णः द्व्यङ्गुलाकर्णः** आदि। काशिकाकार ने स्पष्ट लिखा है—'जो पशुओं के स्वामी विशेष के ज्ञापन के लिये दात्र (=दरांती) आदि के आकार का चिह्न किया जाता है, वह यहां लक्षण से गृहीत है[3]।' मीमांसाभाष्यकार ने जो **कर्त्तरीकर्ण्यः**[4] उदाहरण दिया है, वह हमें उपलब्ध नहीं हुआ। कर्त्तरी शब्द का अर्थ है कैंची[5]। यह स्त्रीलिंग में 'कर्त्तरि' और 'कर्त्तरी' दोनों रूपों में प्रयुक्त होता है। **कृदिकारादक्तिनः** इस बह्वादिगण के (काशिका ४।१।४५) सूत्र से इकारान्त कृदन्त शब्द से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् होता है। ह्रस्व कर्त्तरि शब्द को भी **कर्णे लक्षणस्या०** (अष्टा० ६।३।११५) इस पाणिनीय नियम से दीर्घ होकर **कर्तरीकर्ण्यः** प्रयोग उपपन्न हो जाता है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. 'हैनसाऽयुक्तः' निर्देशानुसारम् 'ऽदोषः' युक्तः स्यात्।

३. यत्पशूनां स्वामिविशेषसंबन्धज्ञापनार्थं दात्राकारादि क्रियते तदिह लक्षणं गृह्यते। काशिका ६।३।११५॥ ४. 'कर्त्तरीकर्ण्यः' पाठ पर विचार आगे '**विशेष**' में देखें।

५. द्र०—यथा बालेषु कर्त्तरिः। नारदीय शिक्षा १।६।११॥

अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुति फलानि स्युः ॥४॥ (पू०)

उच्यते । यद्येवम्, इमान्यपि पुरुषार्थानि स्युः—**समिधो यजति**[1], **तनूनपातं यजति**[1], **नानृतं वदेत्**[2] इत्येवमादीनि । अत्रापि पुरुषप्रयत्नसंकीर्तनम्, अत्रापि न द्रव्यं चिकीर्ष्यत इति ॥४॥

विशेष—भाष्यकार ने गोलक्षण **कर्तरीकर्ण्यः** का निर्देश किया है। कर्तरीकर्ण्यः पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। मैत्रायणी सं० ४।२।९ में **जमदग्नेः कर्करिकर्ण्यः** पाठ उपलब्ध होता है। इस अनुवाक में विभिन्न गोलक्षणों का ही विधान है। ८ वें अनुवाक में प्रजापति का निर्देश है। ९ वें प्रपाठक में **तस्या व्रतम्** कह कर न हतेति ब्रूयात् कुरुत इति ब्रूयात्, नान्तर्वत्नीति **ब्रूयाद् विजन्य इति ब्रूयात्** दो व्रतों का उल्लेख किया है। तत्पश्चात् यावतीनामिद······इति **गवां लक्ष्म कुर्यात्** कह कर विविध गोलक्ष्मों (=गोलक्षणों) का विधान किया है— **वसिष्ठस्य स्थूणाककर्ण्यः** (=स्थूणा खम्भे के आकार का कान पर चिह्न), **जमदग्नेः कर्करिकर्ण्यः**[3] (=कर्करि वाद्यविशेष के आकार का चिह्न), **अगस्त्यस्य विष्टचकर्ण्यः** (=विष्टच ? के आकार का चिह्न) आदि। इस प्रकरण के अनुसार भाष्यकार द्वारा निर्दिष्ट **कर्तरीकर्ण्यः** के स्थान में **कर्करिकर्ण्यः** पाठ उचित प्रतीत होता है ॥३॥

अविशेषात् तु शास्त्रस्य यथाश्रुति फलानि स्युः ॥४॥

सूत्रार्थः—(तु) यह शब्द आशंका द्योतनार्थ है। 'नोद्यन्तमादिमीक्षेत' से (अविशेषात्) विशेष न होने से=तत्समान होने से अर्थात् कर्म उपस्थापक बुद्धि के साहित्य से (शास्त्रस्य) 'समिधो यजति' 'नानृतं वदेत्' आदि वचन के (यथाश्रुति) शब्दशक्त्यनुसार (फलानि) लेट् वा लिङ् से उक्त भावना से आक्षिप्त पुरुषभोग्य फल कल्पनीय (स्युः) होवें अर्थात् क्रतुगत फल न होवें, दूसरे शब्दों में ये भी क्रत्वर्थ न होवें।

विशेष—उक्त सूत्रार्थ कुतुहलवृत्ति के अनुसार हैं। भाष्य में सूत्र पदों की व्याख्या नहीं है। कुतुहलवृत्ति का अर्थ भाष्यानुगत है।

व्याख्या—**आशंका की जाती है—यदि ऐसा है [अर्थात्** नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत **पुरुषार्थ है] तो ये भी पुरुषार्थ होवें**—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, नानृतं वदेत् **इत्यादि। यहां भी पुरुष के प्रयत्न का संकीर्तन (=कथन) है और यहां भी द्रव्य की चिकीर्षा नहीं है।**

विवरण—**समिधो यजति तनूनपातं यजति** आदि वचन विहित प्रयाजों की क्रत्वर्थता=दर्शपूर्णमासार्थता पूर्वत्र (अ० ३।३।११, अधि० ४) कह चुके हैं। इसी प्रकार **नानृतं वदेत्** की क्रत्वर्थता भी पूर्वत्र (अ० ३।४।१३, अधि० ४) में सिद्ध कर चुके हैं। उसी पूर्वविहित क्रत्वर्थता के विषय में **नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत** वचन के सादृश्य से आशंका व्यक्त की है ॥४॥

---

१. तै० सं० २।६।१॥ २. तै० सं० २।५।५॥ ३. छान्दस दीर्घत्वाभाव।

अपि वा कारणाग्रहणे तदर्थमर्थस्यानभिसंबन्धात् ॥५॥ (उ०)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः। नैतदस्ति, समिदादीन्यपि पुरुषार्थानि प्राप्नुवन्तीति। कारणाग्रहणे पुरुषार्थानि प्रजापतिव्रतानि भवेयुः। न तत्र श्रुत्यादिकं किंचित् कारणं गृह्यते, येन कर्मणामङ्गभूतानीति गम्यते। तस्मात् तानि पुरुषार्थानि। अर्थस्य कर्मणो नाभिसम्बन्धः प्रजापतिव्रतैः। इह तु समिदादीनां प्रकरणं नाम कारणं गृह्यते येन कर्मार्थानीति विज्ञायते। तस्माद् विषम उपन्यासः। पुरुषप्रयत्नश्चैवं सति अनुवादः ॥५॥

अपि वा कारणाग्रहणे तदर्थमर्थस्यानभिसंबन्धात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) यह पूर्वोक्त आशंका की निवृत्ति के लिये हैं अर्थात् 'समिधो यजति' 'नानृतं वदेत्' पुरुषार्थ नहीं है। 'नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत' इत्यादि प्रजापति व्रत (कारणाग्रहणे) क्रत्वर्थताबोधक श्रुत्यादि कारण के न होने से (तदर्थम्) पुरुषार्थ हैं। (अर्थस्यानभिसंबन्धात्) कर्मरूप अर्थ का प्रजापतिव्रतों के साथ संबन्ध न होने से। 'समिधो यजति' 'नानृतं वदेत्' यहां तो दर्शपूर्णमास का प्रकरण है, अतः ये कर्मार्थ हैं।

व्याख्या—'अपि वा' से पूर्व निर्दिष्ट पक्ष की निवृत्ति होती है। यह नहीं है कि 'समिधो यजति' आदि भी पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं। [क्रत्वर्थता के] कारण का ग्रहण न होने से प्रजापति-व्रत पुरुषार्थ होवें। वहां (=प्रजापति व्रतों) में [क्रत्वर्थता का] कोई श्रुति आदि कारण गृहीत नहीं होता, जिस से कर्म के अङ्गभूत जाने जावें। इसलिये वे पुरुषार्थ हैं। अर्थ अर्थात् कर्म का प्रजापति व्रतों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। और यहां (='समिधो यजति' आदि में) 'समिधो यजति' आदि का प्रकरणरूप कारण गृहीत होता है। जिससे [ये समिदादि] कर्मार्थ हैं, ऐसा जाना जाता है। इसलिये यह कथन (=समिधो यजति आदि भी पुरुषार्थ होवें) विषम है। इस प्रकार ['यजति' में लेट् लकार से तथा 'वदेत्' में लिङ् लकार से कहा गया भावनारूप] पुरुषप्रयत्न अनुवादमात्र है।

विवरण—**श्रुत्यादिकं किञ्चित् कारणम्**—अङ्गता के बोधक श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या रूप छः कारणों में से कोई भी क्रत्वङ्गताबोधक कारण नहीं जाना जाता है। **प्रकरणं नाम कारणं गृह्यते**—समिधो यजति, नानृतं वदेत् आदि दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित हैं। अतः इन में प्रकरणरूप क्रत्वर्थताबोधक प्रमाण गृहीत होता है। **विषम उपन्यासः**—प्रजापति व्रतों (=**नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत** आदि) में श्रुति लिङ्ग आदि कोई क्रत्वङ्गताबोधक प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत **समिधो यजति** आदि के दर्शपूर्णमास प्रकरणरूप क्रत्वङ्गताबोधक प्रमाण जाना जाता है ॥५॥

तथा च लोकभूतेषु ॥ ६ ॥ (उ०)

लोकेऽपि निष्पन्नकार्यादिषु प्रयोजनवत्सु यदसंयुक्तं फलेन श्रूयते, तत् तदङ्गं विज्ञायत इति मन्यमाना उपवासं जपं वोपदिश्यैव कृतिनो मन्यन्ते, न ब्रुवते[1] इदमस्य प्रयोजनवतोऽङ्गमिति। तथा चापरेऽपि मन्यमाना न दुरुक्तं मन्यन्ते। तस्मात् समिदादीनि कर्माङ्गाणि, न प्रजापतिव्रतानीति सिद्धम् ॥ ६ ॥ **इति प्रजापतिव्रतानां पुरुषार्थताधिकरणम् ॥३॥**

—:०.—

तथा च लोकभूतेषु ॥६॥

सूत्रार्थः—(च) और जैसे (लोकभूतेषु) लोकसिद्ध सप्रयोजन=फलयुक्त कार्यों में जो फल से असंयुक्त=रहित कार्य सुना जाता है वह उस फलसंयुक्त कार्य का अङ्ग जाना जाता है (तथा) उसी प्रकार 'अनृत वदन प्रतिषेध' आदि वैदिक कर्मों में भी जानना चाहिये।

विशेष—सूत्र का भाव है कि जैसे लोक में **पाकं कुरु** (=भोजन बनाओ) इस प्रकार कहने पर पाक क्रिया के फल का निर्देश न होने पर भी वह क्षुधानिवृत्तिरूप फलसंयुक्त भोजन कर्म का अङ्ग जाना जाता है और किसी को कुछ शंका नहीं होती, उसी प्रकार **नानृतं वदेत्** आदि के निर्देश में फल का कथन न होने पर भी फलसंयुक्त प्राकरणिक दर्शपूर्णमास का अङ्ग जाना जायेगा।

व्याख्या—लोक में भी सप्रयोजन निष्पन्न कार्यों में जो कार्य फल से युक्त नहीं सुना जाता है, वह उस फलसंयुक्त कार्य का अङ्ग होता है, ऐसा मानते हुए उपवास वा व्रत का उपदेश करके ही उपदेष्टा अपने को कृती (=सफल) मानते हैं,यह इस सप्रयोजन कर्म का अङ्ग है ऐसा नहीं कहते। दूसरे [सुनने वाले भी] उसी प्रकार समझते हुए [उपदेष्टा के कथन को] दुरुक्त (=अशुद्ध) नहीं मानते। इससे 'समिधो यजति' आदि [प्रयोजनवान् दर्शपूर्णमास] कर्म के अङ्ग हैं, प्रजापति व्रत (='नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत' आदि) कर्म के अङ्ग नहीं हैं अर्थात् पुरुषार्थ हैं, यह सिद्ध होता है।

विवरण—भाष्यकार ने उपवास और जप को किन्हीं लौकिक कर्मों का अङ्ग मानते हुए उदाहरण दिया है। अन्य वृत्तिकारों ने इन में वैदिक कर्मता की गन्ध जान कर पकाना नहाना आदि विशुद्ध लौकिक कर्मों को उदाहृत किया है। उपवास का विधान जैसे वैदिक कर्मों के आरम्भ में किया जाता है, उसी प्रकार अजीर्णता आदि रोग होने पर चिकित्सक द्वारा उपवास का विधान किया जाता है। यह रोग निवारणरूप प्रयोजनवान् कर्म का अङ्ग होता है। इसी प्रकार जप का निर्देश भी बहुत्र वैदिक कर्मों में मिलता है—अमुक मन्त्र का जप करे। तथा लौकिक कर्म चित्त की एकाग्रता के लिये प्रणव (=ओंकार के जप का विधान') लोक में

---

१. 'न क्रतवे' इतिपूनासंस्करणे पाठः।

[यज्ञायुधवाक्यानुवादताधिकरणम् ।।४।।]

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्राऽऽम्नायते—**स्फ्यश्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च मुसलं च दृषच्चोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानि**[1], इति । तत्र संशय किमेतानि द्रव्याणि प्रदातव्यानि, उत स्वेन स्वेनार्थेन सम्बन्धनीयानि ? तदेतत् सिद्धयर्थमिदं चिन्तनीयम्—किमेष विधिरुतानुवाद इति ? विधौ सति प्रदानम्, अनुवादे सति यथार्थसम्बन्धः । किं प्राप्तम् ?

द्रव्याणि त्वविशेषेणाऽऽनर्थक्यात् प्रदीयेरन् ।। ७।। (पू०)

विधिरिति । तथाहि प्रवृत्तौ विशेषः, इतरथा वादमात्रमनर्थकम् । प्रदाने चैषां यज्ञायुधशब्दोऽनुगृहीतः । यज्ञस्याऽऽयुधानि यज्ञस्य साधनानीति । इतरथा उद्धननादी-

---

भी किया जाता है । **तस्मात् समिदादीनि कर्माङ्गाणि**—'समिधो यजति' आदि प्रयाजों की कर्माङ्गता पहले **असंयुक्तं प्रकरणात्** (मी० ३।३।११) तथा **नानृतं वदेत्** की कर्माङ्गता **विधिर्वा संयोगान्तरात्** (मी० ३।४।१३) से कह चुके हैं । उस कर्माङ्गता पर जो आशङ्का की गई थी, उस का यहां निराकरण किया गया है ऐसा जानना चाहिये ।

व्याख्या—दर्शपूर्णमास यागों का विधान है । वहां पढ़ा जाता है—स्फ्यश्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च मुसलं च दृषच्चोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानि (=स्फ्य आदि दश यज्ञ के आयुध हैं) । उनमें संशय होता है—क्या इन द्रव्यों को [देवतोद्देश्य से अग्नि में] प्रदान करना चाहिये अथवा इनको अपने-अपने अर्थ (=जिस कार्य को जो द्रव्य कर सकता हो, उस) से सम्बद्ध करना चाहिये । इसकी सिद्धि के लिये विचार करना चाहिये—क्या यह विधि है अथवा अनुवाद है ? विधि मानने पर [इनको देवतोद्देश्य से अग्नि में] छोड़ना होगा और अनुवाद होने पर यथाप्रयोजन सम्बन्ध होगा । क्या प्राप्त होता है ?

द्रव्याणि त्वविशेषेणाऽऽनर्थक्यात् प्रदीयेरन् ।।७।।

सूत्रार्थः—(द्रव्याणि) स्फ्य आदि द्रव्य (तु) तो (अविशेषेण) सामान्यरूप से विहित प्रकरण द्वारा याग के साथ संबद्ध होते हैं अर्थात् क्रत्वर्थ हैं । (आनर्थक्यात्) अनुवादमात्र मानने पर अनर्थकता होने से (प्रदीयेरन्) देवता को उद्देश करके इन का प्रदान करना चाहिये अर्थात् पुरोडाशादि के समान अग्नि में इन्हें छोड़ना चाहिये ।

व्याख्या—विधि है । वैसा (=विधि) होने पर प्रवृत्ति में विशेषता होती है, अन्यथा अनुवादमात्र मानने पर अनर्थक होगा । [अग्निमें] प्रदान मानने पर इन द्रव्यों का 'यज्ञा-

---

१. तै० सं० १।६।८।।

नामायुधानि भवेयुः श्रवणेन, लक्षणया यज्ञस्य । संख्या चैवमवकल्पते यागेनैकेन सम्बन्धात् । इतरथा नानार्थसम्बन्धाद् दशेति संख्या नावकल्पते । तस्मात् प्रदीयेरन् । अविशेषेण विहितं प्रकरणेन प्रधानस्य भवितुमर्हति ।।७।।

स्वेन त्वर्थेन संबन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात् तस्माद् यथाश्रुति स्युः ।। ८ ।। (उ०)

न चैतदस्ति विधिः, प्रदेयानीति । अनुवादः, प्राप्तत्वात् । स्फ्येनोद्धन्ति, कपालेषु

युध' शब्द भी अनुगृहीत होता है--यज्ञ के आयुध=यज्ञ के साधन । अन्यथा श्रवण (=श्रुति) से [वेदि के] उत्खनन आदि के आयुध होवें, यज्ञ के लक्षणा से साधन होवें । इस प्रकार [दश] संख्या समर्थित होती है, एक याग के साथ सम्बन्ध होने से । अन्यथा [इन द्रव्यों का] नाना प्रयोजनों के साथ सम्बन्ध होने से 'दश' यह संख्या उपपन्न नहीं होती है । इसलिये इनका [अग्नि में] प्रदान करना चाहिये । सामान्यरूप से कहा गया प्रकरण से प्रधान (=याग) का होने योग्य है ।

विवरण—स्फ्य आदि यज्ञायुधों के विषय में तृतीयाध्याय के प्रथम पाद के अधि० ५ (सूत्र ११) में विचार किया है कि इन स्फ्य आदि से जो-जो कर्म किया जा सकता है उस-उस के लिये इन का पाठ है, अथवा जिस का जिस के साथ संयोग उपलब्ध होता है, उससे वह कर्म करना चाहिये । यह विचार तब उपपन्न होता है जब प्रकृत अधिकरण से स्फ्य आदि का देवतोद्देश से प्रदानत्व का निषेध हो जावे । क्योंकि यदि इन का देवतोद्देश से अग्नि में प्रदान हो जावे तो पुनः तृतीयाध्यायस्थ विचार उपपन्न ही नहीं होता है । इसीलिये यहां भट्ट कुमारिल ने लिखा है—**प्रदेयत्व इह निराकृते तृतीये चिन्ता ।** इस प्रकार तृतीयाध्यायस्थ अधिकरण को इस अधिकरण से उत्तर जानना चाहिये ।

स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात् तस्माद् यथाश्रुति स्युः ।।८।।

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है—विधि नहीं है अर्थात् स्फ्य आदि प्रदेय नहीं हैं । (द्रव्याणाम्) स्फ्य आदि द्रव्यों का (स्वेन अर्थेन) अपने अर्थ=प्रयोजन के साथ सम्बन्ध है (पृथगर्थत्वात्) पृथक्-पृथक् प्रयोजन होने से । (तस्मात्) इसलिये (यथाश्रुति) जैसे [स्फ्येनोद्धन्ति=स्फ्य से वेदि पर प्रहार करता है आदि] सुना गया है वैसे स्व-स्व अर्थ के साथ सम्बद्ध (स्युः) होवें ।

व्याख्या—यह नहीं है कि ['स्फ्यश्च कपालानि च' आदि] विधि है, [स्फ्य आदि] प्रदेय हैं । अनुवाद है [स्फ्य आदि के] प्राप्त होने से । स्फ्येनोद्धन्ति (=स्फ्य से वेदि पर प्रहार करता है), कपालेषु श्रपयन्ति (=कपालों पर पुरोडाश को पकाते हैं), अग्निहोत्र-

श्रपयन्ति, अग्निहोत्रहवण्या निर्वपति, शूर्पेण विविनक्ति, कृष्णाजिनमुलूखलस्याधस्तादवस्तृणाति, शम्यायां दृषदमुपदधाति, प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति, प्रोक्षिताभ्यां दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि[1], इत्येवं स्वेन स्वेन वाक्येनोद्धननादिषु प्राप्नुवन्ति। प्राप्तानां वचनमनुवादः। प्रकरणमपि वाक्येन बाध्यते। यज्ञायुधशब्दश्चानुवादपक्षे न्याय्यो, न विधिपक्षे[2]। गौणो हि स आयुधशब्दः स्फ्यादिषु। संख्याऽपि पाठाभिप्राया भविष्यति। विस्पष्टं चैतदुद्धननादिभिः स्फ्यादीनि प्रयुक्तानीति। भवति हि तत्र विधिः—स्फ्येनोद्धन्ति इत्येवमादिः। न तु यज्ञायुधानि कर्तव्यानीति। तस्मादुद्धननादिषु वाक्येन प्राप्तानामनुवाद इति ॥८॥

हवण्या निर्वपति (=अग्निहोत्रहवणी से हवियों का निर्वाप करता है), शूर्पेण विविनक्ति (=सूप से तण्डुलों के छोटे कणों को पृथक् करता है), कृष्णाजिनमुलूखलस्याधस्तादवस्तृणाति (=काले मृग के चर्म को ऊखल के नीचे फैलाता है), शम्यायां दृषदमुपदधाति (=शम्या पर दृषद्=शिला के अग्र भाग को रखता है),प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामव हन्ति (=जल से शोधित ऊखल और मूसल से व्रीहि को कूटता है), प्रोक्षिताभ्यां दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि (=प्रोक्षित शिला और लोढी से तण्डुलों को पीसता है) इस प्रकार [स्फ्य आदि] अपने-अपने वाक्य से उद्धनन (=प्रहार) आदि कार्यों में प्राप्त होते हैं। उन [उक्त वाक्यों से] प्राप्त स्फ्य आदि का [स्फ्यश्च कपालानि च आदि] वचन अनुवाद है। प्रकरण भी वाक्य से बाधा जाता है। यज्ञायुध शब्द भी अनुवाद पक्ष में न्याय्य है, विधि पक्ष में नहीं। स्फ्य आदि में वह आयुध शब्द गौण है। [दश] संख्या भी [वाक्यगत] पाठ के अभिप्राय से उपपन्न हो जायेगी। और विस्पष्टरूप से उद्धनन आदि कर्मों में स्फ्य आदि प्रयुक्त हैं। वहां निश्चय ही विधि है—स्फ्येनोद्धन्ति इत्यादि। यज्ञायुध कर्तव्य=करने चाहियें [ऐसी विधि नहीं है]। इसलिये उद्धनन आदि में वाक्य से प्राप्त स्फ्य आदि का अनुवाद है॥

विवरण—**स्फ्येनोद्धन्ति** आदि वाक्य पूर्व मी० ३।१।११ के भाष्य में कुछ पाठभेद से उद्धृत है। इन का मूल स्थान वहीं देखें। **प्रकरणमपि वाक्येन बाध्यते**—**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण०** (३।३।१४) इत्यादि सूत्र से प्रकरण की वाक्य से बाधता कही है। **यज्ञायुधशब्दश्च न विधिपक्षे**—आयुध शब्द मुख्यवृत्ति से बाण तलवार आदि में ही प्रसिद्ध है। बाण तलवार आदि संग्राम में जैसे शत्रुहनन में साधन होते हैं, उसी प्रकार स्फ्य आदि याग के साधन होते हैं। इस से स्फ्य आदि में आयुध शब्द लक्षणा से प्रवृत्त है। लक्षणा अनुवाद में न्याय्य होती है विधि में लक्षणा नहीं मानी जाती है। **न विधौ परः शब्दार्थः** यह न्याय मीमांसकों द्वारा समादृत है। भाष्यकार शबर स्वामी ने भी १।२।२६ के भाष्य में लिखा है—**विधौ हि न परः शब्दार्थः प्रतीयते**। विशेष द्र०—**न विधौ परः शब्दार्थः** मीमांसाकोष भाग ४, पृष्ठ २२६४ ॥८॥

---

१. इमानि वाक्यानि किञ्चित् पाठभेदेन पूर्वत्र (मी० ३।१।११ भाष्ये) उद्धृतानि। अत एषमाकरस्थानोल्लेखस्तत्रैव द्रष्टव्यः।

२. द्र०—'न विधौ परः शब्दार्थः' इति न्यायः। तथा 'विधौ हि न परः शब्दार्थः प्रतीयते। मी० भाष्य १।२।२६॥

चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ॥ ९ ॥ (उ०)

अर्थकर्मसु चोद्यन्ते पुरोडाशादीनि, तान्यपि विकल्पेरन् । तत्र पक्षे बाधो, न समुच्चयः । पुरोडाशादीनां निरपेक्षाणां यजिसंबन्धात्, स्फ्यादीनां च ॥

एवं वा—

चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ॥ ९ ॥ (उ०)

चोद्यन्ते परिधानीये कर्मणि—आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च इति । यदि प्रदीयेरंस्तत्र न भवेयुः । तस्मादपि न प्रदातव्यानीति ॥९॥

चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ॥९॥

सूत्रार्थः—(च) और (अर्थकर्मसु) फल के लिये विहित आग्नेयादि प्रधान यागों में (चोद्यन्ते) पुरोडाशादि का विधान किया जाता है ।

व्याख्या—प्रयोजन वाले (=फलयुक्त) आग्नेयादि यागों में पुरोडाश आदि का विधान किया जाता है । वे [पुरोडाशादि] भी [विधिपक्ष में स्फ्य आदि के साथ] विकल्प को प्राप्त होवें । उस अवस्था (=विकल्प मानने) में [पुरोडाशादि का] पक्ष में बाध होवे, समुच्चय न होवे, पुरोडाशादि और स्फ्यादि निरपेक्षों का याग के साथ संबंध होने से ।

विवरण—चोद्यन्ते पुरोडाशादीनि—यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति इत्यादि वाक्यों से पुरोडाशादि द्रव्यों का आग्नेयादि यागों में विधान किया गया है । पुरोडाशादीनां—स्फ्यादीनां च—पुरोडाश आदि के उत्पत्तिवाक्यों की ओर संकेत कर दिया है । स्फ्यादि का भी स्फ्यश्च कपालानि च इत्यादि से प्रकरण द्वारा याग के साथ सम्बन्ध है । अतः दोनों का याग के विषय में समुच्चय नहीं हो सकता ।

व्याख्या—अथवा इस प्रकार से—

चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ॥९॥

सूत्रार्थः—(च) और स्फ्यादि पात्र (अर्थकर्मसु) प्रयोजनवान् कर्म आहिताग्नि के दाह कर्म में (चोद्यन्ते) कहे गये हैं [अर्थात् पात्रों के साथ दाह का विधान किया है] ।

व्याख्या—परिधानीय (=अन्त्येष्टि) कर्म में [स्फ्य आदि का] विधान किया जाता है—आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च (=आहिताग्नि=यजमान को आहवनीयादि अग्नियों से तथा स्फ्य आदि पात्रों से जलाते हैं । यदि स्फ्य आदि पात्रों का दर्शपौर्णमासादि में [देवतोद्देश्य से अग्नि में] प्रदान कर दिया जाये तो वे वहां (अन्त्येष्टि के समय) न होवें । इसलिये भी [स्फ्यादि का] प्रदान नहीं करना गाहिये ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । शतपथे (५।५।२।१–७) अग्नीनां यज्ञपात्राणां चोपधानमुपलभ्यते । आश्वलायनगृह्ये (४।२) ऽपि ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

लिङ्गदर्शनेन च, चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम्, इति । तस्मादप्यनुवाद इति ॥१०॥ इति यज्ञायुधानामनुवादताधिकरणम् ॥४॥

—:o:—

[पश्वेकत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते**[1]

विवरण—परिधानीये कर्मणि—परिधानीय कर्म का अर्थ अन्त्येष्टि कर्म है (द्र० शास्त्रदीपिका अ० ११, पाद ३, अधि० १३) । यह अर्थ आगे उदाहृत श्रुति से भी स्पष्ट है ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी स्य आदि पात्रों का याग में प्रदान नहीं होता ।

व्याख्या—लिङ्ग के दर्शन से भी—**चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते त्रयोदशामावास्यायाम्** (=चौदह आहुतियां पौर्णमासी में दी जाती हैं और तेरह अमावास्या में) । इस से भी अनुवाद है ।

विवरण—चतुर्दश पौर्णमास्याम्—यही वचन मी० २।२।८ **लिङ्गदर्शनाच्च** सूत्र के भाष्य में भी उद्धृत है । अतः इसकी व्याख्या वहीं देखें ।

विशेष—मी० २।।८ के भाष्य-व्याख्या के अनन्तर पृष्ठ ४६१ पर **विशेष विचार** के प्रकरण में जो लिखा है उसकी **इस अवस्था में** पाठ से लेकर **उपपत्ति की जायेगी** तक का पाठ निकाल देवें । इस में उपांशुयाज के अभाव में जो १२ आहुतियों की शंका व्यक्त की है वह ठीक नहीं है । अमावास्या में भी ५ प्रयाज, ३ अनुयाज, २ आज्यभाग, १ स्विष्टकृत्=११ तथा १ आग्नेय पुरोडाश तथा १ दूध दही की सम्मिलित आहुति । इस प्रकार १३ आहुतियां उपपन्न होती हैं । यह सोमयाजी के सान्नाय्य के पक्ष में १३ आहुतियां हैं । असोमयाजी के पक्ष में पूर्ववत् ५ प्रयाज, ३ अनुयाज, १ स्विष्टकृत्=११ तथा १ आग्नेय पुरोडाश, १ ऐन्द्राग्न पुरोडाश, =१३ आहुतियां जाननी चाहियें । मी० १०।८। अधि० १७ में अमावास्या में उपांशुयाज का प्रतिषेध दर्शाने के लिये ५८ वें सूत्र में जो इसी श्रुति को उद्धृत किया है वह ठीक उपपन्न होता है । पूर्व लेखन समय में आग्नेय याग की गणना न करने की भूल हो गई थी । पाठक उसे सुधार लें ॥१०॥

—:o.—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु विहित है—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं**

---

१. तै० सं० ६।१।११॥

इति । तथा अनड्वाहौ युनक्ति[1] इति । तथाऽश्वमेधे वसन्ताय कपिञ्जलानालभते[2] इति । तत्र संदेह—किं विवक्षितमेकत्वं द्वित्वं बहुत्वं च, उताविवक्षितमिति ?

तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् ॥११॥ (पू०)

तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गभूतं, न विवक्षितमित्यर्थः । अर्थस्य गुणभूतत्वात् । नाऽऽलम्भस्य गुणभूता संख्या नियोजनस्य वा । कस्य तर्हि ? पशोरनडुहोः कपिञ्जलानां च । विभक्तिर्हि श्रुत्या प्रातिपदिकार्थगतं संख्यार्थं ब्रूते । वाक्येन सा यज्ञाङ्गं ब्रूयात् । वाक्याच्च श्रुतिर्बलीयसी । तस्मान्न यज्ञाङ्गं विवक्षितमिति ।

आह । मा भूद्यज्ञाङ्गम्, पश्वादीनामङ्गं विवक्षितं तथाऽपीति । उच्यते । न पश्वादीनामङ्गेनोक्तेनानुक्तेन वा किंचित् प्रयोजनमस्ति, यज्ञाङ्गेन ह्यविपन्नेन प्रयोजनम् । विपन्नेऽपि हि पश्वाद्यङ्गेऽविगुण एव क्रतुर्भवति । यज्ञाच्च फलं, न पश्वादेः ।

पशुमालभते (=जो दीक्षित है वह अग्नीषोम देवतावाले पशु का आलभन करता है) । तथा अनड्वाहौ युनक्ति (=दो बैलों को गाड़ी में युक्त करता है=जोड़ता है) । तथा अश्वमेध में वसन्ताय कपिञ्जलानालभते (=वसन्त देवता के लिये कपिञ्जलों का आलभन करे) । इनमें सन्देह है—क्या इन में एकत्व द्वित्व और बहुत्व विवक्षित है अथवा अविवक्षित ?

तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(तत्र) वहां=एकवचन द्विवचन बहुवचनों के निर्देश में (एकत्वम्) एकत्व=एकवचन (अयज्ञाङ्गम्) यज्ञ का का अङ्गभूत नहीं है, (अर्थस्य) पशुरूप द्रव्य की (गुणभूतत्वात्) संख्या के गुणभूत होने से ।

विशेष—सूत्र में 'एकत्व' शब्द द्वित्व बहुत्व का उपलक्षक है ।

व्याख्या—वहां (=संख्या के विषय में) एकत्व यज्ञ का अङ्गभूत नहीं है अर्थात् विवक्षित नहीं है । संख्या के (पशुरूप) द्रव्य की गुणभूत होने से [अर्थात् एकत्वादि संख्या पशुरूप द्रव्य की विशेषण होने से गुणभूत है] । संख्या आलम्भ क्रिया की अथवा नियोजन रूप क्रिया की गुणभूत नहीं है । तो [संख्या] किस की गुणभूत है ? पशु अनुडुहों और कपिञ्जलों की । विभक्ति श्रुति (=श्रवण) से प्रातिपदिकरूप अर्थ में विद्यमान संख्यारूप अर्थ को कहती है । वह (=विभक्ति) वाक्य के द्वारा यज्ञाङ्ग को कहेगी । वाक्य से श्रुति बलवती होती है । इसलिये [एकत्वादि संख्या] यज्ञ के अङ्गरूप से विवक्षित नहीं है ।

(आक्षेप) संख्या यज्ञ का अङ्गभूत न होवे तथापि पश्वादि की अङ्गभूत तो विवक्षित है । (समाधान) पश्वादि के अङ्गभूत संख्या के कहने या न कहने से कोई प्रयोजन नहीं हैं, यज्ञ के अङ्ग की पूर्णता से ही प्रयोजन है । पश्वादि अङ्ग के विपन्न (=पूर्ण न) होने पर भी यज्ञ अविगुण (=पूर्ण) होता ही है और फल यज्ञ से होता है, पश्वादि से नहीं होता । इसलिये

---

१. शत० ६।८।१।८॥ २. यजुः २४।२०॥

तस्मात् पश्वादेर्गुणेनाज्ञातेन ज्ञातेन वा न किंचित् प्रयोजनमस्तीति न तद्विवक्षितम्। यद्धि प्रयोजनवत् तद् विवक्षितमित्युच्यते ॥११॥

एकश्रुतित्वाच्च ॥१२॥ (पू०)

भवति च किंचिद्वचनं, येन विज्ञायते न तद्विवक्षितमिति—**यदि सोममपहरेयुरेकां गां दक्षिणां दद्यात्**[1] इति। यदि हि विवक्षितं भवेन्नेकामिति ब्रूयात् गामित्येकवचनस्य विवक्षितत्वात्। तथा **अवी द्वे, धेनू द्वे**[2] इत्यत्रापि द्वे इति वचनं ज्ञापकम्—अविवक्षितम् अवी इति द्वित्वमिति। **त्रीन् ललामान्**[3] इत्यत्रापि त्रीनिति वचनं लिङ्गं ललामानिति वहुवचनमविवक्षितमिति ॥१२॥

प्रतीयत इति चेत् ॥१३॥ (आ०)

एवं चेत्पश्यसि अविवक्षिता संख्येति। तन्न। प्रतीयते हि संख्याऽऽख्यातवचन-

---

पश्वादि के [संख्यारूप] गुण के अज्ञात वा ज्ञात होने से कोई प्रयोजन नहीं है, अतः वह विवक्षित नहीं है। जो प्रयोजन वाला होता है वह विवक्षित होता है, ऐसा कहा जाता है।

एकश्रुतित्वाच्च ॥१२॥

सूत्रार्थः—(एकश्रुतित्वात्) एक के श्रवण होने से (च) भी पश्वादिगत संख्या विवक्षित नहीं है।

व्याख्या—कोई वचन भी होता है जिस से जाना जाता है कि संख्या विवक्षित नहीं है—यदि सोममपहरेयुरेकां गां दक्षिणां दद्यात् (=यदि सोम का कोई अपहरण कर ले तो एक गौ दक्षिणा देवे)। यदि [द्रव्यगत संख्या] विवक्षित होवे तो 'एकाम्' ऐसा न कहे 'गाम्' इस एक वचन के विवक्षित होने से। तथा—अवी द्वे, धेनू द्वे (=दो भेड़ें, दो धेनु=प्रसूता गौ) यहां भी 'द्वे' कहना ज्ञापक है कि 'अवी' यहां द्विवचन अविवक्षित है। त्रीन् ललामान् (=तीन ललाम=अश्वों को) यहां भी 'त्रीन्' वचन लिङ्ग है कि 'ललामान्' यहां वहुवचन अविवक्षित है ॥१२॥

प्रतीयते इति चेत्। १३॥

सूत्रार्थः—(प्रतीयते) संख्या आख्यात वचन की अङ्गभूत प्रतीत होती है (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

व्याख्या—यदि ऐसा समझते हो कि संख्या अविवक्षित है, तो वह ठीक नहीं। संख्या

---

१. अनुपलब्धमूलम्। शतपथब्राह्मणे 'यदि सोममपहरेयुः' इत्यंशः ४।५।१०।१ इत्यत्र, 'तत्राप्येकामेव गां दद्यात्' इति तत्रैव षष्ठकण्डिकायां दृश्यते।

२. अनुपलब्धमूलम्। तै० संहितायां (५।६।२१) 'अवी द्वे धेनू' इत्येवं पाठ उपलभ्यते।

३. तै० सं० २।१।४॥ काठ० १३।७॥

स्याङ्गभूता। यथा पशुमानयेत्युक्ते, एक एवाऽऽनीयते। पशू इति द्वौ। पशूनिति बहव आनीयन्ते। यश्च प्रतीयते स शब्दार्थः। तस्माद् यज्ञस्याङ्गभूता संख्येति शब्दाद् गम्यते। न च शब्दाद् गम्यमानमृते कारणादविवक्षितं भवति ॥१३॥

नाशब्दं तत्प्रमाणत्वात् पूर्ववत् ॥१४॥ (आ० नि०)

नैतदेवं, सत्यं प्रतीयते, न त्वयं शब्दार्थो, व्यामोहादेषा प्रतीतिः। कुत एतत्? वाक्याद्धि यज्ञाङ्गमित्यवगम्यते। वाक्यं च श्रुत्या बाध्यते। तस्मादशब्दार्थोऽयं यज्ञ एक[1]त्वादीति। अशब्दार्थोऽपि हि प्रतीयते। यथा, पूर्वो धावतीति। स पूर्व इत्युच्यते, यस्यापरोऽस्ति। तेन पूर्व इत्युक्तेऽपरो गम्यते। न त्वपरो 'धावति' इति श्रवणात् प्रतीयते। एवमिहापि पशुमित्येकत्वं गम्यते, न तु यज्ञे। यथैव हि पूर्व इत्युक्तेऽपरो

निश्चय ही आख्यात वचन की अङ्गभूत प्रतीत होती है। जैसे पशुमानय ऐसा कहने पर एक ही पशु लाया जाता है। 'पशू' ऐसा कहने पर दो पशु। पशून् ऐसा कहने पर बहुत पशु लाये जाते हैं। जो विदित होता है वह शब्दार्थ है। इसलिये संख्या यज्ञ की अङ्गभूत है। ऐसा शब्द से जाना जाता है। और शब्द से बोधित बिना कारण के अविवक्षित नहीं होता है ॥१३॥

नाशब्दं तत्प्रमाणत्वात् पूर्ववत् ॥१४॥

सूत्रार्थः—संख्या आख्यात वचन की अङ्गभूत प्रतीत होती है, ऐसा (न) नहीं है। आख्यात-सम्बद्ध प्रतीयमान संख्यारूप अर्थ (तत्प्रमाणत्वात्) पद-श्रुति के प्रमाण होने से (अशब्दम्) शब्द से बोधित नहीं है, वाक्य से जानी जाती है। वाक्य से श्रुति बलवती होती है। (पूर्ववत्) पूर्व शब्द के समान। पूर्व शब्द का प्रयोग वहीं होता है जहां दूसरा पश्चात् हो। इस कारण **पूर्वो धावति** (=पूर्व पुरुष दौड़ता है) ऐसा कहने पर 'दूसरा पश्चात् स्थित नहीं दौड़ता' यह अर्थ यद्यपि जाना जाता है तथापि वह 'पूर्वो धावति' का अर्थ नहीं माना जाता है।

व्याख्या—इस प्रकार नहीं है। सत्य है कि संख्या प्रतीत होती है, परन्तु वह आख्यात शब्द का अर्थ नहीं है। यह प्रतीति व्यामोह (=अज्ञान) से होती है। यह कैसे [जाना जाता है कि संख्या की प्रतीति व्यामोह से होती है]? वाक्य से ही संख्या यज्ञ का अङ्ग है, ऐसा जाना जाता है। वाक्य श्रुति से बाधा जाता है। इस कारण यह शब्द बोधित अर्थ नहीं है कि यज्ञ में एकत्वादि विवक्षित हैं। अशब्द (=शब्द से अबोधित) अर्थ भी प्रतीत होता है। जैसे 'पूर्वो धावति' में। पूर्व वह कहाता है जिस का अपर (=दूसरा) [साथी] होवे। इस कारण 'पूर्व' ऐसा कहने पर 'अपर' जाना जाता है। अपर (=पिछला) 'दौड़ता' ऐसा श्रवण से प्रतीत नहीं होता [अर्थात् अपर के बिना पूर्व की सत्ता न होने पर भी पूर्व के साथ प्रतीयमान 'अपर' का 'धावति' के साथ सम्बन्ध नहीं होता है]। इसी प्रकार यहां भी 'पशुम्' ऐसा कहने पर एकत्व जाना जाता है, परन्तु यज्ञ में [एकत्व] नहीं जाना जाता है [अर्थात् 'एक पशु का आलभन करे' यह अर्थ नहीं जाना जाता है]। जैसे 'पूर्व' ऐसा कहने

---

१. एकत्वादि भवतीति पाठान्तरम्।

गम्यत एव केवलं, न तु स विधीयते कस्मिंश्चिदर्थे। एवमिहापि संख्या प्रतीयत एव केवलं, न कर्तव्यतया यज्ञे विधीयते न पशौ। कथं न पशौ विधीयत इति इति चेत्? विधायकस्याभावात्। आख्यातशब्दो विधायको भविष्यतीति। एतदपि नोपपद्यते, द्रव्यदेवतासंबन्धस्य स विधायकः सन्नालभत इति न संख्यासंख्येयसंबन्धं विधातुमर्हतीति। भिद्येत हि तथा वाक्यम्। तस्मादविवक्षिता संख्येति ॥१४॥

शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तद्दृश्यते तस्य
ज्ञानं यथाऽन्येषाम् ॥१५॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति, न यज्ञे संख्या शब्देन श्रूयत इति।

पर 'अपर' केवल जाना जाता है, किसी अर्थ में उस का विधान नहीं किया जाता है। इसी प्रकार यहां भी संख्या केवल प्रतीत ही होती है, कर्तव्यरूप से न यज्ञ में विधान की जाती है और न पशु में। यदि कहो कि पशु में [एकत्व संख्या] क्यों नहीं विधान की जाती है तो [हमारा कहना है] विधायक के न होने से। यदि कहो कि आख्यात शब्द विधायक हो जायेगा, तो यह भी उपपन्न नहीं होता है। वह(आख्यात शब्द) द्रव्य और देवता के सम्बन्ध का विधायक होता हुआ संख्या और संख्येय के सम्बन्ध का विधान नहीं कर सकता। वैसा मानने पर वाक्य-भेद होगा। इसलिये संख्या विवक्षित नहीं है।

विवरण—स पूर्व इत्युच्यते यस्यापरोऽस्ति—तुलना करो—सति अन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते। सति अन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्त इत्युच्यते (महा० १।१।२१) अर्थात् अन्य के होने पर जिस के पूर्व में कोई न हो परे विद्यमान हो वह आदि कहाता है और अन्य के होने पर जिससे परे कोई न हो पूर्व में हो वह अन्त कहाता है। इसी प्रकार पूर्व और अपर शब्द सापेक्ष हैं। अन्य के होने पर ही पूर्व अपर कहे जा सकते हैं। भिद्यते ही तथा वाक्यम्—इस का भाव यह है कि यदि 'आलभते' आख्यात से द्रव्य और देवता तथा संख्या और संख्येय दोनों के सम्बन्ध को कहें तो दो अर्थ को कहने के लिये वाक्यभेद करना पड़ेगा ॥१४॥

शब्दवत् तूपलभ्यते······ यथाऽन्येषाम् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(तु)'तु' शब्द पूर्व पक्ष 'यज्ञ में संख्या शब्द से नहीं जानी जाती है' के निवर्तन के लिये है। (शब्दवत्) शब्द के समान संख्या भी (उपलभ्यते) आख्यातवाच्य अर्थ में उपलब्ध होती है। (तदागमे) उस के आगम=प्रयोग होने पर (तत्) वह (दृश्यते) देखी जाती है। (तस्य) उस संख्या का (ज्ञानम्) ज्ञान वैसे ही होता है (यथा) जैसे (अन्येषाम्) अन्यों का।

विशेष 'तदागमे तद् दृश्यते' का स्पष्टीकरण भाष्य में देखें।

व्याख्या—'तु' शब्द पक्ष को हटाता है। यह नहीं है—'संख्या यज्ञ में शब्द से नहीं जानी जाती है'। आख्यातवाच्य अर्थ में संख्या जानी जाती है। लोक में पशुमानय एकवचन

आख्यातवाच्ये ह्यर्थे उपलभ्यते। लोके पशुमानयेत्येकवचने सति, एकपशुविशिष्टमानयनं[1] प्रतीयते। पशू आनयेति द्वित्वविशिष्टं गम्यते। तत्र ह्येकत्वमपैति, द्वित्वमुपजायते। यस्य चाऽऽगमे यदुपजायते, स तस्यार्थ इति गम्यते। तस्य ज्ञानं, यथाऽऽन्येषां शब्दानाम्। अश्वमानयेत्युक्तेऽश्वानयनं प्रतीयते। गामानयेति गवानयनम्। तत्राश्वोऽपैति गौश्चोपजायते। तेन ज्ञायते—अश्वशब्दस्याश्वोऽर्थो गोशब्दस्य गौरिति। यदुक्तम्—श्रुत्या वाक्यार्थो बाध्यत इति। उच्यते। न श्रुतिर्ब्रूते वाक्यार्थो नास्तीति। केवलं तु प्रातिपदिकार्थगतां संख्यामाह। तादृशी संख्या वाक्येन यज्ञे विधीयते। प्रातिपदिकार्थो ह्याख्यातवाच्येन संबध्यते, विभक्त्यर्थोऽपि। तथा हि तद्विशेषणविशिष्ट आलम्भो गम्यते। तत्रैकार्थत्वादेकवाक्यमवकल्पते। पशौ हि संख्यायां विधीयमानायामेक आख्यातशब्दो न शक्नुयादाख्यातार्थं विधातुं संख्यासंख्येयसंबन्धं च। तस्माद् यज्ञे विवक्षिता संख्येति ॥१५॥

होने पर एकत्वविशिष्ट पशु का आनयन (=लाना) प्रतीत होता है। पशू आनय ऐसा कहने पर द्वित्वविशिष्ट [पश्वानयन] प्रतीत होता हैं। वहां 'पशू' में एकत्व हटता है और द्वित्व उत्पन्न होता है। जिस के आगमन पर जो उत्पन्न होता वह उस का अर्थ है ऐसा जाना जाता है। उस का ज्ञान वैसा ही होता है जैसा अन्य शब्दों का। अश्वमानय ऐसा कहने पर अश्व का आनयन प्रतीत होता है। गामानय ऐसा कहने पर गो का आनयन जाना जाता हैं। वहां 'अश्व' शब्द हटता है और गो शब्द उत्पन्न होता है। इस से जाना जाता है कि अश्व शब्द का अश्व अर्थ है और गो शब्द का गौ। और जो यह कहा कि 'श्रुति से वाक्यार्थ बाधा जाता है' इस विषयमें कहते हैं—श्रुति यह नहीं कहती कि वाक्यार्थ नहीं है। वह श्रुति तो केवल प्रातिपदिकार्थ में विद्यमान संख्या को कहती है। वैसी (=प्रातिपदिकार्थ गत) संख्या वाक्य से यज्ञ में विधीयमान होती है। प्रतिपदिकार्थ आख्यातवाच्य अर्थ के साथ संबद्ध होता हैं और विभक्त्यर्थ भी सम्बद्ध होता है। वैसा होने से ही उस (=संख्यारूपी) विशेषण से विशिष्ट आलभन होता है। वहां एकार्थ होने से एकवाक्यता उपपन्न होती है। पशु में ही संख्या के विधीयमान होने पर एक आख्यात शब्द आख्यातार्थ को और संख्या-संख्येय सम्बन्ध को नहीं कह सकता। इसलिये यज्ञ में संख्या विवक्षित है।

विवरण—एकत्वमपैति द्वित्वमुपजायते……गोशब्दस्य गौरिति—इस प्रकरण में जिस प्रकार अपनय और उपजन से विभक्ति और शब्द की अर्थवत्ता दर्शाई है। इसे महाभाष्य (१।२।४५) में अन्वय-व्यतिरेक न्याय कहा है। उस का उपपादन महाभाष्यकार ने इस प्रकार किया है—

वृक्ष इत्युक्ते कश्चिच्छब्दः श्रूयते—वृक्ष शब्दोऽकारान्तः सकारश्च प्रत्ययः। अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते मूलस्कन्धफलपलाशवान् एकत्वं च। वृक्षौ इत्युक्ते कश्चिच्छब्दो हीयते कश्चिदु-

---

१. एकत्वविशिष्टं पश्वानयं प्रतीयते' इति पाठो युक्ततरः स्यात्, उत्तरत्र तथा दर्शनात्।

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥१६॥ (उ०)

किमिति ? कर्णा याम्याः, अवलिप्ता रौद्राः, नभोरूपाः पार्जन्याः । तेषामैन्द्राग्नो दशमः[1] इति । यदि त्रित्वं विवक्षितं तदैन्द्राग्नो दशमो भवति । तथा, कृष्णा भौमाः, धूम्रा आन्तरिक्षाः, बृहन्तो दिव्याः, शबला वैद्युताः, सिध्मास्तकारका[2] इति प्रकृत्याऽऽह—अर्धमासानां वैतद्रूपं यत्पञ्चदशिनः[3] इति । तस्मादपि पश्यामो विवक्षिता संख्येति ।

पजायते कश्चिदन्वयी । सकारो हीयते औकार उपजायते वृक्षशब्दोऽकारान्तोऽन्वयी । अर्थोऽपि कश्चिद् हीयते कश्चिदुपजायते कश्चिदन्वयी । एकत्वं हीयते, द्वित्वमुपजायते, मूलस्कन्धफलपलाशवानन्वयी । ते मन्यामहे यः शब्दो हीयते तस्यासवर्थो योऽर्थो हीयते, यः शब्द उपजायते तस्यासावर्थो योऽर्थ उपजायते, यः शब्दोऽन्वयी तस्यासावर्थो योऽर्थोऽन्वयी ।

अर्थ स्पष्ट होने से महाभाष्य के वचन का भाषान्तर नहीं किया है ॥१५॥

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(तद्वत्) जैसे पूर्व सूत्र में संख्या की विवक्षितता दर्शाई है, उसी प्रकार (लिङ्गदर्शनम्) लिङ्ग का दर्शन (च) भी होता है । अर्थात् तेषामैन्द्राग्नो दशमो भवति श्रुति भी प्रातिपदिकगत संख्या याग में विवक्षित है ऐसा दर्शाती है ।

व्याख्या—क्या है [लिङ्गदर्शन] ? कर्णा याम्याः, अवलिप्ता रौद्राः, नभो रूपाः पार्जन्याः । तेषामैन्द्राग्नो दशमः (=कर्ण ? यम देवतावाले, अवलिप्त रुद्र देवतावाले और आकाश के समान नील वर्ण पर्जन्य देवतावाले हैं । उन में इन्द्राग्निदेवता वाला दसवां होता है) । यदि [उक्त वचन में] त्रित्व विवक्षित है, तब ऐन्द्राग पशु दसवां होता है । तथा—कृष्णा भौमाः, धूम्रा आन्तरिक्षाः, बृहन्तो दिव्याः, शबला वैद्युताः, सिध्मास्तारकाः (=काले भूमिदेवतावाले, धूंए के वर्णवाले अन्तरिक्षदेवतावाले, स्थूलकाय द्युदेवतावाले, शबल=मिश्रवर्ण विद्युद्देवतावाले और सिध्म=श्वेत दागवाले तारक=नक्षत्र देवतावाले हैं) । इन को कह कर कहा है—अर्धमासानां वा एतद् रूप यत् पञ्चदशिनः (यह अर्धमासों का रूप है जो १५ संख्यावाले हैं) । इस से भी जाना जाता है कि [यहां त्रित्व] संख्या विवक्षित है (३×५=१५) ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । 'तेषामैन्द्राग्नो दशमः' इत्यंशं विहाय शेषभागः बहुत्र संहितासु (मा० २४।३; काण्व २६।४; मै० ३।१३।४) उपलभ्यते । द्र० आप० श्रौत २०।१४।१—रोहितो धूम्ररोहित इति नव नव प्रति विभज्यैन्द्राग्नदशमान् एके समामनन्ति ॥

२. एतावान् पाठः स्वल्पभेदेन बह्वीषु संहितासु (मा० २४।१०; काण्व २६।११; मै० सं० ३।१३।११) अत्र 'कृष्णा भौमाः, धूम्रा आन्तरिक्षाः, बृहन्तो दैवाः, शबला वैद्युताः, सिध्मास्तारका इति पञ्चदशिनः' इति आप० श्रौत० २०।४।१६ सूत्रमनुसन्धेयम् । शाबरभाष्ये 'सिद्धास्तारकाः' इत्यपपाठः ।

३. अनुपलब्धमूलम् ।

यत्तूक्तम्—एकां गामित्यविवक्षां दर्शयतीति। अत्रोच्यते—गोसंख्यासंबन्धं विधातुमेतदुच्यते। इतरथा हि गोदक्षिणासंबन्धो विहितो गम्येत। तस्माद्विवक्षितेऽपि वाच्यमेतत्। अवी द्वे, धेनू द्वे, त्रीन् ललामान्[1] इति चानुवादाः ॥१६॥

तथा च लिङ्गम् ॥१७॥ (उ०)

एवं च कृत्वा समानश्रुतिकं लिङ्गमपि विवक्षितं भविष्यति। तत्रेदं दर्शनमु-

---

विवरण—ये पशु अश्वमेध प्रकरण में पढ़े हैं। **कर्णा याम्याः**—कर्णा शब्द के विषय में व्याख्याकारों का मतभेद है। महीधर (मा० २४।३) ने कर्णा शब्द का अर्थ **कर्णश्चन्द्रे च वृक्षे च** विश्वकोष के अनुसार चन्द्र सदृश श्वेत वर्ण किया है। सायण भाष्य के नाम से मुद्रित काण्व सं० २६।४ में 'विशिष्ट कर्ण अवयववाले' अर्थ लिखा है। सायण ने तै० सं० ५।६।१५ के भाष्य में छिन्न-कर्ण (=कटे हुए कानवाला) तथा भट्टभास्कर ने इसी स्थान पर छिद्रकर्ण (=छिदे हुए कानवाला) अर्थ दर्शाया है। इस प्रकार व्याख्याकारों में मतभेद है। **अवलिप्ता रौद्राः**—इस का अर्थ (मा० २४।३; काण्व २६।४ में) अवलेप=गर्व=अहंकार युक्त किया है। **यदि त्रित्वं विवक्षितम्**—उक्त उद्धरण में यद्यपि तीन संख्या श्रुत नहीं है, तथापि **कपिञ्जलाधिकरण-न्याय** (मी० अ० ११, पाद १, अधि० ७, सूत्र ३८–४५) जिसमें बहुवचन की तीन संख्या में परिसमाप्ति कही गई है, उसे सिद्धवत् मानकर 'यदि त्रित्वं विवक्षितम्' यहां कहा है। तै० सं० ५।६।१५ में तो प्रत्यक्ष त्रयः शब्द श्रुति में ही पठित है। **सिध्मास्तारकाः**—काशी तथा पूना में मुद्रित शाबरभाष्य मे 'सिद्धाः' अपपाठ है। 'सिध्म' को लोक में फुलझड़ी कहते हैं। उस से शरीर में सफेद दाग पड़ जाते हैं। यह श्वेत कुष्ठ का क्षुद्र रूप है। यहां सिध्म शब्द श्वेतवर्ण धब्बेवाले पशु में प्रयुक्त हुआ है। इन के देवता तारक=नक्षत्र भी आकाश में सिध्मरोग के दागों के समान छिटके हुए दिखाई देते हैं।

व्याख्या—जो यह कहा—एकां गाम् ऐसा कहना [अर्थात् एकवचन का प्रयोग करते हुए भी एकाम् का निर्देश करना) संख्या की अविवक्षा को दर्शाता है। इस विषय में कहते हैं—गौ और संख्या का सम्बन्ध विधान करने के लिये यह (=एकाम्) कहा है। अन्यथा (=एकाम्) न कहने पर गौ और दक्षिणा का सम्बन्ध जाना जाये—गां दक्षिणां दद्यात् (गौ दक्षिणा देवे) [अन्य न देवे। इस नियम से प्राप्त परिसंख्या की निवृत्ति के लिये एकां गाम् कहा है। द्र० टुप्टीका]। इसलिये [एक संख्या के] विवक्षित होने पर भी यह [एकत्व] कहना चाहिये। अवी द्वे, धेनू द्वे, त्रीन् ललामान् ये अनुवाद हैं ॥१६॥

तथा च लिङ्गम् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(तथा) इस प्रकार समानश्रुति पठित (लिङ्गम्) लिङ्ग (च) भी विवक्षित होता है।

व्याख्या—इसी प्रकार समान श्रुतिवाला (देवता और द्रव्यनिर्देशक शब्द के साथ पठित)

---

१ एतस्मिन् विषये पूर्वत्र (पृष्ठ ११९५) २, ३ टिप्पण्यौ द्रष्टव्ये।

पपद्यते—वसन्ते प्रातराग्नेयीं कृष्णग्रीवामालभते, ग्रीष्मे माध्यंदिने सिंहीमैन्द्रीं, शरद्यपराह्णे श्वेतां बार्हस्पत्याम्[1], इति। तत्र श्रूयते-गर्भिणयो भवन्ति[2] इति। गर्भः स्त्रीणां गुणः। तेन स्त्रियो दर्शयतीति भविष्यति। तथा—अश्व ऋषभो वृष्णिर्बस्तः पुरुषः[3] इति, ते प्राजापत्याः[4] इति। तत्र श्रूयते—मुष्करा भवन्ति सेन्द्रियत्वाय[5] इति। मुष्करत्वं पुंसां गुणः। तेन पुंप्राप्तिं दशयतीतिः ॥१७॥ इति पश्वेकत्वादे विवक्षाधिकरणम् ॥५॥ पश्वेकत्वन्यायः ॥

लिङ्ग भी विवक्षित होगा। वहां यह दर्शन उपपन्न होता है—वसन्ते प्रातराग्नेयीं कृष्णग्रीवामालभते (=वसन्त में प्रातःकाल अग्नि देवतावाली काली गर्दनवाली अजा का आलभन करे), ग्रीष्मे माध्यन्दिने सिंहीमैन्द्रीम् (=ग्रीष्म में माध्यन्दिन में इन्द्र देवतावाली सिंही ? का आलभन करें), शरद्यपराह्णे श्वेतां बार्हस्पत्याम् (शरद् ऋतु में अपराह्ण में बृहस्पति देवतावाली श्वेतरंग की अजा का आलभन करे)। वहां सुना जाता है—गर्भिणयो भवन्ति (गर्भिणी होती हैं)। गर्भ स्त्रियों का गुण है। इस से स्त्रियों (=मादाओं) को दर्शाता है यह जाना जायेगा। तथा—अश्व ऋषभो वृष्णिर्बस्तः पुरुषः (=अश्व, बैल, नर भेड़, बकरा, पुरुष)। ते प्राजापत्यः (=वे प्रजापति देवतावाले हैं)। वहां सुना जाता है—मुष्करा भवन्ति सेन्द्रियत्वाय (=मुष्कर=अण्डकोश से युक्त होते हैं सेन्द्रियत्व के लिये)। अण्डकोष से युक्त होना नरों का धर्म है। उस से नर की प्राप्ति को दर्शाता है।

विवरणः—वसन्ते प्रातराग्नेयीम् इत्यादि भाष्योद्धृत वचन यथातथरूप में हमें उपलब्ध नहीं हुआ। तै० सं० २।१।५।५ में स्वल्प भेद से मिलता है। (पाठ भाष्य की टिप्पणी में देखें)। यह काम्यपशु-प्रकरण में पठित है। तै० सं० के अनुसार यहां जिन पशुओं का आलभन कहा है वे मल्हा होनी चाहिये। मल्हा का अर्थ भाष्यकारों ने गलस्तना (=जिन के गलों में स्तन सदृश अवयव लटकता है) किया है। सिंहीमैन्द्रीम्—यहां भाष्य का 'सिंही' पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। तै० सं० के अनुसार 'संहिताम्' पाठ युक्त है। इसका अर्थ भाष्यकार ने कृष्ण और श्वेत मिश्रित रंगवाली किया है। अश्व ऋषभः आदि वचन भाष्यकार ने किस ग्रन्थ का और कहां का उद्धृत किया है, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका। हमने तत्सदृश जो पाठ मिला

---

१ अनुपलब्धमूलम्। तै० संहितायां (२।१।२।५) त्वित्थं श्रूयते—'वसन्ता प्रातराग्नेयीं कृष्णग्रीवामालभेत ग्रीष्मे मध्यन्दिने संहितामैन्द्रीं शरद्यपराह्णे श्वेतां बार्हस्पत्याम्।'

२. तै० सं० २।१।२।६ पुनामुद्रितसंस्करणे इह चोत्तरत्र च 'गर्भिण्यो भवन्ति' इत्येव पाठः। मुद्रिते तु 'गर्भिणयो भवन्ति' इत्येवोपलभ्यते।

३. अनुपलब्धमूलम्। पुरुषपदं विहाय शेषांशः तै० सं० २।३।७।५ इत्यत्र श्रूयते।

४. यजुः २४।१; ३०।२२॥ एवं बहुत्र संहितासु।

५. तै० ब्रा० १।८।२।२॥

[पुंस्त्वादिलिङ्गस्य विवक्षाधिकरणम् ॥६॥]

अधिकरणान्तरं वा—

संख्याधिकरणं लिङ्गाधिकरणेऽतिदिश्यते—

लिङ्गमविवक्षितम् । श्रुत्या वाक्यस्य बाधितत्वात् । न च विवक्षितमिव श्रूयत इति भवति लिङ्गम्—**स्त्री गौः सोमक्रयणी**[1] इति स्त्रीवचनात्सोमक्रयणीत्यविवक्षित-मेव[2] लिङ्गं प्रतीयते । ननु कथं मृगीमानयेति न मृग आनीयते ? नैवम् । अशाब्दं[3] तु तत्, पूर्वो धावतीति यथा ।

तथा च लिङ्गम् ॥१७॥ (उ०)

उस का निर्देश भाष्य पाठ की टिप्पणी में कर दिया है । यदि भाष्य का पाठ **अश्व ऋषभो वृष्णिर्वस्त इति पुरुषः** हो तो अधिक युक्त होगा । यहां पुरुष लिङ्ग विवक्षित है ।

विशेष—भाष्यकार ने इस सूत्र को प्रकृत अधिकरण के अनुकूल व्याख्या कर के आगे अधिकरणान्तररूप से व्याख्यात किया है । हमारे विचार में **तथा च लिङ्ग** सूत्र का भाष्यकार ने जो उत्तर व्याख्यान 'संख्या के समान लिङ्ग भी विवक्षित होता है' किया है वही सूत्राक्षरों के अनुरूप अधिक है । पूर्वत्र भी इसी प्रकार पूर्व अधिकरणसिद्धन्याय का अन्य विषय में बहुत्र अतिदेश किया है ॥१७॥

व्याख्या—अथवा भिन्न अधिकरण हैं—

संख्याधिकरण लिङ्गाधिकरण में अतिदिष्ट किया जाता है—

(पूर्वपक्ष) लिङ्ग अविवक्षित है । श्रुति से वाक्य के बाधित होने से । और विवक्षित के समान सुना भी नहीं जाता है । इस में लिङ्ग होता है—स्त्री गौः सोमक्रयणी (=सोम को क्रय करने में साधनभूत स्त्री गौ होती है) । यहां 'स्त्री' के वचन से सोमक्रयणी में श्रुत स्त्रीलिङ्ग विवक्षित प्रतीत नहीं होता है । (आक्षेप) मृगीमानय (= हरिणी को लाओ) ऐसा कहने पर मृग (=हरिण) क्यों नहीं लाया जाता ? (समाधान) ऐसा नहीं है । ['हरिणीमानय' में जो स्त्रीलिङ्ग की प्रतीत होती है] वह अशाब्द (=शब्द से बोधित नहीं है । जैसे पूर्वो धावति ऐसा कहने पर अपरो न धावति अर्थ की प्रतीत होती है, परन्तु वह किसी शब्द से बोधित नहीं है ।

तथा च लिङ्गम् ॥१७॥

सूत्रार्थः—जैसे द्रव्यपदघटित एकत्वादि संख्या विवक्षित है (तथा) उसी प्रकार (लिङ्गम्) स्त्रीत्वादि लिङ्ग (च) भी विवक्षित हैं ।

---

१. आप० श्रौत० २२।१।६॥ २. 'अविवक्षितमिव' इति पाठान्तरम् ।

३. 'अशब्दं तु' इति पाठान्तरम् ।

लिङ्गं विवक्षितं, वाक्यार्थस्य श्रुत्याऽप्रतिषिद्धत्वात् । तथा च लिङ्गम्—**गर्भिणयो भवन्ति**[1] इति । तथा च, **मुष्करा भवन्ति**[2] इति । यदुक्तम्—**स्त्री गौः सोमक्रयणी**[3] इति । तत्र स्त्रीत्यविवक्षितम् । तथा—**प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते**[4] इति पुरुषग्रहणमविवक्षितम् । विस्पष्टो हि न्याय उक्तो लिङ्गविवक्षायाम् । तस्माद् विवक्षितं लिङ्गमिति ॥१७॥ इति **पुंस्त्वादिलिङ्गस्य विवक्षितताधिकरणम्** ॥६॥

—:०:—

[आश्रयिकर्मणामदृष्टार्थताधिकरणम् ॥७॥

अत्राऽऽश्रयिणः पदार्था उदाहरणम् । उत्तमः प्रयाजः, पशुपुरोडाशः, स्विष्टकृद् इत्येते यागा उदाहरणम् । एषु संन्देहः—किं यजिमात्रं संस्कारो देवताया उत यजिनाऽदृष्टं देवतायां क्रियत इति । किं प्राप्तम् ?

सिद्धान्त पक्ष—लिङ्ग विवक्षित है । श्रुति से वाक्यार्थ का प्रतिषेध न करने से । तथा लिङ्ग भी होता है—गर्भिणयो भवन्ति । [गर्भ स्त्री का गुण है ।] और मुष्करा भवति (=अण्डकोषों से युक्त होते हैं) । [अण्डकोष होना पुरुषगुण है] । और जो यह कहा है—स्त्री गौः सोमक्रयणी । वहां 'स्त्री' वचन अविवक्षित है । तथा—प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते (=प्रजापति के लिये नर हाथियों का आलभन करता है) में पुरुष वचन अविवक्षित है । लिङ्ग की विवक्षा में विस्पष्ट ही न्याय कहा है । इसलिये लिङ्ग विवक्षित है ॥१७॥

—:०:—

व्याख्या—इस अधिकरण में आश्रयी पदार्थ उदाहरण हैं । उत्तम (=अन्त्य) प्रयाज, पशुपुरोडाश और स्विष्टकृत् ये याग उदाहरण हैं । इन में सन्देह होता है कि यजिमात्र(=यजन मात्र) देवता का संस्कार है, अथवा यजि (=यजन) से देवता में अदृष्ट उत्पन्न किया जाता है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—उत्तमः प्रयाजः—दर्शपूर्णमास में पांच प्रयाज पठित हैं—**१. समिधो यजति, २. तनूनपातं यजति यद्वा नराशंसं यजति, ३. इडो यजति, ४. बर्हिर्यजति** तथा **५. स्वाहाकारं यजति** (तै० सं० २।६।१) । इन में उत्तम अर्थात् अन्तिम प्रयाज **'स्वाहाकारं यजति'** यहां विचारणीय है । इस के याग का मन्त्र है—**ये३ यजामहे स्वाहाऽग्निं स्वाहा सोमं स्वाहाऽग्निं स्वाहाऽग्नी गोमौ स्वाहाग्नी गोमौ स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा अग्न आज्यस्य व्यन्तु३ वौ३षट्**

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १२०१ टि० २।
२. द्र० पूर्व पृष्ठ १२०१ टि० ५ ।
३. द्र० पूर्व पृष्ठ १२०२ टि० १।
४. अनुपलब्धमूलम् ।

आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत ॥१८॥ (उ०)

आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत । आश्रयिष्वेवंजातीयकेष्वपूर्वस्य भावोऽर्थः प्रत्येतव्योऽविशेषादन्यैराख्यातशब्दैः, यजति ददाति जुहोतीति । उक्तमेतद् भूतं भव्यायोपदिश्यत[1] इति ॥१८॥

(द्र० दर्शपौर्णमासपद्धति, पृष्ठ ७४) । इस मन्त्र में इष्ट और यक्ष्यमाण देवताओं का संकीर्तन है । और इष्ट तथा यक्ष्यमाण देवताओं के संकीर्तन का कृत-अकृत का प्रत्यवेक्षण नाम दृष्ट प्रयोजन है । अतः मन्त्रांश में उत्तम प्रयाज के इष्ट यक्ष्यमाण देवता स्मरणरूप दृष्टार्थता में कोई विवाद नहीं है । त्यागांश में उस का अदृष्टार्थत्व है वा नहीं ? यह संशय है । **पशु-पुरोडाशः—यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः** (आप० श्रौत ७।२२।४) इत्यादि से विहित पशु पुरोडाश के याग में **इन्द्राग्निभ्यां पुरोडाशस्यानुब्रू३हि** (द्र० कुतुहलवृत्ति) इत्यादि मन्त्र से पशु देवता स्मरणरूप दृष्टार्थत्व ही है । परन्तु इसके त्यागांश में अदृष्टार्थता है वा नहीं ? यह संशय है । **स्विष्टकृत्**—इसी प्रकार **स्विष्टकृतं यजति** (तै०ब्रा० १।६।६।६) से विहित स्विष्टकृद् याग के **ये३ यजामहेऽग्निं स्विष्टकृतमयाडग्निरग्नेः प्रिया धामान्ययाट् सोमस्य प्रिया धामान्ययाड् ......प्रति न ईं सुरभीणि व्यन्तु३ वौ३षट्** (द्र० दर्शपौर्णमासपद्धति, पृष्ठ ७९-८०) इत्यादि मन्त्रांश में इष्ट और यक्ष्यमाण देवताओं का संकीर्तन कृत अकृत के पर्यवेक्षण के लिये होने से दृष्टार्थता निर्विवाद है । परन्तु इस में प्रधानयाग से अवशिष्ट पुरोडाश-प्रक्षेपरूप जो होम है वह यज्ञदेश के रिक्तीकरण (=खाली करने) रूप दृष्टार्थ होने से यजमानादि के भक्षण के लिये शेष पुरोडाश के संस्कार के लिये है । त्यागांश में अदृष्टार्थता है वा नहीं ? यह संशय है । **किं यजिमात्रं संस्कारो देवतायाः, उत यजिना अदृष्टं देवतायां क्रियते**—इस का अभिप्राय ऊपर हमने स्पष्ट कर दिया है ॥१७॥

आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत ॥१८॥

सूत्रार्थः—(आश्रयिषु) जो परकीय द्रव्य देवता वा द्रव्य देवता दोनों का आश्रयण करते हैं=संस्कार करते हैं उन आश्रयीभूत उत्तम प्रयाजादि में (भावोऽर्थः) भाव=अपूर्वरूप अर्थ (प्रतीयेत) जाना जावे अर्थात् कल्पनीय होवे, (अविशेषण) **समिधो यजति** इत्यादि अदृष्टार्थक 'यजति' से भिन्न न होने से । अर्थात् **यजति ददाति जुहोति** आदि आख्यात शब्दों से भाव=अपूर्व अर्थ जाना जाता है (द्र० मी० २।१। अधि० १) तद्वत् ही उत्तम प्रयाज **स्वाहाकारं यजति** आदि में भी है ।

व्याख्या—आश्रयीभूत उत्तम प्रयाजादि में [समिधो यजति **आदि से**] **अविशेष होने से भाव=अपूर्वरूप अर्थ जाना जाये ।** [स्वाहाकारं यजति] **इत्यादि प्रकार के आश्रयीभूतों में अपूर्व का भावरूप अर्थ जानना चाहिये अन्य आख्यात** यजति ददाति जुहोति **शब्दों से अभिन्न होने से । यह कह चुके हैं कि भूत का भव्य के लिये उपदेश होता है ।**

---

१. द्वितीयाध्याये प्रथमपादे प्रथमाधिकरणे ।

चोदनायां त्वनारम्भो विभक्तत्वान्न ह्यन्येन विधीयते ॥१९॥ (आ०)

अस्यां तु चोदनायामनारम्भोऽपूर्वस्य। विभक्तोऽयमाख्यातशब्दः यो दृष्टार्थ-स्ततो नापूर्वम्, यः खल्वदृष्टार्थस्ततोऽपूर्वमिति। दृष्टार्थश्चायम्। अस्मिन् हि यागे क्रियमाणे देवता स्मर्यते, स्विष्टकृत्यपि द्रव्यं प्रतिपाद्यते। न चान्येन शब्देनात्रापूर्वं विधीयते। तस्माद् यजिमात्रं संस्कार इति ॥१९॥

विवरण—**उक्तमेतद् भूतं भव्यायोपदिश्यते**-'भूतं भव्याय उपदिश्यते' यह न्याय मीमांसा २।१। अधि० १। सूत्र १-४ से कहा गया है। इस न्याय का अभिप्राय है—भूत=द्रव्य विद्यमान भव्य=होनेवाली क्रिया को सिद्ध करता है। इससे क्रिया से अपूर्व अर्थ जाना जाता है। अथवा यद्यपि याग देवता का संस्कार करता है तथापि वह साधनता को प्राप्त होता हुआ आश्रय होता है, अन्यथा नहीं (द्र० टुपटीका ४।१।१८) ॥१८॥

चोदनायां त्वनारम्भो विभक्तत्वान्न ह्यन्येन विधीयते ॥१९॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है अर्थात् **स्वाहाकारं यजति** आदि में वर्तमान 'यजति' से अपूर्व की प्रतीति होती है, ऐसा नहीं है। (चोदनायाम्) **स्वाहाकारं यजति** इस उत्तम प्रयाज की विधि में (अनारम्भः) अपूर्व का अनारम्भ=अनुत्पत्ति =उत्पत्ति का अभाव है, (विभक्तत्वात्) प्रस्तुत 'यजति' रूप आख्यात के अन्य **समिधो यजति** आदि आख्यात से भिन्न होने से अर्थात् '**स्वाहाकारं यजति** के आख्यात से देवता स्मरणरूप दृष्टं अर्थ जाना जाता है। और '**समिधो यजति**' में देवतोद्देश से यागमात्र का विधान होता है। इसके दृष्टरूप न होने से इस से अपूर्व की प्रतीति होती है। (अन्येन) **समिधो यजति** रूप अन्य आख्यात से देवता स्मरणादि दृष्ट अर्थ (न हि विधीयते) विधान नहीं किया जाता है। अतः वह अदृष्टार्थ है।

विशेष—उपर्युक्त सूत्रार्थ भाष्यकार के मतानुसार है। सुबोधिनी और कुतुहल-वृत्तिकारों ने (अविभक्तत्वात्) पदच्छेद मानकर अन्य अर्थ किया है। उसे उनके ग्रन्थों में देखें।

व्याख्या—**इस (='स्वाहाकारं यजति') विधि में तो अपूर्व का आरम्भ नहीं है [अर्थात् इस से अपूर्व की प्रतीति नहीं होती है]। यह (=यजति) आख्यात शब्द विभक्त है अर्थात् दो प्रकार है। जो आख्यात शब्द दृष्टार्थ है, उस से अपूर्व नहीं होता। जो अदृष्टार्थ है, उस से अपूर्व होता है। यह (='स्वाहाकारं यजति' में वर्तमान 'यजति') आख्यात शब्द दृष्टार्थ है। इस में याग करते हुए देवता का स्मरण किया जाता है। स्विष्टकृत् याग में भी [अवशिष्ट पुरोडाशरूप] द्रव्य का प्रतिपत्ति कर्म है। अन्य किसी शब्द से अपूर्व का यहां विधान नहीं किया जाता है। अतः यजिमात्र (=यागमात्र) संस्कार है।**

स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोऽर्थे च गुणभूतताऽऽश्रयाद्धि गुणीभावः ॥ २० ॥ (उ०)

स्याद्वाऽपूर्वमतः, सत्यामपि देवताचिकीर्षायां, तस्मिन्देवतासंस्कारार्थे गुणभूतता यागस्य द्रव्यप्रतिपादनेन च। मन्त्रेण तत्र देवता स्मर्यते। तस्मिन्मन्त्रेण दृष्टेऽर्थे क्रियमाणे त्यागोऽपरोऽदृष्टार्थः श्रूयते। तस्य न किंचिद् दृष्टमस्ति। देवताश्रयात्तु देवतागतं तदपूर्वमिति गम्यते ॥२०॥ **इति आश्रयिगामदृष्टार्थत्वाधिकरणम् ॥७॥**

—:०:—

विवरण—द्रव्यं प्रतिपाद्यते—अन्यत्र उपर्युक्त द्रव्य का अन्यत्र स्थापन प्रतिपत्ति कर्म कहा जाता है। प्रकृत में प्रधान याग में उपर्युक्त पुरोडाश के भाग को अग्नि में छोड़ना प्रतिपत्तिरूप कर्म है, जो स्विष्टकृदाहुति से किया जाता है ॥१९॥

स्याद् वा द्रव्यचिकीर्षायां............गुणीभावः ॥२०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व निर्दिष्ट आशंका की निवृत्ति के लिये है—अपूर्व की प्रतीत नहीं होती है, ऐसा नहीं है। (द्रव्यचिकीर्षायाम्) द्रव्य देवता के प्रतिपादन की इच्छा होने पर (भावः) भाव्य=अपूर्व (स्यात्) होवे। (अर्थे च गुणभूतता) देवता-संस्काररूप अर्थ में और द्रव्य के प्रतिपत्ति कर्म में याग की गुणभूतता=गुणीभाव है। (हि) यतः मन्त्रांश और प्रक्षेपांश के प्रति ही याग का (आश्रयात्) आश्रयण होने से उस का (गुणीभाव) शेषि-भाव है, त्यागांश के प्रति याग का गुणीभाव न होने से उस से अपूर्व मानना युक्त है।

विशेष—भाष्यादि से सूत्र का प्रतिपद अर्थ अस्पष्ट है। कुतुहलवृत्तिकार ने **गुणीभावः** के स्थान में **गुणभावः** पाठ माना है। तथा सूत्रगत द्रव्य पद को देवता का भी उपलक्षक कहा है।

व्याख्या—इस से अपूर्व होवे देवता के संकीर्तन की इच्छा होने पर भी। उस देवता-संस्काररूप अर्थ में याग की गुणभूतता (=गौणीभाव) है और द्रव्य के प्रतिपादन (=प्रतिपत्ति कर्म) से। मन्त्र से देवता का स्मरण किया जाता है। उस में मन्त्र से देवता स्मरणरूप दृष्ट अर्थ के किये जाने पर भी अन्य जो त्याग है वह अदृष्टार्थ सुना जाता है। उस त्याग का कोई दृष्ट अर्थ नहीं है। देवता के आश्रय से देवतागत वह अपूर्व जाना जाता है ॥२०॥

विवरण—भट्ट कुमारिल ने प्रकृत भाष्य का जो व्याख्यान किया है, उस का भाव इस प्रकार है—'जहां द्रव्य और देवता आख्यात के गुणभूत होवें, वहां अपूर्व माना जाता है और जहां द्रव्य और देवता प्रधान होवें, वहां आख्यातार्थ के द्रव्य और देवता के लिये होने से उस से अपूर्व नहीं जाना जाता है। जो मन्त्रदेवता का संकीर्तन है वह दृष्टार्थ के लिये है, स्मरण के अपेक्षित होने से। परन्तु त्याग तो अदृष्टार्थ ही है, उस (=त्याग) से अपूर्व जानना चाहिये। द्र० टुपटीका।

[प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥८॥

अर्थे समवैषम्यमतो द्रव्यकर्मणाम् ॥२१॥ (प्र० सू०)

अतिक्रान्तस्तृतीयविषयः । अतः प्रभृति द्रव्याणां कर्मणां चार्थ प्रयोजने समवैषम्यं वक्ष्यते । क्वचित्साम्यं, क्वचिद्वैषम्यम् । आमिक्षावाजिनयोर्वैषम्यम्, क्रयपांसूनां वैषम्यं, दण्डस्य मैत्रावरुणधारणे यजमानधारणे च साम्यम् । एवं तत्र तत्र द्रष्टव्यं साम्यं वैषम्यं चेति ॥२१॥ इति प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥८।

—,o:—

विशेष—भट्ट कुमारिल ने उक्त-व्याख्यान में भाष्यगत किसी पद वा पदसमूह की प्रतीक नहीं दी है । पूनामुद्रित संस्करण में इस व्याख्यान के अन्त में १९ सूत्र संख्या दी है । हमारा विचार है कि यह प्रकृत २० वें सूत्र के भाष्य का व्याख्यान है ॥२०॥

—:o:—

अर्थे समवैषम्यमतो द्रव्यकर्मणाम् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(अतः) यहां से (द्रव्यकर्मणाम्) द्रव्यों और कर्मों के (अर्थे) प्रयोजन में (समवैषम्यम्) साम्य और वैषम्य कहेंगे ।

विशेष—समं च विषमं च समविषमे, तयोर्भावः समवैषम्यम् । यहां गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (५।१।१२४) से ब्राह्मणादि के आकृतिगण होने से ष्यञ् प्रत्यय होता है। सूत्रकार के निपातन से यहां गुरुलाघवम् के समान उत्तरपद वृद्धि जाननी चाहिये ।

व्याख्या—तृतीय अध्याय का विषय शेष-शेषिभाव पूर्ण हो गया । यहां से द्रव्यों और कर्मों का अर्थ=प्रयोजन में साम्य और वैषम्य कहेंगे । कहीं साम्य होता है कहीं वैषम्य । आमिक्षा और वाजिनरूप द्रव्यों में वैषम्य है । क्रय (=सोमक्रय) और पांशु (=सोमक्रयणी के सप्तम पद-स्थानस्थ पांसु के ग्रहण) में वैषम्य है । दण्ड के मैत्रावरुण के धारण में और यजमान के धारण में साम्य है । इसी प्रकार वहां-वहां और वैषम्य साम्य जानना चाहिये ।

विवरण—इस अध्याय के प्रथम सूत्र में प्रयुक्ति=कौन किस से प्रयुक्त है अर्थात् कौन पुरुषार्थ है और कौन क्रत्वर्थ है, इस की प्रतिज्ञा कर के गोदोहनादि के शेष-शेषिभाव के विचार द्वारा प्रयुक्ति का विचार समाप्त करके यहां से साक्षात् प्रयुक्ति का विचार करते हैं । इसी दृष्टि से भाष्यकार ने कहा है—अतिक्रान्तस्तृतीय-विषयः ॥२१॥

[आमिक्षाया दध्यानयनप्रयोजकत्वाधिकरणम् ॥६॥]

चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे श्रूयते—**तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्**[1] इति। तत्र संदेहः—किं तप्ते पयसि दध्यानयनमामिक्षा प्रयोजयति न वाजिनम्, उतोभयमिति ? किं प्राप्तम् ?

एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् ॥ २२ ॥ (पू०)

उभयमिति। कुतः ? यस्मिन् कृते यन्निष्पद्यते प्रयोजनवत्, तत्तस्य प्रयोजकमिति गम्यते। दध्यानयने च कृत उभयं निष्पद्यते। आमिक्षाऽपि, तत एव वाजिनमपि। तत्रान्यतरार्थे क्रियेत, यदि विनिगमनायां हेतुर्भवेत्। अगम्यमाने विशेष उभयार्थमानयनमिति गम्यते। तस्मादेकाऽसावुभाभ्यामपि प्रयोजिता निष्पत्तिरिति ॥२२॥

व्याख्या—चातुर्मास्य के वैश्वदेव-पर्व में सुना जाता है—तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम् **(=गरम उबलते हुए दूध में दही डालता है [उस से दूध फट कर जो घना भाग पृथक् होता है] वह विश्वदेव देवतावाली आमिक्षा[2] होती है और वाजिन देवों के लिये वाजिन (=जलरूप भाग] होता है। इस में सन्देह है कि गरम दूध में दही डालने को आमिक्षा प्रयोजित करती है, वाजिन नहीं करता, अथवा दोनों प्रयोजित करते हैं। क्या प्राप्त होता है—**

एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(एकनिष्पत्तेः) एक दधि-प्रक्षेप-रूप प्रयत्न से निष्पन्न होने के कारण (सर्वम्) आमिक्षा और वाजिन दोनों (समम्) बराबर दधिप्रक्षेप के प्रयोजक (स्यात्) होवें।

व्याख्या—दोनों समान प्रयोजक है। किस हेतु से ? जिस के करने पर जो सप्रयोजन द्रव्य निष्पन्न होता है वह उस का प्रयोजन होता है, ऐसा जाना जाता है। दधि का प्रक्षेप करने पर दोनों निष्पन्न होते हैं। आमिक्षा भी और उसी से वाजिन भी। यदि विनिगमना (=विशेष ज्ञान) में हेतु होवे तो वहां [दधि का आनयन] एक के लिये किया जाये। विशेष के ज्ञान न होने पर उभयार्थ दधि का प्रक्षेप है, ऐसा जाना जाता है। इसलिये दध्यानयन निष्ठ यह एक निष्पत्ति दोनों से प्रयोजित हैं॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. आमिक्षा को लोक में छैना, पनीर आदि कई नामों से कहते हैं।

संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात् ॥२३॥ (उ०)

नैतदस्ति, उभयं प्रयोजकमिति । आमिक्षा प्रयोक्त्री । कुतः ? नात्र यद् दधिपयोभ्यां निर्वर्त्यते तद्धविः । यदि तद्धविः स्याद् उभयं ताभ्यामेव निष्पद्यत इति न गम्येत विशेषः । किं तर्हि हविरिति ? पयो दधिसंसृष्टम् । कुत एतत ? सा वैश्वदेवी-त्युच्यते, न ततो यन्निष्पद्यत इति । ननु स्त्रीलिङ्गनिर्देशादामिक्षा हविः, सा च ततो निष्पद्यते । वाजिनं च हविः, तदपि निष्पद्यत इति । नेत्युच्यते । तदेव हि पयस्तप्तं दधिसंयुक्तमामिक्षा भवति । तस्मात् स्त्रीलिङ्गमदोषः । आह । यदि पयो दधिसंसृष्टं हविः किं तर्ह्युच्यत आमिक्षा प्रयोजिकेति । उच्यते । आमिक्षायां दधिपयसी विद्येते, न वाजिने । कथमवगम्यते ? संसर्गरसनिष्पत्तेः । तत्र हि दधिपयसोः संसृष्टयो रस उपलभ्यते, तेन तत्र दधिपयसी इत्यनुमानं भवति । वाजिने तिक्तकटुको रसः ।

संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त समप्रयोजकत्व का निवर्तक है । दध्यानयन के आमिक्षा और वाजिन एक जैसे प्रयोजक नहीं हैं । (संसर्गरसनिष्पत्तेः) संसृष्ट दधि और पयः के रस की निष्पत्ति से (आमिक्षा) आमिक्षा (प्रधानम्) प्रधान (स्यात्) होवे ।

विवरण—संसर्ग शब्द में घञ् प्रत्यय है । अतः इस का अर्थ संसृष्ट=मिला हुआ है । दधि और पयः के मिले हुए रस की निष्पत्ति आमिक्षा में देखी जाती है, अतः वही प्रधान है अर्थात् आमिक्षा ही दध्यानयन की प्रयोजिका है ।

व्याख्या—दोनों (=आमिक्षा और वाजिन) [दध्यानयन के] प्रयोजक हैं, ऐसा नहीं है । आमिक्षा प्रयोजिका है । कैसे ? जो दहि और दूध से निष्पन्न होता है, वह यहां हवि नहीं है । यदि वह हवि होवे तो दोनों (=आमिक्षा और वाजिन) उन (=दहि और दूध) से निष्पन्न होते हैं इसलिये [आमिक्षा ही हवि है, ऐसा] विशेष नहीं जाना जाये । तो हवि क्या है ? दही से मिला हुआ दूध । यह कैसे ? वह 'वैश्वदेवी है' ऐसा कहा जाता है । वह हवि नहीं जो उस (=दधि पय के संसर्ग) से निष्पन्न होता है । (आक्षेप) स्त्रीलिङ्ग से निर्देश से आमिक्षा हवि है । वह आमिक्षा उस (=दध्यानयन) से निष्पन्न होती है । वाजिन भी हवि है, वह भी निष्पन्न होता है । (समाधान) [वाजिन दूध दही के संसर्ग से उत्पन्न] नहीं होता । वही गरम दूध दही से संयुक्त आमिक्षा होती है । इसलिये ['सा' इस] स्त्रीलिङ्ग में दोष नहीं है । (आक्षेप) यदि दही से संयुक्त दूध हवि है तो यह क्या कहते हो कि आमिक्षा [दध्यानयन की] प्रयोजिका है ? (समाधान) आमिक्षा में दही और दूध विद्यमान हैं, वाजिन में नहीं हैं । (आक्षेप) कैसे जाना जाता है [कि आमिक्षा में दही दूध विद्यमान हैं] ? (समाधान) संसर्ग रस (=दोनों के मिले हुए रस) की निष्पत्ति होने से । उस (=आमिक्षा) में मिले हुए दधि और पयः का [अम्ल और मधुर] रस उपलब्ध होता है, उस से अनुमान होता है कि आमिक्षा में दही दूध मिले हुए हैं । वाजिन में तो हल्का कडुवा और तीखा रस होता है ।

आह तप्ते पयसि दधन्यानीयमान उभयं भवति । दध्ना च पयः संसृज्यते, वाजिनाच्च विविच्यते । तत्र संसर्गश्चिकीर्षितो, न विवेक इति कुत एतत् ? उच्यते । शाब्दः संसर्गो दध्ना, अशाब्दो वाजिनेन विवेकः पयस इति । सर्वनाम च पूर्वोक्तेन शब्देनैकवाक्यतां याति । इतरस्मिन् पक्षे पयसि दध्यानयनं वाजिनविवेकलक्षणार्थं

विवरण—पयः संसृष्टम्—इस को समझने के लिये आनयति क्रिया के स्वरूप को जानना आवश्यक है । 'आनयति' क्रिया द्विकर्मक है—**अजां ग्रामं नयति** । उन में से एक कर्म क्रिया से युक्त होता हुआ भी दूसरे कर्म के प्रति गुणभाव को प्राप्त होता है । दोनों कर्मों में प्राधान्य और गौणता विवक्षा से होती है । जहां दोनों कर्म द्वितीया से निर्दिष्ट होते हैं वहां प्राधान्य और गौणता का निर्णय शब्द से नहीं होता । प्रकृत में आनयति क्रिया के पयः और दधि दोनों कर्म हैं । परन्तु इन में पयः सप्तमी से निर्दिष्ट है—**तप्ते पयसि दध्यानयति** । पयो-रूप कर्म के सप्तमी से निर्दिष्ट होने से वह आधार रूप है इतर दधि आधेय होने से उस के प्रति ले जाया जाता है । इस से 'आनयति' क्रियाविशिष्ट दधि से यहां पयः की प्रधानता है । अर्थात् पयः प्रधान कर्म है और दधि शेषभूत है । इस कारण 'ता' सर्वनाम से पयः का ही निर्देश किया जाता है । और वही पयः देवता सम्बन्धी है । मन्त्र भी पयः को ही देवता से सम्बद्ध दर्शाता है—**जुषतां युज्यं पयः** इति (यह टुप्टीका का स्वशब्दों में संक्षेप है) । **तिक्तकटुको रसः**—तिक्त=कडुआ, जैसा नीम का, कटु=तीखा, जैसा मिर्च का । 'तिक्तकटुकः' में तिक्त और कटु का द्वन्द्व समास होकर अल्पार्थ में कन् प्रत्यय (अष्टा० ५।३।८५) जानना चाहिये ।

ननु स्त्रीलिङ्ग निर्देशादामिक्षा हविः—इस का भाव यह है कि सिद्धान्ती ने दधिसंसृष्ट पयः को हवि कहा था, उस के प्रत्याख्यान के लिये पूर्वपक्षी कहता है कि **'सा वैश्वदेवी'** इस प्रकार स्त्रीलिङ्ग के निर्देश से आमिक्षा हवि जानी जाती है । यदि पयः हवि होता तो नपुंसक लिङ्ग **तद् वैश्वदेवम्** प्रयोग होता । **तस्मात् स्त्रीलिङ्गमदोषः**—इस का तात्पर्य यह है कि गरम दूध के साथ दहि का जो संसर्ग होता है उसे ही लोक में आमिक्षा कहते हैं । अतः उस अवस्था को प्राप्त=आमिक्षा भाव को प्राप्त द्रव्य का 'सा' स्त्रीलिङ्ग से निर्देश निर्दोष है । अतः **सा वैश्वदेवी आमिक्षा** में 'सा' पदसे प्रत्युपस्थापित लोकसिद्ध आमिक्षा का केवल देवता सम्बन्ध कहा गया है । वाक्य में आमिक्षा पद अनुमात्र है (यह बात आगे स्पष्ट की जायेगी) ।

व्याख्या—**(आक्षेप) गरम दूध में दही के डालने पर दोनों (=आमिक्षा और वाजिन) होते हैं । दही के साथ दूध संसृष्ट होता है और वाजिन(=जल) से दूध पृथक् होता ऐसी अवस्था में [दूध और दही का] संसर्ग तो अभीष्ट है, विवेक (=पृथक्त्व) अभीष्ट नहीं है, यह किस हेतु से ? (समाधान) दही के साथ [दूध का] संसर्ग शब्द से बोधित है, वाजिन (=जल) से दूध का पार्थक्य शब्द से बोधित नहीं है । सर्वनाम (='सा' पद) पूर्वोक्त [पयः] शब्द से एक वाक्यता को प्राप्त होता है । दूसरे पक्ष (=गरम दूध में दही डालने से वाजिन की निष्पत्ति मानने) में दूध में दही का प्रक्षेप जल के पार्थक्य की लक्षणा के लिये होवे । श्रुति**

स्यात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या । तस्मादामिक्षार्थं दध्यानयनम् । आमिक्षा-शब्दश्चात्रानुवादः । आमिक्षैव सा भवति यत्र तप्ते पयसि दध्यानीयते । तस्माद् आमिक्षा प्रयोक्त्री, वाजिनमप्रयोजकमिति ॥२३॥

मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च ॥ २४ ॥ (उ०)

न चोभयं प्रयोजकं न्याय्यम् । नात्र वचनमस्ति—इदं प्रयोजकमिदं नेति । असति प्रयोजकेऽनर्थकं भवतीति प्रयोजकं कल्प्यते । तत्रैकस्मिन्नपि प्रयोजके सिद्धेऽर्थवत्युपदेशे नान्यदपि प्रयोजकं भवितुमर्हति । न च न गम्यते विशेषः । कथं गम्यते ? मुख्यशब्दाभिसंस्तवान्मुख्यशब्दः संस्तोतुं न्याय्य इति । प्राथम्यात्तु तस्य तावत् प्रयोजकत्वं ज्ञातम्[1] । तस्मिन् सति प्रयोजके परिहृतत्वादानर्थक्यस्य, न द्वितीयमपि प्रयोज-

---

और लक्षणा के संशय में श्रुति न्याय्या होती हैं । इस हेतु से आमिक्षा के लिये ही दध्यानयन है और आमिक्षा शब्द यहाँ अनुवाद रूप है । आमिक्षा ही वह होती है जहां गरम दूध में दही का प्रक्षेप होता है । इसलिये आमिक्षा दध्यानयन की प्रयोजिका है, वाजिन प्रयोजक नहीं है ॥२३॥

मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च ॥२४॥

सूत्रार्थः—(मुख्यशब्दाभिसंस्तवात्) मुख्य के संस्तव से (च) भी आमिक्षा ही दध्यानयन की प्रयोजिका है ।

विशेष भाष्यकार ने मुख्य शब्द के दो अर्थ किये है—मुखेभवः—अग्रभाग में होने वाला अर्थात् प्रथम । दूसरा प्रधान । दोनों अर्थों को स्वीकार करके सूत्र की आमिक्षा को दध्यानयन की प्रयोजिका दर्शाया है ।

व्याख्या—दोनों (=आमिक्षा और वाजिन) प्रयोजक होवें यह न्याय्य नहीं है । यहां ऐसा कोई वचन नहीं है कि यह प्रयोजक है यह नहीं है । [दध्यानयन का] प्रयोजक न होने पर अनर्थक होता है इस लिये प्रयोजक की कल्पना की जाती है । उस अवस्था में एक के भी प्रयोजक सिद्ध होने पर उपदेश के अर्थवान् होने पर अन्य भी प्रयोजक होने के लिये योग्यता नहीं रखता है [अर्थात् प्रयोजक नहीं हो सकता] । और यह भी है कि विशेष नहीं जाना जाता है । [विशेष] कैसे जाना जाता है ? मुख्य शब्द की संस्तुति होने से मुख्य शब्द संस्तुति केलिये न्याय्य है । प्रथम होने से उस [आमिक्षा शब्द] का प्रयोजकत्व जाना गया । उस आमिक्षा के प्रयोजक हो जाने पर [दध्यानयन उपदेश के] आनर्थक्य का परिहार हो जाने से दूसरा (=वाजिन)

---

१. 'प्रयोजकत्वज्ञानम्' इति काशीपाठः ।

कम् । प्रथमा चाऽऽमिक्षा, द्वितीयं वाजिनम् । तस्मादामिक्षा प्रयोक्त्री । अपि च मुख्य-शब्देन चाऽऽमिक्षा स्तूयते—**मिथुनं वै दधि च शृतं च । अथ यत्संसृष्टं मण्डमिव[1] मस्त्विव परीवददृशे[2] गर्भ एव सः**[3] इति गर्भसंस्तुताऽऽमिक्षा । मिथुनस्य च गर्भः प्रयोजको, न गर्भोदकम् । तस्मादप्यामिक्षा प्रयोजिकेति मन्यामहे ।

किं भवति प्रयाजनम् ? यद्युभयं प्रयाजकं, वाजिने नष्टे पुनस्तप्ते पयसि

भी प्रयोजक नहीं है । और आमिक्षा प्रथम है, वाजिन दूसरा है । इसलिये आमिक्षा [दध्यानयन की] प्रयोजिका है । और भी, मुख्य (=प्रधान) शब्द से भी आमिक्षा की स्तुति की जाती है– मिथुनं वै दधि च शृतं च । अथ यत्संसृष्टं मण्डमिव मस्त्विव परीव ददृशे गर्भ एव सः **(=निश्चय ही मिथुन [=युग्म=जोड़ा] हैं दही और गर्म दूध । और जो मिला हुआ है मण्ड की तरह मस्तु की तरह जो सब ओर दिखाई देता है वह गर्भ ही है । में आमिक्षा गर्भ से स्तुत है । [वीर्य और डिम्ब के] मिथुन [=मिलने] का प्रयोजक गर्भ होता है, गर्भोदक प्रयोजक नहीं होता । इस से भी आमिक्षा प्रयोजिका है, ऐसा हम मानते हैं ।**

विवरण—**शृतं च—शृतं पाके** (अष्टा० ६।१।२७) से 'शृत' शब्द में 'श्रा पाके' धातु को 'शृ' भाव का निपातन किया है । **क्षीरहविषोरिति वक्तव्यम्** (महा० ६।१।२७) से शृत शब्द का प्रयोग पके हुए दूध और हवि में होता है । प्रकृत में दधि शब्द के संयोग से यहां 'शृतं' शब्द उबलते हुए दूध को कहता है । **मण्डमिव मस्त्विव**—दही में जो घना भाग होता है उसे मण्ड कहते हैं और दही का पानी मस्तु कहाता है । किन्हीं के मत में दही को कपड़े में डालकर लटका देने पर जो घना भ.ग है उस को मण्ड कहते है । प्रकृत प्रसङ्ग को देखने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जब असावधानता से अधिक गरम दूध में दही का जांवन दे दिया जाता है तो दही और पानी अलग-अलग हो जाते है उस में वर्तमान घने भाग=मण्ड से और उस में वर्तमान जल=मस्तु से यहां आमिक्षा और वाजिन को उपमा दी है । मैत्रायणी सं० १।१०।६ में **संसृष्टमाण्डमिव** पाठ मिलता है । यहां मस्तु के साथ 'आण्ड' की उपमा उपयुक्त नहीं जंचती । सम्भव है यहां पाठ भ्रंश हुआ हो । काठक ३६।१ में **संसृष्टं मण्डमिव** शुद्ध पाठ है । '**परीव**' पाठ हमें अन्यत्र नहीं मिला । इस का अर्थ संदिग्ध सा है ।

व्याख्या—**इस विचार का क्या प्रयोजन है ? यदि दोनों (=आमिक्षा और वाजिन) [दध्यानयन के] प्रयोजक होवें तो वाजिन के नष्ट होने पर पुनः तप्त दूध में दही डालना**

---

१. मैत्रायणी संहितायां (१।१०।६) 'संसृष्टमाण्डमिव' पाठः । स चासाधुः प्रतीयते । 'मस्त्विव' योगे 'संसृष्टं मण्डमिव' युक्तः पाठः । अयमेव काठक संहितायां (३६।१) दृश्यते ।

२. 'परि दृश्यते' इति पूनापाठः । 'परि च ददृशे' इति काशीपाठः । अत्र संहिता पाठानुसारं 'परीव ददृशे' इत्येव साधिष्ठः पाठः ।

३. द्र० मै० सं० १।१०।६।। काठक सं० ३६।१।।

दध्यानेतव्यम् । अथ वाजिनमप्रयोजकं, नष्टे वाजिने लोपो दध्यानयनस्य ॥२४॥
इति तप्ते पयसि दध्यानयनस्याऽऽमिक्षाप्रयुक्ताधिकरणम् ॥९॥ वाजिनन्यायः ॥

[एकहायनीनयनस्यांक्षाभ्यञ्जनाद्यप्रयुक्तताधिकरणम् ॥१०॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति**[1] इति । तत्रेद-मपरं श्रूयते—**षट् पदान्यनुनिष्क्रामति**[2] इति । तथा **सप्तमं पदं गृह्णाति**[3] इति । इदमपरम्—**यर्हि हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुस्तर्हि तेनाक्षमुपाञ्ज्यात्**[4] इति । तत्र संदेहः—किं सोमक्रयण्यानयनं पदपांस्वर्थमुत क्रयप्रयुक्तमिति ? किं प्राप्तम् ? नयनादुभयं निष्पद्यते क्रयः पदं च । तस्मादुभयं प्रयोजकम् । न हि गम्यते विशेष इति । तदुक्तम्—'एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्' इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

होगा । और यदि वाजिन प्रयोजक नहीं है तो वाजिन के नष्ट हो जाने पर दध्यानयन का लोप होगा अर्थात् पुनः दध्यानयन नहीं करना होगा ॥२४॥

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में सुना जाता है**—अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति (**=लाल पीत मिश्रित वर्णवाली, पीली आंखोंवाली और एक वर्ष की वय= अवस्था वाली गाय से सोम का क्रयण करता है**) । **यहां यह और सुना जाता है**—षट् पदान्यनुनिष्क्रामति (**=सोमक्रयणी गौ को सोमक्रय के लिये छ पैर चलाता है) तथा**—सप्तमं पदं गृह्णाति (**=सोमक्रयणी गौ का सातवां पैर जहां पड़ता है उस स्थान की धूलि को ग्रहण करता है=उठाता है**) । **और यह अन्य वचन सुना जाता है**—यर्हि हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुस्तर्हि तेनाक्षमञ्ज्यात् (**=जब दोनों हविर्धान शकटों को पूर्व में ले जावें तब उस=सप्तम पदस्थ घृतमिश्रित धूल से उन के अक्षों का अञ्जन करें=चिकना करें**) । **यहां सन्देह है—क्या सोमक्रयणी का लाना सप्तम पदस्थ पांसु के लिये है अथवा सोमक्रय से प्रयुक्त है ? क्या प्राप्त होता है ? [सोमक्रयणी गौ के] ले जाने से दोनों निष्पन्न होते है सोमक्रय और सप्तम पद । इसलिये दोनों ही नयन के प्रयोजक हैं । इस में विशेष नहीं जाना जाता है । इसीलिये कहा है**—एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् (**=एक प्रयत्न=सोमक्रयणी के नयन से क्रय और पद कर्म दोनों की निष्पत्ति होने से उस से संबद्ध सब बराबर प्रयोजक होवें**) । **ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं**—

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—एकहायन्या क्रीणाति······अरुणया पिङ्गाक्ष्या क्रीणाति । तै० सं० ६।१।६॥ २. तै० सं० ६।१।८॥

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—सप्तमं पदभिगृह्णाति । काठक सं० २४।४॥

४. तै० सं० ३।१।३॥

पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ॥२५॥ (उ०)

पदकर्माप्रयोजकमिति । कुतः ? यस्मान्नयनं क्रयार्थम् । न हि नयनमन्तरेण विशिष्टे देशे क्रय उपपद्यते । तस्मात् क्रयेण तावन्नयनं प्रयुक्तमिति गम्यते । क्रय-प्रयुक्तं चेन्न पदप्रयुक्तमपि भवितुमर्हति ।

विवरण—सप्तमं पदं गृह्णाति—सोम के क्रय के लिये सोमक्रयणी गौ को छ पैर चलाकर जहां सातवां पैर पड़ता है, उस स्थान पर **सप्तमे पदे जुहोति** (तै० सं० ६।१।८; मै सं० ३।७।६) से घृत की आहुति दी जाती है । **सप्तमे पदे जुहोति, सप्तमं पदं गृह्णाति** वचनों में गौ का सातवां पैर जिस स्थान पर रखा जाता है वह स्थान 'पद' शब्द से विवक्षित है । यास्क ने निरुक्त २।७ में **पादः पद्यतेः, तन्निधानात् पदम्** लिख कर इसी पद की ओर संकेत किया है ।

प्रकृत भाष्य में जिन वचनों को उद्धृत किया है, उनके अनुसार यज्ञ गत प्रक्रिया इस प्रकार है—सोमक्रयणी गौ को सोमक्रयार्थ ले जाते समय पहले दाहिना पैर उठवाते हैं—**षट् पदान्यनुक्रामति** में षट् संख्या भी दाहिने पैर की गिनी जाती है । जिस स्थान पर सोमक्रयणी सातवां पैर रखती है उस स्थान पर सुवर्ण रख कर घृत की आहुति दी जाती है—**हिरण्यं निधाय जुहोति** (मै० सं० ३।५७) । तत्पश्चात् वह घृत जितनी धूलि पर फैलता है उस स्थान को स्फ्य से चारों ओर से रेखाङ्कित करते हैं—**स्फ्येन पदं परिलिखति** (मै० सं० ३।७।७) तथा **यावद् घृतं विधावेत् तावदभिलिखेत्** (काठक सं० २४।४) । तदनन्तर उस घृतमिश्रित धूलि को उठाकर स्थाली आदि में रखते हैं—**स्थाल्यां पदं संवपति** (मै० सं० ३।७।७) **पदं परिखाय आहरति** (काठक सं० २४) । **यर्हि हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः**—सोम को क्रयण स्थान से वेदि तक लाने के लिये जो गाड़ी काम में लाई जाती है उसे 'हविर्धान (=हवि र्निधीयते स्थाप्यतेऽस्मिन्) शकट कहते हैं । ये दो होते हैं । सोम को क्रय करने के पश्चात् उसे वेदि में लाने के लिये ऋत्विक् जब दोनों हविर्धान शकटों को पूर्व दिशा में प्रवर्तित करते हैं तब उस सप्तम पदस्थ घृतमिश्रित धूलि से हविर्धान शकटों के धुरों को चिकना किया जाता है ।

पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(नयनस्य) सोमक्रयणी गौ के नयन का (पदकर्म) छ पदों का चलाना और सातवें पदस्थानीय धूलि का ग्रहण रूप कर्म (अप्रयोजकम्) प्रयोजक नहीं है (परार्थत्वात्) परार्थ अर्थात् सोमक्रय के लिये गौ का नयन होने से ।

व्याख्या—**पद सम्बन्धीग्रहणादि कर्म गो-नयन के प्रयोजक नहीं हैं । किस हेतु से ? जिस कारण गाय का नयन सोमक्रय के लिये श्रुत है । विना नयन के विशिष्ट देश (=सोमक्रय स्थान) में सोम का क्रय कैसे होवे । इसलिये सोमक्रयणी का नयन सोमक्रय से प्रयुक्त जाना जाता है । यदि नयन क्रय प्रयुक्त है तो पद प्रयुक्त नहीं हो सकता ।**

अपि च, एकहायन्याः पदपांसवो ग्रहीतव्या इति नास्ति शब्दः । ननु प्रकृतैकहायनी पदपांसुग्रहणवाक्येन संभन्त्स्यते । नेति ब्रूमः । **एकहायन्या क्रीणाति** इति विशिष्टेन वाक्येन क्रये, उपदिष्टैकहायनी प्रकृतत्वात् पदपांसुवाक्येन संबध्यते, प्रकरणाच्च वाक्यं बलीयः । अथेदानीमेकहायनी क्रयणार्थं संकीर्तिता सती संनिहितत्वात् प्रसङ्गमुपजीवता पदांपसुवाक्येन संबध्येत—याऽसौ परार्था, एतस्याः पदं ग्राह्यमिति । तस्मात् क्रयप्रयुक्तं नयनम्, अप्रयोजकं पदमिति ।

किं पुनश्चिन्तायाः प्रयोजनम् ? यद्युभयमेकहायनीनयनस्य प्रयोजकं, यदैकहायन्याः सप्तमं पदं ग्रावणि निधीयते, तदा पुनरेकहायनी नीयेत सप्तमाय पदाय । यदा पदं न प्रयोजकं, तदा नैकहायनी पुनः षट् पदान्यनुनिष्क्रामयितव्येति ।।२५।।
इति गवानयनस्य पदकर्माप्रयुक्तताधिकरणम् ।।१०।।

[तुषोपवापस्य पुरोडाशकपालाप्रयोजत्वाधिकरणम् ।। ११]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति**[1] इति । तथा **पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति**[2] इति । तत्र संदेहः किमुभयं कपालानि प्रयोजयति पुरोडाश-

---

और भी, एकहायनी गौ के पदस्थानीय पांसुओं (—धूलिकणों) को ग्रहण करना चाहिये ऐसा शब्द (—वचन) नहीं है । (आक्षेप) प्रकृत एकहायनी पदपांसु ग्रहणवाले वाक्य से संबद्ध हो जायेगी । (समाधान) ऐसा नहीं होता है । एकहायन्या क्रीणाति इस विशिष्ट वाक्य से एकहायनी क्रय में संबद्ध होती है, तथा उपदिष्ट एकहायनी प्रकृत होने से पदपांसुवाक्य से सम्बद्ध होती है । प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है । और क्रय के लिये संकीर्तित (=पठित) होती हुई एकहायनी समीप होने से प्रकरण का आश्रय करते हुए पदपांसु वाक्य के साथ सम्बद्ध होवे-'जो यह दूसरे कार्य के लिये श्रुत एकहायनी है, उस के पद को ग्रहण करना चाहिये' । इस से भी क्रय प्रयुक्त ही एकहायनी का नयन जाना जाता है । अतः पद एकहायनी के नयन का प्रयोजक नहीं है ।

इस विचार का प्रयोजन क्या है ? यदि दोनों(= क्रय और पद) एकहायनी के नयन के प्रयोजक होवें तो जब एकहायनी का सातवां पैर पत्थर पर धरा जाये तब सातवें पद के ग्रहण के लिये पुनः एकहायनी को लाया जाये । और जब पद एकहायनी के नयन का प्रयोजक न होवे तब एकहायनी को छः पैर पुनः नहीं चलाया जायगा ।।२५।।

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति (=कपालों पर पुराडाश को पकाता है) तथा पुराडाशकपालेन तुषानुपवपति (=पुराडाश के कपाल से

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र० उत्तानेषु कपालेष्वधिश्रयति । तै० सं० २।३।६।।
२. अनुपलब्धमूलम् ।

श्रपणं तुषोपवापश्च, उत श्रपणं प्रयोजकं, न तुषोपवाप इति ? किं प्राप्तम् ? विनिगमनायां हेतोरभावादुभयमिति प्राप्ते उच्यते—

अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् तदर्थो हि विधियते ॥२६॥ (उ०)

अर्थाभिधानं प्रयोजनसंवद्धमभिधानं यस्य, यथा पुरोडाशकपालमिति, पुरोडा-

---

तुषों को डालता=फंकता है) । इस में सन्देह है—क्या पुरोडाश का श्रपण (=पकाना) और तुषों का उपवाप (=डालना=फंकना) दोनों कपालों को प्रयोजित करते हैं अथवा केवल श्रपण प्रयोजक है, तुषोपवाप प्रयोजक नहीं है । क्या प्राप्त होता है ? निश्चय में किसी हेतु के न होने से दोनों प्रयोजक हैं, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पुरोडाशकपालेन—भाष्योद्धृत वाक्य हमें उपलब्ध नहीं हुआ । इसी अभिप्राय का आपस्तम्ब श्रौत १।२०।६ का सूत्र है—**मध्यमे कपाले तुषानोप्य रक्षसां भागोऽसीत्यधस्तात् कृष्णाजिनस्योपवपत्युत्तरमपरमवान्तरदेशम्** । इस का भाव यह है कि पुरोडाश के पकाने केलिये [भविष्य में] जो प्रथम कपाल अंगारे पर रखा जायेगा उस पर तुषों को रखकर **'रक्षसां भागोऽसि'** मन्त्र से कृष्णमृग के चर्म के नीचे उत्तर की ओर किसी कोने में डाले । पुरोडाश को पकाने के लिये अष्ट कपाल तथा एकादश कपाल आदि को अङ्गारों पर रखते समय प्रथम कपाल मध्य में रखा जाता है । शेष कपाल उस के दायें बायें आदि[1] । इस विधि को कपालोपधान कहा जाता है ।

अर्थाभिधानकर्म च······तदर्थो हि विधीयते ॥२६॥

सूत्रार्थः—(अर्थाभिधानकर्म) पुरोडाश श्रपणात्मक अर्थ=प्रयोजन जिस कपाल का है उस के साथ कहे जानेवाले तुषोपवाप कर्म (च) भी कपाल का प्रयोजक नहीं है तुषोपवाप के समय कपाल का पुरोडाश के साथ सम्बन्ध नहीं है, फिर पुरोडाश कपाल का प्रयोग कैसे किया ? अतः कहा—(भविष्यता संयोगस्य) भविष्य में होनेवाले पुरोडाश के साथ संयोग के (तन्निमित्तत्वात्) उस पुरोडाश के अर्थ निमित्त होने से पुरोडाश कपाल का प्रयोग है । (तदर्थो हि विधीयते) वह कपाल भावी पुरोडाश के श्रपण के लिये ही विधान किया जाता है । **कपालेषु श्रपयति** वाक्य से ।

विशेष—पुरोडाशकपालेन इत्यादि के विषय में अधिक आगे भाष्ये की व्याख्या वा उस के विवरण में देखें ।

व्याख्या—अर्थाभिधान=प्रयोजन से संवद्ध संज्ञा जिसकी है, जैसे पुराडाशकपाल

---

१. कात्यायन श्रौत के अनुसार आठ और ग्यारह कपालों को रखने की विधि पं० भीमसेन कृत 'दर्शपौर्णमास-पद्धति' के पृष्ठ २८-३० पर देखें । यह रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ से प्राप्य है ।

शाथ कपालं पुरोडाशकपालम् । कथमेतदवगम्यते ? पुरोडाशस्तावत् तस्मिन् काले नास्ति, येन वर्त्तमानः संबन्धः कपालेन स्यात् । तेनैव हेतुना न भूतः । स एष कपालस्य पुरोडाशेन भविष्यता संबन्धः[1] । भविष्यता संबन्धश्च तन्निमित्तस्य भवति । तस्मात् पुरोडाशेन प्रयुक्तं यत्कपालं, तेन तुषा उपवप्तव्या इति । एवं च सति चरौ पुरोडाशाभावे यदा तुषानुपवप्तुं कपालमुपादीयते, न तत्पुरोडाशकपालं स्यात् । न चेन्न तेन तुषा उपवप्तव्या भवन्ति । तस्मान्न तुषोपवापः कपालानां प्रयोजकः । प्रयोजकं तु श्रपणमिति ॥ २६ ॥ **कपालानां तुषोपवापाप्रयुक्ताधिकरणम्** ॥११॥

—,o:—

पुरोडाश के लिये कपाल =पुरोडाशकपाल । यह कैसे जाना जाता है ? पुरोडाश इस काल में [जब कि उस से तुषों का उपवाप कहा है] नहीं है, जिससे वर्तमानकालिक संबन्ध कपाल के साथ होवे । इसी हेतु से भूतकालिक संबन्ध भी कपाल के साथ नहीं है । इसलिये यह कपाल का पुरोडाश के साथ भविष्यकालिक सम्बन्ध है । भविष्यकालिक कपाल के साथ संबन्ध उस [पुरोडाशकपाल] अभिधान के निमित्त का होता है । इसलिये पुरोडाश से प्रयुक्त जो कपाल है उस से तुषों का उपवाप करना चाहिये । और ऐसा होने पर चरु (=अन्तःउष्मा से पका अर्थात् विना मांड निकाले पकाये चावल) में पुरोडाश का अभाव होने से जब तुषों के अनुवपन के लिये कपाल का उपादान किया जाता है तो वह पुरोडाशकपाल नहीं होता । जब वह पुरोडाशकपाल नहीं होता है तो चरु में कपाल से तुषों का उपवाप नहीं करना चाहिये । इस हेतु से तुषों का उपवाप कपालों का प्रयोजक नहीं है । [कपालों का] प्रयोजक तो [पुरोडाश का] श्रपण ही है ।

विवरण—भविष्यता सम्बन्धश्च तन्निमित्तस्य भवति—इस की महाभाष्योक्त भाविनी संज्ञा के साथ तुलना करनी चाहिये[2] (महाभाष्य १।१।४५) । यहां यह ज्ञातव्य है कि तुषों के उपवाप में शाखाभेद से कुछ-कुछ भिन्नता है । वाजसनेय आम्नाय वालों के यहां पुरोडाश कपाल से कणों का निर्वाप प्रधानयाग के उत्तर काल में आम्नात है—**पुरोडाशकपालेन कणान् अपास्य-**

---

१. अवघातकाले यत्तुषनिरसनं तदिहोदाहरणमिति भाष्यकारेणोक्तं भवति । यत्तु वाजसनेयिनां प्रधानयागोत्तरं प्रणीतानिनयानन्तरं 'पुरोडाशकपालेन कणानपास्यति' (कात्या० श्रौत ३।८।७) इत्यनेन पुरोडाशकपालेन कणानां निरसनमुक्तम् । तत्रापि पुरोडाश एव कपालस्य प्रयोजकः, न तु कणनिरसनम् इति ज्ञेयम् ।

२. एवं तर्हि भाविनी संज्ञा विज्ञास्यते । तद्यथा-कश्चित् कंचित् तन्तुवायं गत्वाह—अस्य सूत्रस्य शाटकं वयेति । स पश्यति यदि शाटको न वातव्यः, अथ वातव्यो न शाटकः । शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम् । भाविनी खल्वस्य संज्ञाऽभिप्रेता । स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुते शाटकमित्येतद् भवति ।

[शकृल्लोहितयोः पश्वप्रयोजकत्वाधिकरणम् ॥ १२ ॥

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः । तत्र श्रूयते—**हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वायाः**[1] इत्येवमादि । तथा **लोहितं निरस्यति**[2], **शकृत् संप्रविध्यति**[3], **स्थविमतो**

त्यधः कृष्णाजिनं रक्षसामिति (कात्या० श्रौत ३।८।७) तथा दर्शपौर्णमास पद्धति, पृष्ठ १०४। सूत्रकार भगवान् जैमिनि ने जिस आशय से सूत्र रचा है उस के अनुसार तण्डुलों के कण्डन (कूटने) के समय ही कण्डन से निकले हुए तुषों का पुरोडाश कपाल से उपवाप कहा है। यह पक्ष कृष्ण यजुर्वेदियों का है—**मध्यमे कपाले तुषानोप्य रक्षसां भागोऽसीत्यधस्तात् कृष्णाजिन-स्योपवपति** (आप० श्रौत १।२०।६)। पुरोडाश तो तण्डुलों के पेषण आदि कई क्रियाओं के पश्चात् बनाया जायगा और उसका कपालों पर पाक होगा। अतः यहां कपालों का पुरोडाश के साथ भावी में होनेवाला सम्बन्ध अभिप्रेत है। आपस्तम्ब के वचन में **मध्यमेन कपालेन** का भाव है—पुरोडाश को पकाने के लिये ८, ११, १२ आदि जितने कपाल अंगारों पर धरे जाते हैं उन में जो प्रथम कपाल अंगारों पर रखा जाता है वह मध्य में रखा जाता है और शेष उसके चारों ओर रखे जाते हैं। **चरौ पुराडाशाभावे**—चरु का पाक स्थाली(=बटलोई या पतीले)में होता है। अतः वहां कपालों का अभाव होता है। तुषोपवाप के प्रति प्रयोजकत्व न होने पर तुषोपवाप मात्र के लिये कपालों की उत्पत्ति नहीं होगी। अतः चरु पक्ष में हाथ से ही तुषावाप किया जायेगा। आपस्तम्ब ने तो बह्वृचों के मत में पुरोडाश पक्ष में भी हाथ से तुषो-पवाप का निर्देश किया है—**हस्तेनोपवपतीति बह्वृच ब्राह्मणम्** (आप० श्रौत १।२०।१०)।

वाजसनेयियों के मत में यद्यपि फलीकरण के अनन्तर **अपहतं रक्षः** (य० १।१६) से तुषों का उत्कर देश में निरसन कहा है (द्र० कात्या० श्रौत २।४।१६ तथा दर्शपौर्णमास-पद्धति पृष्ठ २७) तथापि यहां प्रधान याग के अनन्तर प्रणीतानिनय के पश्चात् अवघात के समय पृथक् किये गये क्षुद्र कणों का '**पुराडाशकपालेन कणानपास्यति**' (का० श्रौ० ३।८।७) से पुरोडाश कपाल से कणों का जो निरसन कहा है। उस में भी कपाल तुषोपवाप का प्रयोजक नहीं होता। अतः यदि पुरोडाश श्रपण के अनन्तर कपाल नष्ट हो जावें तो कणोपवाप के लिये भी पुनः कपाल उत्पन्न नहीं किये जाते, हस्त से ही कणोपवाप करना चाहिये ॥२६॥

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु का विधान है। उस प्रकरण में सुना जाता है—हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वायाः **(=पहले हृदय का अवादान करता है तत्पश्चात् जिह्वा का) इत्यादि। तथा—**लोहितं निरस्यति **(=मारे हुए पशु के रक्त को फेंकता है)** शकृत् सं-प्रविध्यति **(=गुदा में से मल को पृथक् करता है)** स्थविमतो बर्हिरङ्क्त्वा अपास्यति

---

१. तै० सं० ६।३।१०।४॥ २. अनुपलब्धमूलम्। द्र० कात्या० श्रौत ६।७।१३॥
३. अनुपलब्धमूलम्।

बर्हिरङ्क्त्वाऽपास्यति[1] इति । तत्र संदेहः—किं हृदयादिभिरवदानैरिज्या पशोः प्रयोक्त्री, उत शकृत्संप्रव्याधो लोहितनिरसनं च तदपि प्रयोजकमिति ? किं प्राप्तम् ? एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्[2] । उभयं प्रयोजकमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

पशावनालम्भाल्लोहितशकृतोरकर्मत्वम् ॥ २७ ॥ (उ०)

पशौ शकृल्लोहितयोरप्रयोजकत्वम् । न हि तदर्थः पशोरालम्भः । शकृत संप्र-

---

(=स्थूल भाग=जड़ की ओर के बर्हि को [रक्त से] सानकर फेंकता है) । इस में सन्देह है—पशु का प्रयोजक हृदयादि के अवदान से किया जानेवाला याग है अथवा जो [गुदा से] शकृत् का पृथक् करना तथा रक्त का फेंकना है वह भी प्रयोजक है ? क्या प्राप्त होता है ? एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् (=एक पशु से निष्पन्न होने से हृदयादि के अवदान और लोहितादि समानरूप से पशु के प्रयोजक होवें) ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः—इस का विधान यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते (तै० सं० ६।१।११) । लोहितं निरस्यति—द्र० कात्या० श्रौत ६।७।१३—श्वभ्रे ऊवध्यमवधाय तस्मिन् लोहितं रक्षसामिति (=शामित्र उत्कर से उत्तर दिशा में खोदे गये गड्ढे में पशु के पुरीष को मौन रख कर, उस पुरीष पर पशु के रुधिर को डाले) । शकृत् संप्रविध्यति—पशु के जिन अङ्गों के अवदान से याग कहा है उन में गुदा भी है । गुदा में जो पुरीष=मल है उसे निकाल कर गड्ढे में डाला जाता है (द्र० उपर्युक्त कातीयसूत्र) । स्थविमतो बर्हिरङ्क्त्वाऽपास्यति—पशु को मार कर उत्तान करके उस के पेट पर दर्भ रख कर छुरे से पेट को फाड़े । इस समय दर्भ के अग्रभाग को हाथ से पकड़े रहे पेट पर रखे गये दर्भ के मध्य में आच्छेदन करे । उस कटे हुए दर्भ के दोनों कटे हुए भागों को रक्त से रंग कर गड्ढे में डाल देवे (द्र० आप० श्रौत ७।१८।१२-१३-१४ तथा बौ० श्रौत ४।६) । भाष्यकार द्वारा उद्धृत स्थविमतो बर्हिरङ्क्त्वाऽपास्यति का तात्पर्य है—पशु के पेट पर जो दर्भ रखा गया है, उस का अग्रभाग सूक्ष्म होता है और जड़ की ओर का स्थूल होता है । उस स्थूल भाग के बर्हि को रक्त में रंग कर गड्ढे में डाले । द्र० तै० सं० १।३।६ सायणभाष्य—स्थूलस्य भावः स्थविमा, तस्मात् सप्तम्यर्थे तसिः, स्थविमतः । स्थविमशब्देन बर्हिषो मूलभागः स्थूलत्वादुपलक्ष्यते (वै० सं० मं० पूना संस्क० खण्ड १, भाग १, पृष्ठ ४५४) ।

पशावनालम्भाल्लोहितशकृतोरकर्मकत्वम् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(पशौ) पशु में (लोहितशकृतोः) रक्त और पुरीष का (अकर्मकत्वम्) प्रयोजकत्व नहीं है । लोहित और शकृत् के लिये (अनालम्भात्) पशु का आलम्भन न करने से । पशु का आलम्भन हृदयादि अङ्गों के अवदान के लिये किया जाता है । अतः हृदयाद्यवदान ही पशु के प्रयोजक हैं ।

व्याख्या—पशु में शकृत और लोहित का प्रयोजकत्व नहीं है । इन (=शकृत् और

---

१. तै० सं० ६।३।६।२॥ २. मी० ४।१।२२॥

विध्यति[1], **लोहितमपास्यति**[2] इत्युच्यते, न पशोरन्यस्य वेति । पशुरग्नीषोमीयो वाक्येन—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते**[3] इति । शकृल्लोहिते पशोः प्रकरणेन भवेतां, प्रकरणं च वाक्येन बाध्यते । ननु ते शकृल्लोहिते प्रतिपाद्येते, तेन यागार्थस्य पशोर्नान्यस्येति निश्चयः । एवं चेदप्रयोजके शकृल्लोहिते इति ।

किं भवति प्रयोजनम् । साम्ये सति शकृल्लोहिताभावेऽन्यः पशुरालम्भनीयः, शकृल्लोहितयोरप्रयोजकत्वे लोपः ।२७॥ **शकृल्लोहितयोः पशावप्रयोक्तृत्वाधिकरणम्** ॥१२॥

[स्विष्टकृतः पुरोडाशाप्रयोजकत्वाधिकरणम् ॥ १३ ॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति**[4] इति । तत्र

लोहित)के लिये पशु का आलम्भन नहीं किया है । शकृत् संप्रविध्यति(**=गुदा में से मल को पृथक् करता है) और** लोहितमपास्यति (**=मारे हुये पशु के लोहित को गड्ढे में फेंकता है) इतना ही कहा है, [वह शकृत् और लोहित] पशु का है वा अन्य का यह नहीं कहा है। अग्नीषोमीय पशु वाक्य से प्राप्त है**—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते (**=जो दीक्षित अग्नीषोम देवतावाले पशु का आलम्भन करता है) । शकृत् और लोहित प्रकरण से पशु के होंगे । परन्तु प्रकरण वाक्य से बाधित होता है [अर्थात्** शकृत् संप्रविध्यति तथा लोहितमपास्यति **वाक्य में केवल शकृत् और लोहित का निर्देश है] । (आक्षेप) [उक्त वाक्यों से] शकृत् और लोहित का प्रतिपादन (=प्रतिपत्ति कर्म) किया जाता है, इस से निश्चय होता है कि पशु के [शकृत् और लोहित अभिप्रेत] हैं, अन्य के नहीं । (समाधान) यदि ऐसा है [अर्थात् शकृत् और लोहित पशु के अभिप्रेत हैं] तो शकृत् और लोहित पशु के प्रयोजक नहीं हैं ।**

[इस विचार का] क्या प्रयोजन है ? [हृदयादि अवदानों के साथ शकृत् और लोहित के] साम्य होने पर [पशु के मारने पर किसी कारण से] शकृत् और लोहित न निकले तो [शकृत् और लोहित की प्राप्ति के लिये] दूसरे पशु का आलम्भन करना होगा । किन्तु शकृत् और लोहित के पशु का प्रयोजक न होने पर [शकृत् और लोहित के न होने पर संप्रवेधन तथा अपासन क्रिया का] लोप होगा[अर्थात् उक्त क्रियाएं नहीं की जायेगी । [अतिपुरा काल में पशु का आलम्भन नहीं होता था, पशुपुरोडाश से यज्ञ की पूर्ति की जाती थी] ॥ २७ ॥

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास में सुना जाता है**—उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति (=

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. अनुपलब्धमूलम् । द्र० कात्या० श्रौत ६।७।१३ ॥
३. तै० सं० ६।१।११। ४. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—तै० सं० २।६।६।५॥

संदेहः—किं पुरोडाशस्याऽऽग्नेययागः प्रयोजकः, स्विष्टकृदप्रयोजकः, उतोभयमिति। किं प्राप्तम्? एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्याद्[1] इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

एकदेशद्रव्यं चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात् ॥ २८ ॥ (उ०)

एकदेशद्रव्यश्चैवंजातीयकोऽप्रयोजको भवेत्। कुतः? विद्यमानसंयोगात्। नैकदेशकर्मावयविनं प्रयुङ्क्ते। विद्यमानस्यावयविन एकदेश उपादातव्य इति तत्रार्थो भवति, नावयविनमुपाददीतेति। यथेक्षुखण्डमस्मै प्रयच्छ, मोदकशकलमस्मै प्रयच्छेति,

---

आहुति से अवशिष्ट पुरोडाश के उत्तरार्ध से स्विष्टकृद् याग के लिये अवदान करता है)। इस में संदेह होता है—क्या पुरोडाश का आग्नेय याग प्रयोजक है, स्विष्टकृद् याग अप्रयोजक है अथवा दोनों ही प्रयोजक हैं? क्या प्राप्त होता है? एक पुरोडाश से आग्नेय और स्विष्टकृत दोनों यागों की निष्पत्ति होने से दोनों समानरूप के प्रयोजक होवें। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

एकदेशद्रव्यं चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(एकदेशद्रव्यम्) पुरोडाश का एकदेश द्रव्य है जिस का, ऐसा स्विष्टकृत् कर्म (च) भी (उत्पत्तौ) पुरोडाश की उत्पत्ति में अप्रयोजक होवे, (विद्यमानसंयोगात्) आग्नेय याग के लिये श्रुत विद्यमान=पुरोडाश के साथ संयोग होने से।

विशेष—इस का तात्पर्य यह है कि यदाग्नेयोऽष्टाकपालः (तै० सं० २।६।३) इस उत्पत्ति वाक्य से विहित पुरोडाश से आग्नेय याग के सम्पन्न हो जाने पर अवशिष्ट जो विद्यमान द्रव्य है उस के साथ स्विष्टकृत् का संबन्ध होने से एकदेश द्रव्यवाला स्विष्टकृत् याग पुरोडाश की उत्पत्ति में प्रयोजक नहीं है।

कुतुहलवृत्तिकार ने विद्यमान शब्द को 'विद ज्ञाने' से निष्पन्न मानकर अर्थ किया है—यदाग्नेयोऽष्टाकपालः इस उत्पत्ति दशा में आग्नेय याग के लिये विद्यमान=ज्ञायमान पुरोडाश के साथ एकदेश द्रव्यवाले स्विष्टकृत् याग का संवन्ध होने……।

व्याख्या—इस प्रकार का एकदेश द्रव्यवाला स्विष्टकृत् याग अप्रयोजक होवे। किस हेतु से? विद्यमान के साथ संयोग होने से। एकदेश द्रव्य से होनेवाला स्विष्टकृत् कर्म अवयवी [पुरोडाश] को प्रयोजित नहीं करता। विद्यमान अवयवी [पुरोडाश] का एकदेश [स्विष्टकृत् याग के लिये] ग्रहणीय है ऐसा वहां (=उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति वाक्य में) अर्थ होता है, अवयवी (=पुरोडाश) को ग्रहण करे, ऐसा अर्थ नहीं होता है। जैसे इक्षुखण्डमस्मै प्रयच्छ (=इस को ईख का भाग दो), मोदकशकलमस्मै प्रयच्छ (=इस को लड्डू का टुकड़ा दो) ऐसा कहने पर ईख को ग्रहण करे, ऐसा नहीं जाना जाता है अपितु विद्यमान ईख से भाग को ग्रहण करे, विद्यमान लड्डू से टुकड़े को ग्रहण करे, ऐसा अर्थ जाना जाता

---

१. मी० ४।१।२२॥

नेक्षुमुपाददीतेति गम्यते । सत इक्षोः खण्डमुपाददीत, सतो मोदकाच्छकलमुपाददीतेति । तस्मादन्यार्थं द्रव्यं, तस्योत्तरार्धादवदेयम् । अस्ति चाग्न्यर्थः पुरोडाशः । तस्मात् स्विष्टकृदप्रयोजक इति ॥ २८ ॥

निर्देशात् तस्यान्यदर्थादिति चेत् ॥ २९ ॥ (आ०)

इति चेत्पश्यसि, अप्रयोजकः पुरोडाशस्य स्विष्टकृदिति ? नैतदेवम् । अग्निं प्रति निर्देशात् तस्य पुरोडाशस्य स्विष्टकृदर्थमन्यः पुरोडाश उत्पादयितव्यो यस्योत्तरार्धात् स्विष्टकृदिज्यते । तस्याग्नये संकल्पितस्य नेष्टे यजमानः । कथमसौ तदन्यस्यै देवतायै दद्यात् । कथमग्निं प्रति निर्देश इति ? इदं श्रूयते—**अङ्गिरसो वा इत उत्तमाः सुवर्गं लोकमायंस्ते यज्ञवास्त्वभ्यायंस्ते पुरोडाशं कूर्मं भूत्वा सर्पन्तमपश्यंस्तमब्रुवन्, इन्द्राय ध्रियस्व, बृहस्पतये ध्रियस्व, आदित्याय ध्रियस्व, स नाध्रियत, तमब्रुवन्**

है । इसलिये [जो पुरोडाश] द्रव्य अन्य के लिये है, उस के उत्तरार्ध से अवदान करे । पुरोडाश अग्नि के लिये है । इस कारण स्विष्टकृत् पुरोडाश का प्रयोजक नहीं है ।

विवरण— अस्ति चाग्न्यर्थः पुरोडाशः—यदाग्नेयोऽष्टाकपालः इत्यादि वाक्य से विहित अष्टकपालों में संस्कृत पुरोडाश अग्निदेवता के लिये है यह अर्थ जाना जाता है ॥२८॥

निर्देशात् तस्यान्यदर्थाद् इति चेत् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(तस्य) आग्नेय पुरोडाश के (निर्देशात्) यदाग्नेयः इस वाक्य में आग्नेय (=अग्नि देवतावाला) इस तद्धित प्रत्यय रूप श्रुति से सम्पूर्ण पुरोडाश के अग्नि देवता के लिये होने से [उस से अन्य के लिये याग नहीं कर सकते । अतः] (अर्थात्) स्विष्टकृत् याग-लक्षण कार्यरूप प्रयोजन से (अन्यत्) अन्य=दूसरा पुरोडाश स्विष्टकृत् के लिये होवे; (इति-चेत्) ऐसा यदि आप समझते हो तो ।

व्याख्या—ऐसा यदि मानते हो कि स्विष्टकृत् याग पुरोडाश का प्रयोजक नहीं है तो यह ऐसा नहीं है । उस [यदाग्नेयः आदि वाक्य से विहित] पुरोडाश का अग्नि के प्रति निर्देश होने से स्विष्टकृत् के लिये अन्य पुरोडाश उत्पन्न करना चाहिये, जिसके उत्तरार्ध से स्विष्टकृत् देवता का यजन किया जावे । उस अग्नि के लिये संकल्पित पुरोडाश का यजमान ईश (=स्वामी) नहीं है, फिर वह कैसे अन्य देवता के लिये दे सकेगा । अग्नि के प्रति निर्देश कैसे है ? यह सुना जाता है—अङ्गिरसो वा इत उत्तमाः सुवर्गं लोकमायन् (=यहां=मर्त्यभूमि से उत्=ऊपर उठे हुए अङ्गिरा के पुत्र स्वर्ग लोक को प्राप्त हुए) ते यज्ञवास्त्वभ्यायन् (= वे [स्वर्ग में] यज्ञभूमि को प्राप्त हुए) ते पुरोडाशं कूर्मं भूत्वा सर्पन्तमपश्यन् (=उन्होंने वहां पुरोडाश को कच्छवा बने जाते हुए देखा (तमब्रुवन् इन्द्राय ध्रियस्व, बृहस्पतये ध्रियस्व, आदित्याय ध्रियस्व, स नाध्रियते (=उस कूर्मरूप पुरोडाश को कहा—इन्द्र के लिये ठहर, बृहस्पति के लिये ठहर, आदित्य के लिये ठहर), वह नहीं ठहरा) तम-

अग्नये ध्रियस्वेति सोऽध्रियत । तदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति[1] **इति । तस्मात् तेन स्विष्टकृतो न संबन्धः । एवं चेत् तस्मादन्यद् द्रव्यमर्थादुत्पादयितव्यम् । न ह्यनुत्पन्नस्य द्रव्यस्योत्तरार्धो भवतीति ॥ २९ ॥**

ब्रुवन् अग्नये ध्रियस्वेति सोऽध्रियत (=उसे कहा—अग्नि के लिये ठहर, वह ठहर गया) यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति (=इसलिये आठ कपालों में संस्कृत अग्नि देवता वाला पुरोडाश अमावास्या और पौर्णमासी में अच्युत होता है)। इस से उस आग्नेय पुरोडाश के साथ स्विष्टकृत् याग का संबन्ध नहीं है। ऐसा है तो उस आग्नेय पुरोडाश से भिन्न अन्य पुरोडाश द्रव्य स्विष्टकृत् के लिये ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि अनुत्पन्न (=अविद्यमान) द्रव्य का उत्तरार्ध उपपन्न नहीं होता।

विवरण—सायण ने तै० सं० २।६।३ में इस प्रकार अर्थ किया है—आङ्गिरस नाम के ऋषि इस भू लोक से उद्गत हुए अर्थात् शीघ्रता से निकल कर स्वर्ग को प्राप्त हुए। उस स्वर्ग में वे ऋषि यज्ञभूमि को लक्ष्य करके प्राप्त हुए। उस भूमि पर पुरोडाश-अभिमानी देव स्वशरीर को छिपा कर कछुए का शरीर वाला होकर शीघ्रता से भागा। ⋯⋯(संस्कृतभाष्य का भाव)।

पुरोडाशं कूर्मं भूत्वा—सायण आदि भाष्यकार मीमांसा-शास्त्र-विरुद्ध शरीरधारी अभिमानी देवता मानते हैं। अतः उस ने उपर्युक्त व्याख्या की है। वस्तुतः **अङ्गिरसो वा** से लेकर **सोऽध्रियत** तक अर्थवाद वाक्य है। इसका प्रयोजन आग्नेय पुरोडाश द्रव्यक याग की विधि की प्रशंसा मात्र है। इस अर्थवाद में अङ्गिरा के पुत्र आङ्गिरस ऋषि=गतिशील सूर्य की किरणें हैं (द्र० निरुक्त अ० ११।१६)। किरणों का स्वभाव है किसी वस्तु से टकरा कर परावृत्त होना। तदनुसार सूर्य की किरणें पृथिवी को प्राप्त होकर यहां से वापस जब लौटती हैं उन्हीं का यहां आलंकारिक वर्णन है। उन्होंने लौटते समय अन्तरिक्ष में यज्ञवास्तु=यज्ञभूमि=उत्तरवेदि में पुरोडाश को कूर्मरूप धारण किये भागता हुआ देखा। यह कूर्मरूप पुरोडाश चन्द्रमा है। इसे कूर्म इसलिये कहा कि जैसे कछुए के पीठ पर लोम नहीं होते तद्वत् इस चन्द्रमा पर भी ओषधि वनस्पति रूप लोम नहीं है। यह सतत गतिशील है। अग्नि यहां पृथिवी स्थानीय देवता है। चन्द्रमा का भ्रमण अग्नि देवतावाली पृथिवी के चारों ओर होने से यह अग्नि के लिये धृत है। इसी गति से आग्नेय पृथिवी से आच्छादित सूर्य की किरणों के कारण अमावास्या और पूर्णिमा की निष्पत्ति होती है। अतः यह आग्नेय अग्निदेवता के सम्बद्ध चन्द्ररूप पुरोडाश अमावास्या और पूर्णिमा दोनों में च्युत नहीं होता। चन्द्र की सोलह कलाएं हैं। पूर्णिमा के समय वह सोलह कला से पूर्ण होता है और अमावास्या के समय भी एक कला से युक्त रहता है। इस आधिदैविक तत्त्व का व्याख्यान ही दर्शपौर्णमास यज्ञ से किया जाता है।

---

१ अनुपलब्धमूलम्। द्र० तै० सं० २।६।३।२-३॥

न शेषसंनिधानात् ॥ ३० ॥ (उ०)

नैतदेवम्, संनिहितो हि शेषः। यस्मिन्ननुत्पाद्यमानेऽर्थो न सिध्यति, सोऽर्थादुत्पाद्यते। संनिहिते च शेषे सति सिध्यत्युत्तरार्धाद् ग्रहणम्। तस्मान्नार्थाद् द्रव्यमुत्पादयितव्यं, यदेवान्यार्थं द्रव्यं संनिहितं तस्यैवोत्तरार्धाद् ग्रहीतव्यम्। उत्तरार्धमात्रं हि स्विष्टकृते श्रूयते, नामुष्य द्रव्यस्येति। न चैतावता व्यवहारो भवति। सर्वो हि कस्यचिदुत्तरार्धः। स एष संनिहितमपेक्षते। संनिहितं च परार्थम्। तस्मात् परार्थाद् द्रव्यात् स्विष्ट-

---

पौर्णमास में ३ प्रधान याग हैं—आग्नेय पुरोडाश, अग्नीषोमीय पुरोडाश और उपांशुयाज। पूर्णिमा के दिन चन्द्र अग्नि के साथ स्वीय सौम्यरूप से भी संबद्ध होता है। अतः उस दिन अग्नीषोमीय पुरोडाश भी होता है। परन्तु अमावास्या में चन्द्र का सौम्यरूप नहीं रहता है, अतः उस में अग्नीषोमीय पुरोडाश नहीं होता, केवल आग्नेय होता है। उपांशुयाज भी नहीं होता। अत एव अमावास्येष्टि में असान्नाय्य पक्ष में आग्नेय पुरोडाश याग के साथ ऐन्द्राग्न पुरोडाश होता है, सान्नाय पक्ष में ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पयः से याग होता है ॥२९॥

न शेषसन्निधानात् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है अर्थात् स्विष्टकृत् के लिये पुरोडाशान्तर का ग्रहण नहीं होगा (शेष सन्निधानात्) आग्नेयादि प्रधान याग से बचे हुए पुरोडाश के सन्निहित=विद्यमान होने से।

व्याख्या—ऐसा नहीं है [अर्थात् स्विष्टकृत् के लिये पुरोडाशान्तर का ग्रहण नहीं होगा]। समीप में विद्यमान ही है [आग्नेयादि याग से] अवशिष्ट पुरोडाश। जिस द्रव्य के उत्पन्न किये विना प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है वह प्रयोजन वश उत्पन्न होता है। शेष पुरोडाश सन्निहित होने पर [उस के] उत्तरार्ध से [अवदान का] ग्रहण सिद्ध होता है। इसलिये [अवदान के] प्रयोजन से द्रव्य (=पुरोडाशान्तर) उत्पादनीय नहीं है। जो द्रव्य अन्य के लिये विद्यमान है, उसी के उत्तरार्ध से [स्विष्टकृत् के लिये] ग्रहण करना चाहिये। स्विष्टकृत् के लिये उत्तरार्ध मात्र ही सुना जाता है, यह नहीं सुना जाता है कि अमुक द्रव्य का। इतने मात्र [अर्थात् उत्तरार्धमात्र के श्रवण] से व्यवहार उपपन्न नहीं होता है। सब ही किसी न किसी का उत्तरार्ध होता है। अतः वह [उत्तरार्ध का श्रवण] समीप में विद्यमान की अपेक्षा करता है। और जो सन्निहित पुरोडाश है वह परार्थ है। इस से परार्थ द्रव्य [पुरोडाश] से स्विष्टकृत् का याग होता है। इस हेतु से स्विष्टकृत् याग [पुरोडाश का] प्रयोजक नहीं है। और जो यह कहा है कि अनीश [=अस्वामी) यजमान के द्वारा [परार्थ श्रुत पुरोडाश स्विष्टकृत् के लिये] नहीं दिया जा सकता। इस विषय में कहते हैं—यह वाचनिक [स्विष्टकृत् के लिये] त्याग [आग्नेय याग से] अवशिष्ट पुरोडाश के प्रतिपादन के लिये है। [अन्यत्र प्रयुक्तस्यान्यत्र निधानं प्रतिपत्ति कर्म=अन्य कार्य में प्रयुक्त द्रव्य का अन्यत्र

कृदिज्या । अतश्चाप्रयोजिकेति । यदुक्तम्—अनीशानेन न शक्यं दातुमिति । तदुच्यते, वाचनिक एष शेषप्रतिपादनार्थ उत्सर्गः । स शक्यः कर्तुम् । दानं ह्युत्सर्गपूर्वकः परस्य स्वत्वसंबन्धः । स न शक्योऽनीशानेन ॥३०॥

कर्मकार्यात् ॥ ३१ ॥ (उ०)

कर्मनिमित्तश्च स्विष्टकृतो भाग इति श्रूयते । कथम् ? देवा वै स्विष्टकृतम-ब्रुवन् हव्यं नो वहेति । सोऽब्रवीद्वरं वृणै भागो मेऽस्त्विति । वृणीष्वेत्यब्रुवन् । सोऽब्रवीदुत्तरार्धादेव मह्यं सकृत् सकृदवद्याद्[1] इति । कर्म कुर्वतो भागोऽयमुत्तरार्धादिति स्तुतिर्भवति । यद्याग्नेयस्योत्तरार्धाद् इत्युच्यते, ततोऽस्ति कर्मार्थेन भागेन सादृश्यमिदं, तदाग्नेयं हव्यं यत्किल वहसीति । तत्र सति सादृश्ये स्तुतिरुपपद्यते । प्रयोजकत्वे

स्थापन करना प्रतिपादन या प्रतिपत्ति कर्म कहाता है] । वह (=प्रतिपत्ति कर्म) [अनीश यजमान से भी] किया जा सकता है । दान नाम त्यागपूर्वक पर के स्वत्व (=स्वामित्व) के सम्बन्ध का है । वह (=सम्बन्ध) अनीश (=जो स्वामी नहीं है उस) से नहीं किया जा सकता ॥३०॥

कर्मकार्यात् ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थः—स्विष्टकृत् के लिये (कर्मकार्यात्) कर्मकरत्व का निर्देश होने से ।

विशेष—कर्मकार्यात्—यहां कर्मणि भृतौ (अष्टा० ३।२।२२) से कर्म उपपद होने पर कृञ् धातु से 'ट' प्रत्यय होता है—कर्म करोतीति कर्मकरः । तत्पश्चात् ब्राह्मणादि के आकृति गण होने से गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (अष्टा० ५।१।१२४) से भाव में ष्यञ् प्रत्यय होता है—कर्मकरस्य भावः कर्मकार्यम् । यहां उत्तरपद को वृद्धि आर्ष है । स्विष्टकृत् अग्नि के कर्म करत्व के लिये भाष्य में श्रुति देखें ।

व्याख्या—स्विष्टकृत् का याग कर्मनिमित्त सुना जाता है । कैसे ? देवा वै स्विष्टकृतमब्रुवन् हव्यं नो वहेति (=देवों ने स्विष्टकृत् अग्नि से कहा—हमारे हव्य का वहन करो =हमें प्राप्त कराओ) सोऽब्रवीद् वरं वै वृणे-भागो मेऽस्त्विति (=उस स्विष्टकृत् ने ने कहा मैं वर मांगता हूं—यज्ञ में मेरा भाग होवे) वृणीष्वेत्यब्रुवन् (=देवों ने कहा—वर मांगो) सोऽब्रवीद् उत्तरार्धादेव मह्यं सकृत् सकृदवद्यात् (=स्विष्टकृत् ने कहा प्रत्येक हवि के उत्तरार्ध से मेरे लिये एक-एक अवदान किया जाये) । [देवों को हवि पहुंचाना रूप] कर्म करते हुए स्विष्टकृत् का यह उत्तरार्धात् से कहा भाग है यह स्तुति है । यदि 'आग्नेय के उत्तरार्ध से' ऐसा कहते हैं, तो यह कर्मार्थ [लौकिक] भाग के समान होता है—'जो तू (=स्विष्टकृत्) आग्नेय हवि को [अग्नि के लिये] प्राप्त कराता है' [इस से यह तेरा भाग है] ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

चासति सादृश्ये स्तुतिसामञ्जस्यं न स्यात्। तस्मादप्रयोजकः पुरोडाशस्य स्विष्टकृद्याग इति ॥ ३१ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ३२ ॥ (उ०)

लिङ्गमपि भवति—**तद् यत् सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति । तस्मादिदमुदरे विश्वरूपमन्नं समवधीयते**[1] इति। यदि परार्थाद्द्रव्यात्संनिहितादिज्यते तदा तत्संनिधानाविशेषात्सर्वेभ्योऽवदीयत इत्युपपद्यते। प्रयोजकत्वे त्वेकस्मादेवावदीयेत। तस्मादप्यप्रयोजकः।

तथेदमपरं लिङ्गम्—**शेषादिडामवद्यति, शेषात्स्विष्टकृतं यजति**[2] इति। नन्वयं विधिः स्यात्। नेति ब्रूमः। नात्र विधिविभक्तिः। वर्तमानापदेशो ह्ययमिति ॥३२॥
इति पुरोडाशस्य स्विष्टकृदप्रयुक्ताधिकरणम् ॥१३॥

सादृश्य होने पर स्तुति उत्पन्न होती है। [स्विष्टकृत् के पुरोडाश के] प्रयोजक होने पर सादृश्य के न होने से स्तुति का सामञ्जस्य नहीं होवे। इसलिये स्विष्टकृत् याग पुरोडाश का प्रयोजक नहीं है ॥३१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३२॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी स्विष्टकृत् याग पुरोडाश का प्रयोजक नहीं है। (लिङ्ग भाष्यव्याख्यान में देखें)।

व्याख्या—लिङ्ग भी होता है—तद् यत् सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति, तस्मादिदमुदरे विश्वरूपमन्नं समवधीयते (=जो यह सब प्रकार की हवियों से स्विष्टकृत् के लिये अवदान करता है, इस से विश्वरूप=सब प्रकार का अन्न उदर में रखा जाता है। यदि परार्थ सन्निहित द्रव्य से [स्विष्टकृत् के लिये] याग किया जाता है तब उस के सन्निधान के अविशेष (=सामान्य) होने से सब हवियों से अवदान करे, यह कथन उपपन्न होता है। [स्विष्टकृत् याग को पुरोडाश का] प्रयोजक मानने पर तो एक पुरोडाश से अवदान किया जायगा। इस से भी [स्विष्टकृत् याग पुरोडाश का] प्रयोजक नहीं है।

तथा यह अन्य लिङ्ग है शेषाद् इडामवद्यति, शेषात् स्विष्टकृतं यजति (=शेष से इडा का अवदान करता है, शेष से स्विष्टकृत् का यजन करता है)। (आक्षेप) यह (=यजति) विधि होवे। (समाधान) विधि नहीं है ऐसा हम कहते हैं। यहां विधि की विभक्ति नहीं है, यह (=यजति) वर्तमान को कहनेवाला है ॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्   २. अनुपलब्धमूलम्

[प्रयाजशेषाभिघारणाधिकरणम् ॥१४॥

अस्ति वाजपेयः—वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत[1] इति। तत्र श्रूयते—सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतेराप्त्यै[2] इति। प्राजापत्यानां क्रतुपशूनां च समुच्चयो वक्ष्यते, प्राजापत्येषु चाऽऽम्नानाद्[3] इति। अस्ति तु प्रकृतौ—प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति[4] इति। तत्र सन्देहः—किं प्राजापत्यानां वपा अभिघारयितुं प्रयाजशेषस्य धारणार्थं पात्रमपरमुत्पादयितव्यं, ततस्तेन प्राजापत्यानां वपा अभिघारयितव्याः, उत न शेषो धारयितव्यः, नैव ततः प्राजापत्यानां वपा अभिघारणीया इति। किं प्राप्तम् ?

विवरण—वर्तमानापदेशोऽयम्—'यजति' यह रूप वर्तमानकालिक लट् लकार का है। परन्तु ऐसा ही (यजति) रूप लेट् लकार में भी बनता है। लिङर्थे लेट् (अष्टा० ३।४।७) से लेट् लिङ् के अर्थ में होने से विधायक होता है। समिधो यजति तनूनपातं यजति (तै० सं० २।६।१) इत्यादि में 'यजति' लेट् लकार का रूप माना जाता है। कहां 'यजति'शब्द वर्तमानापदेशक है और कहां विधायक, इस विषय में याज्ञिक व्याख्यान ही शरण है ॥३२॥

व्याख्या—वाजपेय याग कहा है—वाजपेयेन स्वराज्यकामो यजेत (=वाजपेय से स्वाराज्य की कामनावाला यजन करे। वहां (वाजपेय याग में) सुना जाता है—सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वै प्रजापतिः, प्रजापतेराप्त्यै (=सप्तदश प्राजातपत्य पशुओं का आलभन करे। सत्रहवां प्रजापति है,प्रजापति की प्राप्ति के लिये)। प्राजापत्य पशुओं और क्रतुपशुओं का समुच्चय कहेंगे—प्राजापत्येषु चाम्नानात् (=प्राजापत्य पशुओं में पाठ सामर्थ्य से क्रतुपशुओं के साथ समुच्चय होता है। प्रकृति में कहा है—प्रायजशेषेण हवींष्यभिघारयति (=प्रयाज के शेष से हवियों का अभिघारण करता है)। उस में संदेह होता है—क्या प्राजापत्य पशुओं की वपा के अभिघारण के लिये प्रयाज के शेष घृत के धारण (=रखने) के लिये अन्यपात्र का उत्पादन करना चाहिये, और उस से प्राजापत्य पशुओं की वपा का अभिघारण करना चाहिये अथवा [प्रयाज के] शेषघृत का धारण नहीं करना चाहिये। क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—वाजपेयेन स्वाराज्यकामः—स्वाराज्यकामः का अर्थ सामान्यतया स्वर्गकामः किया जाता है। वस्तुतः स्वाराज्य वह है जिस में स्वयं राजा हो स्वच्छन्द शासन हो। ऐत०

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० तै० ब्रा० १।३।२॥
२. द्र०—तै० ब्रा० १०।३।४॥ अत्र 'वै' पदं नास्ति।
३. मी० १।४।६॥ ४. अनुपलब्धमूलम्।

ब्रा० १।३० के अन्त में **तत्प्रजापतेरायतनं तत् स्वाराज्यम्** पाठ है। सायणाचार्य इस का अर्थ **आदित्यमण्डले प्रजापत्युपासनस्याभिधानात् तदेवमण्डलं स्वाराज्यं पारतन्त्र्याभावात्**। इस का भाव है—आदित्य मण्डल में प्रजापति की उपासना का कथन होने से वही आदित्य मण्डल स्वाराज्य है परतन्त्रता न होने से। गोविन्द स्वामी ने **स्वाराज्यं नाम परमात्मतादात्म्यम्** अर्थात् स्वाराज्य नाम है परमात्मा के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त होना (द्र० षड्गुरुशिष्य-वृत्ति सहित ऐ० ब्रा० भाग १,पृष्ठ १९९ टि०)। इस प्रकार **स्वाराज्यकामः** का अर्थ होगा–(१) आदित्य मण्डल को प्राप्त होने की कामनावाला। (२) ब्रह्मलोक की अर्थात् मुक्ति की कामना-करनेवाला। विदुरनीति (१।६६) में कहा है—

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

अर्थ—ये दो पुरुष लोक में सूर्यमण्डल का भेदन करनेवाले हैं अर्थात् सूर्यमण्डल का अतिक्रमण करके ब्रह्मलोक को प्राप्त होनेवाले हैं। एक—योग से युक्त संन्यासी और दूसरा जो युद्ध में सामने मारा गया है।

हमें स्वाराज्य का अर्थ ब्रह्मप्राप्ति की कामना वाला, ब्रह्मलोक की कामनावाला, अपवर्ग की कामनावाला अधिक उपयुक्त जंचता है। क्योंकि नैत्यिक कर्म निष्काम भाव से किये जाते है। वे जन्म मरण के चक्र से निकाल कर अमृत की प्राप्ति में सहायक होते—**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते (यजुः ४०।१४)**।

सप्तदशो वै प्रजापतिः—प्रजापति की सप्तदशता याज्ञिक आधिदैविक आध्यात्मिक दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार की है। **याज्ञिक पक्ष में**—'ओ श्रावय' ये चार अक्षर, 'अस्तु श्रौषट्' ये चार अक्षर, 'यज' ये दो अक्षर, 'ये यजामहे' ये पांच अक्षर, 'वौषट्' ये दो अक्षर। यह सप्तदश प्रजापति यज्ञ में स्थित है (द्र० तै० सं० १।६।११।१। **आधिदैविक पक्ष में** १२ महिने, हेमन्त और शिशिर का एकीकरण करके पांच ऋतुएं (द्र० ऐ० ब्रा० १।१; शत० १।३।५।१०) **अध्यात्म में**—'लोमन्' ये दो अक्षर, 'त्वक्' ये दो अक्षर, मेदस्' ये दो अक्षर, 'मांस' ये दो अक्षर, 'स्नावा' ये दो अक्षर, 'मज्जा' ये दो अक्षर। ये १६ कलाएं और इन में अन्तःसंचरित होनेवाला प्राण (श० १०।४।१।१७)। तथा—प्राण आदि षोडश कलाएं (प्रश्नोप० ६।४) तथा सत्रहवां प्रजापति (द्र० यजुः ८।३८)।

ऋतुपशूनाम्—वाजपेय में अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र संज्ञक सोमसंस्थाओं में निर्दिष्ट पशुओं की चोदक (=अतिदेश) वचन से प्राप्ति होती है। इन्हीं का यहां **ऋतुपशून्** शब्द से निर्देश किया है (द्र० तै० ब्रा० १।३।४, सा० भा०)। **प्रकृतौ प्रयाजशेषेण** प्रकृति= दर्शपूर्णमास में पञ्चम प्रयाज की आहुति के अनन्तर जुहू में जो घृत रहता है, उस से ध्रुवा, हवियों और उपभृत् का अभिघारण किया जाता है (द्र० आप० श्रौ० २।१७।६; कात्या० श्रौ० ३।३।६)। **प्राजापत्यानां वपा अभिघारयितुम्**—प्रकृति दर्शपौर्णमास में प्रयाजों के समय पुरो-डाश आदि हवि विद्यमान होती हैं। अतः पञ्चम प्रयाज के अनन्तर जुहू में अवशिष्ट घृत से

अभिघारणे विप्रकर्षादनुयाजवत् पात्रभेदः स्यात् ॥ ३३ ॥ (पू०)

अभिघारणे प्रयाजशेषधारणार्थं पात्रमुत्पाद्यते । प्रातःसवने च प्रयाजशेषः विप्रकृष्टे काले माध्यंदिने सवने ब्रह्मसामकाले प्राजापत्यानामालम्भः श्रूयते—तान् पर्यग्निकृतानुत्सृजन्ति[1] । ब्रह्मसाम्न्यालभते[2] इति । व्यापृता च जुहूर्भवति । तस्मात् पात्रान्तरमुत्पादनीयमिति । यथाऽनुयाजेषु पृषदाज्यधारणार्थं पात्रमुत्पाद्यते—**पृषदाज्ये-**

हवियों का अविघारण उपपन्न हो जाता है (यह अभिधारण प्रयाजशेष घृत का प्रतिपत्ति कर्म और स्रुच् के रिक्तीकरण रूप दृष्ट प्रयोजन के लिये है (द्र० कात्या० श्रौत ३।३।९ विद्याधर टीका)। वाजपेय में प्रयाज याग सुत्या के दिन प्रातःकाल होता है । प्राजापत्य पशुओं का आलम्भन माध्यन्दिन सवन में होता है । स्रुच् कार्यान्तर में व्यापृत (लगी हुई) होती है । अतः प्राजापत्य पशुओं की वपारूप हवि के आधारण के लिए प्रातःकालीन प्रयाज शेष घृत को जब तक पात्रान्तर में सुरक्षित नहीं रखा जायेगा, तब तक उस से वपारूप हवि का अभिधारण सम्भव नहीं है । वपा के अभिधारण के लिये प्रयाजशेष पात्रान्तर से रखा जाये या न रखा जाये, यह यहां सन्देह है ॥

अभिघारणे विप्रकर्षाद् अनुयाजवत् पात्रभेदः स्यात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—प्राजापत्य पशुओं की हवि वपा के (अभिघारणे) अभिधारण के निमित्त (विप्रकर्षात्) प्रयाज याग और प्राजापत्य पशुओं के आलम्भन में काल की दूरी होने से प्रयाज-शेष के धारण के लिये (पात्रभेदः) स्रुक् से भिन्न पात्र (स्यात्) होवे (अनुयाजवत्) जैसे पाशुक अनुयाज के निमित्त पृषदाज्य को रखने के लिये पृषदाज्यधानी पात्रान्तर होता है । ('अभि-घारणे' निमित्त सप्तमी है) ।

व्याख्या—अभिधारण रूप कर्म के निमित्त प्रयाजशेष को धारण करने (=रखने) के लिये पात्र उत्पन्न किया जाता है । प्रयाजशेष प्रातसवन में है [क्योंकि प्रयाज याग प्रातः-सवन में होते हैं । दूर काल माध्यन्दिन सवन में ब्रह्मसाम के समय प्राजापत्य पशुओं का आलम्भन सुना जाता है—तान् पर्यग्निकृतान् उत्सृजन्ति । ब्रह्म सामन्यालभते (=उन प्राजापत्य पशुओं को पर्यग्निकरण करके छोड़ देते है, ब्रह्मसाम के समय उनका आलम्भन होता है ।[प्रयाज याग के अनन्तर]जुहू कार्यान्तर में व्यापृत होती हैं । इसलिये [प्रयाजशेष के धारण के लिये] अन्य पात्र उत्पन्न करना चाहिये । जैसे अनुयाजों के निमित्त पृषदाज्य के धारण के

---

१. द्र०—तान् पर्यग्निकृतानुत्सृजति । तै० ब्रा० १।३।५॥ तथा आप० श्रौत १८।३।१५

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—माध्यन्दिनसवनस्य मध्यम उक्थपर्याये ब्रह्मसामम्न्युपा-कुरुतेऽत्र सारस्वतप्रभृतीनुत्तरानालभते । आप० श्रौत १८।६।७॥

नानुयाजान् यजति[1], इति वचनात् । एवमत्रापीति ॥ ३३ ॥

न वाऽपात्रत्वादपात्रत्वं त्वेकदेशत्वात् ॥ ३४ ॥ (उ०)

न वा प्राजापत्यानां वपा अभिघार्याः । कुतः ? शेषाभावात् । कथं शेषाभाव इति चेत्, अपात्रत्वात् । कथमपात्रता ? एकदेशत्वात् । प्रयाजार्थस्य हि गृहीतस्याऽऽज्यस्य स एकदेशः शेषः । किमतो यद्येवम् ? एकदेशव्यापारः श्रूयमाणो नावयविनमुपादेयत्वेन चोदयति । आह । उत्पत्तिं न चोदयेत् । धारणमुत्पन्नस्यार्थाद्भविष्य-

---

लिये पात्रान्तर [पृषदाज्यधानी] उत्पन्न की जाती है—पृषदाज्येनानुयाजान् यजति (= पृषदाज्य से अनुयाजों का यजन करता है । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये ॥

विवरण—पृषदाज्यधारणार्थम्–दधिमिश्रत आज्य पृषदाज्य कहाता है । पृषत् शब्द का अर्थ है—धब्बे=चकते । जैसे किसी काले पशु के शरीर पर सफेद रंग के धब्बे होते हैं उसी प्रकार दधि में आज्य का प्रक्षेप करने पर आज्य में जो दधि के टुकड़े होते हैं वे पृषत्=धब्बे या चकते के समान दिखाई देते हैं । इस कारण दधिमिश्रत आज्य को पृषदाज्य कहते हैं । पृषदाज्य से अनुयाजों का विधान पाशुक कर्म में होता है ।

विशेष—यह प्रकरण कृष्ण यजुशाखा के अनुसार है । शुक्ल यजुः के शतपथ ब्रा० ५।१।३।१४ तथा कात्या० श्रौत १४।२।२२ में पक्षान्तर में पशुओं की वपा का प्रचार (याग) यथान्याय=प्रकृति=अग्निष्टोम के समान प्रातःसवन में भी कहा है । पशुयाग का सामान्य नियम है—वपया प्रातःसवने चरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिनसवने, अङ्गैस्तृतीयेसवने (द्र० मै० सं ३।९।५) अर्थात् पशु की वपा से प्रातःसवन में होम करते हैं, पशु पुरोडाश से माध्यन्दिन सवन में और पश्वङ्गों से तृतीयसवन में ॥३३॥

न वाऽपात्रत्वाद् अपात्रत्वं त्वेकदेशत्वात् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(न वा) प्रयाजशेष से प्राजापत्य पशुओं की वपा का अभिधारण नहीं करना चाहिये (अपात्रत्वात्) प्रयाजशेष के धारण के लिये पात्र न होने से । (अपात्रत्वम्) प्रयाजशेष के धारण के लिये पात्र का अभाव (तु) तो (एकदेशत्वात्) प्रयाजशेष के एकदेश होने से जानना चाहिये ।

व्याख्या—प्राजापत्य पशुओं की वपा का अभिधारण नहीं करना चाहिये । किस हेतु से ? शेष न होने से । प्रयाजशेष का अभाव किस प्रकार है, ऐसा कहो तो, अपात्र (=पात्र का अभाव) होने से । पात्र का अभाव किस कारण है ? एकदेश होने से । [प्रयाज याग के अनन्तर जो आज्य जुहू में रहता है वह] शेष प्रयाज के लिये गृहीत आज्य का एकदेश है । इस से क्या ? एकदेश का श्रूयमाण व्यापार अवयवी को उपादेयत्व रूप से प्रेरित नहीं करता ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र० तै० सं० ६।३।११।६॥

तीति। उच्यते। एकदेशत्वादभिधारणं द्रव्यमेव न प्रयुङ्क्त इत्युच्यते। कृतार्थस्य द्रव्यस्यायमेकदेशः प्रतिपाद्यते, नाभिघारणमर्थकर्म। ननु हविषां द्वितीयानिर्देशात् प्राधान्यं स्यात्। नेत्युच्यते। अदृष्टो हि हविषामुपकारः कल्प्येत। आज्यप्राधान्ये पुनर्जुह्वा रिक्तत्वं दृष्टं प्रयोजनम्। आज्यभागार्थेनाऽऽज्येनासंसर्गो जुह्वा रिक्तया प्रयोजनं, नाभिघृतेन हविषा। तस्मात् प्राजापत्यानामभिघारिताभिर्वपाभिः प्रयोजनमेव नास्ति, किमर्थं शेषो धार्यत इति ॥ ३४ ॥

हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य ॥ ३५ ॥ (उ०)

हेतुत्वाच्चाभिघारणस्य, 'सहाऽऽलभते' इति स्तुतिर्भवति। **तीर्थं वै प्रातःसवनं, यत्प्रातःसवने पशव आलभ्यन्ते, तीर्थ एवैतानालभते, सयोनित्वायाथो वपाना-**

(आक्षेप) [प्रयाजशेष की] उत्पत्ति को न कहे। उत्पन्न प्रयाजशेष का धारण प्रयोजनवश करना होगा। (समाधान) एकदेश होने से अभिधारण [आज्य] द्रव्य को ही प्रयोजित नहीं करता, ऐसा कहते हैं। [प्रयाज यागों से] कृतार्थ आज्य द्रव्य का यह एकदेश प्रतिपादित होता है [अर्थात् एकदेश का अभिधारण प्रतिपत्ति कर्म है]। अभिधारण अर्थ कर्म नहीं है [अर्थात् किसी प्रयोजन विशेष के लिये अभिधारण कर्म नहीं किया जाता है]। (आक्षेप) प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति में] हवियों का द्वितीया विभक्ति के निर्देश से प्राधान्य होवे। (समाधान) ऐसा नहीं है। [हवियों की प्रधानता मानने पर अभिधारण से] हवियों के अदृष्ट उपकार की कल्पना करनी होगी, आज्य की प्रधानता में जुहू का खाली करना दृष्ट प्रयोजन होगा। आज्यभाग के लिये गृह्यमाण आज्य के साथ [प्रयाजशेष आज्य का] संसर्ग न होवे यह रिक्त जुह्वा का प्रयोजन है, अभिघारित हवि से प्रयोजन नहीं है। इस से प्राजापत्य पशुओं की अभिघारित वपाओं से कोई प्रयोजन ही नहीं है, तो किस लिये प्रयाजशेष को धारण किया जाये ॥३४॥

हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य ॥३५॥

सूत्रार्थः—(सहप्रयोगस्य) प्रात सवन में अन्य पशुओं और प्राजापत्य पशुओं के सह=साथ-साथ आलम्भन का (हेतुत्वात्) प्राजापत्य वपा के अभिधारण में हेतुरूप से स्तुति होने से (च) भी विप्रकृष्ट काल में प्राजापत्य अभिधारण का अभाव जाना जाता है। (सहप्रयोग का वचन भाष्यव्याख्या में देखें)।

व्याख्या—सह आलभते (=साथ आलम्भन करता है) से [वपा के] अभिधारण में हेतु रूप से स्तुति होती है—तीर्थं वै प्रातःसवनम्, यत्प्रातःसवने पशव आलभ्यन्ते, तीर्थं एवैतानालभते सयोनित्वायाथो वपानाममिघृतत्वाय (=प्रातःसवन तीर्थ रूप है। जो प्रातःसवन में [अन्य पशुओं के साथ प्राजापत्य] पशुओं का आलम्भन करता है, तीर्थ में ही उनका आलम्भन करता है समान योनित्व के लिये तथा वपा के अभिघारित होने के लिये)

मभिघृतत्वाय[1] इत्यर्थान्तरेण वपाभिघारणमनुगृह्णन्नेहास्तीति दर्शयति ॥ ३५ ॥

अभावदर्शनाच्च ॥ ३६ ॥ (उ०)

अभावं खल्वप्यभिघारणस्य दर्शयति—**सव्या वा एतर्हि वपा यर्हि अनभिघृता, ब्रह्म वै ब्रह्मसाम, यद् ब्रह्मसाम्न्यालभते तेनासव्याः, तेनाभिघृताः**[1] इति। सव्य-शब्दो रूक्षे भाष्यते। सव्या वपा इत्यनभिघृततां दर्शयति ॥ ३६ ॥

सति सव्यवचनम् ॥ ३७ ॥ (पू०)

इस अर्थान्तर से वपा के अभिघारण का अनुग्रह करता हुआ यहां (=विप्रकृष्ट काल में आलम्भन होने पर) वपा का अभिघारण नहीं है ऐसा दर्शाता है।

विवरण—कुतुहल वृत्तिकार ने उक्त श्रुति का पाठ इस प्रकार दिया है—**तीर्थं वै प्रातः सवनम्, यत्प्रातःसवने इतरैः पशुभिः सह प्राजापत्याः पशव आलभ्यन्ते**...... । हमारा विचार है कि भाष्यपाठ में श्रुति का **इतरैःपशुभिः सह प्राजापत्याः** पाठ लेखक प्रमाद आदि से नष्ट हो गया है ॥३५॥

अभावदर्शनाच्च ॥३६॥

सूत्रार्थः—प्राजापत्य वपा के अभिघारण के (अभावदर्शनात्) अभाव के दर्शन से (च) भी प्राजापत्य वपा के अभिघारण का अभाव जाना जाता है।

व्याख्या—**[वाक्य शेष विप्रकृष्ट काल के प्राजापत्य पशुओं की वपा के] अभिघारण का अभाव भी दर्शाता है**—सव्या[2] वा एतर्हि वपा यर्हि अनभिघृता। ब्रह्म वै ब्रह्मसाम। यद् ब्रह्मसाम्न्यालभते तेनासव्याः तेनाभिघृताः (=रूखी है यह वपा जो अनभिघारित हैं। **ब्रह्म ही ब्रह्मसाम है। जो ब्रह्मसाम के समय [प्राजापत्य पशुओं का] आलम्भन किया जाता है उस से वपा अरूक्षा होती है, उस से अभिघृत होती हैं)। सव्य शब्द रूक्ष (=रूखे) अर्थ में बोला जाता है।** सव्या वपा **इस से [वपा का] अनभिघृतत्व दिखाया जाता है।**

विवरण सव्या वा ··तेनासव्या—शबरस्वामी ने दन्त्यसकारवान् शब्द पढ़ा है कुतुहलवृत्तिकार ने तालव्य शकारवान् शव्या शब्द का प्रयोग किया है। मूल आकर का परिज्ञान न होने से हम पाठ के निश्चय में असमर्थ है ॥३६॥

सति सव्यवचनम् ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थः—(सति) वपा के अभिघारण होने पर (सव्यवचनम्) सव्य=रूक्ष वचन प्रयाज-शेष से अनभिघारण का लिङ्ग नहीं है।

---

१. अनुपलब्धलम्।

२. कुतुहल वृत्ति में यहां तथा अन्यत्र 'सव्या' के स्थान में 'शव्या' पाठ है।

आह नैतद्दर्शनम्, सत्येव ह्यभिघारणे भवत्येतत् सव्यत्वचनम् । अस्ति हि वपाया अन्यदभिघारणम्—**उपस्तृणात्याज्यं, हिरण्यशकलं, वपा, हिरण्यशकलं, ततो-ऽभिघारयति**[1] इति । तस्मिन् सति कथं सव्या भवेयुः ? ब्रूते च[2] । तस्मान्नैतच्छक्यमव-गन्तुं, रूक्षास्ता वपा दृश्यन्त इति । तेन नूनमभिघारणं प्रयाजशेषेणास्तीति । सति अस्मिन्नभिघारणे प्रत्यक्षे रूक्षास्ता इति दर्शनं[3] व्यामोह इति ॥ ३७ ॥

न तस्येति चेत् ॥ ३८ ॥ (पूर्वपक्ष आ०)

एवं चेद् दृश्यते, सत्यभिघारणे सव्या इति वचनमलिङ्गमिति । नालिङ्गम्, तस्यैतद्वचनं यत्स्नेहनं करोति । कतमत्तत् ? यत् प्रथमम् । प्रथमं हि स्नेहनं करोति,

---

व्याख्या—यह (=सव्या वा एतर्हि वपा आदि) वचन [वपा के अनभिघारण में] दर्शन (=प्रमाण) नहीं है । अभिघारण होने पर ही यह सव्य वचन होता है । वपा का अन्य अभिघारण भी है—उपस्तृणात्याज्यं हिरण्यशकलं वपा हिरण्यशकलं ततोऽभिघारयति (=उपस्तरण करता है आज्य का, सुवर्ण के टुकड़े को, वपा को हिरण्य शकल को रखता है, तत्पश्चात् अभिघारण करता है) इस अभिघारण के होने पर वपाएं कैसे रूक्ष होवें । पर वचन रूक्ष कहता है । इस कारण यह नहीं जाना जा सकता है कि वे वपाएं रूक्ष देखी जाती हैं । इस से निश्चित होता है कि प्रयाजशेष से अभिघारण होता है । इस (=प्रयाजशेष) से प्रत्यक्ष अभिघारण के होने पर वे वपाएं रूक्ष हैं, यह दर्शन (=रूक्ष-वचन, व्यामोह है ।

विवरण—उपस्तृणात्याज्यं—यह वचन वपा के अवदान काल का है । **पञ्चावत्तैव वपा कार्या**—(द्र०—'पञ्चावत्तैव वपा' । ऐ० ब्रा० २।१४)=वपा को पञ्चावत्त करना चाहिये इस नियम को दर्शाता है - (१) आज्य से उपस्तरण करता है, (२) उस पर हिरण्य का टुकड़ा रखता है, (३) उस पर वपा को रखता है, (४) उस पर हिरण्य का टुकड़ा रखता है, (५) उस के पीछे आज्य से अभिघारण करता है । इस प्रकार वपा पञ्चावत्त होती है । इस अभि-धारण से वपा रूक्ष नहीं रहती ॥३७॥

न तस्येति चेत् ।३८॥

सूत्रार्थः—(तस्य) प्रयाजशेष से अभिघारण का लिङ्ग नहीं है (इति चेत्)ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—यदि ऐसा समझते हो कि अवदानकालिक अभिघारण के होने पर भी 'सव्या' यह वचन [प्रयाजशेष से अभिघारण का] लिङ्ग नहीं है । अलिङ्ग नहीं है, [यहां] उस [अभिघारण] का वचन है जो स्नेहन करता है । वह स्नेहन करने वाला कौन सा [अभि-

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—आज्यस्योपस्तृणाति, हिरण्यशल्कः, वपाः हिरण्यशल्कः, आज्यस्योपरिष्टादभिघारयति । ऐ० ब्रा० २।१४॥ का० श्रौ० ६।६।२२,२३॥ आप० श्रौ० ७।२०।६॥ २. 'श्रूयते च' इति पूना सं० पाठः ।

३ 'प्रत्यक्षमरूक्षास्ताः । अतो रूक्षावचनं' इति पूना सं० पाठः ।

न द्वितीयम्। स्निग्धस्य तद् भवति। न च स्निग्धस्य स्नेहनं क्रियते। यथा भवति लोके वादः—यदस्माभिः कान्ताराान्निर्गतैर्देवदत्तस्य गृहे स्निग्धमन्नं भुक्तं, तेन वयमरूक्षाः कृता इति, सत्स्वप्यन्येषु स्निग्धेष्वेव भोजनेषु। एवं तस्यारूक्षाकरणस्याभिधारण-स्याभावाद् रूक्षा इति वचनमुपपद्यते, अस्मिंस्तु सति नोपपद्यते। तस्मादपि प्रयाज-शेषेणाभिघारणं प्राजापत्यानां नास्तीति ॥३८॥

स्यात् तस्य मुख्यत्वात् ॥ ३९ ॥ (उ०)

इदं पदोत्तरं सूत्रम्। यदि प्रथमास्याभावात् सव्या इति वचनं भवत्यनुपपन्नं तर्ह्यन्यस्य प्रथमस्य विद्यमानत्वात्। कतमत्तत्? यच्छ्र्प्यमाणाया अपरमुद्वासि-तायाः। अत्रोच्यते—

स्यात् तस्य मुख्यत्वात्। यत्प्रयाजशेषेणाभिधारणं तस्यैवाभावादेतदुपपद्यते, सत्यपि श्रप्यमाणाया अभिधारणे उद्वासितायाश्च। यत्तावच्छ्र्प्यमाणायास्तदग्नेर-

---

धारण] है? जो प्रथम [अभिधारण] है। प्रथम [अभिधारण] ही स्नेहन करता है, दूसरा नहीं करता। क्योंकि वह [दूसरा अभिधारण] पूर्वतः स्निग्ध का होता है। स्निग्ध का स्नेहन नहीं किया जाता है। जैसा लोक में कथन होता है—जंगल से निकले हुए हम लोगों ने देवदत्त के घर स्निग्ध भोजन किया, उस से हम अरूक्ष हो गये [हमारा रूखापन मिट गया], अन्य स्निग्ध भोजनों के होने पर भी [प्रथम देवदत्त के स्निग्ध भोजन को ही अरूक्ष करनेवाला कहा जाता है] इसी प्रकार उस अरूक्ष करनेवाले [अभिधारण] के अभावमें [वपा का] रूक्षा वचन उपपन्न होता है। इस [प्रयाजशेष के अभिधारण] के होने पर उपपन्न नहीं। इस से भी प्रयाजशेष से प्राजापत्य वपा का अभिधारण नहीं होता है ॥३८॥

स्यात् तस्य मुख्यत्वात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—अन्य अभिधारण (स्यात्) होवे, तथापि (तस्य) प्रयाजशेष से अभिधारण के मुख्य होने से उस के अभाव में सव्या वचन प्रयाजशेष के अभिधारण के अभाव में लिङ्ग है।

व्याख्या—यह सूत्र कुछ पदों के उत्तर (=पश्चात्) है [अर्थात् इस सूत्र में पूर्व कहने योग्य कुछ पद सूत्रकार ने नहीं पढ़े]। यदि प्रथम [अभिधारण] के अभाव से सव्या यह वचन उपपन्न नहीं होता है, तो अन्य प्रथम अभिधारण के विद्यमान होने से। वह कौन सा है? जो पकाई जा रही वपा का [अभिधारण] और दूसरा [पका कर] उतारी गई वपा का [अभिधारण] है। इस विषय में कहते हैं—

[चाहे] अन्य अभिधारण होवे तथापि उस (=प्रयाजशेष से अभिधारण) के मुख्य होने से। जो प्रयाजशेष से अभिधारण है उसी के अभाव से यह [सव्या] वचन उपपन्न होता है, पकाई जा रही वपा के अभिधारण और नीचे उतारी हुई वपा के अभिधारण के होने पर भी। जो पकाई जा रही वपा के अभिधारण का घृत है, उस को अग्नि की ज्वालाएं जला

र्चींवि दहन्ति, यदुद्वासितायास्तदग्न्यवयवा ऊष्मादयवाश्च नाशयन्ति। सैषा रूक्षैव। इदं तु प्रयाजशेषेण शीतायाः क्रियते। तत् स्नेहयति। तेन स्निग्धायाः प्रदानकालमभिधारणं यत्, तन्न स्नेहयति। तदिदं स्नेहनस्याभिधारणस्याभावात् सव्यतावचनमुपपद्यत इत्युक्तम्। तस्मान्न प्रयाजशेषो धार्यत इति ॥३९॥ **इत्यभिधारणशेषधारणतत्पात्रयोरननुष्ठानाधिकरणम् ॥१४॥**

देती हैं और जो पका कर उतारी हुई वपा के अभिघारण का घृत है, उसको अग्नि के अवयव और ऊष्मा के अवयव [जो वपा में सन्निविष्ट हैं] नष्ट कर देते हैं। वह रूखी ही होती है। और यह प्रयाजशेष से अभिघारण ठण्डी हुई वपा का किया जाता है। वह [अभिघारण वपा को] स्निग्ध करता है। इसलिये स्निग्ध हुई वपा का जो प्रदान (=आहुति) काल का अभिघारण है वह स्निग्ध नहीं करता। अतः इस स्नेहन करनेवाले [प्रयाजशेष के] अभिघारण के अभाव से सव्यता (रूक्षता) का वचन उपपन्न होता है, यह कहा है। इस हेतु से प्रयाजशेष का [प्राजापत्य वपा के अभिघारण के लिये] धारण नहीं होता है।

विवरण—कुतुहलवृत्तिकार ने **सति सव्यवचनम्, न तस्येति चेत्, तस्य मुख्यत्वात्** इन सूत्रों का किञ्चित् पाठभेद के साथ भाष्यकारीय व्याख्यान से भिन्न प्रकार से व्याख्यान किया है। हमारे विचार में कुतुहलवृत्तिकार का व्याख्यान अधिक युक्त है। क्योंकि **न तस्येति चेत् तस्य मुख्यत्वात्** जो कि वस्तुतः एक सूत्र है, के मध्य में पदोत्तरता की कल्पना युक्त नहीं है। भाष्यकार ने यद्यपि एतादृश सूत्रों का योगविभाग करके ही सर्वत्र व्याख्यान किया है, तथापि उसने अन्यत्र दोनों योगविभागों के मध्य पदोत्तरता की कल्पना नहीं की है। कुतुहलवृत्तिकार का व्याख्यान इस प्रकार है—

उपस्तृणात्यभिधारयति **इस अवदान काल में विहित अभिघारण के होने से अनभिघारण प्रयुक्त रूक्षत्व वचन अविवक्षित अर्थवाला है, ब्रह्मसाम के समय आलम्भन की प्रशंसा परक मात्र है। इस से वह प्रयाजशेष से अभिघारण के अभाव में लिङ्ग नहीं हो सकता। इस आशङ्का का निराकरण करते हैं—**

सति च शव्यवचनम् ॥३५[1]॥

अवदान काल के अभिघारण होने पर भी शव्या वा इत्यादि वचन प्रयाजशेष से अभिघारण के अभावकृत अस्नेहनत्व को स्वीकार करके उपपन्न होता है। स्निग्धत्व का कारण अभिघारण अभाव प्रतियोगी शव्या शब्द से कहा जाता है। वहां प्रथम अभिघारण ही मुख्य स्निग्धत्व का कारण है, अवदान काल का अभिघारण उस प्रकार के स्निग्धत्व का

---

१. कुतुहलवृत्ति में यहां सूत्रसंख्या की भिन्नता है।

कारण नहीं है, पूर्व अभिघारण से ही स्निग्धत्व के कर देने से। लोक में भी जङ्गल में रहनेवाले रूक्ष अन्न खानेवाले ग्राम में प्रवेश करके देवदत्त के घर में प्रथम स्निग्ध अन्न खानेवाले तथा अन्य घरों में स्निग्ध ही अन्न खानेवाले मनुष्यों से भी कहा जाता है-- देवदत्त के घर में स्निग्ध अन्न खाया उस से हम अरूक्ष हो गये। उसी प्रकार प्रथम ही प्रयाजशेष का अभिघारण स्नेहनमात्र के अभाव के प्रतियोगी रूप में अनूदित हुआ लिङ्ग है।

इस में आशङ्का करके परिहार करते हैं—

न तस्येति चेत् स्यात्तस्य मुख्यत्वात् ॥३६॥

उस प्रयाजशेष के अभिघारणाभाव का यह लिङ्ग नहीं है 'त्वामु ते दधिरे हव्यवाहम्' इस पकाई जा रही वपा के अभिघारण और यत्तु आत्मा इस पकी हुई नीचे उतारी हुई वपा के अभिघारण के प्रयाजशेषाभिघारण की अपेक्षा प्रथम विद्यमान होने से यहां उसी का अभाव-प्रतियोगी शब्या शब्द से अनुवाद होने से [प्रयाजशेषाभिघारण के अभाव का लिङ्ग नहीं है] ऐसा कहो तो यह उचित नहीं है। किस कारण ? उस (=प्रयाजशेषाभिघारण) के मुख्य होने से। प्रयाजशेष से किये गये अभिघारण के ही मुख्य होने से। पक रही और पकी हुई वपा का अभिघारण करने पर भी अग्नि की ज्वालाओं से घृत के जल जाने से सम्यक् प्रकार स्निग्धत्व नहीं होता है और नीचे उतारी हुई वपा के भी उष्मा (=गरमी) के अवयवों से स्नेहावयवों के नाश हो जाने से भले प्रकार स्निग्धत्व नहीं रहता। प्रयाजशेष से अभिघारण से तो ठण्डी हुई वपा का किया जा रहा स्नेहन मुख्य होता है[1]। उस (=प्रयाजशेष के) अभिघारण के अभाव से रूक्षत्व ही यहां अनूदित है। अतः वह 'विप्रकृष्ट काल की प्राजापत्य वपाओं का प्रयाजशेष से अभिघारण नहीं होता' इस में लिङ्ग है। इसलिये प्राजापत्य वपाएं प्रयाजशेष से अभिघारण और प्रयाजशेष घृत के धारण के लिये पत्रान्तर को प्रयोजित नहीं करती।

कुतुहलवृत्तिकार के मत में सति सव्यवचनम् (३७) उत्तरपक्ष का है, भाष्यकार के मत में पूर्व पक्ष का, यही दोनों में प्रधान भेद है।

भट्टकुमारिल ने अपनी टुपटीका में प्रकृत अधिकरण के सम्बन्ध में लिखा है—'इस विचार के प्रकृति (=अग्निष्टोम) में सम्भव होने पर भी भाष्यकार ने विकृति (=वाजपेय) को उदाहृत किया है। सूत्रकार ने भी विकृति विषयक लिङ्गदर्शन उपस्थापित किये हैं॥ ३६॥

—,०:—

---

१. यहां उद्वासितायाः से लेकर 'स्नेहनं भवति' तक का कुतुहलवृत्ति का पाठ भ्रष्ट है। प्रकरणानुसार शोध कर भाषानुवाद किया है।

[प्रयाजह्यस्य समानयनादिप्रयोजकत्वाधिकरणम् ॥१५॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**अतिहायेडो बर्हिः प्रति समानयति**[1]। तत्र संदेहः—किं समानयनमाज्यस्य धर्माणां च प्रयोजकमुताप्रयोजकमिति ? किं प्राप्तम् ? अप्रयोजकमिति। कुतः ? प्रयाजानुयाजार्थस्याऽऽज्यस्यायमेकदेशः समानीयत इति पूर्वेण न्यायेनाप्रयोजकता प्राप्ता। तदुच्यते—

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास में सुना जाता है**—अतिहायेडो बर्हिः प्रति समानयति (= **इडा का त्याग=होम करके**[2] बर्हि [**चतुर्थ प्रयाज**] **के प्रति** [**उपभृत् से जुहू में घृत का**] **समानयन =ग्रहण है। इस में सन्देह होता है—क्या यह समानयन आज्य और उसके धर्मों का प्रयोजक है ? क्या प्राप्त होता है ? अप्रयोजक है। किस हेतु से ? प्रयाज और अनुयाज के लिये उपभृत् में रखे हुए घृत के एकदेश का समानयन किया जाता है। अतः पूर्व न्याय से अप्रयोजकता प्राप्त होती है। इस विषय में कहते हैं** –

विवरण—**अतिहायेडो बर्हिः प्रति समानयति**—समित्, तनूनपात् अथवा नराशंस, इड्, बर्हिः, स्वाहाकार देवतावाले पांच प्रयाज संज्ञक याग होते हैं। **चतुर्जुह्वां गृह्णाति, अष्टावुपभृति, चतुर्ध्रुवायाम्** (तै० ब्रा० ३।३।५) आज्यस्थाली से जुहू में चार स्रुव घृत ग्रहण करता है, आठ स्रुव उपभृत् में, चार ध्रुवा में। **यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्, यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्, सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्** (तै० ब्रा० ३।३।५) जो आज्य जुह्वा में ग्रहण किया है वह प्रयाजों के लिये हैं, जो उपभृत में ग्रहण किया है वह प्रयाज और अनुयाज के लिये है, सम्पूर्ण यज्ञ के लिये ग्रहण किया जाता है जो ध्रुवा में आज्य है[3]। जुहू में जो चार स्रुव आज्य है उस से प्रथम तीन प्रयाज करके चतुर्थ बर्हि संज्ञक प्रयाज के लिये उपभृत् से आधा आज्य ग्रहण किया जाता है (इसे समानयन कहते है)। **उपभृतो जुह्वामानयत्यनवमृशंश्चतुर्थम्** (कात्या० श्रौत ३।२।२१; तथा द्र० शत० ब्रा० १।५।३।१६)। इस का तात्पर्य यह है कि उपभृत् में गृहीत आठ स्रुव आज्य में से आधा आज्य प्रयाज के लिये होने से चतुर्थ प्रयाज के प्रति उपभृत् से आधा आज्य जुह्वा में डालता है जुहू का स्पर्श न करते हुए। यह विवरण है बर्हि के प्रति आज्य के समानयन का। **अयमेकदेशः समनीयत इति पूर्वेण न्यायेन**—इस का भाव यह है कि हवि का अभिधारण जिस आज्य से किया जाता है वह प्रयाजयाग का का शेष है एकदेश होने, अतः वह उस के धारण के लिये जैसे पात्र का प्रयोजक नहीं होता

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. 'इट्प्रयाजोत्तरं बर्हिप्रयाजोपक्रमकाले' इत्यर्थः (पूना सं० टिप्पणी)।

३. आहुति के अनन्तर जितनी बार स्रुवा द्वारा ध्रुवा से आज्य ग्रहण किया जाता है उतनी ही बार आज्यस्थाली से आज्य लेकर ध्रुवा में डालते है। इस प्रकार ध्रुवा में चार स्रुव आज्य सदा बना रहता है। इसीलिये 'सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्' कहा है (तै० ब्रा० ३।३।५)।

समानयनं तु मुख्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ॥ ४० ॥ (उ०)

मुख्यं समानयनं, लिङ्गदर्शनात् । किं लिङ्गम् ? **चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति, न ह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति**[1] इत्यातिथ्यायां श्रूयते । यदि प्रयाजार्थं समानयनं, ततस्त्वेकं चतुर्गृहीतं समानीयते । एकमप्यनुयाजानां भवति । ततश्च **आतिथ्येडान्ता संतिष्ठते**[2] इत्यनुयाजाभावे उपभृति समानयनार्थमेकं चतुर्गृहीतं ग्राह्यं, न त्वनुयाजार्थम् । तत्र बहूनां चतुर्गृहीतानां दर्शनमुपपद्यते । इतरथा ह्यनुयाजाभावे नैवोपभृति चतुर्गृह्येत । तत्र चतुर्गृहीतानीति बहुवचनं नोपपद्यते । तस्मात् प्रयोजकं समानयनमिति ।

उसी प्रकार प्रयाज और अनुयाज के लिये उपभृत् में रखे आज्य का समानीयमान एकदेश है। अतः यह आज्य और उस के धर्मों का प्रयोजक नहीं है ।

भट्ट कुमारिल ने इस भाष्य की व्याख्या (टुप् टीका) में भाष्य ग्रन्थ की अयुक्तता दर्शाई है । तदनन्तर अन्य व्याख्याकारों द्वारा समादृत पाठों की असाधुता बता कर अन्यथा व्याख्यान किया है । यह सब टुप् टीका में ही देखना चाहिये । कुतुहलवृत्तिकार ने भी भट्ट कुमारिल के मतानुसार व्याख्या की है ।

समानयनं तु मुख्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है । (समानयनम्) उपभृत् में रखे हुए आठ स्रुव आज्य में से आधा जुहू में ग्रहण करना (मुख्यम्) मुख्य (स्यात्) होवे । (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से । (लिङ्ग भाष्य में देखें) ।

व्याख्या—समानयन मुख्य है लिङ्ग के दर्शन से । लिङ्ग क्या है ? चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति, न ह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति (=चार स्रुवों से गृहीत आज्य होते हैं, क्योंकि यहां अनुयाजों का यजन नहीं होता है) यह आतिथ्येष्टि में सुना जाता है । यदि प्रयाज के लिये समानयन है तो उस से वहां एक चतुर्गृहीत का समानयन होता है । और एक चतुर्गृहीत अनुयाजों का होता है । इस से आतिथ्येडान्ता सन्तिष्ठते (=आतिथ्येष्टि इडान्त होती है) से अनुयाजों के अभाव में उपभृत् में समानयन के लिये एक चतुर्गृहीत ग्रहणीय होवे, अनुयाजों के लिये ग्रहणीयन न होवे । वहां (=समानयन के प्रयोजक होने पर) अनेक चतुर्गृहीत आज्यों का दर्शन उपपन्न होता है । अन्यथा (=समानयन के प्रयोजक न होने पर) अनुयाजों के अभाव में उपभृत् में चतुर्गृहीत आज्य का ग्रहण न होवे । उस अवस्था में चतुर्गृहीतानि यह बहुवचन उपपन्न न होवे । इस हेतु से समानयन आज्य का प्रयोजक है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । सर्वाण्येव चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्णाति नह्यत्रानुयाजा भवन्ति । शत० ३।४।१।१८

२. 'आतिथ्येडान्ता संतिष्ठते' इति 'इडान्ता सन्तिष्ठते' इति वात्रोद्धरणमिति संदिह्यते, उभयथाप्युद्धरणस्य संभवात् । 'इडान्ता संतिष्ठते' इति आप० श्रौत १०।३१।१५॥ आतिथ्ये-

ननु लिङ्गमुपदिश्यते, का प्राप्तिः? उच्यते। दृष्टं तत्र प्रयोजनम्। प्रयाजौ द्वौ यष्टव्यौ। तत्र जुह्वामाज्येन प्रयोजनं, नोपभृति रिक्तायाम्। उपभृतो रेचनमदृष्टार्थं, जुह्वां निधानं दृष्टार्थमेव। तेन प्रयाजहोमार्थमाज्यसमानयनमौपभृतमाज्यं प्रयोजयति। तदपि हि प्रयाजार्थमनुयाजार्थं चेति वक्ष्यते॥ ४०॥

(आक्षेप) लिङ्ग का कथन करते हो, प्राप्ति क्या है? (समाधान) वहां (=समानयन में) प्रयोजन दृष्ट है। दो प्रयाज यष्टव्य हैं। इस कारण जुहू में आज्य से प्रयोजन है, उपभृत् के रिक्त (खाली) करने में प्रयोजन नहीं है। उपभृत् का खाली करना अदृष्टार्थ है, जुहू में आज्य को डालना दृष्टार्थ ही है। इस हेतु से प्रयाज होम के लिये आज्य का समानयन उपभृतस्थ आज्य को प्रयोजित करना है [अर्थात् समानयन औपभृतस्थ आज्य का प्रयोजक है]। वह (=उपभृत् में रखा गया दो चतुर्गृहीत आज्य) भी प्रयाज और अनुयाजों के लिये है यह आगे कहेंगे॥

विवरण—**चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति**—'चतुर्गृहीतानि'=चार बार स्रुव से गृहीत आज्य। यहां 'चतुर्' शब्द से **द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्**(अष्टा० ५।४।१८)से क्रिया की पुनः पुनः आवृत्ति की गणना में 'सुच्' प्रत्यय होता है। **न ह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति**—आगे कहेंगे कि आतिथ्येष्टि इडान्त होती है। अनुयाज इडाकर्म के पश्चात् होते हैं। अतः आतिथ्येष्टि के इडान्त होने से उस में अनुयाज याग नहीं होते। 'यक्ष्यन्' यह लृट् लकार स्थानीय शतृप्रत्ययान्त रूप है। **आतिथ्येडान्ता सन्तिष्ठते**—जैसे लोक में विशिष्ट अतिथि के उपस्थित होने पर अर्घ आदि के द्वारा उस का सत्कार किया जाता है उसी प्रकार सोमयाग में सोम राजा के क्रयादि के पश्चात् उसके उपस्थित होने पर उसके सत्कार रूप में आतिथ्येष्टि की जाती है। **इडान्ता सन्तिष्ठते**—सर्व इष्टियों की प्रकृति रूप दर्शपूर्णमास में दो बार इडा-भक्षण होता है। प्रथम स्विष्टकृद् याग के पश्चात् और अनुयाज से पूर्व, तथा द्वितीय पत्नीसंयाज के पश्चात् (द्र० दर्शपौर्णमास-पद्धति[1] पृष्ठ ८२-८६ तथा पृष्ठ १००)। इडाभक्षण के दो बार होने पर किस इडाकर्म पर आतिथ्येष्टि पूर्ण होती है, इसके लिये **अन्तवचने पूर्वम्** (कात्या० श्रौत ७।५।२१) से प्रथम इडान्त कर्म ही गृहीत होता है। **प्रथमातिक्रमे मानाभावात्** (=प्रथम के अतिक्रमण में कोई प्रमाण वा कारण न होने से) इस लौकिक न्याय से भी आतिथ्येष्टि प्रथम इडा कर्म के अन्त में समाप्त हो जाती है।

इतरथा अनुयाजाभावे नैवोपभृति चतुर्गृह्णीत— इस का भाव यह है कि इतरथा अर्थात् अर्थात् पूर्वपक्ष में समानयन के उपभृत् में आज्य ग्रहण के प्रति अप्रयोजक होने पर प्रयाज और अनुयाजों के लिये उपभृत् में ४-४ कर के दो बार गृहीत होनेवाला आज्य का अनुयाजों के अभाव

डान्ता इति आश्व० श्रौत ४।६॥ इडान्ताऽऽतिथ्या। शां० ब्रा० ८।२॥ इडान्तमेव कार्यमातिथ्यम् इति मै० सं० ३।७।९॥

१. पं० भीमसेन कृत। यह 'रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)' से प्राप्य है।

अथ कस्मान्न वचनमेतत्, चतुर्गृहीतान्याज्यसमानि[1] इति ? उच्यते—

वचने हि हेत्वसामर्थ्यम्[2] ॥ ४१ ॥

वचने हि हेतुरसमर्थितः स्यात्, **न ह्यत्रानुयाजान्यक्ष्यन् भवति[3]** इति। यदा

में उपभृत् में ग्रहण ही नहीं होगा । ऐसा होने पर जुहू में एक चतुर्गृहीत तथा ध्रुवा में दूसरा चतुर्गृहीत अर्थात् दो चतुर्गृहीत आज्य ही होंगे । अतः कहा – तत्र चतुर्गृहीतानीति बहुवचनं **नोपपद्यते**। **चतुर्गृहीतानि** यह बहुवचन अनुयाजों के अभाव में उपभृत् में अनुयाजार्थ एक चतुर्गृहीत के न होने पर भी प्रथम तीन प्रयाजों के लिये जुहू में एक चतुर्गृहीत, अन्त्य दो प्रयाजों के लिये एक चतुर्गृहीत तथा ध्रुवा में एक चतुर्गृहीत आज्य को मिला कर तीन चतुर्गृहीत आज्य होने से आतिथ्येष्टि में **चतुर्गृहीतानि** बहुवचन उपपन्न होता है। ऐसा ही व्याख्यान कुतुहलवृत्तिकार ने किया है—**अतिथ्यायां चतुर्गृहीतान्याज्यानि, नह्यत्रानुयाजान् यक्षन् भवति' इति चतुर्गृहीतबहुत्वं चोक्तार्थे लिङ्गम्। तद्धि जौहवोपभृतयोः प्रयाजेषु समुच्चये घटते** अर्थात् आतिथ्या में चतुर्गृहतान्याज्यानि' वचन में चतुर्गृहीतों का बहुत्व उक्त अर्थ में लिङ्ग है । वह जुहूस्थ और उपभृत्स्थ आज्यों के प्रयाजों में समुच्चय होने पर ही घटता है । शतपथ ब्रा० ३।४।१।१८ में भी **सर्वाण्येव चतुर्गृतान्याज्यानि गृह्णाति नह्यत्रानुयाजा भवन्ति** कहा है । यह वचन में 'सर्वाण्येव' पद उक्त अर्थ को अधिक स्पष्टता से व्यक्त करते हैं । क्योंकि आतिथ्येष्टि में प्रकृति से जुहू में चार स्रुव, उपभृत् में आठ स्रुव और ध्रुवा में चार स्रुव आज्य[3] ग्रहण का विधान अतिदेश से प्राप्त होता है । उस की प्राप्ति में 'सब ही आज्य चतुर्गृहीत होते हैं' कहने से उपभृत् में भी एक चतुर्गृहीत आज्य ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार बहुवचन इस में लिङ्ग होता है कि समानयन औपभृत आज्य का प्रयोजक हैं । **का प्राप्तिः ?** इस का तात्पर्य यह है कि दर्शन प्राप्ति पूर्वक ही होता है । द्र०—**प्राप्तिपूर्वकं हि दर्शनं भवति** । मी० शा० १२।४।४१ ॥४०॥

व्याख्या—चतुर्गृहीतान्याज्यानि **यह वचन (विधायक वचन) क्यों न माना जाये। इस विषय में कहते हैं**–

वचने हि हेत्वसामर्थ्यम् ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थः—(वचने) 'चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति' को चतुर्ग्रहण में वचन=विधायक मानें (हि) तो (हेत्वसामर्थ्यम्) 'न ह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति' यह हेतु असमर्थित होता है ॥

व्याख्या—[चतुर्गृहीतान्याज्यानि को] **वचन (=विधायक) मानने पर** नह्यत्रा-

---

१. द्र०—पृष्ठ १२३८, टि० १।

२. मुदितेषु भाष्यग्रन्थेषु 'हेत्वसामर्थ्ये' इति पाठो दृश्यते । स चानान्वित इव प्रतिभाभातीति मत्वा वृत्त्यन्तरेषु स्वीकृत एव पाठोऽस्माभिरपीहाश्रितः ।

३. पूर्व पृष्ठ १२३७ के विवरण में 'यज्जुह्वां गृह्णाति' आदि वचन ।

समानयनं न प्रयाजार्थमिति गम्यते, तदा वचनम् । यदा वचनं, तदा नानुयाजाभावो हेतुः । असति हेतौ, **न ह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति** इति हेतुवन्निगदो नोपपद्येत । तस्मात् प्रयाजार्थं समानयनं प्रयोजकमौपभृतस्याऽऽज्यस्य ।

किं भवति प्रयोजनम् ? प्रयाजार्थे समानयने यावत् प्रयाजार्थं, तावत्सर्वं समानेयमर्धमौपभृतस्य । अप्रयोजकत्वे न नियोगतोऽर्थं, यावत्तावद्वा ॥४१॥ **इति समानयनस्याज्यधर्मप्रयोजकताधिकरणम् ॥ १५ ॥**

—:o:—

[औपभृताज्यस्य प्रयाजानुयाजार्थताधिकरणम् ॥१६॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**चतुर्जुह्वां गृह्णाति**[1], **अष्टावुपभृति गृह्णाति**[2], इति ।

नुयाजान् यक्ष्यन् भवति रूप हेतु असमर्थित होवे । जब समानयन प्रयाज के लिये नहीं हैं, ऐसा जाना जाता है उस अवस्था में [चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति] वचन अर्थात् विधायक होता है । जब वचन होता है तब [अनुयाजों के अभाव में नह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति यह] अनुयाजाभाव हेतु नहीं होता । हेतु न होने पर नह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति यह हेतुवत् कथन उपपन्न नहीं होता है । इस से समानयन [अन्त्य दो] प्रयाजों के लिये औपभृत (=उपभृत् संज्ञक जुहू में गृहीत) आज्य का प्रयोजक है ।

इस विचार का क्या प्रयोजन है ? समानयन के प्रयाजों के लिये होवे पर जितना आज्य प्रयाज के लिये है, उतना सब समानेय किया जावे [अर्थात्] औपभृत आज्य का आधा । [समानयन के] प्रयोजक न होने पर नियमतः आधा समानेय न होवे, जितना चाहे उतना समानेय होवे ।

विवरण—यदा सामानयनं न प्रयाजार्थम् इत्यादि से पूर्वपक्षी के मतानुसार उस के पक्ष में दोष दर्शाया है । सिद्धान्ती के पक्ष में **अष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्** वचन से उपभृत् में आठ वार करके गृहीत आज्य प्रयाज और अनुयाज दोनों के लिये जैसे प्रकृति= दर्शपूर्णमास में होता है, उसी प्रकार आतिथ्येष्टि में अतिदेश से प्राप्त होने पर चतुर्ग्रहण में **नह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति** यह अनुयाजाभाव रूप हेतु उपपन्न होता है । इस से 'सब आज्य चतुर्गृहीत ही होते हैं कहीं (=उपभृत् में) भी अष्टकृत्वा गृहीत नहीं होते' इस में हेतु वचन स्वरसतः उपपन्न होता है ॥४१॥

—:o:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—**चतुर्जुह्वां गृह्णाति** (=स्रुव से चार वार जुहू में आज्य ग्रहण करता है) **अष्टावुपभृति गृह्णाति** (=स्रुव से आठ वार उपभृत् में

---

१. तै० ब्रा० ३।३।५।४॥ २. द्र०—तै० ब्रा० ३।३।५।५॥

तत्र संदेह—किं जौहवमौपभृतं चोभयमुभयार्थं प्रयाजेभ्यश्चानुयाजेभ्यश्च, उत जौहवं प्रयाजेभ्यः, औपभृतमनुयाजेभ्यः । अथवा औपभृतं प्रयाजेभ्योऽनुयाजेभ्यश्चेति ? किं प्राप्तम् ?

तत्रोत्पत्तिरविभक्ता स्यात् ॥ ४२ ॥ (पू०)

उभयमुभयार्थम् । कुतः ? यद्यदाज्येन क्रियते, तस्मै तस्मै भवितुमर्हत्यविशेषात् ॥४२॥

तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ॥ ४३ ॥ (उ०)

नैवम् । उभयमुभयार्थमिति । जौहवं प्रयाजार्थम्, औपभृतमुभयार्थम् । कथम् ? **यज्जुह्वां गृह्णाति, ऋतुभ्यस्तद् गृह्णाति, ऋतवो वै प्रयाजा**[1] इति जौहववचनमनुयाज-

---

आज्य ग्रहण करता है) । इस में सन्देह है—क्या जुहू में गृहीत और उपभृत् में गृहीत दोनों आज्य दोनों के लिये अर्थात् प्रयाजों और अनुयाजों के लिये हैं, अथवा जुहूस्थ प्रयाजों के लिये और उपभृत्स्थ अनुयाजों के लिये है, अथवा उपभृतस्थ प्रयाजों और अनुयाजों के लिये है ? क्या प्राप्त होता है—

तत्रोत्पत्तिरविभक्ता स्यात् ॥४२॥

सूत्रार्थः—(तत्र) जुहू और उपभृत् में (उत्पत्तिः) आज्य की उत्पत्ति [=आज्य का ग्रहण] (अविभक्ता) अविभक्त अर्थात् संयुक्त (स्यात्) होवे । अर्थात् जुहूस्थ और उपभृत्स्थ आज्य दोनों के लिये होवे ।

व्याख्या—दोनों-दोनों के लिये हैं किस हेतु से ? जो-जो कर्म आज्य से किया जा सकता है उस-उस के लिये [वह आज्य] हो सकता है, अविशेष होने से । कार्य विशेष के साथ असपृक्त होने से ॥४२॥

तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थः—(तत्र) जौहव औपभृत आज्यों के मध्य (जौहवम्) जुहूस्थ आज्य प्रयाजों के लिये है । यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत् में प्रयाज का संकीर्तन (अनुयाजप्रतिषेधार्थम्) अनुयाजों के प्रतिषेध के लिये है ।

व्याख्या—जुहू और उपभृत् में विद्यमान आज्य उभयार्थ है, ऐसा नहीं है । जौहव प्रयाजों के लिये है और औपभृत उभयार्थ (=प्रयाज और अनुयाज दोनों के लिये) है । किस हेतु से ? यज्जुह्वां गृह्णाति ऋतुभ्यस्तद् गृह्णाति, ऋतवो वै प्रयाजाः (जो जुहू में आज्य

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति ऋतुभ्यस्तद् गृह्णाति··· ऋतवो हि प्रयाजाः । शत० १।३।२।८॥

प्रतिषेधार्थं प्रयाजान् संकीर्तयति । आह । ननु नास्त्यत्रानुयाजप्रतिषेधार्थं वचनम् । यदेतत् **प्रयाजेभ्यस्तद्गृह्णाति** इति, प्रयाजेषूपदेशकमेतत् । नास्त्यस्यानुयाजप्रतिषेधे सामर्थ्यमिति । उच्यते । न ब्रूमः प्रतिषेधकमेतदिति । किं तूत्पत्तिवाक्य आज्यानां नैव प्रयोजनाभिसम्बन्धः । अनेन वचनेन प्रयाजप्रयोजनता क्रियते जौहवस्य । अनुयाजप्रयोजनताऽस्य वचनाभावादेव न गम्यत इति अनुयाजप्रतिषेधार्थं वचनमित्युच्यते ॥४३॥

ग्रहण करता है वह ऋतुओं के लिये ग्रहण करता है। प्रयाज निश्चय ही ऋतुरूप हैं) यह जुहुस्थ आज्य सम्बन्धी वचन अनुयाजों के प्रतिषेध के लिये प्रयाजों का संकीर्तन करता है। (आक्षेप) यहां अनुयाजों के प्रतिषेधार्थ वचन नहीं है। यह जो प्रयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति (=प्रयाजों के लिये उसे ग्रहण करता है) वचन है वह प्रयाजों के विषय में उपदेश करने हारा है। इसका अनुयाजों के प्रतिषेध में सामर्थ्य नहीं हैं। (समाधान) हम यह नहीं कहते कि यह वचन प्रतिषेधक है, किन्तु उत्पत्ति वाक्य [चतुर्जुह्वां गृह्णाति] में आज्यों का प्रयोजन के साथ सम्बन्ध नहीं है। इस वचन से जौहव आज्य की प्रयाज प्रयोजकता की जाती है। [अर्थात् जौहव आज्य प्रयाजों के लिये हैं यह बताया जाता है। इस [जौहव आज्य की] अनुयाजप्रयोजनता (=अनुयाजों के लिये होना) वचन के अभाव से ही नहीं जानी जाती, इस लिये यह वचन अनुयाज के प्रतिषेध के लिये है ऐसा कहते हैं।

विवरण—प्रकृत सूत्र में 'जौहवम्' पद उपलक्षणार्थ है। इस से जौहव के समान ही औपभृत आज्य भी **प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्** वचन से प्रयाज और अनुयाज दोनों के लिये है; सर्वार्थ नहीं है। **प्रयाजप्रयोजनता क्रियते जौहवस्य**—इसका भाव यह है कि **यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति** इस प्रत्यक्ष वाक्य से जुहुस्थ आज्य का प्रयाज लक्षण आज्यकार्य के सम्बन्ध के कह देने पर जौहव आज्य का प्रयोजनान्तर के साथ तथा प्रयाजों का द्रव्यान्तर के साथ सम्बन्ध नहीं है ऐसा जाना जाता है। इस से जौहव की सर्वार्थता का प्रतिषेध और प्रयाजार्थता ही है यह अभिप्राय जाना जाता है। ऐसा होने पर जौहव आज्य की अनुयाजार्थता का अभाव अर्थापत्ति से जाना जाता है। इसलिये यहां 'अनुयाजों के लिये नहीं हैं' ऐसी तीन दोष दुष्ट परिसंख्या का अवकाश नहीं है। परिसंख्या में तीन दोष होते है—स्वार्थहानि, परार्थ कल्पना तथा प्राप्त की बाधा। यथा—ब्राह्मणों को दहि दो, कौण्डिन्य को तक्र दो। यहां यदि 'कौण्डिन्य को तक्र दो' का तात्पर्य 'कौण्डिन्य को दहि मत दो' ऐसा स्वीकार किया जाये तो 'कौण्डिन्य को तक्र दो' जो उसका अपना अर्थ है उसकी हानि होती है (छोड़ना पड़ता है)। 'कौण्डिन्य को दही मत दो' ऐसा जो परार्थ (=भिन्नार्थ) है उसकी कल्पना करनी पड़ती है। तथा कौण्डिन्य के ब्राह्मण होने से जो दहि की प्राप्ति है उसकी बाधा कहनी होती है॥४३॥

औपभृतं तथेति चेत् ॥ ४४ ॥ (आ०)

इति चेद् दृश्यते, जौहवमनुयाजेभ्यः प्रतिषिध्यते, औपभृतमुभयार्थमिति । भवतु जौहवं प्रयाजार्थं, न त्वौपभृतमुभयार्थम् । तदपि तथा स्यात्, यथा जौहवम् । कथम् ? एतदप्यनुयाजार्थमेव श्रूयते, **यदुपभृति गृह्णात्यनुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति । छन्दांसि ह्यनुयाजा**[1] इति, अनुयाजार्थताऽस्येति ॥४४॥

स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः ॥ ४५ ॥ (उ०)

औपभृतं तथेति चेत् ॥४४॥

सूत्रार्थः––(औपभृतम्) उपभृत् में गृहीत आज्य (तथा) उसी प्रकार अनुयाजों के लिये होवे जैसा जौहव प्रयाजों के लिये है (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—यदि यह समझते हो कि जौहव आज्य अनुयाजों के लिये प्रतिषेधित होता है, औपभृत उभयार्थ होता है । अच्छा होवे जौहव प्रयाज के लिये, **किन्तु औपभृत उभयार्थ नहीं है । वह (=औपभृत) भी उसी प्रकार का होवे जैसा जौहव होता है । कैसे ? यह (=औपभृत) भी अनुयाजों के लिये ही श्रुत है**—यदुपभृति गृह्णाति, अनुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति । छन्दांसि ह्यनुयाजा (=जो आज्य उपभृत में ग्रहण करता है उसे अनुयाजों **के लिये ग्रहण करता है । अनुयाज निश्चय ही छन्द रूप हैं) इस वचन से इस (औपभृत) आज्य की अनुयाजार्थता जानी जाती है ।**

विवरण—यदुपभृति गृह्णाति अनुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति—पूर्वपक्षी ने यह औपभृत आज्य को अनुयाजों के लिये दर्शानेवाला शाखान्तर (द्र० शत० १।३।२।९) का वचन उद्धृत किया है । कुतुहलवृत्तिकार ने पूर्व सूत्र की व्याख्या में इसे शाखान्तरीय कहा है ॥४४॥

स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः ॥४५॥

सूत्रार्थः—जौहव और औपभृत **आज्य के उभयार्थ** प्राप्त **होने पर यदुपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्** वाक्य से (जुहूप्रतिषेधात्) जौहव आज्य के अनुयाजों के लिये प्रतिषेध करने से **यदुपभृति गृह्णाति अनुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति** वाक्य (नित्यानुवादः) उपभृत्स्थ आज्य के उभयार्थ होने पर उस की जो अनुयाजार्थता नित्य प्राप्त है उसी का उक्त वाक्य से अनुवाद (स्यात्) होवे ।

विशेष—सूत्र के 'जुहूप्रतिषेधात्' पद में श्रुत जुहू से जौहव आज्य अभिप्रेत है । तत्र भवः (अष्टा० ४।३।५३) नियम से तद्धित प्रत्यय से लब्ध अर्थ को ही जुहू शब्द से कहा

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यदष्टौकृत्व उपभृति गृह्णाति,······अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति, छन्दांसि ह्यनुयाजाः । शत० १।३।२।९॥

नैतदेवम् । उभयार्थं ह्यौपभृतम् । एवं हि श्रूयते—**यदष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति'** इति । ननूक्तम् अनुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति इत्यनुयाजार्थताऽस्येति । उच्यते । जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः । उभयस्मिन्नौपभृते जौहवे चोभयार्थे प्राप्ते जौहवमनुयाजेभ्यः प्रतिषिद्धं, नौपभृतम् । तदौपभृतस्योभयार्थतायां सत्यामनुयाजार्थतावचनं नित्यानुवादो भवितुमर्हति, न शक्नोति प्रयाजार्थतां प्रतिषेद्धुम् । प्रत्यक्षश्रुता हि सा । तस्मादौपभृतमुभयार्थम् । समानयनं च ततो जुह्वां श्रूयते । तस्मादपि प्रयजार्थता न शक्या बाधितुम् ॥४५॥ **इति जौहवौपभृतयोः क्रमेण प्रयाजार्थोभयार्थताऽधिकरणम् ॥१६॥**

—:०:—

गया है । बिना तद्धित प्रत्यय के भी प्रकृतिमात्र से तद्धितार्थ जाना जाता है, इस के लिये यास्क मुनि ने कहा है—**अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति** (निरुक्त २'५) अर्थात् इस पशुवाचक स्त्रीलिङ्ग 'गो' शब्द में ताद्धित प्रयोग से अकृत्स्न =तद्धित का अभाव होते हुए भी कृत्स्नवत् =तद्धित प्रत्ययान्त का जो अर्थ है तद्वत् निगम =वैदिक प्रयोग होते हैं । यास्क ने इस विषय की स्थापना करके आगे प्रकृतिमात्र गो शब्द के विविध ताद्धितार्थों में वैदिक प्रयोग दर्शाये हैं । उसी नियम से यहां भी जुहू का जौहव आज्य अर्थ में प्रयोग जानना चाहिये ।

व्याख्या—यह इस प्रकार नहीं है । [अर्थात् औपभृत आज्य अनुयाजों के लिये नहीं है । दोनों (=प्रयाजों और अनुयाजों) के लिये औपभृत आज्य है । इस प्रकार सुना जाता है—यदष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति (=जो उपभृत् में आठ बार स्रुव से आज्य को ग्रहण करता है उसे प्रयाजों और अनुयाजों के लिये ग्रहण करता है) । (आक्षेप) अभी कहा है—अनुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति (अनुयाजों के लिये उसे ग्रहण करता है) इस से इस (= औपभृत आज्य) की अनुयाजार्थता कही है । (समाधान) जुहू के प्रतिषेध से नित्य का अनुवाद है । दोनों औपभृत और जौहव आज्य में उभयार्थता प्राप्त होने पर जौहव आज्य का अनुयाजों के लिये प्रतिषेध किया है, औपभृत आज्य का प्रतिषेध नहीं किया । इसलिये औपभृत आज्य की उभयार्थता होने पर [उस के] अनुयाजार्थता का वचन नित्यानुवाद [अर्थात् औपभृत आज्य की अनुयाजों के लिये नित्यरूप से प्राप्ति का अनुवाद] हो सकता है, प्रयाजार्थता का प्रतिषेध करने में समर्थ नहीं हो सकता । क्योंकि वह (=औपभृत आज्य की प्रयाजार्थता) प्रत्यक्ष श्रुत है । इसलिये औपभृत आज्य उभयार्थ है । और उस से जुहू में समानयन सुना जाता है । इस कारण भी [औपभृत आज्य की] प्रयाजार्थता नहीं बाधी जा सकता ।

---

१. द्र०—अष्टावुपभृति..... यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत् । तै० ब्रा० ३।३।५॥

[उपभृति चतुर्गृहीतद्वयविधानार्थताधिकरणम् ॥१७॥]

अष्टावुपभृति गृह्णाति[1] इति श्रूयते । तत्र संदेहः–किं तदौपभृतमाज्यमष्टसंख्येन ग्रहणेन संस्क्रियते, उत चतुःसंख्या गुणभूता द्वयोर्ग्रहणयोरिति । किं तावत् प्राप्तम् ?

तदष्टसंख्यंश्रवणात् ॥ ४६ ॥ (पू०)

अष्टसंख्या गुणभूता, न चतुःसंख्ये द्वे इति । कुतः ? श्रवणात् । अष्टसंख्या श्रूयते । चतुःसंख्ये द्वे अष्टसंख्यया लक्ष्येते । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या, तस्मादष्टसंख्यं ग्रहणमेतदिति ॥४६॥

विवरण—नित्यानुवादः—इस का स्पष्टीकरण इसी सूत्र की वृत्ति में कुतुहलवृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—**अनुयाजेभ्यस्तद्** वाक्य औपभृत आज्य के प्रयाज और अनुयाज उभयार्थ बोधक वाक्य से प्राप्त एकदेश(अनुयाज)का अनुवादक ही है । इस सूत्र की व्याख्या कुतुहल वृत्तिकार ने कुछ भेद से की है । पाठक वहीं देखें ॥४५॥

—:०:—

व्याख्या—अष्टावुपभृति गृह्णाति (=उपभृत् में आठ बार आज्य लेता है) ऐसा सुना जाता है । इसमें सन्देह है—क्या वह औपभृत आज्य आठ संख्या वाले ग्रहण से संस्कृत किया जाता है, अथवा चार संख्या गुणभूत दो ग्रहणों की है ? क्या प्राप्त होता है—

विवरण—इस का भाव यह है कि उपभृत् में जो आठ स्रुव आज्य लेने का विधान है, इस में आज्य के संस्कार के प्रति आठ संख्या गुणभूत है । अर्थात् प्रतिस्रुवग्रहण पर एकं द्वे–अष्टौ इस प्रकार गणना करके आठ बार ग्रहण करे, अथवा आठ संख्या आज्य संस्कार के प्रति गुणभूत नहीं है चार-चार बार दो ग्रहण अर्थात् एकं द्वे त्रीणि, चत्वारि ऐसी चार तक गणना करके पुनः=एकं द्वे त्रीणि, चत्वारि गणना करके ग्रहण करे । उस दो चार ग्रहण से सम्पन्न ८ संख्या का निर्देश मात्र है । इस पक्ष में आज्य के संस्कार के प्रति चार-चार संख्या गुणभूत होगी ।

तदष्टसंख्यं श्रवणात् ॥४६॥

सूत्रार्थः—'अष्टावुपभृति गृह्णाति' में जो ग्रहण है (तत्) वह (अष्टसंख्यम्) आठ संख्या वाला है (श्रवणात्) आठ संख्या का श्रवण होने से ।

व्याख्या—आठ संख्या [ग्रहण के प्रति] गुणभूत है, दो चार संख्या गुणभूत नहीं है । कुतः ? श्रवण होने से । आठ संख्या सुनी जाती है । आठ संख्या से दो चार संख्या लक्षित होती है । श्रुति और लक्षणा के विषय में श्रुति न्याय्य होती है । इससे यह (औपभृत आज्य का] अष्टसंख्य ग्रहण है ।

---

१. द्र०—अष्टावुपभृति । तै० ब्रा० ३।३।५॥

अनुग्रहाच्च जौहवस्य ॥ ४७ ॥ (पू०)

अनुग्रहवादश्च भवति—**चतुर्गृहीतं वा एतदभूत्, तस्याऽऽघारमाघार्य त्रीनितः प्राचीनान् प्रयाजान् यजति, समानयते चतुर्गृहीतत्वाय**[1] इति चतुर्गृहीतानुग्रहः कथं स्यादिति। किं चतुर्गृहीतं भवति समानयनेन। नेति ब्रूमः। चतुर्गृहीतं प्रथममेव तत्। आघारेऽप्याघारिते, यदत्रशिष्टं चतुःसंख्यमेव तस्य ग्रहणमासीत्। किं तर्हि, चतुर्गृहीतत्वायेति। चतुर्गृहीतस्यानुग्रहार्थम्। अल्पं हि चतुर्गृहीतं होमायापर्याप्तं तत्पर्याप्तं कथं स्यादिति। एवं चतुर्गृहीतशब्देनाल्पमिति लक्ष्यते। अल्पत्वं च बहुत्वं कस्यचिदपेक्ष्य भवति। यदि ह्यौपभृतमष्टसंख्यमेवं चतुर्गृहीतमल्पं भवति।

विवरण—**श्रवणात्**—'अष्टावुपभृति गृह्णाति' इस वचन के श्रवण से। **चतुःसंख्ये द्वे अष्टसंख्यया लक्ष्येते**—इस का भाव यह है कि दो चतुसंख्या ग्रहण में गुणभूत होवे तो दो चार-चार संख्या से **अष्टावुपभृति** वचन में आठ संख्या लक्षित होगी। अर्थात् आठ संख्या को आज्य-ग्रहणरूप संस्कार में गुणभूत मानने पर 'अष्टौ' पद का श्रुत्यर्थ गृहीत होता है। दूसरे पक्ष में 'अष्टौ' में लक्षणा माननी पड़ेगी ॥४६॥

अनुग्रहाच्च जौहवस्य ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थः—(जौहवस्य) जुहूसंबन्धी आज्य के औपभृत आज्य से मिलाने में श्रूयमाण अर्थवाद का (अनुग्रहात्) अनुग्रह होने से (च) भी आठ संख्या ही गुणभूत है अर्थात् यह औपभृत आज्यग्रहण आठ संख्यावाला है। (अर्थवाद वाक्य भाष्य व्याख्या में देखें)।

व्याख्या—अनुग्रहरूप वाद (=कथन) भी होता है—चतुर्गृहीतं वा एतदभूत् तस्याघारमाघार्य त्रीनितः प्राचीनान् प्रयाजान् यजति, समानयते चतुर्गृहीतत्वाय (=यह उसका चतुर्गृहीत आज्य होता है, आधार का आघरण [आघार संज्ञक कर्म] करके इस से तीन पहले प्रयाजों का यजन करता है, तत्पश्चात् चतुर्गृहीतत्व के लिये समानयन [=उपभृत् से जुहू में आज्य का ग्रहण] करता है) यह चतुर्गृहीत का अनुग्रह कैसे होवे। क्या समानयन से चतुर्गृहीत होता है? [समानयन से चतुर्गृहीत] नहीं होता है ऐसा कहते हैं। वह (=जुहूस्थ आज्य) पहले ही चतुर्गृहीत है। आघार के आघरण (=आघार संज्ञक कर्म) करने पर भी जो शेष है उसका चतुःसंख्य ग्रहण ही था। तो फिर 'चतुर्गृहीतत्व के लिये' क्यों कहा? चतुर्गृहीत के अनुग्रह के लिये। अल्प ही है चतुर्गृहीत होम के लिये अपर्याप्त है वह पर्याप्त कैसे होवे, इसलिये। इस प्रकार चतुर्गृहीत शब्द से 'अल्प' लक्षित होता है। और अल्पत्व किसी के बहुत्व की अपेक्षा से होता है। यदि औपभृत आठ संख्या से गृहीत ही है तो इस प्रकार चतुर्गृहीत अल्प होता है। उस अवस्था में (=औपभृत आज्य

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

तत्र चतुर्गृहीतशब्देनाल्पता शक्यते लक्षयितुम् । तस्मादपि पश्याम औपभृतेऽष्ट-संख्या गुणभूतेति ॥४७॥

द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं श्रवणं च समानयने ॥ ४८ ॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । द्वे एते चतुर्गृहीते । एवं हेतुः समर्थितो भवति ।

को अष्टसंख्या गृहीत मानने पर) चतुर्गृहीत शब्द से अल्पता लक्षित की जा सकती है । इससे भी हम देखते हैं कि औपभृत आज्य के प्रति अष्ट संख्या गुणभूत है ।

विवरण—इस सूत्र की कुतुहलवृत्ति में 'चतुर्गृहीतं वा एतदभूत्' आदि श्रुति को कुछ पाठान्तर से उद्धृत करके सूत्रानुसार जो व्याख्या की है उसके अधिक सरल होने से हम उस का भाषानुवाद नीचे देते हैं—

इस प्रकार सुना जाता है—**चतुर्गृहीतं वा एतदभूत् तस्याघारमाघार्य त्रीनितः प्राचीनान् प्रयाजान् यजति । समानयते च जुह्वामौपभृतं चतुर्गृहीतत्वाय इति । प्रजाजेभ्यस्तत्** इति समस्त प्रयाजों के लिये था जो जुह्वा में चतुर्गृहीत आज्य था । उस से आघार और आरम्भ के तीन प्रयाज कर लेने पर जुहू में उपभृत्स्थ आज्य का समानयन करता है । किसलिये ? चतुर्गृहीत के लिये अर्थात् बहुत्व के लिये । आघार और तीन प्रयाजों के कर लेने पर स्वल्प से रहे जौहव आज्य के अवशिष्ट करिष्यमाण दो प्रयाजों के होम के समय जुहू के मुख से निस्सरण में अक्षम होने से उन दो प्रयाजों के लिये उपयोग सामर्थ्य बढ़ाने के लिये । इसी दृष्ट प्रयोजनवाले समानयन का अनुवाद करके **अतिहायेडो बर्हिः प्रति समानयति** (इट्=तृतीय प्रयाज करके बर्हि=चतुर्थ प्रयाज के प्रति समानयन करता है) से समानयन के कालमात्र का विधान किया जाता है । इस से पूर्व (१५ वें) अधिकरण का विरोध नहीं है । जुहूस्थ आज्य को बढ़ाने के लिये जो समानयन है वह उपभृत्स्थ आज्य के थोड़े से क्षारण (डालने) से भी सम्भव है । इसलिये नियमतः चतुर्गृहीत कृत्स्न आज्य का समानयन नहीं होने से अष्टगृहीत एक ही हवि है । उसका एकदेश अन्त के दो प्रयाजों के लिये जुहू में समानयन के योग्य है ॥४७॥

द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं श्रवणं च समानयने ॥४८॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (द्वयोः) उपभृत् में गृहीत आठ स्रुव घृत के दो चतुर्गृहीत होने पर (हेतुसामर्थ्यम्) 'नह्यत्र प्रयाजान् यक्ष्यन् भवति' रूप हेतु का सामर्थ्य है अर्थात् हेतु समर्थित होता है (च) और (समानयने) समानयन में चतुर्गृहीत का (श्रवणम्) श्रवण उपपन्न होता है—**समानयने चतुर्गृहीतत्वाय** ।

व्याख्या—'तु' शब्द [अष्टग्रहणरूप] पूर्वपक्ष को हटाता है । ये (=उपभृत्स्थ आज्य) दो चतुर्गृहीत हैं । ऐसा स्वीकार करने पर ही हेतु समर्थित होता है । आतिथ्येष्टि में कहा है—चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति नह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति (=चतुर्गृहीत सब

आतिथ्यायां—**चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति । न ह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति**[1] इति । असत्स्वप्यनुयाजेष्वेतदष्टगृहीतमेवौपभृतं भवेत् । यदाऽष्टसंख्या गुणभूता, न तदा द्विश्चतुर्गृहीतयोः सतोश्चतुर्गृहीतान्याज्यानीति बहुवचनमाज्येषूपपद्यते । तस्माच्चतुर्गृहीते द्वे इति ।

आह । लिङ्गमेतत् । प्राप्तिरुच्यतामिति । तदभिधीयते । अनारभ्योच्यते—**चतुर्गृहीतं जुहोति**[2] इति सर्वहोमेषु । तेन प्रयाजानुयाजेष्वपि न तदष्टगृहीतेन शक्यते बाधितुम्, नानाविषयत्वात् । अष्टगृहीतं हि ग्रहणे, चतुर्गृहीतं हि होमे । अस्ति हि संभवो यदष्टगृहीतं गृह्येत, चतुर्गृहीतं हूयेत । तदेतदिहाष्टत्वं ग्रहणे भवति । कथं

आज्य होते हैं, यहां अनुयाजों का यजन नहीं होता है) । [उपभृत् में अष्टकृत्वा गृहीत आज्य पक्ष में] अनुयाजों के न होने पर भी औपभृत आज्य अष्टगृहीत ही होवे । जब [आज्य के ग्रहण रूप संस्कार में] अष्ट संख्या गुणभूत है, तब दो चतुर्गृहीत के न होने पर चतुर्गृहीतान्याज्यानि **यह बहुवचन आज्यों में उपपन्न नहीं होगा । इसलिये दो चतुर्गृहीत ही आज्य हैं ।**

विवरण— **न तदा द्वयोश्चतुर्गृहीतयोः सतोः**—पहले (पृष्ठ १२३७) कह चुके हैं कि एक चतुर्गृहीत आज्य जुहू में होता है, दो चतुर्गृहीत आज्य उपभृत् में होता है और एक चतुर्गृहीत ध्रुवा में । उपभृत्स्थ दो चतुर्गृहीत आज्य प्रयाज और अनुयाज दोनों के लिये हैं । अतः अनुयाजों के अभाव में उपभृत् में एक चतुर्गृहीत आज्य होगा । इस प्रकार तीनों पात्रस्थ आज्यों के चतुर्गृहीत होने पर **चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति** में बहुवचन उपपन्न होता है । उपभृत्स्थ आज्य के ग्रहण में दो चतुर्गृहीत न मानकर यदि अष्टगृहीत आज्य माना जायेगा तो अनुयाजों के अभाव में भी अष्टगृहीत ही होगा । ऐसी अवस्था में जुहू और ध्रुवा में दो चतुर्गृहीत आज्य होंगे और उपभृत् में एक अष्टगृहीत । ऐसी अवस्था में **चतुर्गृहीतानि** बहुवचन उपपन्न नहीं होगा ।

व्याख्या—(आक्षेप) यह तो [दो चतुर्गृहीतत्व में] **लिङ्ग है । इस में प्राप्ति कहें** (दर्शाएं) । (समाधान) प्राप्ति कहते हैं । **किसी प्रकरणविशेष का आरम्भ न करके कहते हैं**—चतुर्गृहीतं जुहोति (=**चतुर्गृहीत का होम करता है) यह सब होमों में विधि है । उससे प्रयाज और अनुयाजों में भी वह विधि अष्टगृहीत से बाधित नहीं हो सकती हैं, भिन्न-भिन्न विषय होने से । ग्रहण में अष्टगृहीत कहा है और होम में चतुर्गृहीत । यह सम्भव भी है हैं कि अष्टगृहीत आज्य का ग्रहण होवे और चतुर्गृहीत आज्य का होम होवे । इस प्रकार**

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १२३८ टि० १ ।

२. अनुपलब्धमूलम् । यद्यपि तै० संहितायां **यच्चतुर्गृहीतं जुहोति (५।१।१) इति** वचनं **दृश्यते, तथापि तच्चयनस्थोख्याग्निप्रकरणे पठ्यते ।**

द्वे चतुर्गृहीते होमे स्याताम् ? तस्माद् द्वे एते चतुर्गृहीते अष्टगृहीते गृह्यमाणे गृह्येते। न हि द्वे चतुर्गृहीते अगृहीत्वाऽष्टगृहीतं कश्चित् संपादयेत्। तस्मात् द्वे एते चतुर्गृहीते इति ।

अथ यदुक्तमष्टगृहीतं श्रूयते। श्रुतिश्च लक्षणाया गरीयसीति । उच्यते। उक्तमस्माभिरष्टसंख्यायाः प्रयोजनं, कथं द्वे चतुर्गृहीते स्यातामिति। अपि चाष्टावुपभृति गृह्णातीत्युपभृति समानीते द्वे चतुर्गृहीते कथं स्यातामिति। इतरथाऽसत्यष्टशब्दे नानापात्रयोर्गृह्येयाताम्। तस्मादष्टशब्दश्रवणमदोषः। साध्वेतत्, द्वे चतुर्गृहीते उपभृतीति।

प्रयोजनम् द्वयोश्चतुर्गृहीतयोः सतोः समानयनेऽर्धं समानेतव्यं भवति। अष्टगृहीते सति न नियोगतोऽर्धम्। तथा यत्रानुयाजार्थं न ग्रहणं तत्राप्यष्टगृहीतं यथा पूर्वः पक्षः। यथा च सिद्धान्तस्तथा चातुर्मास्येषु चतुर्गृहीतमुपभृति भवतीति ॥४८॥

इत्युपभृति द्विचतुर्गृहीताचरणाधिकरणम् ॥१७॥

॥ इति श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

यह अष्टपना ग्रहण में होता है। होम में दो चतुर्गृहीत किस प्रकार होवें ? इस लिये ये दो चतुर्गृहीत अष्टगृहीत आज्य के गृह्यमाण में (=ग्रहण करते हुए) गृहीत होते हैं। दो चतुर्गृहीत होते हैं। दो चतुर्गृहीत का ग्रहणविना किये कोई अष्टगृहीत का सम्पादन नहीं कर सकता। इस हेतु से ये दो चतुर्गृहीत आज्य होते हैं।

विवरण—अनारभ्योच्यते चतुर्गृहीतं जुहोति—हमें जो चतुर्गृहीतं जुहोति वचन मिला है वह चयनान्तर्गत उख्याग्नि प्रकरण का है (द्र० तै० स० ५।१।१)। भाष्यकारनिर्दिष्ट अनारम्भ प्रकरणस्थ उक्त वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

व्याख्या—और जो यह कहा है कि अष्टगृहीत आज्य सुना जाता है और श्रुति लक्षणा से गरीयसी है। इस विषय में कहते हैं । हमने अष्टसंख्या का प्रयोजन कह दिया हैं कि दो चतुर्गृहीत कैसे हों [इसलिये अष्टौ गृह्णाति कहा है] और भी अष्टावुपभृति गृह्णाति से उपभृत् में समानयन होने पर दो चतुर्गृहीत कैसे होवें। अन्यथा अष्ट शब्द न होने पर [दो चतुर्गृहीत] भिन्न-भिन्न पात्र में ग्रहण किये जायें। इससे अष्ट शब्द के श्रवण में दोष नहीं है। यह उचित है कि उपभृत् में दो चतुर्गृहीत आज्य है।

इस विचार का प्रयोजन है—[उपभृत् में] दो चतुर्गृहीत आज्य के होने पर समानयन में आधा (=एक चतुर्गृहीत आज्य) समानेय होता है। अष्टगृहीत आज्य के होने पर नियमतः आधा आज्य समानेय नहीं होता है तथा जहां [अनुयाजों के अभाव में] अनुयाजों के लिये ग्रहण

इष्ट नहीं होता, वहां भी [उपभृत् में] अष्टगृहीत ही होवे, जैसा कि पूर्वपक्ष है। और जैसा सिद्धान्त है उस प्रकार चातुर्मास्य में उपभृत् में चतुर्गृहीत ही होता है।

विवरण—न नियोगतोऽर्धम्—इस पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है—भाष्यकार का कथन अयुक्त है। न्याय से यहां आधे आज्य का ही समानयन प्राप्त होता है। इस प्रकार [भाष्यकार ने स्वयं पूर्व प्रयोजन से] अपरितुष्ट (=संतुष्ट न होकर) द्वितीय प्रयोजन कहा है (द्र० इसी सूत्र की टुप् टीका)। भट्ट कुमारिल ने यहां जिस न्याय से आवे आज्य का समानयन कहा है, उस का निर्देश इसी सूत्र की टुप् टीका में इस प्रकार किया है—न्यायादेवाय-मर्थो लभ्यते। अष्टसंख्या ग्रहणं यदा प्रयाजानुयाजेभ्यो वाक्येन दीयते। तदान्यायादेकत्रार्धमितर-त्रार्धम् इति—अर्थात् न्याय से ही यह अर्थ प्राप्त होता है। अष्ट संख्या से गृहीत आज्य जब (प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्) वाक्य से प्रयाज और अनुयाजों के लिये दिया जाता है। तब न्याय से एक विषय (प्रयाज) में आधा और इतर विषय (अनुयाज) में आधा स्वतः प्राप्त होता है।

तथा चातुर्मास्येषु चतुर्गृहीतमुपभृति भवति—इस का भाव यह है कि रुद्रदत्त के मतानुसार चातुर्मास्य के वरुणप्रघास पर्व के अवभृथ कर्म में अनुयाज का विकल्प माना गया है[1]। इसी प्रकरण में **चतुर्गृहीतन्याज्यानि** (आप० श्रौत ८।७।१३) से चतुर्गृहीत आज्य का निर्देश किया है। तदनुसार एक चतुर्गृहीत जुहू में, एक चतुर्गृहीत ध्रुवा में आज्य का ग्रहण होता है। अनुयाज के पक्ष में उपभृत् में एक चतुर्गृहीत आज्य का आधा अन्त के दो प्रयाजों के लिये समानीत होता है,आधे से अनुयाज किये जाते है। अनुयाज के अभाव में पूरे चतुर्गृहीत का समानयन होता है (द्रष्टव्य इसी पृष्ठ की टि० १)। उपर्युक्त हमारा विवरण वरुण-प्रघासस्थ अवभृथ इष्टि का है। भाष्यकार का चातुर्मास्य का निर्देश एतद्विषयक ही है अथवा अन्य विषयक यह हमें ज्ञात नहीं हो सका ॥४८॥



—,o:—

---

१. त्रीन् [प्रयाजान्] इष्ट्वार्धमौपभृतं समानयत्यनुयाजपक्षे, अन्यथा सर्वमौपभृथम्। द्र०—आप० श्रौत रुद्रदत्त टीका ८।८।७॥

चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः

[स्वरोश्छेदनाद्यप्रयोजकताधिकरणम् ॥१॥

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः–**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते**[1]। इति। तत्रेदमाम्नातम्—**खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति, रौहितके बध्नाति**[2] इति। तत्संनिधाविदमपरमाम्नायते—**स्वरुणा पशुमनक्ति**[3], **यूपस्य स्वरुं करोति**[4] इति।

द्वितीय पाद

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु है—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते (=जो दीक्षित अग्नीषोम देवता वाले पशु का आलभन करता है)। वहीं यह पढ़ा है—खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति, रौहितके बध्नाति (=पशु को खदिर के यूप में बांधता है, पलाश के यूप में बांधता है, रोहितक के यूप में बांधता है)। उसी के समीप में यह और पढ़ा जाता है—स्वरुणा पशुमनक्ति (=स्वरु से पशु के शिर पर घृत लगाता है) यूपस्य स्वरुं करोति (=यूप का स्वरु बनाता है)।

विवरण—तत्रेदमाम्नातम्......तत्सन्निधौ—यहां एक विशेष ध्यान देने योग्य है कि संहिताओं (शाखाओं) और ब्राह्मण ग्रन्थों में पशुयाग सम्बन्धी पशु को यूप में बांधना आदि समस्त कर्म ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशु के प्रकरण में पढ़े हैं। अतः सब की प्रकृति अग्नीषोमीय पशुयाग माना जाता है। परन्तु श्रौतसूत्रकारों ने पशुयाग

---

१. तै० सं० ६।१।११॥

२. अनुपलब्धमूलम्। यथा भाष्यकारेणायं पाठ उद्धृतस्तथा खादिरपालाश–रौहितका यूपाः सामान्येन विहिता इति ज्ञायते। ऐ० ब्राह्मणे (२।१) तु—स्वर्गतेजोब्रह्मवर्चसकामानां यथासंख्यं खादिरपालाशबैल्वा यूपा विधीयन्ते।

३. अनुपलब्धमूलम् द्र०–स्वरुमन्तर्धाय स्वधितिना पशुमनक्ति......शिरसि। नवा स्वधितिना स्वरुणैव। आप० श्रौत ७।१४।११,१२॥

४. अनुपलब्धमूलम्।

अथेदानीमिदं संदिह्यते–किं भेदेन यूपात् स्वरुरुत्पादयितव्य उत यूपं क्रियमाण-मनुनिष्पन्नः शकलो ग्रहीतव्य इति ? तत्रेदं तावन्नः परीक्ष्यम्—किं छेदनाद्युत्पत्तेः प्रयोजकः स्वरुः, उताप्रयोजक इति ? प्रयोजकश्चेद् भेदेन यूपान्निष्पाद्येत । न चेत्प्रयोजको यूपं निष्पद्यमानम्[1] अनुनिष्पन्नः शकलो ग्रहीष्यत इति । स कथं प्रयोजकः स्यात् कथं वा न प्रयोजक इति ? यद्येषा वचनव्यक्तिः–स्वरुशब्दवाच्यं भाव्यते । कथम् ? जोषणादिना इतिकर्तव्यताविशेषेणेति । ततः **स्वरुणा पशुमनक्ति** इति स स्वरुरित्यवगतोऽग्रहीष्यते । ततः प्रयोजकः । अथेत्तं विज्ञायते–**स्वरुणा पशुमनक्ति** इति, अनवगतः स्वरुः । एतावदवश्य[2] विज्ञायतेऽञ्जनं तेन क्रियत इति । इदमपि **यूपस्य स्वरुं करोति**

सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म निरूढ पशुबन्ध याग के प्रकरण में पढ़े हैं । अतः भाष्योक्त विधियां श्रौतसूत्रों में ज्योतिष्टोम के प्रकरण के स्थान में पशुबन्ध प्रकरण में देखनी चाहिये । **स्वरुणानक्ति**—यूप के छेदन के समय जो पहिला टुकड़ा कट कर गिरता है, उसे स्वरु कहते हैं (द्र० शत० ३।६।४।११) । **घृतेनाक्तः पशुं त्रायस्व** मन्त्र से घृत से लिप्त स्वरु से पशु के शिर पर अञ्जन करता है=घी चुपड़ता है (द्र० आप० श्रौत ७।१४।१२, रुद्रदत्तवृत्ति) । **यूपस्य स्वरुं करोति**–यूप का स्वरु बनाता है ।

व्याख्या—अनन्तर अब यह सन्देह होता है—क्या स्वरु का उत्पादन भिन्नता से यूप से करना चाहिये [अर्थात् यूप की निष्पत्ति की अपेक्षा से पृथक् तक्षणादि क्रिया से स्वरु का उत्पादन करना चाहिये] अथवा यूप बनाते हुए उस के साथ ही निष्पन्न (= उत्पन्न) टुकड़ा ग्रहण करना चाहिये ? इस विषय में हमारे लिये यह परीक्षणीय है—क्या स्वरु छेदन से उत्पत्ति के लिये प्रयोजक है अथवा प्रयोजक नहीं है ? यदि [स्वरु छेदन से उत्पत्ति के लिये] प्रयोजक होवे तो भेद से यूप से निष्पन्न किया जाये और यदि प्रयोजक नहीं है तो निष्पद्यमान यूप के साथ निष्पन्न शकल ग्रहण किया जायेगा । वह (=स्वरु) कैसे प्रयोजक होगा और कैसे प्रयोजक नहीं होगा ? यदि यह वचन का स्वरूप है—स्वरु शब्द वाच्य द्रव्य निष्पन्न किया जाता है । किस प्रकार [निष्पन्न किया जाता है] ? जोषण[3] आदि इतिकर्त्तव्यता विशेष से । पश्चात् स्वरुणा पशुमनक्ति में वह [जो शोषण आदि इतिकर्त्तव्यता विशेष से निष्पन्न किया गया है] 'स्वरु' ऐसा जाना जायेगा । इससे [स्वरु] प्रयोजक होगा । यदि ऐसा जाना जाता है—स्वरुणापशुमनक्ति इस में स्वरु अज्ञात होता है परन्तु इतना अवश्य जाना जाता है कि उस से अञ्जन किया

---

१. क्रियमाणमिति पाठान्तरम् ।

२. 'एतावदस्य विज्ञायते' इति काशीसंस्करणे पाठः ।

३. जोषणं नाम यूपार्ह वृक्ष का 'तं त्वा जुषे वैष्णवं देवयज्यायै' मन्त्र से क्रियमाण स्पर्शन का है । द्र० तै० सं० ६।३।३।। आप० श्रौत ७।२।२।।

इति यूपैकदेशं स्वरुकार्येऽञ्जने विनियुङ्क्त इति ततोऽप्रयोजकः। किं तावत् प्राप्तम्?

स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्॥ १॥ (पू०)

स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्। स्वरुर्न यूपेनैकनिष्पत्तिः स्यात्। यूप-

---

जाता है। और यह भी यूपस्य स्वरुं करोति से यूप के एकदेश को स्वरु के कार्य अञ्जन में विनियुक्त करता है, तो इस से स्वरु अप्रयोजक है। क्या प्राप्त होता है?

विवरण—यद्येषा वचनव्यक्तिः—स्वरुशब्दवाच्यं भाव्यते—इस का तात्पर्य इस प्रकार जानना चाहिये **यूपस्य स्वरुं करोति** वाक्य में 'करोति' अभूत के प्रादुर्भाव को कहनेवाला है। उस 'करोति' क्रिया का कर्म स्वरु है। इसलिये स्वरु भाव्यमान=निष्पाद्यमान है। स्वरु को किस प्रकार निष्पन्न किया जाये? इस आकांक्षा में वाक्यपठित यूप शब्द जोषणादि इतिकर्तव्यता को और खादिर आदि काष्ठ को करण रूप से लक्षित करता है। इस से यूप के निष्पादन की जोषण छेदन तक्षण आदि वाक्य बोधित जो इतिकर्त्तव्यता है वह स्वरु की इतिकर्तव्यता भी होगी। यदि **यूपात् स्वरुं करोति** वाक्यस्थ यूप शब्द जोषण आदि इतिकर्तव्यता को लक्षित न करे तो यूप शब्द का उच्चारण ही अनर्थक होवे। इस प्रकार स्वरु की भाव्यता होने पर **स्वरुणा पशुमनक्ति** में वही भाव्यमान स्वरु गृहीत होगा अर्थात् उसी स्वरु का **स्वरुणा पशुमनक्ति** वाक्य से अञ्जन क्रिया में विनियोग किया जायेगा। इस प्रकार स्वरु जोषणादि इतिकर्तव्यता का प्रयोजक है और प्रयोजक होने से स्वरु की निष्पत्ति के लिये यूप से भिन्न जोषणादि क्रिया करनी होगी। **अथैवं विज्ञायते—स्वरुणा पशुमनक्ति**—इस का तात्पर्य यह है कि 'स्वरु से पशु का अञ्जन करता है' तो इस में स्वरु अज्ञात रहता है। किस पदार्थ का नाम स्वरु है यह नहीं जाना जाता, केवल इतना जाना जाता है कि स्वरु नाम वाले किसी द्रव्य से पशु का अञ्जन करना है। इस अवस्था में **यूपात् स्वरुं करोति** से यूप का एकदेश स्वरु जाना जाता है और उस का अञ्जन कार्य में विनियोग होता है। ऐसा दोनों वाक्यों का तात्पर्य गृहीत होने पर स्वरु पृथक् इतिकर्तव्यता का प्रयोजक नहीं होता है।

स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(स्वरुः) स्वरु (तु) तो (अनेकनिष्पत्तिः) यूप की तक्षणादि क्रिया से भिन्न तक्षणादि क्रिया से निष्पन्न होनेवाला है (स्वकर्मशब्दत्वात्) स्वरु के स्व उत्पादन क्रिया विधायक शब्द वाला होने से। अर्थात् स्वरु के **करोति** अथवा **कुर्यात्** शब्दान्तर्गत धातु से गृहीत हो जाने से **करोति** अथवा **कुर्यात्** से **स्वरुं भावयेत्** अर्थ जाना जाता है। [इस विषय का स्पष्टीकरण भा० व्याख्या के विवरण में देखें]।

व्याख्या—स्वरु तो भिन्न तक्षणादि क्रिया से निष्पन्न होने वाला है अपने कर्म=

मनपेक्षमाणस्य स्वरोर्जोषणादिनोत्पत्तिः । कुतः ? स्वकर्मशब्दत्वात् । स्वो ह्यस्य कर्मशब्दः, स्वरुताया विधायको भवति—**स्वरुं करोतीति** । एवं च यूपकाष्ठावयवस्य स्वरुत्वं क्रियत इति । **यूपस्य स्वरुं करोति** इति लक्षणया यूपशब्दः खदिराद्यवयवस्ये-त्यर्थः । कुतः ? स्वरुत्वभावना हि श्रुत्या गम्यते, **स्वरुं करोतीति**,स्वरुमुत्पादयतीति । यूपावयवोपादानं वाक्येन । वाक्याच्च श्रुतिर्बलीयसीति । तस्मादेवं सति न नियोगतो यूपकाष्ठादेव स्वरुरुत्पादयितव्यः । निरपेक्षादन्यस्मादपि वृक्षात् कर्तव्यो भेदेनेति ॥१॥

जात्यन्तराच्च शङ्कते ॥ २ ॥ (पू०)

क्रिया शब्द वाला होने से । स्वरु यूप के साथ एक तक्षणादि क्रिया से निष्पन्न होने वाला न होवे । यूप की अपेक्षा न करने वाली तक्षणादि क्रिया से स्वरु की निष्पत्ति होती हैं । किस हेतु से ? स्वकर्मशब्दवाला होने से । इसका अपना ही कर्म (=क्रिया) शब्द स्वरुता में विधायक होता है—स्वरुं करोति । (=स्वरु बनाता है) । इस प्रकार यूप की लकड़ी का स्वरु बनाया जाता है—यूपस्य स्वरुं करोति में लक्षणा से यूप शब्द प्रयुक्त हैं, उसका '[यूप काष्ठ] खादिर आदि के अवयव का' ऐसा अर्थ है । किस हेतु से ? स्वरुत्व की भावना (=निष्पादन) ही श्रुति से जानी जाती है—स्वरुं करोति स्वरु को उत्पन्न करता है । है । यूप के अवयव (=टुकड़े) का ग्रहण वाक्य से जाना जाता है । वाक्य से श्रुति बलवान् होती है । इसलिये इस प्रकार होने पर (=श्रुत्यर्थ के ग्रहण करने पर) यूप के काष्ठ से ही स्वरु नियम से उपादनीय नहीं है, निरपेक्ष (=यूप की अपेक्षा न रखने वाले) अन्य वृक्ष से भी भेद से (भिन्न तक्षणादि क्रिया से) स्वरु बनाने योग्य है ॥१॥

विवरण—स्वो ह्यस्य कर्मशब्दः स्वरुतायां विधायको भवति—स्वरुं करोति—इस का भाव यह है कि सामान्यतया **जुहुयात् यजेत** आदि क्रिया में जो लिङ् प्रत्यय है उस से भावना कही जाती है और धात्वर्थ उस में करणरूप से अन्वित होता है—**जुहुयात्—होमेन [स्वर्गादिकं] भावयेत्, यजेत—यागेन [स्वर्गादिकं] भावयेत्** । परन्तु **कुर्यात् भावयेत्**, आदि में **करोति भावयति** आदि सामान्य धातु का जो द्वितीयान्त द्रव्य वा क्रिया है वह धातुस्थानीय होता है । इस से वह कर्तव्यता को प्राप्त हो जाता है । अयः **स्वरुं कुर्यात्** का अर्थ होगा **स्वरुं भावयेत्** । इस प्रकार द्वितीयान्त स्वरु के धातुस्थानीय हो जाने से वह **कुर्यात्** के अन्तर्भूत हो जाने से श्रुति से कहा जाता है । इसीलिये आगे कहा है—**स्वरुत्वभावना हि श्रुत्या गम्यते** । इस प्रकार **स्वरुं करोति** स्थूल दृष्टि से यद्यपि वाक्य है, तथापि उपर्युक्त प्रकार से स्वरु के धातुस्थानीय हो जाने से स्वरुत्वभावना वाक्यबोधित न होकर श्रुतिबोधित हो जाती है । **'यूपस्य स्वरुं करोति'** का यूप के अवयव को स्वरु बनाता है यह अर्थ वाक्य (=सन्निहित पदों के समुदाय) से जाना जाता है ॥१॥

जात्यन्तराच्च शङ्कते ॥२॥

सूत्रार्थ—(च) और (जात्यन्तरात्) यूपजातीय वृक्ष से भिन्न अन्यजातीय वृक्ष से

इतश्च निरपेक्षस्य स्वरोरुत्पत्तिरिति गम्यते । कुतः ? जात्यन्तरादप्याशङ्का भवति, वृक्षान्तरात् । कथम् ? **नान्यस्य स्वरुं कुर्यात्, यद्यन्यस्य वृक्षस्य स्वरुं कुर्यादन्येऽस्य लोकमन्वारोहेयुः, यूपस्य स्वरुं करोति**[1] इति । न हि यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणे जात्यन्तराशङ्काऽवकल्पते । यूपशकलो हि स्वरुकार्ये तदानीं विनियुज्यते । तस्मादपि भेदेन यूपात् स्वरुरुत्पादयितव्य इति ।।२।।

तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ।। ३ ।। (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यूपैकदेशो हि यूपमनुनिष्पन्नः शकलो ग्रहीतव्य इति । कस्मात् ? एवमाम्नायते—**यद्यन्यस्य वृक्षस्य स्वरुं कुर्यादन्येऽस्य लोकम-**

स्वरु की प्राप्ति होने की (शङ्कते) शङ्का की है । इस से भी जाना जाता है कि यूप से भिन्न तक्षणादि क्रिया से स्वरु की निष्पत्ति करनी चाहिये । (जात्यन्तरा शंकावचन भाष्य में देखें) ।

व्याख्या—इस से भी निरपेक्ष स्वरु की उत्पत्ति जानी जाती है । किस से ? जात्यन्तर से भी [स्वरु की उत्पत्ति के विषय में]आशंका होती है अर्थात् वृक्षान्तर से । कैसे ? नान्यस्य स्वरुं कुर्याद् यद्यन्यस्य वृक्षस्य स्वरुं कुर्याद् अन्येऽस्य लोकमन्वारोहेयुः, यूपस्य स्वरुं करोति **(=अन्य वृक्ष का स्वरु न बनावे, यदि अन्य वृक्षका स्वरु बनावे तो अन्य इस यजमान के लोक का अन्वारोहण करें=प्राप्त होवें) यूप के साथ निष्पन्न हुए शकल के ग्रहण में जात्यन्तर की आशंका ही उपपन्न नहीं होती है । उस अवस्था में यूप का शकल ही स्वरु कार्य में विनियुक्त होवे । इससे भी यूप से भिन्न इतिकर्तव्यता से स्वरु का उत्पादन करना चाहिये ।।२।।**

तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ।।३।।

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्त्यर्थ है । (तदेकदेशः) स्वरु यूप का एकदेश है । (स्वरुत्वस्य) स्वरुत्व के (तन्निमित्तत्वात्) यूपनिमित्तिक होने से अर्थात् जिस इतिकर्तव्यता से यूप की निष्पत्ति होती है उसी के साथ स्वरु के निष्पन्न होने से ।

व्याख्या—'वा' शब्द [पूर्वोक्त] पक्ष को निवृत्त करता है । यूप का एकदेश ही यूप के साथ निष्पन्न शकल ग्रहण करना चाहिये । किस हेतु से ? ऐसा पढ़ा जाता है—यद्यन्यस्य वृक्षस्य स्वरुं कुर्याद् अन्येऽस्य लोकमन्वारोहेयुः,यूपस्य स्वरुं करोति इति । **इस अर्थ का**

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र० मैं० सं० ।३।९।४ यदि कामयेताऽन्येऽस्य लोकमन्वारोहेयुरित्यन्यस्य वृक्षस्य स्वरुं कुर्यादन्येऽस्य लोकमन्वारोहन्ति । यदि कामयेत प्रजामनुसंतनुयादिति यूपस्य स्वरुं कुर्यात् प्रजामेवानुसंतनोति ।।

न्वारोहेयुः, यूपस्य स्वरुं करोति' इति । न चात्रायमर्थो विधीयते, स्वरुमुत्पादयतीति । किं तर्हि ? स्वरुकार्यं कर्तुं यमुपादत्ते, तं यूपादिति । कुतः ? स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् । स्वरुत्वमत्र श्रूयते स्वरोः, यूपस्य स्वरुं करोतीति । कस्याऽऽत्मीयम् ? यूपस्येति । आत्मीयश्च समुदायस्यैकदेशो भवति । एकदेशश्चाप्रयोजक इति । तस्मादिदमुच्यते—अप्राणिनः षष्ठी पञ्चम्यर्थे भवति । यथा शाकस्य देहि, शाकाद्देहीति । तथा क्वचित्तृतीयार्थे—घृतस्य यजति, घृतेन यजति । पञ्चम्यर्थे घृताद्यजति, घृतस्य यजतीति । द्वितीयार्थे वा—सोमस्य पिबति, सोमं पिबति, सोमात्पिबतीति ।

ननूक्तम्—यूपावयवोऽत्र वाक्येन विधीयते, श्रुत्या स्वरोरुत्पत्तिः, श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसीति । उच्यते । सत्यमेवम् । यूपस्येति तु शब्दोऽविवक्षितार्थो भवति । तत्र श्रुतिरपि बाध्यते वाक्यमपि । न त्वस्मत्पक्षे किंचिदविवक्षितार्थम् । स्वरुं करोतीति स्वार्थ एवानुवादो भविष्यतीति । यूपशकलो विधायिष्यते । स्वरुशब्दश्चाञ्जनार्थेन शकले उपचरित इति गम्यते । अवयवप्रसिद्धिश्चैतमर्थं गमयिष्यति । भवति हि

विधान नहीं किया जाता है कि स्वरु को उत्पन्न करता है । तो क्या विधान करता है ? स्वरु के कार्य को करने के लिये जिस को ग्रहण करता है, उसको यूप से ग्रहण करे । किस हेतु से ? स्वरुत्व के यूपनिमित्तक होने से । यहां स्वरु का स्वरुत्व सुना जाता है—यूपस्य स्वरुं करोति । [स्वरु] किसका आत्मीय है ? यूप का । आत्मीय समुदाय का एकदेश होता है । एकदेश प्रयोजक नहीं होता है । इसलिये यह कहा है -अप्राणी से षष्ठी विभक्ति पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में होती है । जैसे शाकस्य देहि, शाकाद् देहि इति । कहीं पर तृतीया के अर्थ में षष्ठी होती है—घृतस्य यजति, घृतेन यजति इति । पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी—घृताद् यजति, घृतस्य यजति इति । द्वितीयार्थ में विकल्प से [षष्ठी और पञ्चमी होती हैं]—सोमस्य पिबति, सोमं पिबति, सोमात् पिबति इति ।

(आक्षेप) यह जो कहा है—यहां यूपावयव का विधान वाक्य से किया जाता है, स्वरु की उत्पत्ति श्रुति से कही जाती है । और श्रुति वाक्य से बलवती होती है । (समाधान) यह सत्य है । [आपके पक्ष में यूपस्य स्वरुं करोति में श्रुति से स्वरुत्व भावना के कहने पर] 'यूपस्य' शब्द तो अविवक्षित स्वार्थवाला हो जाता है [अर्थात् उसके अर्थ की विवक्षा न होने से अनर्थक हो जाता है] । अतः उस अवस्था में [यूप की] श्रुति [पाठ] भी बाधित होती है और वाक्य भी । हमारे पक्ष में कोई भी अविवक्षितार्थ नहीं होता—स्वरुं करोति स्वार्थ में ही अनुवाद होगा । यूप के शकल का विधान करेंगे और स्वरु शब्द अञ्जन प्रयोजन से शकल में उपचरित (=प्रयुक्त) है ऐसा जाना जाता है । अवयव की सिद्धि इस अर्थ का बोध करा देगी । ब्राह्मण भी होता है—अथ कस्मात् स्वरुर्नाम । एतस्माद् वै यो-

---

२. द्र० पृष्ठ १२५६ टि० १ ।

ब्राह्मणम्—अथ कस्मात् स्वरुर्नाम। एतस्माद्धै योऽवच्छिद्यते। तदस्यैतत्स्वमिवारुर्भवति। तस्मात्स्वरुर्नाम[1] इति ॥३॥

शकलश्रुतेश्च ॥ ४ ॥ (उ०)

इतश्च यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणम्। कुतः? शकलश्रुतेः। शकलश्रुतिर्भवति स्वरोः—यः प्रथमः शकलः परापतेत् स स्वरुः कार्यः[2] इति। शकलश्चैकदेशः। एकदेशश्चाप्रयोजकः संबन्धिशब्दत्वात्। तावता च व्यवहारात् समुदायापेक्षिणः।

ऽवच्छिद्यते तदस्यैतत् स्वमिवारुर्भवति। तस्मात् स्वरुर्नाम (= स्वरु नाम किस हेतु से है? इस [यूप] से ही जो पृथक् किया जाता है वह उसका अपने के तुल्य प्राप्त होनेवाला होता है। इसलिये स्वरु नाम है) [विवरण देखो]।

विवरण—स्वार्थ एवानुवादो भविष्यति— की व्याख्या पूर्व पृष्ठ १२५५ के विवरण में देखें। **अथ कस्मात् स्वरुर्नाम** इत्यादि भाष्योक्त पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। एतत्सदृश पाठ शतपथ (३।७।१।२४) में इस प्रकार उपलब्ध होता है—**अथ यस्मात् स्वरुर्नाम एतस्माद्वा एषो ऽपच्छिद्यते तदस्यैतत् स्वमेवारुर्भवति। तस्मात् स्वरुर्नाम**। इस का अर्थ सायणाचार्य ने इस प्रकार किया है—यूपावयवरूप से स्वरु के सर्वथा अवगूहन की प्रशंसा के लिये उस नाम का निर्वचन करता है 'जिस से यह स्वरु नाम है इसलिये इस यूप से ही यह यूप शकल पृथक् काटा जाता है वह इस छिन्न द्रव्य को, इस यूप का सम्बन्धी द्रव्य=शकल पुनः स्वकीय को ही अरु=प्राप्त होता है। इस से 'अपने को प्राप्त होता है इसलिये स्वरु नाम होता है।' भाष्योद्धृत ब्राह्मण पाठ और शतपथ के पाठ में स्वल्प सा पाठ भेद है। भाष्योद्धृत पाठभेद सम्भव है काण्व शतपथ का हो अथवा लेखक आदि के प्रमाद से बदल गया हो ॥३॥

शकलश्रुतेश्च ॥४॥

सूत्रार्थः—(शकलश्रुतेः) शकल=अवयव के श्रवण से (च) भी स्वरु को यूप के साथ निष्पन्न जानना चाहिये।

व्याख्या—इससे भी यूप के साथ निष्पन्न स्वरु का ग्रहण जानना चाहिये। किस से? शकल का श्रवण होने से। स्वरु की शकल श्रुति होती है [अर्थात् स्वरु के लिये शकल शब्द का श्रवण होता है]—यः प्रथमः शकलः परापतेत् स स्वरुः कार्यः (=यूप का छेदन करते हुए जो पहला टुकड़ा कट कर गिरे उसे स्वरु बनाना चाहिये)। और एकदेश अप्रयोजक

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० शत० ब्रा० ३।७।१।२४—अथ यस्मात् स्वरुर्नाम, एतस्माद्वा एषोऽपच्छिद्यते तदस्यैतत् स्वमेवारुर्भवति। तस्मात्स्वरुर्नाम।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र० तै० सं० ६।३।३ तत्र 'यः प्रथमः शकलः परापतेत्' इत्येवं पाठः।

तत्र प्रकरणादन्यार्थेन खदिरादिना जोषणादिकर्मविशिष्टेन यागार्थेन प्रकृतेनास्यैकवाक्यता। यूपाय खदिरादि जोषयते, छिनत्ति, तक्षति च। तत्र यः शकलः प्रथमः परापतेत् तं च स्वरुमञ्जनार्थं करोतीति। स्वरुशब्दं च तत्रानुवदन्नेवोपचरति। तस्मान्नैतदस्ति पृथङ्निष्पत्तिः स्वरुरिति। येनान्यस्मादपि वृक्षादिति शङ्कयते[1]। तस्माज्जात्यन्तराशङ्कावचनं नित्यानुवादो यूपशकलस्तुत्यर्थः ॥४॥

प्रतियूपं च दर्शनात् ॥ ५ ॥ (उ०)

इतश्च न पृथङ्निष्पत्तिः स्वरुः। कुतः? एकादशिन्यां प्रतियूपं च दर्शनात्—यथाऽऽनुपूर्व्यं स्वरुभिः पशून् समञ्ज्य मध्यमे रशनागुणे स्वे-स्वे स्वं-स्वं यूपशकलमुपगूहति[2] इति स्वरुबहुत्वं दर्शयति। यदि च स्वरुः पृथङ्निष्पत्तिः स्यादेक

होता है, सम्बन्धी शब्द होने से। और इतने ही समुदाय की अपेक्षा रखनेवाले व्यवहार से [प्रयोजन है अर्थात् यूपस्य स्वरुं करोति में स्वरु यूप का एकदेश है, इतना कहना ही प्रयोजन है]। वहां प्रकरण से अन्य प्रयोजनवाले खदिर आदि से जोषण आदि क्रिया विशिष्ट याग प्रयोजनवाले प्रकृत [यूप] के साथ इस (=यः प्रथमः शकलः आदि) की एकवाक्यता होती है। यूप बनाने के लिये खदिर आदि के वृक्ष का जोषण करता है, काटता है और तक्षण करता है। वहां (इस कर्म में) जो भाग पहले [कट कर] गिरे उसको अञ्जन के लिये स्वरु बनाता है। और स्वरु शब्द का वहां अनुवाद करते हुए ही व्यवहार करता है। इससे पृथक् निष्पत्तिवाला स्वरु नहीं है। जिस कारण से 'अन्य वृक्ष से भी' ऐसी आशंका होवे, इस कारण जात्यन्तर की आशंकावचन यूपशकल के स्तुति के लिये नित्यानुवादरूप है।

विवरण—यः प्रथमः शकलः परापतेत् - भाष्यकारोद्धृत वचन हमें प्राप्त नहीं हुआ। तै० सं० ६।३।३ में 'यः प्रथमः शकलः परापतेत्' इतना अंश उपलब्ध होता है। ऐत० ब्रा० २।३ में त एतं स्वरुमपश्यन् यूपशकलम् पाठ मिलता है। इस में स्पष्ट ही स्वरु को यूपशकल कहा है। वृक्षादिति शङ्कयते यहां पूर्वापर के अनुरोध से 'शङ्क्येत' पाठ उचित प्रतीत होता है ॥४॥

प्रतियूपं च दर्शनात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(च) और (प्रतियूपम्) प्रत्येक यूप के साथ स्वरु के (दर्शनात्) देखे जाने से भी स्वरु पृथक् निष्पत्तिवाला नहीं है।

व्याख्या—इससे भी स्वरु पृथक् निष्पत्तिवाला नहीं है। किस से? एकादशिनी (=११ यूपों की संहति=समूह) में प्रत्येक यूप के प्रति स्वरु के देखे जाने से। यथानुपूर्व्यं स्वरुभिः पशून् समञ्ज्य मध्यमे रशनागुणे स्वे स्वे स्वं स्वं शकलमुप गूहति (=यूपों के क्रम से निष्पन्न स्वरुओं से पशुओं को घृत लगाकर [यूप में

---

१. 'शङ्क्येत' इति युक्तः पाठः स्यात्। २. अनुपलब्धमूलम्।

एवैकादशिन्यां तन्त्रेण कार्यं साधयेत्। यूपमनुनिष्पन्नस्य तु ग्रहणे प्रकृतौ स्वयूपशकलेनाऽञ्जनं कृतमित्येकादशिन्यामपि चोदकः स्वयूपशकलमेव प्रापयतीति बहुत्वमुपपन्नं भवति। स्वयूपशकलग्रहणं च प्राकृतस्य ग्रहणादध्यवसीयते—यादृशोऽसौ प्राकृतस्तादृशोऽसौ ग्रहीतव्यो,न विशिष्ट इति। तस्मात् स्वरुरुत्पतेन प्रयोजक इति॥५॥

आदाने करोतिशब्दः ॥ ६ ॥ (उ०)

अथ यदुक्तमुत्पत्तिरस्य शब्देनोच्यते—स्वरुं करोतीति। एवं च करोतिशब्दोऽत्र-

---

लपेटी जाने वाली रस्सी के बीच के लड़ में अपने-अपने यूप में अपने-अपने यूप शकल को खोंसता=छिपाता है) यह स्वरुओं का बहुत्व दर्शाता है। यदि स्वरु पृथक् निष्पत्तिवाला होवे तो एक ही स्वरु एकादशिनी में बारी-बारी से कार्य सिद्ध करे। यूप के साथ निष्पन्न शकल के ग्रहण में प्रकृति (=अग्नीषोमीय पशुयाग) में अपने यूप के शकल से पशु का अञ्जन किया है, इससे एकादशिनी में भी अतिदेश वचन अपने यूप के शकल को ही प्राप्त कराता है इससे बहुत्व उपपन्न होता है। अपने यूप के शकल का ग्रहण भी प्राकृत (=प्रकृतिगत) ग्रहण से जाना जाता है जैसा यह प्रकृति में था वैसा ग्रहण करना चाहिये, विशिष्ट ग्रहण नहीं करना चाहिये। इसलिये स्वरु उत्पत्ति का प्रयोजक नहीं है।

विवरण—एकदशिन्याम्—एकादश परिमाण है इस संहति (=संघ) का वह एकदशिनी संहति। यहां 'एकादशन्' शब्द से **शन्शतोर्डिनिश्छन्दसि** (महाभाष्य ५।१।५८) वार्तिक से संघ = संहति अर्थ में डिनि प्रत्यय होकर 'एकादशिन्' शब्द निष्पन्न होता है। संहति के स्त्रीलिङ्ग होने से **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (अष्टा० ४।१।५) से ङीप् होता है। एकदश यूपों की संहति यूपैकादशिनी और एकादश पशुओं की संहति पश्वैकादशिनी कही जाती है। **मध्यमे रशनागुणे—यूपशकल मुपगूहति**—रशना=रस्सी दर्भ की दो लड़वाली दो व्यायाम लम्बी (=दोनों हाथ फैलाने पर जो लम्बाई प्रमाण होता है। वह व्यायाम वा व्याम कहाता है, ऐसे दो व्यायामवाली) होती है। पशुसंबन्धी रशना तीन लड़वाली तीन व्यायामवाली होती है (द्र० आप० श्रौत०७।११।२)। यहां व्यायाम का परिमाण चतुररत्नि कहा है। अरत्नि प्रमाण २२ अंगुल का होता है। ४ अरत्नि एक व्याम वा व्यायाम के बराबर होती है। यूप के यथानिर्दिष्ट स्थान पर तीन बार लपेट कर दोनों छोरों को मिलाकर लपेटी हुई रस्सी में खसोल देते है। इसी के मध्य लड़ में स्वरु को खसोलते हैं। यह विधि सामान्य रूप से लिखी है। शाखा भेद से परस्पर कुछ-कुछ अन्तर देखा जाता है॥५॥

आदाने करोतिशब्दः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थः—'यूपस्य स्वरुं करोति' में (करोति शब्दः) 'करोति' शब्द (आदाने) आदान=ग्रहण अर्थ में है। अर्थ होगा—यूप के अवयव स्वरु को ग्रहण करता है।

व्याख्या—**और जो यह कहा है कि इस (=स्वरु) की उत्पत्ति शब्द से कही है—** स्वरुं करोति (**=स्वरु बनाता है)। इस प्रकार (=उत्पत्ति पक्ष में) 'करोति, शब्द समर्थित**

कल्पिष्यत इति। उच्यते—आदाने करोतिशब्दो भविष्यति। स्वरुं करोति, स्वरुमादत्त इति। यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोतीति, आदाने करोतिशब्दो भवति, एवमिहापि द्रष्टव्यम् ॥६॥ इति स्वरोश्छेदनाद्यप्रयोजकताधिकरणम् ॥१॥

[इतोऽग्रे काशीमुद्रिते शाबरभाष्ये पूर्वव्याख्यतैव षट्सूत्री भाष्यपाठवैलक्षण्यमात्रेणैव व्याख्यातेहोपलभ्यते। तदिह सूक्ष्माक्षरैर्मुद्रयते]।

स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ॥१॥

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः। तत्र श्रूयते, स्वरुणा पशुमनक्तीति। अथैष संदेहः—किं स्वरुरुत्पत्तिं प्रयोजयति,उत यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणमिति। किं प्राप्तम्। स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्यात्। प्रयोजयत्युत्पत्तिमिति। कुतः। स्वोऽस्य कर्मशब्दो भवति। स्वरुं करोतीति। स्वरुमुत्पादयतीत्यर्थः। एवं चेदुत्पत्तिरस्य शब्दवती। तस्मान्नैकया निष्पत्त्या यूपश्च स्वरुश्च निष्पाद्यत इति ॥१॥

जात्यन्तराच्च शङ्कते ॥२॥

यदि यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणं भवेत्, यूपकाष्ठस्यैव स्वरुः स्यात्। अन्यवृक्षाशङ्का नोपपद्येत, भवति च यद्यन्यस्य वृक्षस्य स्वरुं कुर्यादन्येऽस्य लोकमन्वारोहेयुर्यूपस्य स्वरुं करोतीति। तस्मादपि पश्यामः प्रयोजकः स्वरुरिति ॥ २ ॥

तदेकदेशो वा स्वरुत्वात्तस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३॥

यूपमनुनिष्पन्नो वा गृह्येत स्वरुः, तदेकदेशो ह्येषः। षष्ठीनिर्देशात्, यूपस्य स्वरुं करोतीति। यदि हि छेदनमुभयार्थं स्यान्न स्वरुयूपयोः कश्चित्संबन्धो भवेत्। तत्र षष्ठी नोपपद्येत। अस्ति तु षष्ठी। तस्माद्यूपैकदेशः स्वरुः, अवयवो यूपस्य। स्वरुर्नामैकदेशः कर्त्तव्यः, यथा पुरोडाशशकलमिति ॥३॥

शकलश्रुतेश्च ॥ ४ ॥

शकलश्रुतिश्च भवति, यः प्रथमः शकलः परापतेत्स स्वरुः कार्य इति। एकदेशाश्चा-

---

होगा। (समाधान) आदान (=ग्रहण) अर्थ में 'करोति' शब्द होगा—स्वरुं करोति=स्वरुमादत्ते। जैसे काष्ठानि करोति गोमयानि करोति में ग्रहण अर्थ में करोति शब्द होता है [काष्ठों का ग्रहण करता है, उपलों को ग्रहण करता है]। इसी प्रकार यहां भी देखना चाहिये ॥६॥

प्रयोजका भवन्ति । नैकदेशे श्रूयमाणेऽवयवी कर्तव्य इति शब्दो भवति । विद्यमानस्यावयविन एकदेशो गृह्यते । तस्मादप्यप्रयोजकः ॥ ४ ॥

प्रतियूप च दर्शनात् ॥ ५ ॥

प्रतियूपं च खल्वपि स्वरवो दृश्यन्त एकादशिन्यां, यथाऽऽनुपूर्व्यं स्वरुभिः पशून्समञ्ज्य मध्यमे रशनागुणे स्वे-स्वे स्वं-स्वं यूपशकलमुपगूहतीति । स यदि स्वरुमान् यूपः कार्य इत्ययमर्थः, स्वरुं करोतीति, ततो बहूनां स्वरूणां दर्शनमुपपद्यते । प्रयोजकत्वे स्वरोः, एक एव समञ्जनार्थे स्वरुरुत्पाद्यते । तस्मादप्रयोजक इति ॥ ५ ॥

आदाने करोतिशब्दः ॥ ६ ॥

अथ यदुक्तम्, उत्पत्तिरस्य शब्देनाभिधीयते, स्वरुं करोतीति । करोतिशब्दश्चाव-कल्पिष्यत इति । उच्यते । आदाने करोतिशब्दो भविष्यति, स्वरुं करोतीति स्वरुमादत्त इति । यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोतीत्यादाने करोतिशब्दो भवत्येवमिहापि द्रष्टव्यम् ॥६॥

[शाखावादाधिकरणम् ॥ २ ॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते शाखामधिकृत्य—**प्राचीमाहरत्युदीचीमाहरति प्रागुदीचीमाहरति**[1], इति । तत्र संदेहः—किमयं दिग्वाद उत शाखावाद इति ? दिग्वाद इति प्राप्तम् । तथा श्रुतिशब्दः, शाखावादे लक्षणेति । तस्माद् दिग्वाद इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

शाखायां तत्प्रधानत्वात् ॥ ७ ॥ (उ०)

शाखावाद इति । कुतः ? यदि तावदयमर्थः–प्राची दिगाहर्तव्येति, ततोऽशक्यो-

---

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में शाखा के प्रकरण में सुना जाता है—प्राचीमाहरति, उदाचीमाहरति, प्रागुदीचीमाहरति (='पूर्व की शाखा का आहरण करता है—लाता है, उत्तर की शाखा को लाता है, पूर्व-उत्तर=ऐशानी दिशा की शाखा को लाता है) । वहां सन्देह होता है—क्या यह दिशा का कथन है अथवा शाखा का कथन है? दिशा का कथन है, यह प्राप्त होता है । उस प्रकार (=दिक्कथन में) श्रुतिरूप शब्द होगा, अन्यथा शाखा के कथन में लाक्षणिक शब्द होगा । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

शाखायां तत्प्रधानत्वात् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थः—'प्राचीमाहरति' आदि कथन (शाखायाम्) शाखा के विषय में जानना चाहिये । (तत्प्रधानत्वात्) प्रकरण के शाखा के प्रधान होने से ।

व्याख्या—शाखा का कथन है । किस हेतु से ? यदि यह अर्थ होवे—प्राची दिशा का

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यत्प्राचीमाहरेत्……यदुदीचीम् ··प्राचीमुदीचीमाहरति ॥ तै०ब्रा० ३।२।१॥ २. श्रुति का यह अर्थ सैद्धान्तिक है । इस का पूर्वपक्ष में सम्बन्ध नहीं है ।

ऽर्थः । अथ प्राचीं दिशं प्रत्याहरणीयेति, ततः काऽऽहर्तव्येति? वाक्ये शाखाशब्दस्याभावादनुपपन्नोऽयं संबन्धः । अथ प्रकृता शाखेति, ततः प्राचीशब्देन तस्या एवाभिसंबन्धो न्याय्यः । कुतः ? प्रत्यक्षा हि प्राचीशब्देन हरतेरेकवाक्यता । प्रकरणाच्छाखाशब्देन भवेत् । उभयथाऽत्र प्राचीशब्दो लक्षणया प्रकृतां वा शाखां लक्षयेत्, दिशो वाऽनीप्सितत्वाद् विहारदेशमीप्सिततमं युक्तम् ॥

अपि च, प्राचीति संबन्धिशब्दोऽयम् । संबन्धिशब्दाश्च सर्वे सापेक्षा विना पदान्तरेण न परिपूर्णमर्थमभिवदन्ति । सामान्यपदार्थसंबन्धे च सव्यवहारानुपपत्तिः । सर्वस्यैव देशस्य कुतश्चित्प्राग्भावात् । तथा शाखाशब्दोऽपि संबन्धिशब्दः, वृक्षस्येत्येतदपेक्षते । यदा वृक्षस्येत्येतदपेक्षते, तदा वृक्षस्य शाखा प्राची, उदीची प्रागुदीची वेति भवति संबन्धः । तथा च संव्यवहारोऽवकल्पते । यत्तु शाखावादे लक्षणेति । उच्यते । भवति लक्षणयाऽपि शब्दार्थः । तस्माच्छाखावाद इति ।।७।। **इति शाखाया आहार्यताधिकरणम् ।।२।।**

—:०:—

आहरण करना चाहिये, तो यह अशक्य अर्थ है [क्योंकि प्राची दिशा लाई नहीं जा सकती] । और यदि प्राची दिशा के प्रति आहरण करना चाहिये [यह अर्थ किया जाये तो] उस अवस्था में 'किसका आहरण किया जाये'? वाक्य में शाखा शब्द के न होने से यह सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता । यदि प्रकृत शाखा [का आहरण किया जाये तो] उस अवस्था में प्राची शब्द से उस [शाखा] का संबन्ध ही न्याय्य है । किस हेतु से ? 'प्राची' शब्द के साथ 'हरति' शब्द की एक वाक्यता स्पष्ट है । प्रकरण से शाखा शब्द के साथ एक वाक्यता होगी । दोनों ही अवस्था में प्राची शब्द लक्षणा से प्रकृत शाखा को लक्षित करे अथवा दिशा को अनीप्सित (अनचाही हुई) होने से ईप्सिततम विहार देश (=यज्ञीय स्थान) को लक्षित करे ।

और भी, प्राची यह सम्बन्धी शब्द है, सम्बन्धी शब्द सब सापेक्ष होते हैं, विना पदान्तर के परिपूर्ण अर्थ को नहीं कहते । सामान्य पदार्थ के सम्बन्ध में संव्यवहार की अनुपपत्ति होती है ।[अर्थात् प्रयोग उपपन्न नहीं होता]। क्योंकि सभी देश के किसी स्थान से पूर्व होने से । तथा शाखा शब्द भी सम्बन्धी शब्द हैं वह 'वृक्ष की' अपेक्षा करता है । जब वृक्ष की अपेक्षा करता है तब वृक्ष की शाखा पूर्व की उत्तर की, अथवा पूर्वोत्तर की यह सम्बन्ध उपपन्न होता है । वैसा होने पर लोकव्यवहार उपपन्न होता है । जो यह कहते हो कि 'शाखा के कथन में लक्षणा होगी', इस विषय में कहते हैं कि लक्षणा से भी शब्दार्थ जाना जाता है । इसलिये [उक्त वचनों में प्राची आदि शब्दों से] शाखा का कथन है ।

विवरण—अथ प्राचीं प्रत्याहरणीया—इस अर्थ में अश्रुत 'प्रति' शब्द का अध्याहार करना होगा । और किस का आहरण करना चाहिये यह साकांक्ष भी रहेगा । **प्रकृतां शाखां वा लक्षयेत् दिशो वाऽनीप्सितत्वात् विहारदेशमीप्सिततमं युक्तम्** – इस वाक्य में **दिशो वा**

[शाखायाश्छेदनादिप्रयोजकत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥]

दर्शपूर्णमासयोः समाम्नायते **मूलतः शाखां परिवास्योपवेषं करोति**[1] इति। तत्रायमर्थः सांशयिकः—किं शाखाच्छेदनस्योभयं प्रयोजकम्–शाखा उपवेषश्च, उत शाखा प्रयोजिका, उपवेषोऽनुनिष्पादीति? किं प्राप्तम्? उभयं छेदनान्निष्पद्यते। शाखा शाखामूलं च, उभयं च प्रयोजनवत्। अग्रेण वत्सापाकरणादि करिष्यते, मूलत उपवेषः। तेन विशेषाभावादुभयं प्रयोजकमिति प्राप्ते. उच्यते—

अनीप्सितत्वात् (=दिशा के ईप्सित न होने से) यह हेतु है। इसलिये अर्थ होगा—जिस कारण दिशा ईप्सित नहीं है इसलिये वह प्राची शब्द विहार देश को लक्षित करेगा अथवा शाखा को लक्षित करेगा। क्योंकि 'प्राचीम्' में द्वितीया ईप्सित कर्म कारक में है। विहार देश और शाखा दोनों ईप्सिततम हैं। यह भट्ट कुमारिल के अनुसार योजना है ॥७॥

—:o:—

व्याख्या – **दर्शपूर्णमास में पढ़ा जाता है**—मूलतः शाखां परिवास्योपवेषं करोति **(=मूल से शाखा को काटकर उपवेष बनाता है)। इसमें यह अर्थ संशयवाला है—क्या शाखा के छेदन के शाखा और उपवेष दोनों प्रयोजक हैं अथवा शाखा प्रयोजिका है, उपवेष अनुनिष्पादी (=शाखा की निष्पत्ति के साथ उत्पन्न होनेवाला) है? क्या प्राप्त होता है? दोनों (=शाखा और उपवेष) छेदन से बनते है। शाखा और शाखा का मूल दोनों प्रयोजनवान् है। अग्रभाग से वत्सों का [गायों से] पृथक् करण आदि कर्म किया जायेगा और मूल से उपवेष बनाया जायगा। इसलिये विशेष न होने से दोनों ही [छेदन के] प्रयोजक हैं। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विवरण—मूलत उपवेषः – पूर्ववाक्य में शाखा और शाखामूल (उपवेष) दोनों को प्रयोजनवान् कहा है। तदनन्तर **अग्रेण** वत्सापाकरणादि करिष्यते से शाखा का प्रयोजन कहा है, और मूल का प्रयोजन उपवेष बनाना। शाखामूल उपवेष का प्रयोजन **अथ जघनेन गार्हपत्यमुपविश्योपवेषेणोदीचोऽङ्गारान्निरूहति** (बौ० श्रौ० १।३।८) गार्हपत्य के अङ्गारों को उत्तर दिशा में निरूहण करना (सरकाना) लिखा है (आप० श्रौ० १।१२।१ भी द्र०)। भाष्यकार ने आगे नवम सूत्र में **'न चोपधानं मूलपरिवासितया क्रियते'** कहा है। अन्य व्याख्याकारों ने भी उपवेष का प्रयोजन कपालोपधान ही लिखा है। आचार्यवर ने हमें पढ़ाते हुए **उपवेषेण कपालान्युपदधाति** श्रुति का निर्देश किया था। यह साक्षात् श्रुति तो हमें उपलब्ध नहीं हुई परन्तु दर्शपूर्णमास में कपालोपधान प्रकरण में आप० श्रौत १।२२।२ में **धृष्टिरसि** मन्त्र से उपवेष को ग्रहण करके गार्हपत्य के पश्चिम भाग में उपवेष से अंगारों को हटाकर कपालों के उपधान का विधान किया है। [सरलता से कपालोपधान की प्रक्रिया जानने के लिये हमारे द्वारा प्रकाशित प० भीमसेन कृत दर्शपौर्णमास

---

१. आप० श्रौत० १।६।७॥

शाखायां तत्प्रधानत्वाद् उपवेषेण विभागः स्याद् वैषम्यं तत् ॥८॥ (उ०)

शाखायां ब्रूमः। तत्प्रधानत्वात्। शाखाप्रधानत्वादुपवेषेण विभागो भवेत्। शाखामनुनिष्पन्नो गृह्येत। कथं तत्प्राधान्यम्? शाखां परिवास्येति द्वितीयानिर्देशात्। ननु, 'उपवेषं करोति' इत्यपि द्वितीया। उच्यते, नासौ परिवासयतेः कर्म। कस्य तर्हि? करोतेः। आह। कस्मादेवमभिसंबन्धो न भवति—शाखां परिवास्य मूलत उपवेषं करोतीति। शाखाशब्दश्च यथैवाग्रे तथा मूलेऽपि। तत्रायमर्थः—छेदनेनाग्रमूले

पद्धति, पृष्ठ २८—३० तक देखें]। शाखा के मूल भाग की ओर का एक प्रादेश मात्र कटे हुए भाग का जो उपवेष होता है, वह सान्नाय्ययाजी (=दर्श में दूध दही की आहुति) पक्ष में होता है। सान्नाय्ययाजी को ही वत्सापाकरणादि के लिये पलाशशाखा लानी होती है—**सान्नाय्ये शाखासंयोगात्** (कात्या० श्रौत० ४।२।१३)। परन्तु कात्यायन ने पके हुए पुरोडाश को गरमराख से ढकने केलिये भी उपवेष का उल्लेख किया है—**अतमेरुरिति शृतावभिवासयति भस्मना वेदोनोपवेषेण वा** (कात्या० श्री०२।५।२५)। यह उपवेष वरण वृक्ष का फैले हुए हस्त के आकार का होता है। यह दोनों उपवेषों में भेद है ॥७॥

शाखायां तत्प्रधानत्वाद् उपवेषेण विभागः स्याद् वैषम्यं तत् ॥८॥

सूत्रार्थः— (शाखायाम्) शाखा में प्रयोजकत्व है (तत्प्रधानत्वात्) शाखा के 'शाखां परिवास्य' में कर्मरूप से प्रधान होने से (उपवेषेण) उपवेष के साथ (विभागः) छेदन का विभाग =भिन्नता (स्यात्) होवे अर्थात् परिवास्य का उपवेष के साथ सम्बन्ध न होवे (तत्) यह (वैषम्यम्) विषमता है। अर्थात् शाखा में द्वितीया होने से वह प्रधान है। अतः वह परिवासन की प्रयोजिका है, उपवेष अप्रधान है। अतः वह प्रयोजक नहीं है।

विशेष—यह सूत्रार्थ सुबोधिनी वृत्ति के अनुसार तथा भाष्यानुमोदित है। कुतुहल-वृत्तिकार ने उपवेष ने साथ मूल के सामानाधिकरण्य से विभाग=अनन्वय माना है।

व्याख्या—शाखा में प्रयोजकत्व हैं ऐसा हम कहते हैं। उस (=शाखा) के प्रधान होने से। शाखा के प्रधान होने से उपवेष के साथ [शाखा का] विभाग=भेद होवे [अर्थात् उपवेष प्रयोजक न होवे] शाखा की निष्पत्ति के साथ निष्पन्न [उपवेष] गृहीत होवे। उस [शाखा] की प्रधानता कैसे है? शाखां परिवास्य में द्वितीया का निर्देश होने से। (आक्षेप) उपवेषं करोति में उपवेष में भी द्वितीया है। (समाधान) यह [उपवेष] परिपूर्वक वासि धातु का कर्म नहीं है। तो किस का है? 'करोति' का। (आक्षेप) इस प्रकार से सम्बन्ध क्यों नहीं होता—शाखा को काट कर मूल से उपवेष बनाता है। शाखा शब्द जैसे अग्र भाग में प्रयुक्त होता है वैसे ही मूल में भी प्रयुक्त होता है। उस अवस्था में यह अर्थ होगा—छेदन से अग्र और मूल को

विभजेत् । किं प्रयोजनम् ? विभज्य मूलमुपवेषं करिष्यामीति[1] । उच्यते । नैवम्, व्यवहितकल्पना ह्येवं भवेत् । अव्यवधानेन शाखार्थं परिवासनम् । वृत्ते तस्मिन्नुपवेषकरणम् । ननु प्रकृतत्वान्मूलमुपवेषशब्देन संबध्यते । उच्यते । उभयसंबन्धे विरोधः । विरोधे च प्रकरणाद् वाक्यं बलीयः । अथ संनिहितेन संबध्यते, तथाऽपि शाखाप्रयुक्तेनेत्यापतति । अतः सिद्ध एवोपवेषो न प्रयोजयति छेदनमिति । एतदत्र वैषम्यम् ।।८।।

श्रुत्यपायाच्च ।। ९ ।।

शाखया वत्सानपाकरोति[2], शाखया गाः प्रापयति[3], शाखया दोहयति[4] इत्येवमादिषु शाखाग्रहणेषु नोपवेषस्य व्यापारस्ततः शाखाशब्दोऽपैति । न हि तन्मूलं

पृथक् करे । [विभाग का] क्या प्रयोजन है ? विभक्त करके मूल से उपवेष बनाऊंगा । (समाधान) ऐसा नहीं है । इस प्रकार व्यवहित की कल्पना होगी ['मूलतः शाखां परिवास्य उपवेषं करोति' में 'मूलतः' का 'शाखां परिवास्य' पदों से व्यवहित उपवेषं करोति' के साथ सम्बन्ध करना पड़ेगा—'परिवास्य मूलम् उपवेषं करोति'] । व्यवधान के विना यथास्थित रूप में शाखा के लिये परिवासन जाना जाता है । उस [विभाग] के निष्पन्न होने पर उपवेष बनाया जाता है । (आक्षेप) प्रकृत (वाक्य के आरम्भ में पठित) होने से 'मूल' उपवेष शब्द के साथ संबद्ध होता है । (समाधान) [मूल का] दोनों (='परिवास्य' और उपवेष') के साथ संबन्ध होने पर विरोध होता है [अर्थात् 'मूल' का प्रकरण से उपवेष के साथ सबन्ध होवे और वाक्य से शाखा के साथ । इन दो संबन्धों में विरोध होता है]। विरोध में प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है । और सन्निहित [परिवासन] के साथ [उपवेष] संबद्ध होता है तथापि शाखा से प्रयुक्त परिवासन के साथ ही सम्बद्ध होता है, ऐसा जाना जाता है । इसलिये उपवेष सिद्ध (=निष्पन्न) हुआ छेदन को प्रयोजित नहीं करता । यही यहां विषमता है ।।८।।

श्रुत्यपायाच्च ।।९।

सूत्रार्थः— (श्रुत्यपायात्) विभाग के अनन्तर पठित वाक्यगत शाखा शब्द के मूल से पृथक् हो जाने से (च) भी शाखा ही छेदन की प्रयोजिका है, उपवेष प्रयोजक नहीं है ।

व्याख्या—शाखया वत्सान् अपाकरोति (=शाखा से बछड़ों को गाय से दूर करता है), शाखया गाः प्रापयति (=शाखा से गौवों को प्राप्त कराता है), शाखया दोहयति (=शाखा से गौवों का दोहन करता है) इत्यादि शाखा पठित वाक्यों में उपवेष का व्यापार (=व्यवहार) नहीं है, उस [मूल भाग] से शाखा शब्द हट जाता है [अर्थात्

---

१. 'करोतीति' पूना मुद्रिते पाठः ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—पर्णशाखया वत्सानपाकरोति (तै० ब्रा० ३।२।१।१; शत० १।७।१।१) ।

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—शाखया गोचराय गाः प्रस्थापयति (आप० श्रौत १।२।३) ।

४. अनुपलब्धमूलम् ।

शाखेत्याचक्षते। किमतो यद्येवम्? यत्र शाखाशब्दस्तदर्थं छेदनम् द्वितीयानिर्देशात्। अथापि मूले शाखाशब्दो भवेत्, एवमपि। शाखाशब्दोपदिष्टेषु न मूलम्। अमूल-परिवासित्वात्। यच्चैवं संस्कृतया शाखया क्रियते, तदर्थं छेदनम्। न चोपधानं मूलपरिवासितया क्रियते। तस्मान्न तदर्थं छेदनम्।

किं भवति प्रयोजनम्। पौर्णमास्यामपि शाखोत्पाद्या, यथा पूर्वः पक्षः। यथा सिद्धान्तः, तथा नोत्पादयितव्येति ।।९।। छेदनस्य शाखाप्रयुक्तताधिकरणम् ।।३।।

—:o:—

परिवासन के अनन्तर मूलभाग में शाखा शब्द का व्यवहार नहीं होता है]। वह [कटा हुआ] मूल 'शाखा' ऐसा नहीं कहा जाता है। इससे क्या? [इस से यह विदित होता है कि] जिसमें शाखा शब्द का व्यवहार है, उसके लिये छेदन है, द्वितीया के निर्देश होने से। और यदि मूल में भी शाखा शब्द [व्यवहृत] होवे तो भी शाखा शब्द से उपदिष्ट विधियों में मूल गृहीत नहीं होता है, मूल में अच्छिन्न होने से। इस प्रकार जो [वत्सों का अपाकरण आदि कर्म] संस्कृत शाखा से किया जाता है, उसके लिये छेदन है [अर्थात् छेदन संस्कारकर्म है] [कपालों का] उपधान मूल से काटी गई शाखा से नहीं किया जाता है। इसलिये उस (=उपधान कर्म में प्रयुक्त उपवेष) के लिये छेदन नहीं होता।

विवरण—अथापि मूले शाखाशब्दो भवेत्—शाखा शब्द का प्रयोग मूल से अग्रभाग पर्यन्त होता है। यथा—सन्नयतः पलाशशाखां शमीशाखां वाऽऽहरति (आप० श्रौत १।१।७)। अमूलपरिवासितत्वात्—इसका अर्थ भट्ट कुमारिल के मूलेऽच्छिन्नत्वात् दर्शाया है। न चोप-धानं मूलपरिवासतया—कपालों का उपधान उपवेष से कहा है। दर्शेष्टि में आग्नेय पुरोडाश को जिन आठ कपालों पर संस्कृत किया जाता है, उनका उपधान शाखा के मूलभाग रूप उपवेष से किया जाता है। यहां पृष्ठ १२६४-१२६५ का विवरण देखें।

व्याख्या—इस [विचार] का क्या प्रयोजन है? जैसा पूर्व पक्ष है तदनुसार पौर्णमासी में भी शाखा का उत्पादन (=आहरणादि से प्राप्ति) करना चाहिये। जैसा सिद्धान्त है उसके अनुसार [पौर्णमासी में शाखा को] उत्पन्न नहीं करना चाहिये।

विवरण—पौर्णमास्यामपि शाखोत्पाद्या—पौर्णमासेष्टि में भी कपालों के उपधान के लिये उपवेष का उल्लेख है। अतः यदि मूलभाग रूप उपवेष छेदन में प्रयोजक होवे तो उसकी सिद्धि के लिये पौर्णमासेष्टि में वत्सापाकरणादि कार्य न होने पर भी शाखा का आहरण करना होगा। तथा नोत्पादयितव्य—सिद्धान्त पक्ष में मूलतः शाखां परिवास्य में उक्त छेदन कर्म उपवेषार्थ न होने से जहां वत्सापकरणादि कर्म होंगे वहीं शाखा का आहरण किया जायेगा। पौर्णमासेष्टि में उसका अभाव होने से शाखाहरण नहीं होगा। उस के अभाव में मूल के न होने से मूलभाग का उपवेष भी नहीं होगा। अत एव पौर्णमासेष्टि में उपधानादि कर्म के लिये वरण वृक्ष का प्रसृताङ्गुलि हस्ताकार उपवेष बनाया जाता है ।।९।।

—:o:—

[शाखाप्रहरणस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥४॥]

दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति—**सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति**[1] इति । तत्र संदेहः—किं शाखाप्रहरणं प्रतिपत्तिकर्म, उतार्थकर्मेति ? किं प्राप्तम् ?

हरणे तु जुहोतिर्योगसामान्याद् द्रव्याणां चार्थशेषत्वात् ॥१०॥ (पू०)

हरणे तु जुहोतिः स्यात् । अर्थकर्मेत्यर्थः । कुतः ? योगसामान्यात् । योगोऽस्याः समानः प्रस्तरेण—**सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति** इति । सहयोगे यत्र तृतीया तस्य गुणभावः, यत्र द्वितीया तस्य प्राधान्यम् । प्रस्तरे च विस्पष्टो यजिः । शाखाऽपि

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में पढ़ते हैं—सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति (=शाखा के साथ प्रस्तर को आहवनीय में छोड़ता है) । इसमें सन्देह होता है—क्या शाखा का प्रहरण प्रतिपत्ति कर्म है अथवा अर्थकर्म । क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—प्रतिपत्तिकर्म—अन्यत्र प्रयुक्त का अन्यत्र स्थापन करना प्रतिपत्तिकर्म कहाता है । वत्सापाकरणादि में प्रयुक्त शाखा का अग्नि में रखना=छोड़ना प्रतिपत्तिकर्म है । **अर्थकर्म**—प्रयोजनवान् कर्म अर्थात् होम । शाखा से होम मानने पर वह अर्थकर्म होगा ।

हरणे तु जुहोतिर्योगसामान्याद् द्रव्याणां चार्थशेषत्वात् ॥१० ।

सूत्रार्थः—(हरणे) 'प्रहरति' क्रिया विशिष्ट **सहशाखया प्रस्तरं प्रहरति** में तो 'प्रहरति' को (जुहोतिः) होमार्थक जानें (योगसामान्यात्) संबन्ध की समानता होने से । अर्थात् प्रस्तरं प्रहरति में प्रस्तर के होम का विधान होने से जिस 'प्रहरति' के साथ प्रस्तर का सबन्ध है उसी के साथ शाखा का भी सम्बन्ध होने से प्रस्तर और शाखा दोनों का होम होवे । (च) और (द्रव्याणाम्) द्रव्यों के (अर्थशेषत्वात्) होम के प्रति शेषभाव होने से प्रस्तर और शाखा दोनों होम के प्रति समान रूप से शेष हैं ।

विशेष—मी० ३।२।१२ के **उपदेशो वा याज्याशब्दः** से **'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** में 'प्रहरति' क्रिया को होमार्थक स्वीकार किया है । वैसा ही प्रयोग **सहशाखया प्रस्तरं प्रहरति** में देखा जाता है । अतः सम्बन्ध सामान्य से यहां शाखा का होम जानना चाहिये ।

व्याख्या—हरण में तो जुहोति होवे [अर्थात् 'प्रहरति' का अर्थ 'जुहुयात्' होवे] । अर्थात् अर्थकर्म (प्रयोजनवाला कर्म=होम) है । किस हेतु से ? योग के समान होने से । इस शाखा का प्रस्तर के साथ समान संबन्ध है—सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति में । सह के योग में जिसमें तृतीया होती है उस तृतीयान्त का गुणभाव होता है, जिसमें द्वितीया होती है

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—सह शाखया प्रस्तरमाहवनीये प्रहरति । आप० श्रौत १।६।६॥

तस्मिन्नेव यजौ प्रस्तरस्य विशेषणं, समानयोगित्वात् । आह । ननु तत्र तत्र गुणभूना शाखा, तस्याः प्रतिपत्तिर्न्याय्या । इतरथाऽनेकगुणभावः प्रसज्येतेति । उच्यते । द्रव्याणां चार्थशेषत्वात् । उत्पत्त्या चिकीर्षितस्य शेषभूतान्येव द्रव्याण्युपदिश्यन्ते भूतं भव्यायोपदिश्यत'[1] इति । तस्मादनेकगुणतैव द्रव्याणां न्याय्येति ॥ १० ॥

उसका प्राधान्य होता है । प्रस्तर के विषय में विस्पष्ट यज धातु का अर्थ है । शाखा भी उसी यजि (=यजधात्वर्थ) में प्रस्तर का विशेषण है समान सम्बन्ध वाला होने से । (आक्षेप) वहां-वहां (=वत्सापाकरणादि कर्मों में) शाखा गुणभूत है, उसकी प्रतिपत्ति उचित है । अन्यथा अनेक का गुणभाव प्राप्त होगा । (समाधान) द्रव्यों के अर्थशेष (=होम के प्रति शेष) होने से भी । उत्पत्ति (=यागविधायक वाक्य) से चिकीर्षित याग के शेषभूत ही द्रव्यों का उपदेश किया जाता है क्योंकि भूत (=विद्यमान द्रव्य) भव्य (- होनेवाले याग) के लिये उपदिष्ट होते हैं । इसलिये द्रव्यों की अनेक गुणता ही न्याय्य है ।

विवरण—प्रस्तरे च विस्पष्टो यजिः—यागविधायक अनेक वाक्यों में (यथा —आग्नेय-मष्टाकपालं निर्वपेत्) निर्वाप मात्र का उल्लेख मिलता है । निर्वाप नाम आहुति के लिये उपयुक्त द्रव्य का पात्रान्तर में ग्रहण करना है । यदि कर्म निर्वाप पर्यन्त ही स्वीकार किया जाये तो वाक्य में बोधित द्रव्य देवता का संबन्ध उपपन्न नहीं होगा । अतः निर्वपेत् की परिसमाप्ति 'यजेत' में मानी जाती है । अर्थात् 'निर्वपेत्' का अर्थ 'यजेत्' किया जाता है । इसी प्रकार 'सहशाखया प्रस्तरं प्रहरति' में प्रहरति को यज्यर्थक मानकर कहा है—प्रस्तर के विषय में विस्पष्ट ही यजधातु का अर्थ है । यह पूर्वपक्षी का कथन है । सिद्धान्त में प्रस्तरप्रहरण भी जुहू आदि के धारण में प्रयुक्त प्रस्तर का प्रतिपत्ति कर्म ही है । हां, मीमांसा ३।२।१२ के भाष्य (पृष्ठ ७३०) में 'प्रहरति' को जुहोत्यर्थ मानकर सूक्तवाक को याज्या और प्रस्तर को आहुति कहा है । **समानयोगित्वात्—प्रस्तरं प्रहरति** में जैसे प्रस्तर का जुहोत्यर्थक प्रहरति के साथ सम्बन्ध है, वैसा ही **सह शाखया** कहने से शाखा का भी उसी प्रहरति के साथ सम्बन्ध जाना जाता है । **अनेकगुणभावः प्रसज्येत**—शाखा का प्रस्तर के समान ही 'प्रहरति' के साथ संबन्ध मानने पर शाखा में अपाकरणादि होम पर्यन्त अनेक गुणभाव प्राप्त होता है अर्थात् **प्रस्तरेण शाखया च होमं कुर्यात्** में होम के प्रधान होने से होम के प्रति भी शाखा का गुणभाव से सम्बन्ध होगा । **उत्पत्त्या चिकीर्षितस्य**— इसका तात्पर्य यह है कि यागविधायक वचन से द्रव्यों का अनेक गुणभाव उपदिष्ट माना जाता है । **भूतं भव्यायोपदिश्यते**—यह न्याय मी० २।१, अधि० १ से बोधित है । इसके अनुसार पूर्वतः विद्यमान द्रव्यों का होने वाले याग के लिये उपदेश होता है । अतः होम विधायक **सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति** वाक्य में पूर्वतः विद्यमान शाखा का अनेक गुणभाव जानना चाहिये ॥१०॥

---

१. द्र०—मी० भा० ४।१।१८; पूर्व पृष्ठ १२०४ की टि० १ ।

प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥११॥ (उ०)

प्रतिपत्तिर्वा शाखाप्रहरणम् । शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् । शब्दोऽत्र शाखाप्रधानः । कथम् ? द्वितीयाश्रवणात् । नन्वन्यत्रैव सा द्वितीया प्रस्तरे, न शाखायाम् । उच्यते । प्रस्तरे द्वितीयार्थः शाखायामपि । कथम् ? तुल्ययोगात्, सह शाखया, एवं प्रस्तरः प्रहृतो भवति, यदि शाखाऽपि प्रह्रियते । तेन[1] तुल्ययोगे सहशब्दोऽयम् । यदि प्रस्तरः प्रहरण प्रधानं, शाखाऽपि प्रस्तरविशेषणं, न तर्हि तुल्ययोगः । तस्माद् यः प्रस्तरे द्वितीयार्थः, स शाखायामपि । अतः शाखा प्रधानम् । अपि च, तत्र तत्र शाखा गुणभूता । तस्यामन्यत्रोपदिश्यमानायामनेकगुणभावः स्यात् । तत्र को दोषः ? दृष्टं कार्यं हित्वाऽदृष्टं कल्प्येत । कृतप्रयोजनायाः शाखाया अपनयनेन वेदिविवेचनात् सुखप्रचारो दृष्टं कार्यं, न तु प्रहरणे किंचित् सूक्ष्ममपि दृष्टमस्ति । तस्मात् प्रतिपत्तिर्न्याय्या ।

प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष 'शाखा का होम करना चाहिये' की निवृत्ति करता है । (प्रतिपत्तिः) शाखा का प्रहरण प्रतिपत्तिकर्म है । (शब्दस्य) 'प्रहरति' शब्द के (तत्प्रधानत्वात्) शाखा-प्रधान होने से ।

व्याख्या—शाखाप्रहरण प्रतिपत्ति कर्म ही है । शब्द के शाखा प्रधान होने से । शब्द यहां शाखाप्रधान है । किस प्रकार ? द्वितीया के श्रवण होने से । (आक्षेप) वह द्वितीया तो अन्यत्र प्रस्तर में है, शाखा में नहीं है । (समाधान) प्रस्तर में जो द्वितीया का अर्थ है वह शाखा में भी है । किस प्रकार ? समान सम्बन्ध होने से—सह शाखया (=शाखा के साथ) इस प्रकार प्रस्तर [अग्नि में] प्रहृत होता है, यदि शाखा भी प्रहृत होती है । इससे तुल्य संबन्ध में यह सह शब्द है । यदि प्रस्तर प्रहरण(=अग्नि में छोड़ने)में प्रधान होवे और शाखा प्रस्तर का विशेषण होवे, तो तुल्य योग नहीं है । इसलिये प्रस्तर में जो द्वितीया का अर्थ है, वह शाखा में भी है । इसलिये शाखा प्रधान है । और भी, उन-उन (=विविध कर्मों) में शाखा गुणभूत है । उसका अन्यत्र (=अन्य विषय में=होम में) उपदेश करने में अनेक अनेक गुण भाव होवें । उस में क्या दोष होगा ? [होम पक्ष में] दृष्ट कार्य को छोड़ कर अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ेगी । जिस का प्रयोजन निपन्न हो गया है, उस शाखा के हटाने से वेदि के रिक्त होने से सुख पूर्वक कार्य होना दृष्ट कार्य है, प्रहरण [होम] में कुछ सूक्ष्म भी दृष्ट कार्य नहीं है । इस लिये [कृतप्रयोजना शाखा की] प्रतिपत्ति ही न्याय्य है ॥

विवरण तत्र तत्र शाखा गुणभूता—'शाखया वत्सान् अपाकरोति'(द्र० पृष्ठ १२६६) इत्यादि कार्य में शाखा गुणभूत है, वत्स प्रधान हैं । अनेकगुणभावः स्यात्—इसका तात्पर्य यह है कि वत्स पाकरणादि में शाखा साधन होने से गुणभूत है और उसका होम करने पर होम के प्रति द्रव्य के गुणभूत होने से उसमें अनेक गुणभाव मानने पड़ेंगे ।

---

१. तेनेति क्वाचिन्नास्ति ।

आह। ननु तृतीयाश्रवणात् परार्थेन शाखोच्चारणेन भवितुं न्याय्यम्। उच्यते। भवेदेतन्न्याय्यं, यदि निर्ज्ञातकाला शाखा स्यात्। ततः प्रस्तरस्य कालपरिच्छेदाय कीर्त्यमाना परार्था उच्चार्येत। इह पुनरेतद्विपरीतम्। निर्ज्ञातकालः प्रस्तरोऽनिर्ज्ञातकाला शाखा। तस्मात् सत्यपि तृतीयाश्रवणे प्रस्तर एव शाखायाः कालं परिच्छेत्स्यति। यथा द्वितीयानिर्दिष्टा तथा शाखा द्रष्टव्या। यथा तृतीयानिर्दिष्टस्तथा प्रस्तरः। सामर्थ्यं हि बलवत्तरमिति ॥११॥

(आक्षेप) [शाखा] में तृतीया विभक्ति के श्रवण से शाखा के उच्चारण का परार्थ होना न्याय्य है। (समाधान) यह न्याय्य होवे, यदि शाखा निर्ज्ञात काल वाली होवे। उस से प्रस्तर के काल के परिच्छेद के लिये संकीर्तित हुई अन्य के लिये उच्चरित होवे। यहां इस के विपरीत है। प्रस्तर निर्ज्ञात कालवाला है और शाखा अनिर्ज्ञात कालवाली है। इस कारण [शाखा में] तृतीया विभक्ति के श्रवण होने पर भी प्रस्तर ही शाखा के काल का नियमन करेगा। जैसे द्वितीया का निर्देश है उस प्रकार शाखा को जानना चाहिये और जैसे तृतीया निर्दिष्ट है उस प्रकार प्रस्तर को जानना चाहिये। सामर्थ्य ही बलवत्तर होता है।

विवरण—तृतीया श्रवणात् परार्थेन—इसका भाव यह है कि जैसे **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** में सूक्तवाक में श्रूयमाण तृतीया परार्थ प्रस्तरंप्रहरण के काल के बोधार्थ है, वैसे ही यहां होना न्याय्य है। **यदि निर्ज्ञातकाला शाखा स्यात्**—सूक्तवाक के उच्चारण का काल नियत है। अनुयाज के अनन्तर एक दो साधारण कर्म के पश्चात् सूक्तवाक का निर्देश मिलता है (द्र० कात्या० श्रौत ३।६।११ तथा दर्शपूर्णमास पद्धति भीमसेनीया, पृष्ठ ९२) अतः **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** का अर्थ होता है—सूक्तवाक के उच्चारण के साथ प्रस्तर का होम करे। इसी प्रकार शाखा प्रहरण का काल निर्ज्ञात होवे तो वह तृतीया श्रवण से शाखा परार्थ हो सकती है। उससे प्रस्तर के काल का नियमन हो सकता है। **निर्ज्ञातकालः प्रस्तरः—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** (द्र०मी० ३।२। अधि० ५) वचन से प्रस्तर प्रहरण का काल निर्ज्ञात है, अर्थात् सूक्तवाक के पाठ का जो काल है वही प्रस्तर के प्रहरण का है, शाखा प्रहरण का काल अनिर्ज्ञात है। **सत्यपि तृतीयाश्रवणे प्रस्तर एव**—निर्ज्ञात कालवाला कर्म अनिर्ज्ञात काल का परिच्छेदक हो सकता है। **यथा द्वितीया दृष्टा तथा शाखा द्रष्टव्या**—इसका भाव यह है कि **प्रस्तरं प्रहरति** में जो द्वितीया निर्दिष्ट है उससे युक्त शाखा को और शाखया में जो तृतीया निर्दिष्ट है उससे युक्त प्रस्तर को जानना चाहिये। अर्थ होगा—प्रस्तर प्रहरण के साथ शाखा का प्रहरण करे। विभक्त्यर्थ के बदलने में सामर्थ्य बलवत्तर होता है। सामर्थ्य ऊपर '**निर्ज्ञातकाल; प्रस्तरः** इत्यादि से दर्शा चुके हैं। भगवान् पतञ्जलि ने यही बात इस प्रकार कही है—

प्रातिपदिकनिर्देशाश्चमर्थतन्त्रा भवन्ति, न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। तत्र प्रातिपदिकार्थे निर्दिष्टे यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या (महाभाष्य १।१।५७)।

अर्थेऽपीति चेत् ॥१२॥ (आ०)

आह । ननु गुणभावेऽपि द्वितीया भवति । यथा सक्तुमारुतैककपालेषु ॥१२।

न तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात् ॥१३॥ (आ० नि०)

नैतत् सक्त्वादिभिस्तुल्यम् । तस्य सक्त्वादेरन्यत्रानधिकारात् । इह च शाखयाऽन्यस्यार्थस्य कृतत्वाद् वत्सापाकरणादेः ।

अर्थात्—प्रातिपदिकों के निर्देश अर्थप्रधान होते हैं, किसी विभक्ति को प्रधानता से आश्रयण नहीं करते । प्रातिपदिकार्थ के निर्दिष्ट हो जाने पर जिस-जिस विभक्ति के आश्रयण की बुद्धि उत्पन्न होती है उस उस विभक्ति का आश्रयण करना चाहिये ।

इसी नियम से शबर स्वामी द्वारा मी० १।३।२६ के भाष्य में उद्धृत **अश्मकैरागच्छामि** में **अश्मभ्यः** पञ्चमी विभक्ति का आश्रयण किया जाता है । इसे ही विभक्ति का व्यत्यय जानना चाहिये । सूत्रकार ने **एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्ययः स्यात्** (मी० १।३।२६) में विभक्तिव्यव्यय कहा है । इसके अनुसार यहां **शाखया** में तृतीया द्वितीया के अर्थ में है और **प्रस्तरं** में द्वितीया तृतीया के अर्थ है, ऐसा जानना चाहिये ॥११॥

अर्थेऽपीति चेत् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(अर्थे) गुणभाव रूप अर्थ में(अपि)भी द्वितीय देखी जाती है, ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—**पूर्वपक्षी कहता है—गुणभाव में भी द्वितीया देखी जाती है । जैसे सक्तु-मारुत और एककपाल में**

विवरण—पूर्व सूत्र के भाष्य में कहा था—**प्रस्तरे द्वितीयार्थः शाखायामपि । कथम्? तुल्ययोगात्** इत्यादि । इस से प्रस्तर में प्रधान में द्वितीया का निर्देश कह कर तुल्य योग से शाखा में भी द्वितीया की उपपति दर्शाई थी । उसी पर पूर्वपक्षी शंका करता है—गुणभाव में भी द्वितीया देखी जाती जाती है । **सक्तूञ्जुहोति, मारुताञ्जुहोति, एककपालं जुहोति** (इन उद्धरणों के मूल पाठ और आकर ग्रन्थ का निर्देश मी० २।१।११ की भाष्य व्याख्या, पृष्ठ ३७६ पर टि० १,२,३ देखें) ॥१२॥

न तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(न) यह 'सह शाखया प्रस्तरं जुहोति' सक्तु आदि के तुल्य नहीं है, (तस्य) सक्तु आदि के होम से अन्यत्र (अनधिकारात्) अधिकार=प्रकरण न होने से । (अर्थस्य च कृतत्वात्) यहां शाखा से अन्य वत्सापाकरणादि अर्थ के सम्पन्न किये जाने से ।

व्याख्या—**यह सक्तु आदि के तुल्य नहीं है । उस सक्तु आदि का [होम से] अन्यत्र अधिकार (=प्रकरण) न होने से । यहां शाखा से अन्य वत्सापाकरणादि अर्थ के किये जाने से ।**

आह। ननु पुनरुक्तमेतत्—सक्त्वादीनां प्रदर्शनं समाधिश्चेति। उच्यते। न पुनरुक्तता महान् दोषः। बहुकृत्वोऽपि पथ्यं वदितव्यं भवति। ग्रन्थगौरवभयेन पुनरुक्तं नेच्छन्ति। अर्थग्रहणात्तु बिभ्यतः पुनः[1] पुनरभिधीयमानं बहु मन्यन्त एव।

किं चिन्तायाः प्रयोजनम्। यद्यर्थकर्म पौर्णमास्यामपि शाखोत्पाद्या, अथ प्रतिपत्तिर्नोत्पादयितव्येति॥ १३॥ **शाखाप्रहरणस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम्॥४॥**

—:०:—

(आक्षेप) यह पुनरुक्त है—सक्तु आदि का प्रदर्शन और उसका समाधान। (समाधान) पुनरुक्तता महान् दोष नहीं है। पथ्य (=उचित) बात अनेक बार भी ज्ञातव्य (=जानने योग्य) होती है। ग्रन्थ के गौरव (=बड़ा होने) के भय से [ग्रन्थकार] पुनरुक्त को नहीं चाहते हैं। अर्थ के ग्रहण से भय करते हुए व्यक्ति के प्रति पुनः पुनः कहे हुए अर्थ को भी [आचार्य] युक्त ही मानते हैं।

इस विचार का क्या प्रयोजन है? यदि शाखा का प्रहरण अर्थ कर्म (=होम) होवे तो [उसकी सिद्धि के लिये] पौर्णमासी में भी शाखा उत्पाद्य होवे अर्थात् लाई जाये, और यदि यह प्रतिपत्ति कर्म होवे तो शाखा उत्पाद्य न होवे।

विवरण—पुनरुक्तमेतत्—सक्त्वादि विषयक आक्षेप और समाधान मी० भाष्य २।१। १२,१३ में पहले कह चुके हैं। उसकी दृष्टि से यहां पूर्वपक्ष और समाधान पुनरुक्त है। **अर्थ ग्रहणाद्धि बिभ्यतः**—जो व्यक्ति शास्त्र के गम्भीर अर्थ को एक बार कहने से अर्थ के ग्रहण के प्रति भयभीत (=सहमा हुआ) होता है अर्थात् एक बार अर्थ के बोधन में अपने को असमर्थ समझता है उस के प्रति अथवा उस की दृष्टि से एक ही अर्थ को पुनः पुनः कहना सुहृद् आचार्य अच्छा ही मानते हैं, उसे दोषावह नहीं मानते। कहीं कहीं **'बिभ्यतः'** के स्थान में **'बिभ्यन्तः'** पाठ है। इस पाठ में **'बहुमन्यन्ते'** का कर्त्ता **'बिभ्यन्तः**=सहमे हुए व्यक्ति होंगे।

आर्ष अनार्ष-ग्रन्थ—वस्तुतः पुनरुक्त न कहना और उक्त का भी शिष्य हितार्थ बार-बार कहना रूप ग्रन्थ-लेखन की दो शैलियां हैं। प्रायः मानुष व्यक्ति कोई पाण्डित्याभिमानी पुरुष हमारे ग्रन्थ में पुनरुक्त दोष न दिखावे, इस दृष्टि से अपने ग्रन्थों में क्लिष्टतम अर्थ को भी पुनः नहीं कहते। परन्तु सर्वभूत-हित में रत निरभिमानी ऋषि लोग शिष्यों के प्रति करुणा बुद्धि से एक ही अर्थ को बार-बार दोहराने में दोष नहीं मानते। इस लेखनशैली का पातञ्जल महाभाष्य उत्कृष्टतम नमूना है। उस में लम्बे-लम्बे सन्दर्भ अनेक बार लिखे गये हैं। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ऋषिजन शिष्यों के हित की दृष्टि से अर्थ-गौरव से शब्द-गौरव में लाघव मानते हैं। उदाहरण रूप में पाणिनीय व्याकरण और जैनेन्द्र प्रभृति आधुनिक व्याकरणों

---

१. 'अर्थग्रहणाद्धि भवेत् पुनः पुनः' इति पाठान्तरं पूना संस्करणे। क्वचिद् 'अर्थ ग्रहणात्तु बिभ्यन्तः पुनः पुन०' इति पाठः।

[प्रणीतनां संयवनप्रयुक्तताधिकरणम् ॥५॥]

दर्शपूर्णमासयोराम्नायते—अपः प्रणयत्यापो वै श्रद्धा श्रद्धामेवाऽऽलभ्य यजते[1]

को उपस्थित किया जा सकता है। यद्यपि पाणिनि ने स्वशास्त्र में बहुत सी एकाक्षर संज्ञाओं का विधान किया है परन्तु ऐसा करते हुए भी प्राचीन व्याकरण शास्त्र की परम्परा से जो गुण वृद्धि संयोग प्रगृह्य सर्वनाम सर्वनामस्थान सदृश महती संज्ञाएं लोक प्रसिद्ध हो चुकी थीं, उन्हें उन्होंने विना किसी संकोच के स्वशास्त्र में ग्रहण कर लिया। क्यों कि उन संज्ञाओं के लोक-प्रसिद्ध होने से पढ़ने वाले को उन का अर्थ ज्ञात होता है। उस से उन्हें समझने में सौकर्य होता है। परन्तु जैनेन्द्र आदि नवीन व्याकरणों के रचयिताओं ने अपना पाण्डित्य प्रख्यापन के लिये सभी पूर्व वैयाकरणों द्वारा समादृत अनेकाक्षर संज्ञाओं के स्थान में एकाक्षर संज्ञाओं का सन्निवेश किया। इस से ग्रन्थ में कुछ लाघव तो अवश्य हो गया, परन्तु पठनार्थी के लिये वे दुरूह भी हो गये।

कौन से ग्रन्थ पढ़ने चाहिये कौन से नहीं—छात्रों की हित की दृष्टि से किस प्रकार के ग्रन्थों का पठन-पाठन होना चाहिये, इस की मीमांसा आयुर्वेदीय चरक संहिता (विमान स्थान ८।३) में **शास्त्रमेव आदितः परीक्षेत। विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके** (=पहले शास्त्र की परीक्षा करे। लोक में वैद्यों के विविध शास्त्र प्रचलित हैं) लिख कर पठनीय शास्त्र के जिन गुणों का वर्णन किया है, वह संदर्भ अत्यन्त मननीय है। हम यहां विस्तार-भय से पाठ उद्धृत नहीं करते। इसी प्रकार वर्तमान काल में सब से प्रथम परमहंस स्वामी विरजानन्द सरस्वती को आर्षग्रन्थों के पठनीयत्व और अनार्षग्रन्थों के अपठनीयत्व की उपज्ञा हुई। उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि में स्पष्ट लिखा है कि आर्ष ग्रन्थ ही पढ़ने चाहियें, अनार्ष ग्रन्थ नहीं पढ़ने चाहियें। वहां इनके गुण-दोषों का भी विवेचन किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा से लेकर चतुर्वेदाध्ययन पर्यन्त संपूर्ण वैदिक वाङ्मय के ३०-३२ वर्ष में पढ़ने की जो अभूतपूर्व पाठविधि अपने उक्त ग्रन्थों में लिखी है, वह अत्यन्त मननीय एवं वैदिक-मतानुयायियों के लिये समादरणीय है। **अन्यथा द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते** (बारह वर्ष में व्याकरण का अध्ययन होता है) के अनुसार कालक्षेप करने से कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में एक वेद का भी सांगोपाङ्ग अध्ययन नहीं कर सकता ॥१३॥

—:०:—

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास में पढ़ा है**—अपः प्रणयति, आपो वै श्रद्धा, श्रद्धामेवाऽऽलभ्य यजते (=**जलों का प्रणयन करता है, जल श्रद्धारूप हैं, श्रद्धा का ही स्पर्श करके**

१. मै० सं० ४।१।४॥ द्र०—अपः प्रणयति, श्रद्धा वा आपः, श्रद्धामेवारभ्य प्रणीय प्रचरति। तै० ब्रा० ३।२।४॥

इति। उभयत्र च प्रणीतानामुत्पन्नानां व्यापारः श्रूयते—**प्रणीताभिर्हवींषि संयौति,**[1] इति, तथा—**अन्तर्वेदि प्रणीता निनयति**[2] इति। तत्र संदेहः—किमुभयमासां प्रयोजकं संयवनं निनयनं चोत संयवनार्थानां निनयनं प्रतिपत्तिरिति ? किं प्राप्तम् ?

उत्पत्त्यसंयोगात् प्रणीतानामाज्यवद् विभागः स्याद् ॥१४॥ (पू०)

यजन करता है)। और दो स्थानों में प्रणयन कर्म से उत्पन्न हुए प्रणीताओं अर्थात् प्रणीता संज्ञा को प्राप्त हुए जलों का व्यापार सुना जाता है—प्रणीताभिर्हवींषि संयौति (=प्रणीता=जलों से हवियों=पुराडाश के लिये पिसे हुए व्रीहि वा यव के चूर्ण को गूंदता=मिलाता है), तथा अन्तर्वेदि प्रणीता निनयति (=वेदि के मध्य में प्रणीता जलों को गिराता है)। इसमें सन्देह होता है—क्या संयवन (=चूर्ण को गूंदना=मिलाना) और निनयन (=गिराना) दोनों प्रयोजक हैं अथवा संयवन के लिये जो जल, उन का निनयन प्रतिपत्ति कर्म है? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—**अपः प्रणयति**—अध्वर्यु गार्हपत्य के उत्तर में स्व आसन पर बैठकर वारण काष्ठ से निर्मित चतुष्कोण चमस (प्रणीतापात्र) को बायें हाथ में लेकर दाहिने हाथ के जल-पात्र से वामहस्तस्थ चमस में जल डाल कर चमसपात्र को गार्हपत्य के उत्तर में रख कर, **भूतस्त्वा भूत करिष्यामि** मन्त्र से चमसस्थ उदक का स्पर्श करके **ब्रह्मन् ! अपः प्रणेष्यामि** को बोल कर ब्रह्मा से अनुज्ञा मांगता है। तत्पश्चात् ब्रह्मा की अनुज्ञा प्राप्त होने पर **कस्त्वा युनक्ति** मन्त्र से पूर्व दिशा में आहवनीय कुण्ड के उत्तर में ले जाकर दर्भों पर प्रणीता पात्र को रखता है (द्र० दर्शपूर्णमास पद्धति,[3] पृष्ठ ११-१२)। **प्रणीतानामुत्पन्नानाम्**— प्रणीता नाम मुख्यतः **अपः प्रणयन** से प्रणयन किये हुए जलों का है। वे जल जिस चतुष्कोण काष्ठ-पात्र में रखे जाते हैं उसे भी तात्स्थ्य (=उस में स्थित होना) उपाधि से **मञ्चाः क्रोशन्ति**[4] (=मचान =मचानस्थ पुकारते हैं) के समान प्रणीता कहते हैं।

उत्पत्त्यसंयोगात् प्रणीतानामाज्यवद् विभागः स्यात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(उत्पत्त्यसंयोगात्) प्रणीताओं के उत्पत्तिवाक्य में किसी प्रयोजन का संयोग =संबन्ध न होने से (प्रणीतानाम्) प्रणीता संज्ञक जलों का (आज्यवत्) आज्य के समान (विभागः) विभाग (स्यात्) होवे। अर्थात् जैसे **सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामा-**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—प्रणीताभिः संयौति। आप० श्रौत १।२४।३॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—वेद्यां प्रणीता निनयति। कात्या० श्रौत ३।८।६॥

३. रामलाल कपूर ट्रस्ट, हालगढ़ (सोनीपत) से प्रकाशित।

४. मञ्चाः क्रोशन्ति—खेतों पर रखवारे के लिये लकड़ी आदि गाड़ कर ऊंचा बनाया गया स्थान, जहां बैठकर वह खेत को हानि पहुंचाने वाले पक्षियों को ऊंची आवाज से उड़ाया करता है, को मञ्च=मचान कहते हैं। मचान पर बैठा व्यक्ति ऊंचा शब्द करता है परन्तु व्यवहार होता है—मञ्चाः क्रोशन्ति=मचान चिल्लाते हैं। यह मञ्चस्थ=मचानस्थ व्यक्तियों के लिये मञ्च शब्द का प्रयोग तात्स्थ्य उपाधि=लक्षणा से होता है। द्र० न्याय दर्शन १।२।१४॥

उत्पत्तिसंयोगो नासां केनचित् प्रयोजनेन, उभाभ्यामुत्पन्नानां संयोगः । तस्मान्न गम्यते विशेषः । अगम्यमाने विशेषे उभयार्थानां विभागोऽयम् । कश्चिद् विभागः संयवने, कश्चिन्निनयन इति । आज्यवत् । यथा—**सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्**[1] इति ॥१४॥

संयवनार्थानां वा प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् ॥१५॥ (उ०)

संयवनार्थाः प्रणीताः । कुतः ? तृतीयानिर्देशात् । संयवनेऽपां गुणभावः, द्वितीयानिर्देशाच्च निनयने प्राधान्यम् ।

ज्यम् (=सब यागों=आहुतियों के लिये यह आज्य है जो ध्रुवा संज्ञक स्रुच में ग्रहण किया जाता है) के नियम से ध्रुवास्थ आज्य सब यागों के लिये होता है उसी प्रकार प्रणीता=जल का भी विभाग होवे । कुछ जल संयवन कर्म में प्रयुक्त होवे, कुछ निनयन में ।

व्याख्या—इन प्रणीता संज्ञक जलों का उत्पत्ति वाक्य में किसी प्रयोजन के साथ संयोग नहीं है । दोनों (=संयवन और निनयन) के साथ उत्पन्न हुए प्रणीताओं का संयोग है । इस लिये विशेष नहीं जाना जाता है [कि इस कर्म के लिये है, इस के लिये नहीं है] । विशेष का परिज्ञान न होने पर दोनों प्रयोजन वाले प्रणीताओं का यह विभाग है—कुछ भाग संयवन में काम में लिया जाये और कुछ भाग निनयन में । आज्य के समान । जैसे सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद ध्रुवायामाज्यम् **(=यह सब यागों के लिये ग्रहण किया जाता है जो ध्रुवा में आज्य है) ।**

विवरण—उत्पत्तिसंयोगो नासाम्—प्रणीता का उत्पत्ति वाक्य है—अपः प्रणयति । इस में किसी प्रयोजन विशेष का निर्देश नहीं किया है । अर्थात् अपों का प्रणयन किस कर्म के लिये किया जाता है यह इस वाक्य में नहीं कहा है ॥१४॥

संयवनार्थानां वा प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् प्रणीता जल संयवन और निनयन दोनों कर्मों के लिये नहीं हैं । (संयवनार्थानाम्) संयवन के लिये जो प्रणीता हैं । उन से (इतरासाम्) शेष बचे हुए प्रणीता का निनयन (प्रतिपत्तिः) प्रतिपत्ति कर्म है । (तत्-प्रधानत्वात्) उन (=प्रणीता) अपों के प्रधान होने से । अर्थात् अन्तर्वेदि प्रणीता निनयति में प्रणीता के द्वितीया निर्देश से उन की प्रधानता होने से निनयन प्रतिपत्ति कर्म है ।

व्याख्या—प्रणीता संयवन (=चावलों के आटे को मिलाने=गूंदने रूप) कर्म के लिये हैं, [प्रणीताभिर्हवींषि संयौति में] तृतीया के निर्देश से संयवन कर्म में जलों का गुण-भाव है, और [प्रणीता निनयति में] द्वितीया का निर्देश होने से निनयन में प्राधान्य है ।

---

१. तै० ब्रा० ३।३।६॥

चिन्तायां: प्रयोजनं पुरोडाशाभावे प्रणीतानामभावो, यथा पयस्गयाम् ॥१५॥ **निनयनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥५॥**

—:o:—

[मैत्रावरुणाय दण्डदानस्यार्थकर्मत्वाधिकरणम् ॥६॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामत् यज्ञायातिष्ठमाना। सा वनस्पतीन् प्राविशत्। सैषा वाग् वनस्पतिषु वदति। या दुंदुभौ या तूणवे या वीणायाम्। यद्दीक्षिताय दण्डं प्रयच्छति वाचमेवावरुन्धे**[1] इति। तथा **क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति**[2] इति। मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति इत्येतदुदाहरणम्। तत्र संशयः किं दीक्षितधारणे शेषभूतस्य दण्डस्य मैत्रावरुणधारणं प्रतिपत्तिरथवाऽर्थकर्मेति ? किं प्राप्तम् ?

इस विचार का प्रयोजन है—पुरोडाश के अभाव में प्रणीता का अभाव होगा। जैसे पयस्या (=पायस से की जाने वाली इष्टि) में।

विवरण—यथा पयस्यायाम्—सोमयाग में **अदित्यै पयसि चरुः प्रायणीयः** (आप० श्रौत १०।२१।४) से प्रायणीयेष्टि में अदिति देवता के लिये दूध में चरु हवि होती है। अन्य व्याख्याकार **आदित्यः पयसि चरुः प्रायणीयः** वचन पढ़ते हैं। यह हमें उपलब्ध नहीं हुआ। इस में भी अदिति देवताक चरु जानना चाहिये। **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (अष्टा० ४।१।८५) से **साऽस्य देवता** (अष्टा० ४।२।२४) अर्थ में अदिति और आदित्य दोनों से 'ण्य' प्रत्यय हो कर 'आदित्य' समान रूप बनता है ॥१५॥

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामत् यज्ञायातिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत्। सैषा वाग्वनस्पतिषु वदति। या दुन्दुभौ या तूणवे या वीणायाम्। यद्दीक्षिताय दण्डं प्रयच्छति वाचमेवाऽवरुन्धे (यज्ञ के लिए बठती हुई वाक् देवों से भाग गई वह वनस्पतियों में प्रविष्ट हो गई। वह वाक् ही वनस्पतियों में बोलती है जो दुन्दुभि में, जो तूणव में, जो वीणा में। जो दीक्षित को दण्ड देता है वह वाणी को ही अवरुद्ध करता है)। तथा सोम के क्रय कर लेने पर मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति (=मैत्रावरुण ऋत्विक् को दण्ड देता है)। यहां मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति उदारण है। इस में संशय होता है—क्या दीक्षित के धारण में शेषभूत दण्ड का मैत्रावरुण से धारण प्रतिपत्ति कर्म है अथवा अर्थ कर्म (=सप्रयोजन) है ? क्या प्राप्त होता है ?

---

१. अनुपलब्धमूलम्। 'यद्दीक्षीतदण्डं प्रयच्छति' इति पाठभेदेन तै० सं० ६।१।४॥

२. तै० सं० ६।१।४॥

प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् ॥१६॥ (पू०)

मैत्रावरुणाय दण्डदानं प्रतिपत्तिः । कुतः ? दीक्षितधारणे कृतार्थत्वात् । **दण्डेन दीक्षयति**[1] इति शेषभूतस्यान्यत्र व्यापारे प्रतिपत्तिर्न्याय्या । यथा **चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति**[2] इति कण्डूयने शेषभूतायाः प्रासनं प्रतिपत्तिः । एवमत्रापि द्रष्टव्यम् । द्वितीया च दण्डे विभक्तिः । तस्मात् प्राधान्यमिति ॥१६॥

अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात् स्रग्वत् ॥१७॥ (उ०)

अर्थकर्म वा स्यात् । कुतः ? कर्तृसंयोगात् । कर्तृसंयोगो भवति—मैत्रावरुणाय दण्डमिति[3] । तस्मिंश्च दण्डो गुणभूतः, पुरुषः प्रधानभूतः । पुरुषं हि स प्रचरितुं

प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(मैत्रावरुणाय) मैत्रावरुण ऋत्विक् को (दण्डप्रदानम्) दण्ड देना (प्रासनवत्) कृष्णविषाण के चात्वाल में फेंक देने या रख देने के तुल्य प्रतिपत्ति कर्म है (कृतार्थत्वात्) दण्ड के **दण्डेन दीक्षयति** से दीक्षा में उपयुक्त हो जाने से ।

व्याख्या—**मैत्रावरुण को दण्ड दान प्रतिपत्ति कर्म है । किस हेतु से ? दीक्षित के धारण में दण्ड के कृतप्रयोजन होने से ।** दण्डेन दीक्षयति (=**दण्ड से यजमान को दीक्षित करता है) इस में शेषभूत दण्ड का अन्य व्यापार में प्रतिपत्ति न्याय्य है ।** जैसे चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति (**चात्वाल संज्ञक स्थान में कृष्ण मृग के सींग को फेंक या रख देता है) में खुजलाने में शेषभूत कृष्णविषाण का चात्वाल म प्रासन (फेंकना या रखना) प्रतिपत्ति कर्म है । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये । दण्ड में द्वितीया विभक्ति है** [मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति] **इसलिये ['प्रयच्छति' के प्रति उस का] प्राधान्य है ।**

अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात् स्रग्वत् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष 'प्रतिपत्ति कर्म' की निवृत्ति के लिये है । दण्ड प्रदान (अर्थकर्म) प्रयोजन वाला कर्म है (कर्तृसंयोगात्) कर्ता (=मैत्रावरुण) का संयोग होने से । कर्त्ता का संयोग होता है—'मैत्रावरुण को दण्ड' । इसमें दण्ड गुणभूत है और पुरुष प्रधानभूत है । (स्रग्वत्) जैसे **स्रजमुद्गात्रे** ददाति में पुरुष की प्रधानता होती है ।

विशेष—सूत्र में 'कर्तृ' शब्द से पुरुष अभिप्रेत है, ऐसा कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा है ।

व्याख्या—[दण्डप्रदान] **अर्थ कर्म (=पुरुष के लिये) ही होवे । किस हेतु से ? कर्त्ता का संयोग होने से । कर्त्ता (=पुरुष) का संयोग होता है—मैत्रावरुण के लिये दण्ड । इस**

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. तै० सं० ३।१।३॥ आप० श्रौत १३।७।१६॥

३. दण्डमितीत्येतदनन्तरं 'कर्तृदण्डसंयोगो भवति' इत्येवं क्वचित् पाठः ।

समर्थं करोति । कथम् ? यथापूर्वं तमोऽवगाहतेऽप: प्रविशति, गां च सर्पं च वारयति, अवलम्बनं च भवति । अतः पुरुष प्राधान्यान्न प्रतिपत्तिः । स्रग्वच्च द्रष्टव्यम् । यथा स्रजमुद्गात्रे ददाति[1] इत्यसत्यप्युपकारे पुरुषस्य प्रयोजनवत्त्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्च स्रजो भवति पुरुषप्राधान्यम् । एवमिहापि द्रष्टव्यम् । तस्मान्न प्रतिपत्तिरिति ।

अथ यदुक्तम्—द्वितीयाश्रवणाद् दण्डप्राधान्यमिति । उच्यते—तथायुक्तं चानीप्सितम्[2] इति द्वितीया द्रष्टव्या । कुतः ? मैत्रावरुणे चतुर्थीनिर्देशात् । संप्रदाने हि

में दण्ड गुणभूत है, पुरुष प्रधानभूत है । दण्ड पुरुष को कार्य करने में समर्थ करता है । किस प्रकार ? जैसे दण्ड अपूर्व अन्धकार का अवगाहन करता है [अर्थात् अन्धकार में चलने में पुरुष को समर्थ बनाता है], जल में प्रवेश करता है [अर्थात् जल में प्रवेश करते समय दण्ड से जल की गहराई जानी जाती है] गौ वा सर्प को हटाता है और [खड़े रहने में] सहायक बनता है । इससे पुरुष के प्रधान होने से [दण्ड-प्रदान] प्रतिपत्ति कर्म नहीं है । स्रक् (=माला) के समान जानना चाहिये । जैसे स्रजमुद्गात्रे ददाति (=उद्गाता को माला देता है) में उपकार के न होने पर भी पुरुष (=उद्गाता) के प्रयोजनवान् होने से और माला के निष्प्रयोजन होने से पुरुष की प्रधानता होती है । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये । इस लिए दण्डप्रदान प्रतिपत्तिकर्म नहीं है ।

विवरण—भाष्य का तात्पर्य यह है कि लोक में जैसे दण्ड पुरुष का सहायक होता है और वहां पुरुष की प्रधानता होती है, उसी प्रकार मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति में पुरुष की प्रधानता है, दण्ड उस का सहायक है अर्थात् दण्ड-प्रदान निरर्थक नहीं है । वह मैत्रावरुण को खड़े रह कर कार्य करने में समर्थ बनाता है । इस कारण दण्ड-प्रदान प्रतिपत्ति कर्म नहीं है । प्रतिपत्ति कर्म वहां स्वीकार किया जाता है जहां कर्म विशेष में उपयुक्त द्रव्य उस उपयोग के अनन्तर निष्प्रयोजन हो जाता है । जैसे प्रस्तरं प्रहरति में । प्रस्तर का वेदि में आच्छादन जुहू आदि के रखने के लिये किया जाता है, जिस से जुहू से टपका हुआ घृत भूमि पर न गिरे, प्रस्तर में रह जावे । जुहू का जब कार्य पूर्ण हो जाता है तब उस जुहू के नीचे रखे गये प्रस्तर के निष्प्रयोजन हो जाने से घृत-संलग्न प्रस्तर को अग्नि में छोड़ देते हैं ।

व्याख्या—और जो यह कहा है कि [दण्ड में] द्वितीया विभक्ति के श्रवण से दण्ड की प्रधानता है, इस विषय में कहते हैं—यहां (=दण्ड में) तथायुक्तं चानीप्सितम् (अष्टा० १।४।५०) (=ईप्सित=चाहे हुए के समान ही जो अनीप्सित अनचाहा भी क्रिया के साथ युक्त हो, उस की भी कर्म संज्ञा होती है) से [अनीप्सित कर्म में] द्वितीया विभक्ति जाननी चाहिये । किस हेतु से ? मैत्रावरुण में चतुर्थी का निर्देश होने से । सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है । और सम्प्रदान (=जिसे कोई वस्तु दी जाती है वह) कर्म के द्वारा अभिप्रेत है

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. अष्टा० १।४।५०॥

चतुर्थी[1] भवति। संप्रदानं च कर्मणाऽभिप्रेयते[2]। तत्र दण्डादभिप्रेततरो मैत्रावरुण इति गम्यते ।।१७।।

कर्मयुक्ते च दर्शनात् ।।१८।।

(अर्थात् कर्म के द्वारा उस का प्रयोजन सिद्ध किया जाता है)। इस से मैत्रावरुण दण्ड से अधिक अभिप्रेत (=ईप्सित) है=चाहने योग्य है, ऐसा जाना जाता है।

विवरण—मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति में भाष्यकार ने दण्ड को अनीप्सितकर्म माना है। यहां यह विचारणीय है कि **उपाध्यायाय गां ददाति** और **अचिकित्स्याय देवदत्ताय विषं ददाति** दोनों में **गाम्** और **विषम्** की कर्म संज्ञा **तथायुक्तं चानीप्सितम्** (अष्टा० १।४।५०) से होती है अथवा **गाम्** में **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** (अष्टा० १।४।४९) से तथा **विषम्** की **तथायुक्तं चानीप्सितम्** से। इसी प्रकार यह भी विचारणीय है कि जिस कर्म से संप्रदान संज्ञक के प्रयोजन की सिद्धि होती है वह सम्प्रदान को ईप्सित है वा अनीप्सित। वैयाकरणों के मतानुसार **उपाध्यायाय गां ददाति** में दाता की गौ अभीप्सित है उस के द्वारा वह उपाध्याय के प्रयोजन को सिद्ध करता है दूसरे शब्दों में उसे तृप्त करता है। अतः वह सम्प्रदान का भी ईप्सित ही होता है। **अचिकित्स्याय देवदत्ताय विषं ददाति**—ऐसे रोगी, जिस के स्वस्थ होने की आशा नहीं है और वह अतिशय पीड़ा से छटपटा रहा है, को चिकित्सक विष देकर उसे पीड़ा से छुड़ाता है तो यहां विष न तो दाता को ईप्सित है और न रोगी को। तो क्या **मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति** में दण्ड न प्रदाता को ईप्सित है और न मैत्रावरुण को अथवा दोनों को ईप्सित है ? हमारे विचार में भाष्यकार ने 'द्वितीया विभक्त्यन्त प्रधान होता है' इसके प्रतिवाद के लिये **तथायुक्तं चानीप्सितम्** तक दौड़ लगाई है। वस्तुतः ईप्सित कर्म में प्रधानता होने पर भी जहां उस के द्वारा किसी व्यक्ति का प्रयोजन सिद्ध किया जाता है वहां वह व्यक्ति प्रधान होता है, साधन होने से कर्म उस की अपेक्षा अप्रधान होता है। इस प्रकार **तथायुक्तं चानीप्सितम्** से कर्म संज्ञा मानने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। देने वाले के लिये ईप्सित= प्रधान होने पर भी जिसे वह वस्तु दी जाती है, की दृष्टि से वह ईप्सित कर्म भी अप्रधान ही होता है। अतः यहां **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** से भी कर्म संज्ञा मानने में कोई दोष नहीं है।

कर्मयुक्ते च दर्शनात् ।।१८।।

सूत्रार्थः—(कर्मयुक्ते) कर्म से युक्त पुरुष में दण्ड के (दर्शनात्) दर्शन से (च) भी। अर्थात् **दण्डी प्रैषानन्वाह** इस वचन में प्रैष के अनुवचन के समय मैत्रावरुण में दण्ड धारण देखा जाता है। इस से दण्ड-प्रदान प्रतिपत्ति कर्म नहीं है। यदि प्रतिपत्ति कर्म हो तो मैत्रावरुण दण्ड को ग्रहण करके उसे अन्यत्र रख देगा। उस अवस्था में उसके लिये 'दण्डी' यह प्रयोग उपपन्न नहीं होगा।

---

१. चतुर्थी सम्प्रदाने। अष्टा० २।३।१३।।

२. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्। अष्टा० १।४।३२।।

दण्डी प्रैषानन्वाह[1] इत्यनूद्यते। तेन प्रचरतो दण्डं प्रदर्शयति। तदर्थकर्मणि सत्युपपद्यते। प्रतिपत्तौ तु दण्डो मैत्रावरुणाय दत्तस्ततोऽपवृज्येत। कृतं च कर्तव्यमिति[2] न तेन प्रयोजनमिति न धार्यते। तत्रैतद् दर्शनं नोपपद्यते। तथा **अहिस्त्वां दशतीति मैत्रावरुणं ब्रूयात्**[3] अहिरिव ह्येष द्रष्टव्य इति। तथा **मुशल्यन्वाह**[4] इति। मुशलशब्दश्च दण्डे प्रसिद्धः। यथा कथं नु खलु मुशलिनो माणवका गङ्गां नावतरेयुरिति[5]। तस्मादप्यर्थकर्म ॥१८॥

यदुक्तम्—यथा कृष्णविषाणाप्रासनमिति[6]। तत्रोच्यते—

व्याख्या—दण्डी प्रैषान् अन्वाह—(दण्डी=दण्ड धारण किया हुआ मैत्रावरुण प्रैष देता है) यह अनुकथन किया जाता है। यह कार्य करते हुए [मैत्रावरुण] के दण्ड (=दण्ड धारण करने) को दिखाता है। वह दण्ड अर्थकर्म होने पर उपपन्न होता है। प्रतिपत्तिकर्म होने पर मैत्रावरुण को दिया गया दण्ड उस से पृथक् हो जावे अर्थात् वह दण्ड को ग्रहण करके अन्यत्र रख देवे। कर्तव्य (=किया जानेवाला दीक्षा कर्म) [दण्ड से] कर लिया, इससे उस दण्ड से [अब] कोई प्रयोजन नहीं, इस से [वह दण्ड मैत्रावरुण के द्वारा] धारण न किया जाये। उस अवस्था में यह (=दण्डी प्रैषान् अन्वाह) दर्शन उपपन्न न होवे। तथा—अहिस्त्वां दशति (=सर्प तुझे काटता है) ऐसा मैत्रावरुण को कहे। इसे (=दण्ड को) अहि के समान जानना चाहिये। तथा मुशल्यन्वाह (=मूसलधारण करनेवाला प्रैष देता है)। मूसल शब्द दण्ड में प्रसिद्ध है। जैसे [लोक में कहा जाता है] मुशली (=दण्ड धारण किये माणवक) कैसे गंगा को पार नहीं करेंगे? अर्थात् करेंगे ही। इसलिए भी यह दण्डप्रदान अर्थकर्म है।

विवरण—दण्डी प्रैषानन्वाह···दर्शयति अरुणाधिकरण (मी० ३।१। अधि० ६। सू० १२) के भाष्य में भाष्यकार ने दण्डी प्रैषानन्वाह (भाग २, पृष्ठ ६५६ में) उदाहरण में दण्डगुण के विधान के लिये दण्डी का उच्चारण किया है। अर्थात् दण्ड विधान पुरुष को विशेषित करने के लिये उपसर्जनार्थ=गौण है। इस का समाधान भट्ट कुमारिल ने इस प्रकार किया है—प्रकरण से दण्ड-प्रदान मैत्रावरुण के सभी कर्मों में उपदिष्ट होता है। उस का प्रैषानुवचन में निर्देश किया है। इस से दण्ड का अनुवाद भी उपपन्न होता है और नियम विधान के लिये उपसर्जनार्थ विधान भी। इसलिये कोई दोष नहीं है ॥१८॥

व्याख्या—यह जो कहा—जैसे कृष्ण मृग के सींग का [चात्वाल में] फैंकना [प्रतिपत्तिकर्म] है। इस विषय में कहते हैं—

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. 'तत्कर्म कर्तव्यं च कृतमिति' पूनासंस्करणे पाठः।
३. अनुपलब्धमूलम्। ४. अनुपलब्धमूलम्।
५. क्व नु खलु······गङ्गामवतरेयुः, इति काशी मुद्रिते पाठः।
६. द्र०—चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति। तै० सं० ६।१।३॥

उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तच्छ्रुतिहेतुत्वात्तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात्प्रतिपत्तिः स्यात् ॥१९॥ (उ०)

युक्तं तत्रोत्पद्यमानं यद्येन प्रयोजनेन संबद्धमुत्पद्यते, तत्तदर्थमेव न्याय्यम्। तस्यान्यत्र गमने प्रतिपत्तिरित्येतदुपपद्यते, यदि न दृष्टं प्रयोजनं भवति। इह तु दृष्टं प्रयोजनं मैत्रावरुणस्य धारणम्। तस्माद् विषममेतत् ॥ **इति दण्डदानस्यार्थकर्मताधिकरणम् ॥६॥**

—:o:—

[कृष्णविषाणाप्रासनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥७॥]

अथवा—अधिकरणान्तरम्। विषाणायाः कण्डूयनं प्रासनं चोभयमपि प्रयोजकमिति पूर्वः पक्षः। **एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्याद्**[1] इति।

उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तच्छ्रुतिहेतुत्वात् तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(उत्पत्तौ) उत्पत्ति विधायक वचन में (येन) जिस कर्म से वह (संयुक्तम्) संयुक्त=जुड़ा हुआ कहा है (तत्) वह द्रव्य (तदर्थम्) उसी कर्म के लिये है। (श्रुतिहेतुत्वात्) श्रुतिरूप कारण से। (तस्य) उस द्रव्य का (अर्थान्तरगमने) प्रयोजनान्तर की प्राप्ति में [यदि दृष्ट प्रयोजन न होवे तो] (शेषत्वात्) शेष होने से (प्रतिपत्तिः) प्रतिपत्ति (स्यात्) होवे।

व्याख्या—वहां (=कृष्णविषाण के विषय में) [प्रतिपत्तिकर्म] युक्त है। **उत्पद्यमान द्रव्य जिस प्रयोजन से संबद्ध उत्पन्न होता है वह उसी के लिये ही न्याय्य है। उसके अन्यत्र गमन में 'प्रतिपत्ति' यह उपपन्न होता है, यदि [उसका अर्थान्तरगमन में] कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं होता है। यहां तो [दण्डप्रदान का] प्रयोजन दृष्ट है—मैत्रावरुण का दण्ड धारण करना। इस हेतु से यह दृष्टान्त विषम है।**

विवरण—कृष्णविषाणया कण्डूयते (तै० सं० ६।१।३) वचन से कृष्णविषाण का 'खुजलाना' रूप कर्म के साथ विधान किया है। अतः कण्डूयन कर्म से अन्यत्र कृष्णविषाण के चात्वाल में प्रासनरूप कर्म की प्राप्ति में कृष्णविषाण का चात्वाल में प्रासन प्रतिपत्तिकर्म है। क्योंकि कृष्णविषाण के चात्वाल में प्रासन का अन्य कोई दृष्ट प्रयोजन भी नहीं है ॥१९॥

—:o:—

व्याख्या—**अथवा अधिकरणान्तर है। कृष्णविषाण के खुजलाना और प्रासन दोनों ही प्रयोजक हैं। यह पूर्व पक्ष है। एक [कृष्णविषाण] से दोनों [खुजलाना और फेंकना] कर्मों की निष्पत्ति होने से दोनों समान रूप से प्रयोजक हैं।**

---

१. मी० ४।१।२२॥

उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तच्छ्रुतिहेतुत्वात् तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ॥१९॥ (उ०)

उत्तरः पक्षः—कण्डूयने तृतीयानिर्देशाद्[1] विषाणाया गुणभावः। प्रासने च द्वितीयानिर्देशादन्यत्र च कृतार्थत्वात्प्राधान्यमिति ॥१९॥ **इति कृष्णविषाणाप्रासनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥७॥**

—:o:—

[अवभृथगमनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥८॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमेऽवभृथः—**वारुणेनैककपालेनावभृथमभ्यवयन्ति**[2] इति। तत्रा-

---

विवरण—कृष्णविषाणायाः कण्डूयनं प्रासनं च—ज्योतिष्टोम में **कृष्णविषाणया कण्डूयति** (=खुजली होने पर यजमान कृष्ण मृग के सींग से खुजलाता है) ऐसा विधान करके कहा है—**नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति** (=दक्षिणा देने के पश्चात् कृष्ण मृग के सींग को चात्वाल में फेंक देता है)। अतः ये कण्डूयन और प्रासन दोनों कृष्णविषाण के प्रयोजक हैं।

उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तच्छ्रुतिहेतुत्वात् तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(उत्पत्तौ) उत्पत्ति=विधि में जो द्रव्य (येन संयुक्तम्) जिस कर्म से संयुक्त सुना गया है (तत्) वह द्रव्य (तदर्थम्) उस कर्म के लिये ही है। किस हेतु से? (श्रुतिहेतुत्वात्) श्रुति के कारण अर्थात् उस कर्म के श्रुतिमूलक होने से। (तस्य) उस अन्य प्रयोजन के लिये उत्पन्न कृतप्रयोजन द्रव्य के (अर्थान्तरगमने) कार्यान्तर की प्राप्ति में कार्यान्तर (प्रतिपत्तिः) प्रतिपत्तिकर्म (स्यात्) होवे। किस हेतु से? (शेषत्वात्) शेष होने से=**कृष्णविषाणां प्रास्यति** में द्वितीया विभक्ति के श्रवण से प्रासन के कृष्णविषाण के लिये होने से।

व्याख्या—उत्तर पक्ष—[कृष्णविषाणया कण्डूयते वचन में] कण्डूयन कर्म के प्रति [कृष्णविषाण से] तृतीया का निर्देश होने से विषाण का गुणभाव है और [चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति वचन में] प्रासन कर्म के प्रति द्वितीया का निर्देश होने से तथा अन्यत्र (=कण्डूयन कर्म में उस के) कृतकार्य होने से प्राधान्य है। [अतः कृष्णविषाण का प्रयोजक कण्डूयन है, प्रासन के प्रतिपत्तिकर्म होने से वह कृष्णविषाण का प्रयोजक नहीं है।]॥१९॥

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में अवभृथ कर्म है—वारुणेनैककपालेनावभृथमभ्यवयन्ति

---

१. द्र०—कृष्णविषाणया कण्डूयते। तै० सं० ६।१।३॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—अथैष वारुणो निर्वरुणत्वायैककपालो भवति॥ काठक २९।३॥ एककपाला भवन्ति। मै० सं० ४।८।५॥

ऽऽम्नायते—**वरुणगृहीतं वा एतद् यज्ञस्य यदृजीषं यद् ग्रावणो यदौदुम्बरी, यदभिषवणफलके, तस्माद् यत् किंचित् सोमलिप्तं द्रव्यं तेनावभृथं यन्ति**[1] इति । तत्र संशयः—किं सोमलिप्तानां द्रव्याणामवभृथगमनं प्रतिपत्तिरथवाऽर्थकर्मेति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

सौमिके च कृतार्थत्वात् ॥२०॥ (उ०)

प्रतिपत्तिरिति । कुतः ? कृतार्थत्वात् । कृतार्थन्येतानि द्रव्याणि तत्र तत्र, तेषामवभृथगमनं प्रतिपत्तिर्न्याय्या ॥२०॥

अर्थकर्म वाऽभिधानसंयोगात् ॥२१॥ (पू०)

(=वरुणदेवतावाले एककपाल से अवभृथ को प्राप्त होते हैं) । वहां सुना जाता है—**वरुणगृहीतं वा एतद् यज्ञस्य यद् ऋजीषं यद् ग्रावाणो यदौदुम्बरी यदधिषवणफलके, तस्माद् यत् किञ्चित् सोमलिप्तं द्रव्यं तेनावभृथं यन्ति** (=यह जो यज्ञ का है वह वरुण देवता से गृहीत है । जो सोम का फोक, जो सोम कूटने के पाषाण, जो उदुम्बर की शाखा, जो दो अधिषवण फलक, और जो कुछ सोम से लिप्त द्रव्य है उस के साथ अवभृथ को प्राप्त होते हैं) । इस में संशय है—क्या सोम से लिप्त द्रव्यों का अवभृथ के प्रति प्राप्त कराना प्रतिपत्तिकर्म ह अथवा अर्थकर्म है ? क्या प्राप्त होता है ?

सौमिके च कृतार्थत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(सौमिके) सोम सम्बन्धी अवभृथ में (च) भी सोमलिप्त द्रव्यों का अवभृथ के प्रति नयन प्रतिपत्तिकर्म जानना चाहिये (कृतार्थत्वात्)सोमलिप्त द्रव्यों के कृत प्रयोजन होने से ।

विशेष—कुतुहलवृत्ति में **सोमिके** पाठ है ।

व्याख्या—[सोमलिप्त द्रव्यों का अवभृथ के प्रति प्राप्ति] प्रतिपत्तिकर्म है । किस हेतु से ? कृतार्थ होने से । ये [सोमलिप्त] द्रव्य उस उस कर्म में कृतार्थ (=कृत प्रयोजन) हैं, उन का अवभृथ के प्रति प्राप्त कराना प्रतिपत्ति ही न्याय्य है ॥२०॥

अर्थकर्म वाऽभिधानसंयोगात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व निर्दिष्ट प्रतिपत्ति पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है—सोमलिप्त द्रव्यों की अवभृथ प्राप्ति प्रतिपत्तिकर्म नहीं है (अर्थकर्म) प्रयोजनवान् कर्म है (अभिधान संयोगात्) अङ्गत्व बोधक तृतीया विभक्ति से संयुक्त होने से । अर्थात् **'तेनावभृथं यन्ति'** में तृतीया का निर्देश होने से । उनके अवभृथेष्टि में अङ्गरूप से=हवि रूप से संयुक्त होने से ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यद्वै यज्ञस्यातिरिच्यते वरुणस्तद् गृह्णाति । यज्ञस्यैतदतिरिच्यते यदृजीषं यदौदुम्बरी यदधिषवणे तेनापोऽवभृथं यन्ति ॥ काठक २९।३॥ द्र०—मै० सं० ४।८।५॥

अर्थकर्म वा, अभिधानेन संयोगात् । **तेनावभृथं यन्तीति** । तेन, अवभृथसंज्ञकं निष्पादयन्तीति । तृतीया तेनेति, द्वितीयाऽवभृथमिति । तस्मात् सोमलिप्तं गुणभूतमवभृथः प्रधानभूत इति ॥२१॥

प्रतिपत्तिर्वा तन्न्यायत्वाद् देशार्थाऽवभृथश्रुतिः ॥२२॥ (उ०)

प्रतिपत्तिर्वा । कुतः ? तन्न्यायत्वादेव । एष हि न्यायः—यदन्यत्र कृतार्थमन्यत्र प्रतिपाद्यते । तदिह यदि सोमलिप्तं द्रव्यमवभृथे करणं विधीयते ततोऽर्थकर्म, अथ सोमलिप्तेन यानं विधीयते ततः प्रतिपत्तिः । न ह्यत्र सोमलिप्तं विधीयतेऽवभृथे । तथा सत्यवभृथसोमलिप्तसंबन्धोऽभ्यवयन्तीत्यनेनाऽऽख्यातेन विधीयेत । तत्र वाक्येन विधानं

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने सूत्रार्थ इस प्रकार किया है—सोमलिप्त द्रव्य का अर्थरूप प्रयोजन रूप ही अवभृथ कर्म है । अर्थात् सोमलिप्त द्रव्य अवभृथेष्टि में हविरूप से कहे गये हैं । किस हेतु से ? अभिधान नाम मुख्य शब्दवृत्ति, उस से संयोग होने से । अर्थात् अवभृथ शब्द इष्टि विशेष में मुख्य है । 'तेन' यह तृतीया साधन में मुख्य है ।

व्याख्या—**अर्थकर्म ही है अभिधान से संयोग होने से—तेनावभृथं यन्ति अर्थात् उस सोमलिप्त द्रव्य से अवभृथ संज्ञक कर्म को निष्पन्न करता है । 'तेन' यह तृतीया है और 'अवभृथम्' यह द्वितीया है । इस हेतु से सोमलिप्त द्रव्य गुणभूत हैं और अवभृथ कर्म प्रधान भूत है ॥२१॥**

प्रतिपत्तिर्वा तन्न्यायत्वाद् देशार्थाऽवभृथश्रुतिः ॥२२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वनिर्दिष्ट अर्थकर्म की निवृत्त्यर्थ है । अर्थात् सोमलिप्त द्रव्यों का अवभृथ के प्रति नयन अर्थकर्म नहीं है । (प्रतिपत्तिः) प्रतिपत्तिकर्म है (तन्न्यायत्वात्) उस पूर्व उक्त 'कृतप्रयोजन द्रव्य की अर्थान्तर प्राप्ति प्रतिपत्ति होती है' न्याय से । (अवभृथ श्रुतिः) वाक्य में अवभृथ का श्रवण (देशार्था) देश को लक्षित करने के लिये है ।

विशेष—'तत् न्यायत्वात्' से पूर्व १९ वें सूत्र में उक्त **तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः** न्याय का निर्देश किया है । कुतुहलवृत्तिकार ने **तन्न्याय्यत्वात्** पाठ मान कर 'सोमलिप्त द्रव्यों का प्रतिपत्तित्व ही न्याय्य है' अर्थ किया है ।

व्याख्या—**प्रतिपत्ति ही है । किस हेतु से ? उस न्याय से । यही न्याय है कि अन्यत्र कृतप्रयोजन द्रव्य का अन्यत्र प्रतिपादन किया जाये । यदि यहां सोमलिप्त द्रव्य अवभृथ में करण रूप से विहित होता है तब तो अर्थकर्म होगा । और यदि सोमलिप्त द्रव्य से गमन का विधान किया जाता है [सोमलिप्त द्रव्यों के साथ अवभृथ को जावे] तब प्रतिपत्तिकर्म होगा । यहां सोमलिप्त द्रव्य का अवभृथ में विधान नही किया जाता है । ऐसा होने पर अवभृथ और सोमलिप्त का संबन्ध 'अभ्यवयन्ति' आख्यात से विधान किया जाता है । उस अवस्था में**

स्यान्न तु श्रुत्या। याने पुनर्विधीयमाने श्रुत्या विधानम्। तत्परिगृहीतं भवति। श्रुतिश्च वाक्याद् वलीयसी। तस्मात् प्रतिपत्तिः। अथ यदुक्तम्—अर्थकर्माभिधानेन संयोगादिति। तत्र ब्रूमः—एवं सति देशार्थोऽवभृथश्रुतिः। अवभृथं यन्तीत्यवभृथेन देशं लक्षयति। यस्मिन् देशेऽवभृथस्तं देशं यन्तीति। तस्मात् प्रतिपत्तिरिति ॥२२॥

इत्यवभृथगमनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥८॥

—:०:—

[कर्तृदेशकालविधीनां नियमविधानार्थताधिकरणम् ॥९॥]

इदं श्रूयते—**पशुबन्धस्य यज्ञक्रतोः षड् ऋत्विजः, दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः, चातुर्मास्यानां यज्ञक्रतूनां पञ्च ऋत्विजः, अग्निहोत्रस्य यज्ञक्रतोरेक ऋत्विक्**[1], **सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः**[2]। तथा **समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत**[3], **प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत**[4], **पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्याया-**

वाक्य (=तेनावभृथं यन्ति) से [अवभृथ में सोमलिप्त का] विधान होगा, श्रुति से विधान नहीं होगा। 'गमन' के विधान में श्रुति से विधान होता है। वह (=श्रुति) परिगृहीत होती है। और श्रुति वाक्य से बलवती होती है। इसलिये यह प्रतिपत्तिकर्म है। और जो यह कहा है—अर्थकर्म है अभिधान से संयोग होने से। इस विषय में कहते हैं। इस प्रकार (=अभिधान के साथ संयोग होने से) अवभृथ का श्रवण देश के निर्देश के लिये है। अवभृथं यन्ति यहां अवभृथ शब्द से देश को लक्षित किया जाता है—जिस देश में अवभृथ करना है उस देश को प्राप्त होते हैं। इसलिये यह प्रतिपत्तिकर्म है ॥२२॥

—:०:—

व्याख्या—यह सुना जाता है—पशुवन्धस्य यज्ञक्रतोः षड् ऋत्विजः (=पशुबन्ध याग के छ ऋत्विक् होते हैं), दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः (=दर्शपूर्णमास याग के चार ऋत्विक् होते हैं), चातुर्मास्यानां यज्ञक्रतूनां पञ्च ऋत्विजः (=चातुर्मास्य यागों के पांच ऋत्विक् होते हैं), अग्निहोत्रस्य यज्ञक्रतोरेक ऋत्विक् (=अग्निहोत्र याग का एक ऋत्विक् होता है), सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः (सोम याग के सत्रह ऋत्विक् होते हैं)। तथा—समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत (=दर्शपूर्णमासों से सम भूमि पर यजन करे), प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत (=वैश्वदेव से पूर्व की ओर निम्न भूमि पर यजन करे), पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत (=पूर्णिमा में पौर्णमासी से यजन करे), अमावास्यायाममावास्यया यजेत (=अमावास्या में अमावास्या से यजन करे)।

---

१. एतानिवाक्यानि पौर्वापरभेदेन तै० ब्रा० २।३।६ स्थान उपलभ्यन्ते।
२. अनुपलब्धमूलम्। ३. अनुपलब्धमूलम्। ४. आप० श्रौत० ८।१।५॥

मभावास्यया यजेत[1], इति। तत्र संदेह—किं कर्तृदेशकाला विधीयन्त उतानूद्यन्त इति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

कर्तृदेशकालानामचोदन प्रयोगे नित्यसमवायात् ॥२३॥ (पू०)

कर्तृदेशकालानामचोदनम्, अनुवाद । कुतः ? प्रयोगे नित्यसमवायात् । प्रयोगे नित्यसमवेता एत इति । न ऋते कर्तृदेशकालेभ्यः प्रयोगः सिध्यति । तेन प्रयोगचोदन-

---

इन में सन्देह होता है—क्या कर्ता देश और कालों का विधान किया जाता है अथवा अनुवाद (=अन्यतः प्राप्त का अनुकथन) किया जाता है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—**पशुबन्धस्य यज्ञक्रतोः**—पाणिनीय अष्टाध्यायी में एक सूत्र है—**क्रतुयज्ञेभ्यश्च** (अष्टा० ४।३।६६)। इस सूत्र में यज्ञ और क्रतु दो शब्दों के ग्रहण में महाभाष्यकार प्रभृति सभी वैयाकरणों ने लिखा है कि 'क्रतु शब्द सोम-साध्य अग्निष्टोमादि में रूढ है। अत: यज्ञ ग्रहण से असोमयागों में भी व्याख्यान अर्थ में ठक् प्रत्यय हो जावे'। मीमांसाभाष्यकार ने ऊपर जितने उदाहरण दिये हैं, उन से स्पष्ट है कि 'यज्ञक्रतु' यह एक शब्द है और सभी प्रकार के यज्ञों के लिये प्रयुक्त होता है। यज्ञक्रतु शब्द अन्तोदात्त है। क्रतु शब्द का अर्थ कर्म है (निघण्टु २।१)। यहां **यज्ञश्चासौ क्रतुश्च** कर्मधारय समास है। **समासस्य** (अष्टा० ६।१।२२३) से अन्तोदात्त होता है। सायणाचार्य ने तै० सं० ३।१।७३ में यज्ञक्रतु शब्द के अर्थ में लिखा है—**देवतामुद्दिश्य हविस्त्यागमात्र यज्ञ इत्युच्यते। अङ्गोपाङ्ग सहितः सम्पूर्णः क्रतुः। यज्ञश्चासौ क्रतुश्च यज्ञक्रतुः। हविस्त्यागसामान्यस्य विद्यमानत्वात् यज्ञोऽपि भवति, अङ्गोपाङ्गविशेषसद्भावात् क्रतुरपि भवति।** अर्थात्—देवता को उद्देश्य करके हवि का त्यागमात्र यज्ञ कहाता है। अङ्ग उपाङ्ग सहित सम्पूर्ण कर्म क्रतु कहाता है। जो यज्ञ भी है और वह क्रतु भी—वह यज्ञक्रतु। हवित्याग सामान्य के विद्यमान होने से यज्ञ भी होता है और अङ्गोपाङ्ग विशेष के सद्भाव से क्रतु भी होता है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि पाणिनीय सूत्र **क्रतुयज्ञेभ्यश्च** (४।३।६६) की जो व्याख्या महाभाष्यकार पतञ्जलि प्रभृति वैयाकरणों ने की है वह प्रौढिवाद मात्र है अर्थात् दोनों शब्दों के प्रयोग के प्रयोजन को यथा कथंचित् दर्शानामात्र है।

कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(कर्तृदेशकालानाम्) कर्त्ता देश और काल का (अचोदनम्) चोदना=विधि =विधान नहीं है, अनुवाद है। (प्रयोगे) प्रयोग=कर्म में कर्ता देश और काल के (नित्य-समवायात्) नित्य समवेत्=संबद्ध होने से।

व्याख्या—**कर्त्ता देश और काल का विधान नहीं है, अनुवाद है। किस हेतु से ? प्रयोग में नित्य सम्बद्ध होने से। प्रयोग में [कर्त्ता देश और काल] नित्य संबद्ध हैं। कर्त्ता देश और काल के विना कोई प्रयोग सिद्ध नहीं होता है। इस से प्रयोगविधि से ही प्राप्त**

---

१. आप० परि० कण्डिका २; आप० श्रौत० २४।२।१९,२०॥

यैव प्राप्तानामनुवादः । ननु विषमादिप्रतिषेधार्थमेतद् वचनं भविष्यति । नेति ब्रूमः । उपदेशकमेवंजातीयकं वचनं, न प्रतिषेधकम् । तस्मादनुवाद इति ॥२३॥

नियमार्था वा श्रुति ॥२४॥ (उ०)

उच्यते, न चैतदस्त्यनुवाद इति । अनुवादमात्रमनर्थकम् । यदि विधिः, एवमपूर्वमर्थं प्रकरिष्यति । तस्माद् विधिरिति । ननु प्रयोगाङ्गत्वात् प्राप्ता एवेति । उच्यते । नियमार्था श्रुतिर्भविष्यति । कोऽयं नियमः ? अनियतस्य नियतता । प्रयोगाङ्गतया सर्वे देशाः प्राप्नुवन्ति, न तु समुच्चयेन । यदा समो न तदा विषमः । यदा विषमो न तदा समः । स एष समः प्राप्तश्चाप्राप्तश्च । यदा न प्राप्तः, स पक्षो विधिं प्रयोजयति । अतो विषमचिकीर्षायामपि समो विधीयते । तस्माद् विषमस्याप्राप्तिर्विधौ सति भवतीति समो विधीयते । एवमितरेष्वपि । तस्माद् विधिरिति ॥२४॥

इति कर्तृदेशकालविधीनां नियमार्थताधिकरणम् ॥६॥

—:०:—

(=आक्षिप्त) [कर्त्ता देश और काल] का अनुवाद है। (आक्षेप) विषम देश आदि के प्रतिषेध के लिये यह वचन होगा। (समाधान) नहीं है, ऐसा हम कहते हैं। उपदेशक है इस प्रकार का वचन, प्रतिषेधक नहीं है। इस से [कर्त्ता देश और काल का निर्देश] अनुवाद है।

विवरण—न प्रतिषेधकम्—प्रतिषेध वचन (विषमे न यजेत) के न होने से तथा इतर विषमादि की निवृति के लिये भी एवकार [सम एव यजेत] का प्रयोग न होने से ॥२३॥

नियमार्था वा श्रुतिः ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् कर्त्ता देश काल का संकीर्तन अनुवाद नहीं है।(नियमार्था) नियम के लिये (श्रुतिः) कर्ता देश और काल की श्रुति है।

व्याख्या—यह अनुवाद नहीं है ऐसा कहते हैं। अनुवादमात्र अनर्थक होवे। यदि विधि होवे तो इस प्रकार अपूर्व अर्थ को प्रकाशित करेगा। इस लिये विधि है। (आक्षेप) [कर्त्ता देश और काल तो] प्रयोग के अङ्ग होने से ही प्राप्त हैं। (समाधान) नियम के लिये श्रुति होगी। यह क्या नियम है ? अनियत की नियतता। प्रयोग के अङ्गत्व से सब देश प्राप्त होते हैं, परन्तु समुच्चय से प्राप्त नहीं होते। जब सम प्राप्त होता है तब विषम प्राप्त नहीं होता और जब विषम प्राप्त होता है तब सम प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार यह सम प्रदेश प्राप्त भी है और अप्राप्त भी। जब प्राप्त नहीं वह पक्ष विधि को प्रयोजित करता है। इस से विषम की इच्छा होने पर भी सम का विधान किया जाता है। इसलिये विषम की अप्राप्ति विधि के होने पर होती है, इस से सम का विधान किया जाता है। इसी प्रकार अन्यों में भी जानना चाहिये। इस से यह विधि है ॥२४॥

—:०:—

(द्रव्येषु गुणश्रुतेर्नियमविधानार्थताधिकरणम् ॥१०॥)

तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् ॥२५॥ (उ०)

अधिकरणातिदेशोऽयम् ।

इदमामनन्ति—**वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः**[1] । तथा **सोमारौद्रं घृते चरुं निर्वपेच्छुक्लानां व्रीहीणां ब्रह्मवर्चसकामः**[2], तथा **नैर्ऋतं चरुं निर्वपेत् कृष्णानां व्रीहीणाम्**[3] इति । तत्र संदेहः—किं श्वेतादिवर्णो विधीयत उतानूद्यत इति ? किं प्राप्तम् ? अनूद्यते । द्रव्यश्रुतिगृहीतत्वात् ।

तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(तथा) उसी प्रकार (द्रव्येषु गुणश्रुतिः) द्रव्यों में गुणों का श्रवण नियमार्थ है । (उत्पत्ति संयोगात्) क्रिया के उत्पादक द्रव्य के साथ संयोग होने से ।

विशेष—'उत्पत्तिसंयोगात्' में 'उत्पाद्यते कर्म अनेन' इस अर्थ में करण में क्तिन् प्रत्यय बाहुलक नियम से होता है । बाहुलक के विषय में वैयाकरण कहते हैं—

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

अर्थात्—विधि के विधान की बहुधा समीक्षा करके चार प्रकार का बाहुलक कार्य कहते हैं—कहीं विधि की प्रवृत्ति, कहीं विधि की अप्रवृत्ति, कहीं विधि का विकल्प से होना और कहीं जो कहा है उस से अन्य होना । इस प्रकार भाव में कहा गया क्तिन् प्रत्यय यहां करण में हुआ है ।

व्याख्या—[पूर्व] अधिकरण का यह अतिदेश है ।

यह पढ़ते हैं—वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः (=भूति=ऐश्वर्य की कामनावाला वायुदेवतावाले श्वेत पशु का आलभन करे) । तथा—सोमारौद्रं घृते चरुं निर्वपेच्छुक्लानां व्रीहीणां ब्रह्मवर्चस्कामः (=ब्रह्मवर्चस् की कामना वाला सोम और रुद्र देवता वाले श्वेत व्रीहियों के चरु का घृत में निर्वाप करे), तथा—नैर्ऋतं चरुं निर्वपेत् कृष्णानां व्रीहीणाम् (निर्ऋति देवता वाले काले व्रीहियों के चरु का निर्वाप करे) । इस में सन्देह होता है—क्या श्वेतादि वर्ण का विधान है अथवा अनुवाद है । क्या प्राप्त होता है ? अनुवाद किया जाता है द्रव्य श्रुति से गृहीत होने से ।

---

१. तै० सं० २।१।१॥ २. मै० सं० २।१।५॥
३. मै० सं० २।१।६॥

विधिर्वा, पक्षे प्राप्तस्य वर्णस्य नियमार्थ इति । पक्षोक्तं प्रयोजनमुभयोरप्यधिकरणयोः ॥२५॥ **इति द्रव्यगुणविधानस्य नियमार्थताधिकरणम् ॥१०॥**

—:०:—

(अवघातादिसंस्कारविधेर्नियमविधित्वाधिकरणम् ॥११॥)

तत्प्रधानत्वात् ॥२६॥ (उ०)

अयमप्यधिकरणातिदेशः ।

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**व्रीहीनवहन्ति**[1], **तण्डुलान् पिनष्टि**[2] इति । तत्किमिमौ विधी, उतानुवादाविति संशयेऽर्थप्राप्तत्वादनुवादाविति प्राप्ते ।

नियमार्थत्वाद् विधी इति ॥२६॥ **इत्यवघातादिसंस्कारविधानस्य नियमार्थताधिकरणम् ॥११॥**

—:०:—

विधि ही है । पक्ष में प्राप्त के नियमार्थ है । पक्षोक्त प्रयोजन दोनों ही अधिकरणों में जानना चाहिये ॥२५॥

—:०:—

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(संस्कारे) द्रव्यों के अवहननादि संस्कार में (च) भी (तत्प्रधानत्वात्) संस्कार के प्रधान होने से नियमविधि है ।

व्याख्या—यह भी अधिकरण का अतिदेश है ।

दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—व्रीहीन् अवहन्ति (=व्रीहियों को कूटता है), तण्डुलान् पिनष्टि **(=चावलों को पीसता है) । क्या ये विधियां हैं अथवा अनुवाद हैं इस संशय में अर्थ (=प्रयोजन) वश प्राप्त होने से अनुवाद हैं ऐसा प्राप्त होने पर—**

नियमार्थ होने से विधियां हैं ।

विवरण—यहां दृष्टार्थक अवहननादि कर्म उदाहरण हैं । **अर्थप्राप्तत्वात्**—व्रीहि से पुरोडाश की निष्पत्ति के लिये तुषविमोचन के लिये कूटना तथा चावलों का पीसना आदि कर्म प्रयोजनवश स्वतः प्राप्त हैं, क्योंकि इन के विना पुरोडाश नहीं बनाया जा सकता है। **नियमार्थत्वात्**—व्रीहियों का तुष-विमोचन रूप दृष्ट प्रयोजन कार्य कूटने के अतिरिक्त नखों से

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—हविरध्यवहन्ति । तै० ब्रा० ३।२।५।६॥ कात्या० श्रौत० २।४।१४॥

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—तण्डुलान् ओप्य पिनष्टि । कात्या० श्रौत २।५।६॥

[यागलक्षणाधिकरणम् ॥१२॥]

शेषविनियोग उक्तः। प्रधानलक्षणमुच्यते, किं तत्प्रधानं, यस्यैते शेषा इति ? उच्यते—यजति ददाति जुहोतीत्येवंलक्षणम्। अथ किंलक्षणको यजतिर्जुहोतिर्ददातिश्चेति ?

यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात् ॥२७॥ (उ०)

तथा हलके पेषण आदि से भी किया जा सकता है। ऐसा होने पर भी अवहनन का विधान नियमार्थ है—अवहननेनैव तुषविमोकं कुर्यात्। इस नियम से मीमांसक नियमादृष्ट=नियमापूर्व की उत्पत्ति मानते हैं।

संप्रति याज्ञिक लोग यज्ञ काल में साक्षात् व्रीहियों का कूटना, चावलों का पीसना आदि विधियां नहीं करते। चावल का पिसा पिसाया आटा लेकर उस में से थोड़ा सा ऊखल में डालकर कूटने और शिला पर डालने का अभिनय मात्र करते हैं और मान लेते हैं कि इससे नियमादृष्ट उपपन्न हो गया। हमारे विचार में यह ढकोसला मात्र है। यदि शास्त्रविधि का पालन करना है तो यथावत् करना चाहिये, अन्यथा झूठा अभिनय नहीं करना चाहिये। यह भी एक प्रकार से मिथ्याचार है। ऐसे मिथ्याचारों की उत्पत्ति पद-पद पर अपूर्व की कल्पना है। अवहनन पेषण आदि दृष्ट प्रयोजन हैं ऐसे स्थानों पर व्यर्थ में नियमादृष्ट की कल्पना युक्त नहीं है। वस्तुतः दृष्ट प्रयोजनविधियों में भी विधिविशेष के विधान का प्रयोजन कर्म में एकरूपता सम्पन्न करना है **संगच्छध्वम्** की भावना को बढ़ाना प्रयोजन है। अन्यथा एक ही कर्म में विविध विधियों का आश्रयण लेने से वैरूपता उत्पन्न होती है। अतः यदि दृष्ट प्रयोजन विधियों में भी नियमादृष्ट का अर्थ एकरूपतारूप अदृष्ट प्रयोजन स्वीकार किया जावे तो नियमादृष्ट को स्वीकार करना युक्तिसंगत हो जाता है ॥२६॥

—:०:—

व्याख्या—शेष विनियोग [प्रयोजकत्व रूप से] कह दिया। अब प्रधान का लक्षण कहते हैं। प्रधान क्या है जिस के ये शेष हैं। इस विषय में कहते हैं—'यजति' 'ददाति' 'जुहोति' इस प्रकार लक्षण वाले कर्म प्रधान हैं। अच्छा तो 'यजति' 'ददाति' जुहोति' का क्या लक्षण है ?

यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(यजति चोदना) 'यजेत' 'यजति' इस प्रकार कही गई विधि (द्रव्यदेवता क्रियम्) द्रव्य और देवता की वह क्रिया जिस से इन दोनों का संबन्ध होता है, अर्थ को कहने वाली है। (समुदाये) द्रव्य देवता और त्याग इन के समुदाय में 'यजति' के (कृतार्थत्वात्) कृत प्रयोजन हो जाने से। अर्थात् 'यजेत' 'यजति' का देवता को उद्देश्य करके द्रव्य का त्याग करना अर्थ है।

यजतिचोदना तावद् द्रव्यदेवताक्रियम् । द्रव्यं देवता च, तस्य क्रिया, यया तयोः संवन्धो भवति[1] । समुदाये—समुदितेष्वेषु यजतिशब्दो भवति । लोके इष्टोऽनेन पशुपतिरिति । तेन मन्यामहे, द्रव्यदेवताक्रियस्यार्थस्य यजतिशब्देन प्रत्यायनं क्रियत इति ।

लक्षणकर्मणि प्रयोजनं न वक्तव्यम् । ज्ञानमेवात्र प्रयोजनमिति ॥२७॥

इति यागस्वरूपनिरूपणाधिकरणम् ॥१२॥

—:०:—

[होमलक्षणाधिकरणम् ॥१३॥]

अथ किंलक्षणको जुहोतिरिति ?

तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात् ॥२८॥ (उ०)

विशेष—देवता को उद्देश्य करके त्याग करना इतना ही याग का लक्षण है। इसमें त्याग कहां किया जाये यह विवक्षित नहीं है। इस से अवभृथेष्टि जल में की जाती है।

व्याख्या—'यजति' विधि द्रव्य देवता की क्रिया वाली है। द्रव्य और देवता, इन से संबद्ध [त्याग रूप] क्रिया, जिससे द्रव्य और देवता का सम्बन्ध होता है। समुदाय में—इनके समूह में 'यजति' शब्द व्यवहृत होता है। लोक में—'इसने पशुपति (=शिव) का यजन किया' [ऐसा कहा जाता है]। इससे हम मानते हैं—द्रव्य देवता की क्रिया रूप अर्थ का 'यजति' शब्द से बोध किया जाता है।

लक्षण कर्म में प्रयोजन नहीं कहा जाता है, वहां (=लक्षण कर्म में) ज्ञान ही प्रयोजन होता है।

विवरण—समुदितेष्वेतेषु यजतिशब्दः—इसी दृष्टि से कात्यायन श्रौत सूत्र में याग का लक्षण—**द्रव्यं देवता त्यागः** इतना ही किया है। याग का इतना ही लक्षण होने से अवभृथेष्टि जल में भी सम्पन्न होती है ॥२७॥

—:०:—

व्याख्या—'जुहोति (=होम) का क्या लक्षण है ?

तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(तदुक्ते) 'यजति' से उक्त अर्थ में (श्रवणात्) 'जुहोति' के श्रवण होने से (आसेचनाधिकः) [घृत का] सिञ्चन=प्रक्षेप रूप अधिक अर्थ है ऐसा 'यजति' ही (जुहोतिः) जुहोति=होम (स्यात्) होवे।

---

१. 'द्रव्यं देवतामुद्दिश्य त्यज्यते, तस्य च क्रिया, यया क्रियया तयोः सम्बन्धो भवति' इति पूना संस्करणे पाठः।

तदुक्ते—यजत्युक्तेऽर्थे जुहोतिः श्रूयते, आसेचनाधिके। तस्माद्यजतिरेवाऽऽसेचनाधिको जुहोतिः। हुतमनेनेत्येवंजातीयके बक्तारो भवन्ति लोके। वेदेऽपि यजतिचोदितं जुहोतिनाऽनुवदति—**संग्रामिणं चतुर्होत्रा याजयेत्, चतुर्गृहीतमाज्यं कृत्वा चतुर्होतारं व्याचक्षीत, पूर्वेण ग्रहेणार्धं जुहुयादुत्तरेणार्धम्**[1], इति।

अथ ददातिः किंलक्षणक इति। आत्मनः स्वत्वव्यावृत्तिः, परस्य स्वत्वेन संबन्धः। यजतिददातिजुहोतिषु सर्वेषूत्सर्गः समानः। तत्र यजतिर्देवतामुद्दिश्योत्सर्गमात्रं,

---

व्याख्या—उस से उक्त अर्थात् 'यजति' से उक्त अर्थ में 'जुहोति' सुना जाता है, आसेचन (=प्रक्षेप) रूप अधिक अर्थ में। इसलिये 'यजति' ही आसेचन रूप अधिक अर्थ वाला 'जुहोति' है। इस प्रकार के अर्थ में 'इसने होम किया' ऐसा व्यवहार करने वाले लोक में होते हैं। वेद में भी 'यजति' से प्रेरित कर्म का 'जुहोति' से अनुकथन होता है। संग्रामिणं चतुर्होत्रा याजयेत् चतुर्गृहीतमाज्यं कृत्वा चतुर्होतारं व्याचक्षीत, पूर्वे ग्रहणेनार्द्धं जुहुयादुत्तरेणार्द्धम् (=युद्ध करने हारे को चतुर्होत्रा=पृथिवी होता[2] से याग करावे। चतुर्गृहीत आज्य करके - चार बार स्रुवा से आज्य ले के चतुर्होता मन्त्र का पाठ करे। पूर्व ग्रह संज्ञक भाग से आधे घृत का होम करे उत्तर से आधे का)।

विवरण—चतुर्होत्रा याजयेत् यह पृथिवी होता द्यौरध्वर्युस्त्वष्टाग्नीर्मित्र उपवक्ता (मै० सं० १।९।१) आदि मन्त्र की याज्ञिकी संज्ञा है। इस में होता अध्वर्यु अग्नीत् उपवक्ता ब्रह्मा (द्र० तै० आ० ३।२।१ सा० भाष्य) इन चार ऋत्विजों का निर्देश होने से यह मन्त्र चतुर्होतृमन्त्र कहाता है। तै० आ० ३।२।१ में रुद्रोऽग्नीत् पाठ है। त्वष्टाऽग्नीत्' पञ्चहोतृमन्त्र में पाठ है। पूर्वेणग्रहेणार्धं जुहुयात्—वाचस्पते वाचो वीर्येण संभृततमेनाऽऽयक्षसे यक्षपतये वार्यमा स्वस्कर्वाचस्पतिः सोममपाज्जजनदिन्द्रमिन्द्रियाय [स्वाहा] इतना मन्त्र भाग ग्रह भाग कहाता है। द्र० तै० आ० सा० भाष्य ३।२।२—अथ ग्रहभागमाह—वाचस्पते …। (तै० आ० में मन्त्रपाठ में स्वल्प भेद है)। उत्तरेणार्धम्—सोमः सोमस्य पिबतु शुक्रः शुक्रस्य पिबतु श्रातास्त इन्द्र सोमा वातापयो हवनश्रुतः [स्वाहा] इस उत्तरार्ध से आधे आज्य का होम करे। इस विषय में तै० ब्रा० २।३।३ यः कामयेत्…एतयाऽऽहुत्या प्राजनयन् का सायणभाष्य भी देखें।

व्याख्या—'ददाति' (=दान) किस लक्षण वाला है? अपने स्वत्व (=स्वामित्व) की निवृत्ति और दूसरे के स्वत्व से सम्बन्ध [जोड़ना]। 'यजति' (याग) 'ददाति' (दान) और 'जुहोति' (होम) सब में उत्सर्ग (=त्याग) समान है। उनमें 'यजति' (याग) देवता को

---

१. मै० सं० १।९।६॥

२. मै० सं० १।९।१॥ तै० आ० ३।२।१॥ द्र० टिप्पणी, मी० भाष्य व्याख्या भाग ३, पृष्ठ १०५३।

जुहोतिरासेचनाधिकः, ददातिरुत्सर्गपूर्वकः परस्वत्वेन संबन्ध इत्येष एषां विशेष इति ॥२८॥ **इति होमस्वरूपनिरूपणाधिकरणम् ॥१३॥**

—:०:—

उद्देश्य करके उत्सर्ग मात्र होता है, 'जुहोति' (होम) में प्रक्षेप अंश अधिक होता है, और 'ददाति' दान में उत्सर्ग पूर्वक परस्वत्व से सम्बन्ध जोड़ना । यह इन में वैशिष्टय है ।

विवरण—**देवतामुद्दिश्योत्सर्गमात्रम्**—यथा—सोमयाग में पत्नीवान् देवता को उद्देश्य करके पशु का उत्सर्जन—**पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति** (कात्या० श्रौत ८।९।१-५; आप० श्रौत० १४।७।१२-१८); अश्वमेध में—**वसन्ताय कपिञ्जलानालभते** (यजुः २४।२०) आदि से द्रव्य देवता का विधान करके **कपिञ्जलादीन् उत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्** (कात्या० श्रौत २०।६।९) तथा अश्वमेध में **ब्रह्मणे ब्राह्मणम् [आलभते]** (यजुः ३०।५) इत्यादि से द्रव्य देवता का विधान करके कहा है—**कपिञ्जलादिवदुत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्** (कात्या० श्रौत २१।१।१२) । इन सब में देवता को उद्देश्य करके त्याग मात्र से याग सम्पन्न होता है ऐसा याज्ञिकों का मत है । वस्तुतः पशु हिंसा के अभाव में पर्यग्निकरण के पश्चात् पशुओं का उत्सर्ग कर देने पर आज्य पुरोडाश आदि से तत्तद्देवता उद्देश्य करके याग का विधान ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में उपलब्ध होने से 'यजति' (याग) की व्याप्ति आहुति प्रदानान्त मानना ही युक्त है । इसी प्रकार प्रत्येक याग में दान का अंश स्व-स्वत्व निवृत्ति और परस्वत्व का आपादन **इदमग्नये इदं न मम** इस यजमान के त्यागांश में विद्यमान है । इसी प्रकार होम में घृत आदि का आसेचन प्रक्षेप अधिक कहा है । यह प्रक्षेप याग में भी होती ही है। इसलिये यजति और जुहोति दोनों में द्रव्य-देवता संबन्ध प्रक्षेप और दान (स्व-स्वत्व निवृत्ति और परस्वत्व सम्बन्ध) समानरूप से होता है । याग और होम में वास्तविक भेद इस प्रकार जानना चाहिये—

याग—**तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्या-पुरोऽनुवाक्यावन्तो यजतयः** (कात्या० श्रौत १।२।६) अर्थात्—याग खड़े होकर होता है, वषट्कार=वौषट् शब्द से आहुति दी जाती है और अनुवाक्या तथा याज्या दो दो मन्त्रों का उच्चारण होता है । **होम**—**उपविष्ट होमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः** (कात्या० श्रौत १।२।७) अर्थात् होम बैठ कर किया जाता है और उस में स्वाहाकार से आहुति दी जाती है ।

विशेष—भट्ट कुमारिल ने टुप् टीका में इन सूत्रों को **यजति जुहोति** (याग-होम) का लक्षण परक न मानकर अन्यथा व्याख्या की है । कुतुहलवृत्तिकार ने भाष्यमतानुसार व्याख्या करके भट्ट कुमारिल के मतानुसार अन्यथा सूत्र-व्याख्या भी की है । इन्हें टुप् टीका और कुतुहलवृत्ति में ही देखें ।

—:०:—

[आतिथ्यादीनां बर्हिःसाधारण्याधिकरणम् ॥१४॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**यदातिथ्यायां बर्हिस्तदुपसदां, तदग्नीषोमीयस्य,**[1] इति। तत्र संदेहः—किं परद्रव्यस्योपदेश उत निरिष्टकस्य, अथवा धर्मविधिप्रदेशः, अथवा बर्हिः साधारणमिति ? किं प्राप्तम् ?

परद्रव्यस्योपदेशः। कुतः ? परद्रव्यस्योपदेशसदृशः शब्दो, **यदातिथ्यायां तदुपसदामिति**। यथा यो देवदत्तस्य गौः स विष्णुमित्रस्य कर्तव्य इति देवदत्तादाच्छिद्य विष्णुमित्राय दीयत इति। अतः परद्रव्यस्योपदेश इति। न चैतदस्ति। तथा सत्यातिथ्यायां तस्य विधानं यत्पूर्वं तदनर्थकं स्यात्।

एवं तर्हि निरिष्टकस्योपदेशः। तेनाऽऽतिथ्यायां यद्विहितम्, आतिथ्यायां यदुपात्तमिति। तथा सत्यर्थवदातिथ्यायां तद्वचनम्। निरिष्टकेन तूपसदः कर्तव्या भव-

---

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—यदातिथ्यायां बर्हिस्तदुपसदाम्, तदग्नीषोमीयस्य (=आतिथ्येष्टि में जो बर्हि=कुशा है, वही उपसद् इष्टि में, और वही अग्नीषोमीय पशुयाग में होती है)। इस में सन्देह होता है—क्या परद्रव्य (=आतिथ्या की बर्हि) का [उपसद् तथा अग्नीषोमीय पशु में] उपदेश है, अथवा निरिष्टक (=जिस का उपयोग हो चुका है) अथवा धर्म की विधि का प्रदेश (=अतिदेश) है, अथवा साधारण बर्हि है। क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—उतनिरिष्टकस्य—निरिष्टक का अर्थ है—नितरामिष्टमनेनेति निरिष्टम्, ततः स्वार्थे कन्=जिस से याग कर लिया है वह निरिष्ट, उस से स्वार्थ में कन् प्रत्यय—निरिष्टक अर्थात् किसी कर्म में उपयुक्त=प्रयुक्त। तथा—इष्टान्निर्गतः निरिष्टः, तस्मात् कुत्सिते कन्=याग से बचे हुए अर्थात् पुनः प्रयोग के अयोग्य (द्र० मीमांसाकोश पृ० २३७०)।

व्याख्या—परद्रव्य का उपदेश है [अर्थात् जो द्रव्य दूसरे का है, उस का अन्यत्र प्रयोग का कथन है]। किस हेतु से ? परद्रव्य के उपदेश के समान वचन है—'जो आतिथ्या में वह उपसदों का' जैसे—जो देवदत्त का गौ, वह विष्णुमित्र का करना चाहिये। इससे देवदत्त से छीन कर विष्णुमित्र को दिया जाता है। इस लिये [यहां] पर-द्रव्य का उपदेश है। यह नहीं है [अर्थात् यह पक्ष उचित नहीं है]। ऐसा होने पर आतिथ्येष्टि में उस का जो पूर्व विधान [यदातिथ्यायाम्] है वह अनर्थक होवे।

अच्छा तो निरिष्टक का उपदेश होवे। उस से आतिथ्येष्टि में जो विहित है, आथिथ्येष्टि में जो ग्रहण किया गया है। ऐसा होने पर आतिथ्येष्टि में उस का कथन [यदातिथ्यायाम्] अर्थवान् होता है और निरिष्टक (=आतिथ्येष्टि में उपयुक्त) उपसत् करणीय होते हैं [यह पक्ष भी उचित नहीं है, क्यों कि] यह शिष्टों का आचार

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

न्तीति। न चैष शिष्टानामाचारः। न च सर्वे चोदकप्राप्ता धर्मा भवेयुः। अतो ब्रूमः—

विधेः कर्मापवर्गित्वाद् अर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात् ॥२९॥ (पू०)

विधेः कर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात्। तद्बर्हिः परिसमाप्तायामातिथ्यायाम[1]पवृक्तमासीत्, पूर्वं तदातिथ्यायामासीत्, उपसत्काले आतिथ्यासंबन्धस्तस्य

(=व्यवहार) नहीं है। और [इस प्रकार] चोदक वचन से प्राप्त सब धर्म भी नहीं होवें। इस से कहते हैं—

विवरण—निरिष्टकस्योपदेशः—निष्क्रान्तमिष्टमिच्छा विनियोगकाङ्क्षा यस्मात् तत्= अर्थात् जिस से इष्ट=इच्छा=विनियोग की आकाङ्क्षा निकल गई है अर्थात् कर्म में उपयुक्त हो चुका है। उस का अर्थात् एक स्थान में उपयुक्त द्रव्य का अन्यत्र उपयोग की विधि। **न चैष शिष्टानामाचारः**—एक कार्य में उपयुक्त द्रव्य का अन्य कार्य में उपयोग करना शिष्टजन निन्दनीय मानते हैं। यथा—किसी को सम्मान में पहराई गई माला को उसके उतार देने पर उसी उपयुक्त माला को अन्य को सम्मानार्थ पहनाना अच्छा नहीं माना जाता है। अतः आतिथ्या में उपयुक्त बर्हि का उपसद् तथा अग्नीषोमीय में उपयोग नहीं हो सकता। **न च सर्वे चोदकप्राप्ता धर्मा भवेयुः**—इस का भाव यह है कि आतिथ्येष्टि में उपयुक्त बर्हि का उपसद् इष्टि में प्रयोग करने पर प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस अतिदेश से उपसद् आदि में बर्हि के जो प्रोक्षणादि संस्कार कहे गये हैं वे प्राप्त नहीं होंगे, क्यों कि वे आतिथ्येष्टि में कर लिये गये हैं। एक बार सस्कृत का पुनः संस्कार निरर्थक होता है।

विधेः कर्मापवर्गित्वाद् अर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(विधेः) विधिविहित बर्हि का आतिथ्येष्टि सम्बन्ध के (कर्मापवर्गित्वात्) कर्म की अपवर्ग=समाप्ति पर्यन्त रहने से (अर्थान्तरे) क्रियान्तर=उपसदिष्टि सम्बन्ध में (विधि प्रदेशः) पूर्वविहित बर्हि के धर्मों का प्रदेश=अतिदेश (स्यात्) होवे।

विशेष—भाष्यकार ने इस सूत्र की उत्थानिका में जितने सांशयिक पक्ष उपस्थापित किये हैं, उन सब पक्षों में इस सूत्र की पृथक् पृथक् व्याख्या कुतुहलवृत्ति में लिखी है। उसे पाठक वहीं देखें। हमने भाष्यानुसार तृतीय 'धर्मविधिप्रदेश' पक्ष के अनुसार सूत्रार्थ किया है।

व्याख्या—विधि (=बर्हिका आतिथ्येष्टि सम्बन्ध) के कर्म की समाप्तिपर्यन्त रहने वाला होने से क्रियान्तर में विधि का अतिदेश होवे। जो बर्हि आतिथ्येष्टि की समाप्ति पर अपवृक्त (=कृत प्रयोजन) हो गया था, वह पहले आतिथ्येष्टि में था [अर्थात् उस समय उस का आतिथ्येष्टि से सम्बन्ध था], उपसद् इष्टि के काल में उस का आतिथ्येष्टि-सम्बन्ध नहीं है।

१. अपवृक्तं पूर्वं तदातिथ्यायां, उपसत्काले आतिथ्यासंबन्धस्तस्य नास्तीति पा०। (पूना सं० टिप्पणी)।

नास्ति । भूतपूर्वेणाऽऽतिथ्याकर्मणा लक्ष्येत । लक्षणाशब्दश्च न न्याय्यः । तस्मादातिथ्यार्वहिष आञ्जस्याभावाद् यद्धर्मकमातिथ्यार्बहिस्तद्धर्मकमुपसदामग्नीषोमीयस्य चेति न्याय्यम् ॥१६॥

अपि वोत्पत्तिसंयोगादर्थसंबन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतुः स्यात् ॥३०॥ (उ०)

अपि वेति पक्षो व्यावर्तते । उत्पत्तिसंयोग एवैषोऽस्य बर्हिषः । यदि ह्युत्पन्नमा-

---

भूतपूर्व आतिथ्या कर्म से वह लक्षित होवे । लक्षणा शब्द [मानना] न्याय्य नहीं है। इसलिये आतिथ्या के बर्हि के उचित प्रकार से उपसद् में अभाव होने से, जिस धर्मवाला आतिथ्या का बर्हि कहा गया है, उस धर्म वाला [बर्हि] उपसदों और अग्नीषोमीय का होना न्याय्य है [अर्थात् आतिथ्येष्टि में बर्हि के जो धर्म कहे हैं, वे ही धर्म उपसद् और अग्निष्टोम के बर्हि में भी होवें] ॥२६॥

अपि वोत्पत्तिसंयोगाद् अर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतुः स्यात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' अन्य पक्ष को स्वीकारार्थ है । (उत्पतिसंयोगात्) 'यदातिथ्यायाम्' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न हुए अर्थात् यज्ञार्थ सम्पादित बर्हि का संयोग=संबन्ध कहने से (अर्थसम्बन्धः) आतिथ्या उपसद् और अग्नीषोमीय कर्मों के साथ सम्बन्ध होता है । अतः (अविशिष्टानाम्) विशेष रूप से अनुपात्त आतिथ्या उपसद् और अग्नीषोमीय कर्मों के बर्हि के (प्रयोगैकत्वहेतुः) एक प्रयोग में हेतु (स्यात्) होवे । अर्थात् 'यदातिथ्यायाम्' आदि वाक्य में आतिथ्या उपसद् और अग्नीषोमीय का सामान्य रूप से निर्देश होना ही उनके एक बर्हि के होने में हेतु है ।

पाठभेद—सुबोधिनीकार ने सूत्र में 'विशिष्टानां' और 'प्रयोगैकत्वे हुतः' पाठान्तर स्वीकार करके सूत्रार्थ दर्शाया है । अभिप्राय समान है ।

विशेष—यज्ञ में बर्हि का प्रयोग प्रायः तीन कर्मों में होता है—१. वेदि के स्तरण में, २. जुहू आदि पात्र रखने के लिये प्रस्तर=आसन रूप में तथा ३. वेदि में आस्तृत बर्हि और प्रस्तर आपस में मिल न जावें (दोनों का आस्तरण प्रागग्र होता है ।) इसलिये दोनों के मध्य में विधृति संज्ञक दो तृण उत्तर दक्षिण रखे जाने में । प्रकृति में बर्हि के लवन आदि जितने संस्कार होते हैं वे बर्हिमात्र के होते हैं । प्रकृत में विचार्यमाण वचन **यदातिथ्यायां बर्हिस्तदुपसदां तदग्नीषोमीयस्य** ज्योतिष्टोम में पढ़ा है, ऐसा भाष्यकार ने कहा है (हमें यह वचन किसी संहिता वा ब्राह्मण में उपलब्ध नहीं हुआ) । इस वचन से प्रकृति से आतिथ्या में प्राप्त बर्हि तीनों के लिये साधारण कहा गया है ।

व्याख्या—'अपि वा' से [पूर्व उक्त] पक्ष निवर्तित होता है ।[आतिथ्या की] उत्पत्ति

तिथ्याया बर्हिर्विशिष्टं स्यात्, तस्य धर्मा औपसदे बर्हिष्यतिदिश्येरन्, न तु तदस्ति केनचिद्वाक्येन । एवं प्रकृत्य[1] बर्हिषो विशेषो वक्ष्यते—आश्ववालः प्रस्तरः, ऐक्षव्यौ विधृती,[2] इति । तेन, न परविहितं बर्हिरुच्यते, न निरिष्टकं, न कुतश्चिद्धर्मा अतिदिश्यन्ते । किं तर्हि ? साधारणममीषां बर्हिरुच्यते । यदातिथ्यायां विधीयते, तदेवोपसदाम्, अग्नीषोमीयस्य च विधीयत इति, अविशिष्टानां बर्हिषा संयोग एकेन सर्वेषाम् । यदादौ बर्हिर्लूयते, तल्लवनं सर्वेषामर्थेन, साधारणो बर्हिषः प्रयोगः । एवं श्रुतिः शब्दस्य परिगृहीता भविष्यति । इतरथा धर्मलक्षणा भवेत् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा । तस्मात् त्रयाणां साधारणं बर्हिरिति । पक्षोक्तं प्रयोजनम् ॥३०॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

के साथ ही संयोग है इस बर्हि का । यदि आतिथ्या में उत्पन्न बर्हि विशिष्ट (=विशेष धर्मवाला) होवे तो उस के धर्म उपसद् सम्बन्धी बर्हि में भी अतिदिष्ट होवें । वह तो किसी वाक्य से है नहीं । [अर्थात् किसी वाक्य से आतिथ्या में उत्पन्न बर्हि के विशेष धर्म नहीं कहे गये हैं] । यदातिथ्यायाम् ऐसा कह कर बर्हि का विशेष धर्म कहा जायेगा—आश्ववालः प्रस्तरः, विधृती चेक्षव्यौ (अश्ववाल=कांस का प्रस्तर होता है और गन्ने के पत्ते की दो विधृतियां होती हैं) । इस कारण न परविहित (=आतिथ्या में विहित) बर्हि कहा जाता है, न निरिष्टक (=आतिथ्या में उपयुक्त) और न कहीं से (=आतिथ्या से) धर्मों का अतिदेश किया जाता है । तो क्या कहा जाता है ? इन (=आतिथ्या उपसत् और अग्नीषोमीय) का बर्हि साधारण (=एक ही) है ऐसा कहा जाता है । जो [बर्हि] आतिथ्या में विधान किया जाता है, वही उपसदों का और अग्नीषोमीय कहा जाता है । सब अविशिष्टों का एक बर्हि के साथ संयोग है । जब कर्म के आदि में बर्हि काटा जाता है तब वह लवन सब (=आतिथ्या-उपसद्-अग्नीषोमीय) के लिये होता है [इसलिये] बर्हि का प्रयोग [सब का] साधारण है । इस प्रकार शब्द की श्रुति (=यदातिथ्यायां बर्हिस्तदुपसदां तदग्नीषोमीयस्य में बर्हि शब्द का श्रवण) परिगृहीत होता है अन्यथा धर्म (=बर्हि के धर्म) की लक्षणा होवे [अर्थात् जो बर्हि के धर्म आतिथ्या में हैं वे ही उपसत् के और अग्नीषोमीय के होवें] । श्रुति और लक्षणा के संशय में श्रुति न्याय्य होती है, लक्षणा न्याय्य नहीं होती । इसलिये तीनों का बर्हि साधारण (=एक) है । [इस विचार का] पक्षोक्त प्रयोजन जानना चाहिये ।

---

१. पूना संस्करणे 'यदातिथ्यामित्येवं प्रकृत्य' इति पाठ उपलभ्यते । स चायुक्तः ।

२. आश्वबालः प्रस्तरः—शत० १।४।१।१७।। तै० सं० ६।२।१।। काठक सं० २४।८।। अश्ववारः प्रस्तरः—मै० सं० ३।७।६।। ऐक्षव्यौ विधृती—शत० १।४।१।१८।। अस्मिन्नेवार्थे—ऐक्षवी तिरश्ची—तै० सं० २।६।१।। ऐक्षवा उद्यावौ—काठक सं० २४।८।।

विवरण—उत्पत्तिसंयोग:—आतिथ्येष्टि के विधान के साथ ही बर्हि तथा उसके लवनादि धर्मों का सम्बन्ध जानना चाहिये। नह्युत्पन्नायामातिथ्यायाम्—आतिथ्येष्टि का विधान करने के पश्चात् बर्हि के धर्मों का विधान नहीं है। याम् एवं प्रकृत्य—हमें भाष्यकार उद्धृत यदातिथ्यायाम् आदि वचन कहीं उपलब्ध नहीं हुआ, अत: उसके प्रकरण में आश्वबाल: प्रस्तर:, विधृती चैक्षव्यौ वचन पढ़े हैं इस का भी हमें परिज्ञान नहीं है। हां, आतिथ्या प्रकरण में उक्त वचन प्राय: सभी संहिता ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, परन्तु इन से पूर्व यदातिथ्यायाम् का उल्लेख नहीं मिलता है। भाष्यकार के लेखानुसार आश्वबाल: प्रस्तर: ऐक्षव्यौ विधृती का आतिथ्येष्टि में निर्देश होने से ये प्रस्तर और विधृति के धर्म भी तीनों के साधारण हैं। ऐसा ही कुतुहलवृत्तिकार का भी मत है।

आश्वबाल: प्रस्तर:—आश्वबाल:=अश्वबाल का। अश्वबाल शब्द का अश्वस्य बाल: ऐसा सामान्य अर्थ नहीं है। इस का अर्थ है काश=कांस=सरकण्डा। भट्टकुमारिल ने तन्त्रवार्तिक १।३ अधि० ४, सूत्र ६ (पृष्ठ २२२ पूना सं०) में लिखा है—एवमाश्वबाल: प्रतस्र इत्यश्वजातीयबालमय: प्रस्तरो लोकप्रसिद्धया विज्ञायते। वैदिकवाक्यशेषत्वात् तु काशेष्वश्वबालप्रसिद्धि:। एवं हि श्रूयते—यज्ञो वै देवेभ्योऽश्वोभूत्वाऽपाक्रामत् सोऽप: प्राविशत्। स बालधौ गृहीत: स बालान्मुक्त्वा विवेश ह। ते बाला: काशतां प्राप्ता: कार्योऽत: प्रस्तरस्तु वै। अर्थात् आश्वबाल प्रस्तर लोकप्रसिद्धि से अश्व के बालों का जाना जाता है। परन्तु वैदिकवाक्यशेष से काश में आश्वबाल की प्रसिद्धि है। ऐसा सुना जाता है—यज्ञ अश्व का रूप धारण करके देवों से भाग गया और जल में प्रविष्ट हो गया। देवों ने बालधि (=पूंछ) से पकड़ लिया। वह बालों को छोड़कर जल में घुस गया। वे बाल काश बन गये। इसलिये काशों का प्रस्तर बनाना चाहिये। यह कुमारिल द्वारा उद्धृत वचन हमें प्राप्त नहीं हुआ। इस का पूर्व भाग वैदिक भाषा में है उत्तरार्ध लौकिक में श्लोकरूप में। अत: इस सम्पूर्ण वचन के वैदिक होने में हमें सन्देह है। शास्त्रदीपिका (१।३। अधि० ५, पृष्ठ ३५) तथा मीमांसाकौस्तुभ १।३।६ (पृष्ठ ७२) में तन्त्रवार्तिक का ही संक्षेप से निर्देश किया है। मीमांसकों और याज्ञिकों के द्वारा अश्वबाल शब्द का 'काश' अर्थ ही परिगृहीत है। भट्ट भास्कर ने तै० सं० ६।२।१ के भाष्य में किन्हीं व्याख्याकारों के मत में अश्वबाल का अर्थ 'घोड़े के पूंछ के बाल' भी दर्शाया है। मै० सं० ३।७।६ में आश्ववार: प्रस्तर: पाठ है। अर्थ पूर्वोक्त ही हैं।

विधृती चैक्षव्यौ—ऐक्षवी=इक्षु=ईख का अवयव। कात्या० श्रौत ८।१।१० की व्याख्या में विद्याधर मिश्र ने 'ऐक्षवी' का अर्थ इक्षुत्वक्=ईख का छिलका, तथा ईख का पत्ता लिखा है। आप० श्रौत० ७।७।७ की व्याख्या में रुद्रदत्त ने भारद्वाज के मत में 'इक्षुशलाका' अर्थ दर्शाया है। इसी सूत्र की व्याख्या में धूर्तस्वामी ने 'इक्षुपर्णी' (वनस्पति विशेष) अर्थ किया है। भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक १।३।६ (पृष्ठ २२२, पूना सं०) में लिखा है—ऐक्षव्यौ विधृती ये च ते इक्ष्ववयवात्मिके लोके सिद्धे, तथा वेदे काशानामेव मूलके॥ अर्थात् ऐक्षव्यौ का

लोक प्रसिद्ध अर्थ ईख का अवयव है, परन्तु वेद में इसका अर्थ 'काश के मूल' है। भट्ट कुमारिल ने यहां कोई वैदिकवाक्यशेष उद्धृत नहीं किया। शास्त्रदीपिका और मीमांसाकौस्तुभ में तन्त्रवार्तिक का ही अनुसरण किया है। यहां भी याज्ञिकों का बहुमत 'इक्षु के पत्तों' की विधृति का निर्देश मानता है। इसी अर्थ में बर्हि के साथ समानरूपता भी है।

विधृती के नामान्तर—तै० सं० ६।२।७ में **ऐक्षवी तिरश्ची** पाठ उपलब्ध होता है। वेदि में प्रागग्र आस्तरित बर्हि के उपर उत्तर दक्षिण जो दो तृण प्रस्तर को पूर्व आस्तरित बर्हि से अलग रखने के लिये रखे जाते हैं, वे प्रस्तर को धारण करने से विधृती कहाते हैं और तिर्यक् रखे जाने से उन्हें तिरश्ची कहा जाता है। काठक सं० २४।८ में ऐक्षवा उद्यावौ पाठ है। प्रस्तर को ऊपर उठाये रखने से विधृती को ही यहां उद्याव कहा है।

तस्मात् त्रयाणां साधारणं बर्हिः—उपर्युक्त व्याख्यानुसार जब आतिथ्या के लिये लवनादि के द्वारा बर्हि को सम्पादित किया जाता है, तब वह लवन केवल आतिथ्या के लिये ही नहीं है, किन्तु उपसद् और अग्नीषोमीय के लिये भी है। इसलिये आतिथ्या के प्रकरण में पठित आश्ववाल आदि धर्म भी बर्हि के द्वारा आतिथ्या उपसद् और अग्नीषोमीय तीनों के लिये है। दर्शपूर्णमास में बर्हि का प्रस्तर और विधृति कहा है, उसके स्थान में यहां अश्ववाल और इक्षु अवयव का विधान होने से यह बर्हि के द्वारा ही आतिथ्या आदि में सम्बद्ध होते हैं। क्योंकि प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है (कुतुहलवृत्ति)।

पक्षोक्तं प्रयोजनम्—इस अधिकरण में 'यदातिथ्यायां बर्हि' के विषय में चार पक्ष उपस्थापित किये हैं। उन में से किस पक्ष के मानने में क्या प्राप्ति होती है इसकी ओर ही इस पङ्क्ति का संकेत है। हम नीचे पृथक्-पृथक् चारों पक्षों का प्रयोजन लिखते हैं—

१. परकीय द्रव्य का उपदेश—इस पक्ष में आतिथ्या में प्राप्त बर्हि का उपसद् और अग्नीषोमीय में उपदेश करने पर आतिथ्य में बर्हि के दरांती आदि के द्वारा बर्हि का संपादन अदृष्टार्थ रूप होगा अर्थात उसके उपसद् और अग्नीषोमीय के लिये होने से आतिथ्या में बर्हि का अभाव होगा। इससे आतिथ्येष्टि में बर्हि पर हवि का आसादनादि कार्य नहीं होंगे।

२. निरिष्टकोपदेश—इस पक्ष में आतिथ्या में उपयुक्त (=कार्य में लाई गई) बर्हि का उपसद् और अग्नीषोमीय में उपयोग होगा। अतः प्रोक्षणादि संस्कार पुनः करने होंगे। क्योंकि आतिथ्या में प्रयुक्त बर्हि के धर्म (=संस्कार) आतिथ्या की समाप्ति पर समाप्त हो जाते हैं।

३. धर्मातिदेश—इस पक्ष में आतिथ्या के धर्मों का उपसद् और अग्नीषोमीय में अतिदेश होने से तीनों में लवन प्रोक्षण आदि धर्म तथा आश्ववालत्वादि धर्मवाला बर्हि पृथक्-पृथक् प्रयुक्त होगा।

४. साधारण बर्हि—सिद्धान्त पक्ष में आतिथ्या उपसद् और अग्नीषोमीय का एक ही बर्हि होगा, जो सामान्यरूप से लवनादि संस्कारों द्वारा सम्पादित है।

—:०:—

चतुर्थाऽध्याये तृतीयः पादः

(द्रव्यसंस्कारकर्मणां फलप्रयुक्तत्वाभावाधिकरणम् ॥१॥)

यस्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्दसामेव रसेनावद्यति सरसा अस्याऽऽहुतयो भवन्ति ।[1] यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति,न स पापं श्लोकं शृणोति,[2] इति । यस्याऽऽश्वत्थ्युपभृद्भवति, ब्रह्मणैवास्यान्नमवरुन्धे ।[3] यस्य वैकङ्कती ध्रुवा भवति प्रत्येवास्याऽऽहुतयस्तिष्ठन्ति, अथो प्रैव जायते ।[4] यस्यैवंरूपाः स्रुचो भवन्ति सर्वाण्येवेनं रूपाणि पशूनामुपतिष्ठन्ते, नास्यापरूपमात्मञ्जायते[5] इति ।

व्याख्या—यस्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्दसादेव रसेनावद्यति सरसाऽस्याऽऽहुतयो भवन्ति (=**जिस [यजमान] का खदिर का स्रुव होता है, वह छन्दों के रसों से अवदान करता है, सरस उसकी आहुतियां होती हैं**), यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति (=**जिसकी पलाश की जुहू होती है वह निन्दा वचन नहीं सुनता**) इति । यस्याऽऽश्वत्थ्युपभृद् भवति ब्रह्मणैवास्यान्नमवरुन्धे (=**जिसकी अश्वत्थ की उपभृत् होती है ब्रह्म से ही इस यजमान के लिये अन्न का अवरोधन करता है**) । यस्य वैकङ्कती ध्रुवा भवति प्रत्येवास्याऽऽहुतयस्तिष्ठन्ति, अथो प्रैव जायते (=**जिस की विकङ्कत की ध्रुवा होती है उसकी ही आहुतियां प्रतिष्ठित होती हैं और प्रजा उत्पन्न होती हैं**) । यस्यैवं रूपा स्रुचो भवन्ति, सर्वाण्येवैनं रूपाणि पशूनामुपतिष्ठन्ते, नास्यापरूपमात्मञ्जायते (=**जिस की इस रूप=प्रकार की स्रुच होती है उसको पशुओं के सब रूप उपस्थित होते हैं उसकी आत्मा में अपरूप=विरुद्धरूप [का अपत्य] उत्पन्न नहीं होता है**) इति ।

विवरण—उपर्युक्त स्रुव और जुहू आदि स्रुच् किन वृक्षों से बनाने चाहियें इस का वर्णन किया है और उनके फलों का निर्देश किया । ये फल बोधक वाक्य तत् द्रव्य निर्मित पात्र के फलविधायक हैं अथवा अर्थवाद हैं । यह इस अधिकरण में विवेचनीय है । **पर्णमयी**—पर्ण शब्द पलाश का वाचक हैं उससे **तस्य विकारः** (अष्टा० ४।३।१३४) के अधिकार में **द्व्यचश्छन्दसि** (अष्टा० ४।३।१५०) से विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय होकर स्त्री लिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता

---

१. द्र० तै० सं० ३।५।७।१।। अत्र 'स' पदं नास्ति ।

२. द्र० तै० सं० ३।५।७।२।। अत्र 'स' पदं नास्ति ।

३. द्र०—'यस्य.........आश्वथ्युपभृद् ब्रह्मणैवान्नमव रुन्धे' । तै० सं० ३।५।७।२।।

४. तै० सं० ३।५।७।३।।

५. द्र०—'अथो प्रैव जायत एतद्वै स्रुचां रूपं यस्यैवं रूपाः स्रुचो भवन्ति । सर्वाण्येवैनं .... । तै० सं० ३।५।७।३-४।।

तथा ज्योतिष्टोमे संस्कारे फलश्रुतिः—यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते।[1] तथा केशश्मश्रु वपते, दतो धावते, नखानि निकृन्तते, स्नाति, मृता वा एषा त्वगमेध्यं वा अस्यैतदात्मनि शमलं तदेवोपहते मेध्य एव मेधमेवमुपैति।[2] कर्मणि फलं श्रूयते—

है। आश्वत्थी वैकङ्कती—अश्वत्थ शब्द के अन्तोदात्त होने से अनुदात्तादेश्च (४।३।१४०) से से तथा विकङ्कत के आद्युदात्त होने पर भी पलाशादि गण में पाठ होने से पलाशादिभ्यो वा (४।३।१४१) से विकार अर्थ में अञ् प्रत्यय, उससे स्त्री लिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है। पलाशादि से विकल्प से अञ् का विधान होने से विकङ्कत से औत्सर्गिक अण् भी होता है। द्र० अथर्व० ५।८।१॥

यस्याऽऽश्वत्थ्युपभृद् भवति—प्रतीत होता है भाष्यकार ने तै० सं० के मूल पाठ को प्रकरणोपयुक्त बनाकर लिखा है। यतः उत्तर भागस्थ 'ब्रह्मणा' पद का परित्यक्त पदों से सम्बन्ध है, अतः हम तै० सं० का यथावत् पाठ उद्धृत करते हैं—यस्य पर्णमयी जुहूर्भवत्याश्वत्थ्युपभृद् ब्रह्मणैवान्नमव रुन्धेऽथो ब्रह्मैव विश्यध्यूहति। इस पूरे प्रसंग का सायणाचार्य ने अर्थ इस प्रकार किया है—'पर्ण=पलाश वृक्ष ब्रह्म हैं, मरुत् वैश्य हैं अन्न भी मरुत् रूप हैं। अश्वत्थ वृक्ष मारुत=मरुतों का ओजरूप है। इस लिए जिसकी पलाश वृक्ष की जुहू होती है और अश्वत्थ की उपभृत्। इस प्रकार जुहू रूप ब्रह्म से अश्वत्थ स्वामी मरुतों की विट् (वैश्य) रूप अन्न को प्राप्त करता है। इस से [आहुति के समय] ब्रह्मरूप जुहू को वैश्य रूप उपभृत् के ऊपर रखता है।' अध्वर्यु जब आहुति के लिये जुहू में घृत लेकर आहुतिस्थान पर जाता है तब जुहू को उपभृत् के ऊपर रखकर ले जाता है।

व्याख्या—तथा ज्योतिष्टोम में [यजमान के] संस्कार के विषय में फलश्रुति है—यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते (=जो [यजमान नवनीत से आंखों में] अञ्जन करता है, शत्रु के चक्षु को ही नष्ट करता है)। तथा केशश्मश्रु वपते, दतो धावते, नखानि कृन्तते, स्नाति, मृता वा एषा त्वग् अमेध्यं वा अस्यात्मनि शमलं तदेवोपहते, मेध्य एव मेधमेवमुपैति (=केश और श्मश्रू का वपन करता है, दांतों को साफ करता है, नखों को काटता है, स्नान करता है। यह [=केश दांत-नख] निश्चय मरी हुई=चैतन्य रहित अपवित्र त्वक् है। निश्चय ही इसके शरीर में जो शमल=पापरूप है, उसको दूर करता है। मेध्य=पवित्र होकर ही मेध=पवित्र यज्ञ को इस प्रकार प्राप्त होता है। कर्म के विषय में फल सुना जाता है—अभीषू वा एतौ यज्ञस्य यदाघारौ (=अभीषू हैं निश्चय ही ये यज्ञ के जो आघारसंज्ञक कर्म हैं)। चक्षुषी वा एते यज्ञस्य यदाज्यभागौ (=आँखें हैं निश्चय

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. द्र०—मै० सं० ३।६।२२॥ अत्र संहितायां 'वाऽस्यै तदा०' इति 'मेधमुपैति' इति च पाठः। भाष्येऽपाठो वा स्याच्छाखान्तरीयो वेति सम्भाव्यते।

अभीषू वा एतौ यज्ञस्य यदाघारौ,[1] चक्षुषी वा एते यज्ञस्य यदाज्यभागौ,[2] यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते. वर्म वा एतदयज्ञस्य क्रियते, वर्म यजमानस्य भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै[3] इति।

अत्र संदेहः—किमिमे फलविधय उतार्थवादा इति? किं प्राप्तम्? फलविधयः। प्रवृत्तिविशेषकरत्वात्फलविधेः। यथा—**खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्, पालाशं ब्रह्मवर्चस्कामस्य, बैल्वमन्नाद्यकामस्य,[4]** इति। यथैते फलविधय एवमिहापि द्रष्टव्यम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

ही ये यज्ञ के जो आज्यभाग संज्ञक कर्म हैं)। यत्प्रयाजनुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै (**=जो प्रयाज और अनुयाज याग किये जाते हैं वह निश्चय ही यज्ञ का वर्म=कवच=रक्षक किया जाता है, यजमान का वर्म किया जाता है शत्रु की पराजय के लिये)।**

विवरण—अभीषू वा एतौ—यहां हमें पाठ में सन्देह है। 'अभीषू' पद हमें वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं हुआ। इस में 'इषु' भाग बाणवाचक है। अतः 'अभि' का समास 'इषु' के साथ नहीं हो सकता। कोई क्रियापद श्रुत नहीं है जिसके साथ 'अभि' का सम्बन्ध किया जा सके। अतः हमारा विचार है यहां 'अभीशू' पाठ होना चाहिये। 'अभीशु' का अर्थ होता है 'लगाम'। तदनुसार इस का अर्थ होगा—आघार द्वय कर्म यज्ञ के लगाम रूप हैं अर्थात् यज्ञ के नियन्त्रक हैं।

व्याख्या—इस में सन्देह होता है—क्या ये [द्रव्य, संस्कार और कर्म] की फल विधायक श्रुतियां हैं अथवा अर्थवाद हैं? क्या प्राप्त होता है? फल विधियां हैं, फलविधि के विशेष प्रवृत्तिकर होने से [अर्थात् फल श्रुति से पुरुष कर्म में विशेष रूप से प्रवृत्त होता है]। जैसे—खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात् (=वीर्य की कामना करने वाले का यूप खैर के वृक्ष का बनावे), पालाशं ब्रह्मवर्चस्कामस्य (=ब्रह्मवर्चस्व की कामना वाले का पलाश का), बैल्वमन्नाद्यकामस्य (=अन्न के खाने के सामर्थ्य की कामना वाले का बिल्व=बेल का)। जैसे ये [तत्तत् यूपविशेष की] फलविधियां हैं, इसी प्रकार यहां (—उपर्युक्त वाक्यों में) भी जानना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. तै० सं० २।६।२।१॥ अत्र भाष्ये 'एतौ' इति सार्वत्रिको अपपाठः।

३. द्र०—यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्मैवतद् यज्ञाय क्रियते वर्म यजमानाय भ्रातृव्याभिभूत्यै। तै० सं० २।६।१।५॥

४. खादिरं यूपं कुर्वीत स्वर्गकामः, बैल्वं यूपं कुर्वीतान्नाद्यकामः, पुष्टिकामः, पालाशं यूपं कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्चस्कामः। ऐ० ब्रा० २।१॥ पालाशं ब्रह्मवर्चस्कामः कुर्वीत बैल्वमन्नाद्यकामः खादिरं स्वर्गकामः। शां० ब्रा० १०।१॥ पालाशं तेजस्कामो यज्ञकामो वा, खादिरं स्वर्गकामो वीर्यकामो वा, बैल्वमन्नाद्यकामो ब्रह्मवर्चस्कामो वा। आप० श्रौ० ७।१।१६॥

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥१॥ (उ०)

फलार्थवादा इति । कुतः ? परार्थत्वात् । क्रत्वर्थान्येतानि । जुहूः प्रदाने गुणभूता, उपभृदुपधारणे, ध्रुवाऽऽज्यधारणे, अञ्जनवपनादि च यजमाने, आघारावाज्यभागौ प्रयाजानुयाजाश्चाऽऽग्नयादिषु । यदि फलेऽपि गुणभावः स्यात्, अन्यत्रोपदिष्टनामन्यत्र पुनर्गुणभावः उपदिष्ट इति प्रतिज्ञायेत । न चैतन्न्याय्यम् । परार्थता हि गुणभावः । क्रत्वर्थता चैषां शब्देन, **जुह्वा जुहोति**[1]—जुह्वा होममभिनिर्वर्तयतीति । एवं सर्वत्र । तस्मान्नैते पुरुषार्थाः ॥१॥

अथोच्येत—पुरुषमपि प्रति गुणभाव उपदिष्टः—**यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति** इत्येवमादिभिर्वाक्यैरिति । तच्च न । कस्मात् ?

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(द्रव्यसंस्कारकर्मसु) द्रव्य=स्रुवादि, संस्कार=केशश्मश्रुवपनादि, कर्म=आघारादि के विषय में (फलश्रुतिः) फल का श्रवण (अर्थवादः) अर्थवाद (स्यात्) होवे (परार्थत्वात्) द्रव्य संस्कार और कर्मों के परार्थ=प्रधान कर्म के लिये होने से ।

व्याख्या—फलविषयक अर्थवाद है । किस हेतु से ? पर (=अन्य) के लिये होने से । ये [द्रव्य संस्कार और आघारादि कर्म] याग के लिये हैं जुहू [आहुति के] देने में गुणभूत हैं, उपभृत् [जुहू के] धारण में और ध्रुवा आज्य के धारण में । अञ्जन और वपन आदि यजमान के प्रति तथा आधार आज्यभाग प्रयाज और अनुयाज आग्नेय आदि [प्रधान यागों] के प्रति गुणभूत हैं । यदि फल के प्रति भी [जुहू आदि का] गुणभाव होवे तो अन्यत्र (=अन्य के प्रति) उपदिष्ट [जुहू आदि का] अन्यत्र पुनः गुणभाव उपदिष्ट है ऐसा जाना जायगा । यह (=अन्य कार्य के प्रति उपदिष्ट का अन्य के प्रति उपदेश) न्याय्य नहीं है परार्थता (=अन्य के लिये होना) ही गुणभाव (=अप्रधानता) है और इन (=जुहू आदि) की क्रत्वर्थता शब्द से कही गई है—जुह्वा जुहोति=जुहू से होम को सिद्ध करता है । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये । इसलिये ये पुरुषार्थ (=पुरुष के लिये जो फल, उसके लिये) नहीं हैं ॥१॥

व्याख्या—यदि यह कहो कि पुरुष के प्रति भी [जुहू आदि का] गुणभाव उपदिष्ट है—यस्य पर्णमयीजुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति इत्यादि वाक्यों से । यह [न्याय्य] नहीं है । किस हेतु से ?

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ॥२॥ (उ०)

उत्पत्तेरतत्प्रधानत्वात् । न तत्र पर्णमय्या[1] जुह्वाऽपापश्लोकश्रवणं क्रियत इति कश्चिच्छब्द आह । एतावच्छ्रूयते—यस्यासौ भवति न स पापं श्लोकं शृणोतीति । एतावदत्र शब्देन गम्यते—यस्यैवंलक्षणा जुहूस्तस्यापापश्लोकश्रवणमिति । तत्र जुह्वा तत्क्रियते, जुहूर्वा तदर्थेति नैतच्छब्द आह । नन्वनुमानादेतद् गम्यते—ध्रुवं पालाश्या जुह्वा तत्क्रियते, यतस्तस्यां सत्यां तद्भवतीति । अत्रोच्यते—नैवंजातीयकं कार्यकारणत्वेऽनुमानं भवति । कार्यकारणसंबन्धो नाम स भवति,यस्मिन् सति यद् भवति, यस्मिश्चासति यन्न भवति, तत्रैव कार्यकारणसंबन्धः । इह तु तद्भावे भावो ज्ञातो, नाभावेऽभावः । यस्य पालाशी न भवति तस्यापापश्लोकश्रवणं नास्तीति नैवंजातीयकः

उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(उत्पत्तेः) जुहू आदि उत्पत्ति वाक्य के (अतत्प्रधानत्वात्) पुरुष-प्रधान न होने से (च) भी । अर्थात् 'जिस पुरुष की पर्णमयी जुहू होती है वह निन्दा वचन नहीं सुनता' इस अर्थ को 'यस्य पर्णमयी' आदि वाक्य नहीं कहता ।

व्याख्या—[जुहू के] उत्पत्ति वाक्य के तत्प्रधान (=पुरुषप्रधान) न होने से । वहां (='यस्य पर्णमयी' आदि वाक्य में) पर्णमयी (=पलाश वृक्ष निर्मित) जुहू से अनिन्द्य वचन का श्रवण होता है, ऐसा कोई शब्द नहीं कहता । इतना सुना जाता है—जिस की यह (=पालाशी जुहू) होती है वह निन्दावचन नहीं सुनता । इतना ही यहां शब्द से जाना जाता है—जिसकी इस प्रकार की जुहू होती है उस का अनिन्द्यवचन श्रवण । वहां वह (=अनिन्द्यवचन-श्रवण जुहू से होता है अथवा जुहू तदर्थ (=उस अनिन्द्यवचन-श्रवण के लिये) है, यह शब्द नहीं कहता । (आक्षेप) अनुमान से यह जाना जाता है कि निश्चय ही वह [अनिन्द्य वचन श्रवण] पालाशी जुहू से होता है, जिस कारण उस [पालाशी जुहू] के होने पर वह [अनिन्द्य वचन श्रव] होता है । (समाधान) कार्य-कारणभाव में इस प्रकार का अनुमान नहीं होता है । कार्य-कारण सम्बन्ध वह होता है जिस के होने पर जो होता है और जिस के न होने पर जो नहीं होता । वहीं कार्य-कारण सम्बन्ध होता है । यहां (=यस्य पर्णमयी० वाक्य में) उस [पालाशी जुहू] के होने पर [अनिन्द्यवचन श्रवण का] होना जाना जाता है, [पालाशी जुहू के] अभाव में [अनिन्द्यवचन श्रवण का] अभाव नहीं जाना जाता है । जिसकी पालाशी [जुहू] नहीं होती है उस का अनिन्द्यवचन-श्रवण नहीं होता, ऐसा [कहने वाला] कोई शब्द नहीं है । इस से यह नियमतः नहीं जाना जाता है कि उस [पालाशी जुहू] से यह [अनिन्द्यवचन श्रवण]

---

१. 'पालाश्या' इति काशीमुद्रिते पाठः ।

शब्दोऽस्ति। तेन न नियोगतोऽवगम्यते, तेनेदं क्रि त इति। लक्षणमेतत् पुरुषस्य गम्यते। तस्मान्नानुमानम्।

अपि च। यस्यापि जुहूः पालाशी भवति, तस्यापि पापश्लोकश्रवणं भवति। कथमवगम्यते? प्रत्यक्षतः। नन्वेवं सत्यग्निहोत्रेणापि फलं न साध्येत। न हुतमात्रेण फलं दृश्यत इति। नैष दोषः। न हि तत्रोच्यते तावत्तव फलं भवतीति। इह तु वर्तमानायां जुहूसत्तायां वर्तमानस्य पापश्लोकश्रवणस्य प्रतिषेधः। तस्मान्न तत्रानुमानम्, इदं कार्यमिदं कारणमिति। अग्निहोत्रादिषु तु शब्देनैव कार्यकारणसंबन्ध उच्यते। तस्मात् तत्र तत्कालेऽदृश्यमानेऽपि फले कालान्तरे फलं भविष्यतीति गम्यते, न त्वेवंजातीयकेषु। तस्मान्नैवंजातीयकेभ्यः फलमस्तीति।

होता है। यह पुरुष का लक्षण जाना जाता है [अर्थात् एवं विध जुहूवान् अनिन्द्यवचन श्रवण वाला पुरुष होता है। इतना अर्थ जाना जाता है]। इसलिये अनुमान नहीं हो सकता।

और भी, जिसकी पालाशी जुहू होती है, वह भी निन्द्यवचन सुनता है। कैसे जाना जाता है? प्रत्यक्ष से [अर्थात् लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है]। (आक्षेप) इस प्रकार (=प्रत्यक्ष से) तो अग्निहोत्र से भी [स्वर्गादि] फल सिद्ध नहीं किये जा सकेंगे? होम होते ही फल दिखाई नहीं देता। (समाधान) यह दोष नहीं है। वहां (=अग्निहोत्र के विषय में) यह नहीं कहा जाता है कि उसी समय फल होता है। यहां (=पर्णमयी जुहू विषयक वाक्य में) जुहू-सत्ता के वर्तमान होते हुए वर्तमान (=विद्यमान पुरुष) के निन्द्यवचन श्रवण का प्रतिषेध है। इस से वहां (पालाशी जुहू के विषय में) यह अनुमान अनुमान नहीं होता कि यह कार्य है, यह कारण है। अग्निहोत्रादि में तो शब्द से ही कार्यकारण सम्बन्ध कहा जाता है। इसलिये वहां (=अग्निहोत्रादि में) तत्काल फल के दृष्ट न होने पर भी कालान्तर में फल होगा, यह जाना जाता है, परन्तु इस प्रकार के [अर्थात् पर्णमयी जुहू आदि विषय में कालान्तर में फल होगा] यह नहीं जाना जाता है। इसलिये इस प्रकार के [द्रव्य संस्कार और अप्रधान कर्मों से] फल होता है यह नहीं जाना जाता।

विवरण—इह तु वर्तमानायां...प्रतिषेधः—इस का तात्पर्य यह है कि यस्य पर्णमयी जुहू भवति न स पापं श्लोकं शृणोति वचन में भवति और शृणोति दोनों वर्तमान कालिक [लट् लकार के] प्रयोग हैं। अतः यहां पर्णमयी जुहू की सत्ता समकाल में निन्द्य वचन श्रवण का प्रतिषेध जाना जाता है। अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः में होम–समकाल में फलबोधक कोई पद नहीं है। वहां केवल अग्निहोत्र स्वर्गरूपी कार्य का कारण है इतना ही विदित होता है। पार्वत्य प्रदेशों में भारी वर्षा होने पर नदियों के मैदानी भाग में तत्काल जलप्लव नहीं देखा जाता। अतः जहां कारण कार्य भाव हो वहां कारण समकाल ही कार्य होवे यह आवश्यक नहीं होता, कालान्तर में भी कार्य का सद्भाव हो सकता है।

ननु यस्य पालाशी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोतीत्येवमुक्ते तत एव तत्फलं भवतीति गम्यते। तस्मादिहापि कालान्तरे फलं भविष्यतीति। उच्यते। सत्यं गम्यते। प्रमाणं तत्र किमिति विचारयामः—न तावत् प्रत्यक्षं, नानुमानं, नेतरद् दृष्ट-विषयमुपमानादि। नो खल्वपि शब्द इत्येतदुक्तम्। वाक्यार्थोऽपि पदार्थोपजनितो भवति, नान्यथा। तदुक्तं—तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वाद्' इति। तस्मादप्रमाणमूलत्वान्मिथ्याविज्ञानमेतत्। लौकिकेषु तु वाक्येष्वेवं गम्यते। तानि हि विज्ञातेऽर्थे प्रयुज्यमानान्यध्याहार्यं पदानि गौणानि विपरिणतव्यवहितार्थानि च प्रयुज्यन्ते। तस्मात् तत्सादृश्याद्वचनावगम्येष्वप्यर्थेषु भवति तत्त्वरूपो मिथ्या-प्रत्ययः। यथा मृगतृष्णादिषु। अपि च वर्तमानापदेशोऽयम्। न चायमर्थो वर्तमानः। तस्मान्न खादिरस्रुवादिसद्भावे तत्फलं भवेत्। तदेवं भवति—खादिरादौ सति भवति तत्फलं नापि भवति; असत्यपि भवति वा न वेति। नैवं विज्ञायते, कुतस्तत्फल-मिति?

व्याख्या—(आक्षेप) 'जिसकी पालाशी जुहू होती है वह निन्द्यवचन नहीं सुनता' ऐसा कहने से ही उसी (पालाशी जुहू) से फल होता है, ऐसा जाना जाता है। इसलिए यहां भी [अग्निहोत्रादि के समान] कालान्तर में फल होगा। (समाधान) सत्य है [पालाशी जुहू से फल] जाना जाता है। उसमें प्रमाण क्या है यह हम विचारते हैं—यहां न तो प्रत्यक्ष प्रमाण है, ना ही अनुमान और ना ही इतर दृष्टविषयक उपमानादि। शब्द प्रमाण भी नहीं है, यह हम कह चुके। वाक्यार्थ भी पदार्थ से उपजनित (जाना हुआ) होता है, अन्य प्रकार का नहीं होता। जैसा कि कहा है—तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् (=स्व-स्व अर्थों में वर्तमान पदों का क्रियावाची पद के साथ उच्चारण देखा जाता है, अर्थ= वाक्यार्थ के तन्निमित्त=पदार्थनिमित्तक होने से। मी० १।१।२५)। इसलिये [पालाशी जुहू से अनिन्द्यवचन श्रवण फल ज्ञान के] प्रमाणमूलक न होने से यह मिथ्या ज्ञान है। लौकिक वाक्यों में तो ऐसा जाना जाता है [क्योंकि] वे लौकिक वाक्य विज्ञात अर्थ में प्रयुक्त हुए अध्याहार्य पदवाले गौण और विपरिणमित व्यवहित अर्थ को कहने वाले प्रयुक्त होते हैं। इसलिये उनके [वाक्यत्व] सादृश्य से वचन से अवगम्यमान अर्थों में भी उस प्रकार का मिथ्या प्रत्यय होता है। जैसे मृग-तृष्णादि में। और भी, यह (='भवति' तथा 'शृणोति') वर्तमान अर्थ को कहने वाला है। परन्तु यह (=अनिन्द्यवचन श्रवणरूप) अर्थ वर्तमान नहीं हैं [अर्थात् पालाशी जुहू समकाल में निन्द्यवचन श्रवण भी देखा जाता है]। इसलिये खादिर स्रुव आदि के सद्भाव में वह फल नहीं होगा। इस प्रकार ऐसा जाना जाता है कि खादिरादि स्रुव होने पर वह फल होता है और नहीं भी होता है तथा [खादिरादि स्रुव के] न होने पर भी होता है वा नहीं होता, इस प्रकार नहीं जाना जाता है। अतः उस से फल कैसे होगा?

१. अ० १ पा० १ अ० ७ सू० २५॥

तस्मादेवंजातीयकेषूच्चरितेषु न क्वचित्प्रवृत्तिर्न कुतश्चिन्निवृत्तिरित्यानार्थक्यमक्रियार्थत्वात् । अर्थवादे तु सति भवति प्रयोजनं, खदिरादेः स्रुवादिषु कर्मार्थेषु प्रयोजनवत्सु । यद्येषां क्रतुं प्रति प्रयोजनवत्ता न स्यात् तत एतदेव फलं कयाचिच्छब्दवृत्त्या भवेद्वा न वेति विचार्येत । सति तु पारार्थ्ये नैव काचिच्छब्दप्रवृत्तिराश्रयितुं शक्यते । कैमर्थ्ये हि सा कल्प्येत । तस्मादेवंजातीयका अर्थवादाः । अर्थवादत्वे चावर्तमाने लक्षणया वर्तमानः[1] शब्दः प्रशंसार्थ उपपत्स्यते ॥२॥

फलं तु तत्प्रधानायाम् ॥ ३ ॥

अथ यदुक्तं, यथा—खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्, बैल्वमन्नाद्यकामस्य,

---

इसलिए इस प्रकार के (=द्रव्य संस्कार और कर्मविषयक वाक्यों के) उच्चरित होने पर न किसी में प्रवृत्ति होती है और न किसी से निवृत्ति, अतः [इस प्रकार के वाक्यों के] अक्रियार्थ होने से आनर्थक्य प्राप्त होता है (द्र० मी० १।२।१) । अर्थवाद होने पर तो कर्मार्थ प्रयोजन वाले स्रुवादि में खादिरादि का प्रयोजन होता है । यदि इन (=खादिरादि)की क्रतु के प्रति प्रयोजनवत्ता न होवे तो इन से यही (=वाक्योक्त) फल किसी लक्षणादि शब्दवृत्ति से हो सकता है वा नहीं, यह विचारा जाये [अर्थात् विचारार्ह होवे] । [स्रुवादि के] परार्थ (=याग के लिये) होने से किसी भी प्रकार की शब्द-प्रवृत्ति आश्रित नहीं की जा सकती [अर्थात् आश्रय नहीं लिया जा सकता] । कैमर्थ्य (=इसका क्या प्रयोजन है, ऐसी आकाङ्क्षा) होने पर ही वह [गौणी आदि शब्द प्रवृत्ति] कल्पित की जा सकती है । इस लिये इस प्रकार के वचन अर्थवाद हैं । अर्थवादत्व होने पर अवर्तमान अर्थ में लक्षणा से वर्तमान शब्द ['शृणोति' आदि] प्रशंसा के लिये उपपन्न होंगे ।

फलं तु तत्प्रधानायाम् ॥३॥

सूत्रार्थः—(तत्प्रधानायाम्) फल—प्रधान काम पद घटित श्रुति में (तु) तो (फलम्) वीर्यादि फल होवे ।

विशेष—यह सूत्र सुबोधिनी में नहीं है। वस्तुतः उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् सूत्र अप्रधानत्वात् हेतु से ही यह गतार्थ हो जाता है । जहां उस की प्रधानता होगी वहां फल स्वीकार्य होगा । कुतुहलवृत्ति में द्वितीय सूत्र के अनन्तर द्वितीय सूत्रभाष्यस्थ हेतुरूप से निर्दिष्ट आनर्थक्यक्रियार्थत्वात् पदों को स्वतन्त्र सूत्र मान कर व्याख्या की है ।

व्याख्या—और जो कहा कि जैसे (खादिरं वीर्यकामस्ययूपं कुर्यात् बैल्वमन्नाद्य-

---

१. वर्तमानशब्द इति पा० ।

पालाशं ब्रह्मवर्चसकामस्य, इति । युक्तं तेष । विधिविभक्तिः कुर्यादिति । वीर्यखादिर-संवन्धस्य विधात्री, न च वर्तमानापदेशिनी । तस्मात्तत्राविरोध इति । एवं हि पद-वाक्यार्थन्यायविदः श्लोकमामनन्ति—

कुर्यात् क्रियेत कर्तव्यं भवेत् स्यादिति पञ्चमम् ।
एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥ इति ।

विधिविभक्तिं हि विधायिकां लिङ्गं मन्यमानास्त एवं समामनन्ति । अस्ति चात्र विधिविभक्तिः । तस्मादनुपवर्णनमेतदिति ॥३॥ **द्रव्यसंस्कारकर्मणां क्रत्वर्थताधिकरणम् ॥१॥**

कामस्य, पालाशं ब्रह्मवर्चसकामस्य [के समान फल जाना जायेगा] । यह ठीक नहीं है। उनमें [फल मानना] युक्त है । 'कुर्यात्' यह विधायिका विभक्ति वीर्य और खादिर सम्बन्ध की विधात्री है, वर्तमान अर्थ को कहने वाली नहीं है । इसलिये वहां विरोध नहीं है । पद और अर्थ के न्याय को जानने वाले इस प्रकार श्लोक पढ़ते हैं—

कुर्यात्, क्रियते, कर्तव्यम्, भवेत् और स्यात् ये पांच सब वेदों में विधि के नियत लक्षण होवें ।

विधायिका विधि विभक्ति को लिङ्ग मानते हुए वे [न्यायविद् आचार्य] ऐसा पढ़ते हैं । यहां (=खादिरादियूप विषयक वाक्यों में) विधि विभक्ति [कुर्यात्] विद्यमान है । इस लिये यह अनुपवर्णनीय है [अर्थात् खादिर यूप विधायक वाक्य के सहयोग से पालाशी जुहू आदि वाक्यों में फल श्रुति नहीं मानी जा सकती] ।

विवरणः—भट्ट कुमारिल ने इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है—यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति इत्यादि वाक्य में यदि फल का विधान मानें तो वह प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता । कार्य कारण भाव के व्यभिचरित होने से अनुमान की प्रवृत्ति भी नहीं होती । इसलिये पलाश आदि का क्रतु के साथ संवन्ध होने से ये वचन पुरुषार्थ नहीं हैं । खादिरं वीर्यकामस्य कुर्यात् में तो खादिर आदि का क्रतु और पुरुष दोनों के साथ सम्बन्ध होने से उभयार्थता युक्त है ।

यहां यह विचारणीय है कि पञ्चम लेट् लकार जो लिङ्गर्थे लेट् (अष्टा० ३।४।७) से लिङ्गर्थ (=विधि) में ही होता है, उस की मीमांसकों ने क्यों उपेक्षा की है ? हमारा विचार है कि लट् लकार और लेट् लधार के रूपों में कुछ सादृश्य होने से वर्तमानापदेशक लट् लकार के रूप को लेट् का रूप मान कर विधि की कल्पना स्वीकार न कर ली जाये इस भय से लेट् लकार की उपेक्षा की है । तथापि कतिपय स्थानों पर लेट् लकार को भी मीमांसकों ने विधायक के रूप में स्वीकार किया है ॥३॥

[नैमित्तिकानां नित्यप्रयुक्तत्वाभावाधिकरणम् ॥ २ ॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमे नैमित्तिकम्—बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्, पार्थुरश्मं राजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य' इति। तथाऽग्नौ नैमित्तिकं—साहस्रं प्रथमं चिन्वनश्चिन्वीत. द्विसाहस्रं द्वितीयम्, त्रिसाहस्रं तृतीयम्' इति। तथा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्, कांस्येन ब्रह्मवर्चसकामस्य, मार्त्तिकेन प्रतिष्ठाकामस्य' इत्येतानि नैमित्तिकानि। तेषु संदेहः—किमेतान्येव नैमित्तिकानि नित्यार्थे, उत्तान्यत्तत्र नित्यार्थे इति ?

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में नैमित्तिक [कर्म है]—बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात् (=ब्राह्मण का ब्रह्मसाम बार्हद्गिर करे)' पार्थुरश्म राजन्यस्य (=क्षत्रिय का ब्रह्मसाम पार्थुरश्म करे), रायोवाजीयं वैश्यस्य (=वैश्यस्य का ब्रह्मसाम रायोवाजीय करे)। तथा अग्नि (=अग्निचयन) में नैमित्तिक [कर्म है]—साहस्रं प्रथमं चिन्वानश्चिन्वीत (प्रथम चयन =चिति करनेहारा एक सहस्र इष्टका समूह का चयन करे), द्विसाहस्रं द्वितीयम् (=द्वितीय चिति करनेहारा दो सहस्र इष्टकाओं का चयन करे), त्रिसाहस्रं तृतीयम् (=तीसरी चिति करनेहारा तीन सहस्र इष्टकाओं का चयन करे)। तथा दर्शपौर्णमास में सुना जाता है—गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत् (=पशु की कामना वाले यजमान का अपः=जलों का प्रणयन जिस पात्र में गायें दुही जाती हैं, उस पात्र से करे)। कांस्येन ब्रह्मवर्चसकामस्य (=ब्रह्मवर्चस की कामना वाले का अपः प्रणयन कांसे के पात्र से करे), मार्तिकेन प्रतिष्ठाकामस्य (=प्रतिष्ठा की कामना वाले का अपः प्रणयन मिट्टी के पात्र से करे) इत्यादि नैमित्तिक कर्म श्रुत हैं। इन में सन्देह होता है—क्या ये ही नैमित्तिक नित्य कर्म में भी होवें अथवा नित्य कर्म में अन्य होवें ?

विवरण—ज्योतिष्टोम के माध्यन्दिन सवन में 'ब्रह्मसाम' नाम का तृतीय पृष्ठ स्तोत्र है। इसमें अभीवर्त-साम विहित है। वह प्रकृतिवद् विकृति-कर्तव्या इस नियम से द्वादशाह में प्राप्त होता है। उस ब्रह्म साम के प्रकरण में द्वादशाह में सुना जाता है—बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य

---

१. द्र०—पार्थुरश्मं राजन्याय ब्रह्म साम कुर्यात्, बार्हद्गिरं ब्राह्मणाय, रायोवाजीयं वैश्याय। तां० ब्रा० १३।४।१८॥ निदानसूत्र ४।३॥

२. द्र०—साहस्रं चिन्वीत प्रथमं चिन्वानः, द्विषाहस्रं चिन्वीत द्वितीयं चिन्वानः, त्रिषाहस्रं चिन्वीत तृतीयं चिन्वानः। तै० सं० ५।६।८।२-३॥ साहस्रं प्रथमं द्विसाहस्रं द्वितीयं त्रिसाहस्रं तृतीयम्॥ वाराह श्रौत २।१।२।२२॥ तथा द्र० आप० श्रौत १६।१३।११॥

३. द्र०—कंसेन प्रणयेद् ब्रह्मवर्चस्कामस्य, मृन्मयेन प्रतिष्ठाकामस्य, गोदोहनेन पशुकामस्य। आप० श्रौत १।१६।२॥

किं प्राप्तम्? एतान्येवेति। कुतः? अत्र ब्रह्मसामादिभिरवश्यं भवितव्यम्। चोदितानि हि तानि संनिहितानि साधनान्याकाङ्क्षन्ति। न चैषां सन्ति विहितानि साधनानि। समीपतश्च नैमित्तिकान्युपनिपतन्ति। तैः प्रकृतैः संनिहितैरेतानि निराकाङ्क्षी क्रियन्त इत्येतन्न्याय्यम्। कथम्? नैमित्तिकं हि संनिहितवाक्यादवगम्यते, नान्यच्छ्रूयते। यावांश्च श्रुतस्योत्सर्गे दोषस्तावानेवाश्रुतकल्पनायाम्। आह। ननु निमित्तार्थानि तानि प्रकृतानि। उच्यते। नैष दोषः। अन्यार्थमपि प्रकृतमन्येन संब-

---

ब्रह्मसाम कुर्यात् इत्यादि (कुतुहलवृत्ति)। बार्हद्गिरम्—ताण्ड्य ब्रा० १३।४।१७ में बार्हद्गिर पार्थुरश्म रायोवाजीय सामविषयक आख्यान दिया है। उसका सार यह है कि इन्द्र ने यतियों=यज्ञविरोधियों को सालवृक=भेड़ियों को खाने को दे दिया। उनमें से बृहद्गिरि पृथुरश्मि और रायोवाज ये तीन बच गये। इन्द्र ने इनका पालन पोषण किया और वर मांगने को कहा। बृहद्गिरि ने ब्रह्मवर्चस मांगा, पृथुरश्मि ने क्षत्र, और रायोवाज ने पशुओं की मांग की। उनकी मांग को इन्द्र ने क्रमशः बार्हद्गिरि पार्थुरश्म रायोवाजीय साम से पूरा किया। तदनुसार यहां बार्हद्गिर आदि सामों का सम्बन्ध बृहद्गिर आदि के साथ होने से **तस्येदम्** (अष्टा० ४।३।१२०) से प्रथम दो में अण् प्रत्यय और रायोवाज से छ प्रत्यय होता है। वस्तुतः यहां प्रथम दो शब्दों में **दृष्टं साम** (अष्टा० ४।२।७) से अण् प्रत्यय होता है। **बृहद्गिरिणा दृष्टं साम बार्हद्गिरम्, पृथुरश्मिना दृष्टं साम पार्थुरश्मम्।** रायोवाज से 'दृष्टं साम' अर्थ में 'छ' प्रत्यय विधायक कोई सूत्र वा वार्तिक नहीं है तथापि प्रयोग सामर्थ्य से उसका उपसंख्यान मानना चाहिये। **साहस्रम्**—'सहस्राणां समूहः' यहां **तस्य समूहः** (अष्टा० ४।२।३७) से अण् प्रत्यय होता है। **द्विसाहस्रम् त्रिसाहस्रम्**—यहां समस्त द्विसहस्र और त्रिसहस्र पद के अन्तोदात्त होने से **अनुदात्तादेरञ्** (अष्टा० ४।२।४४) से समूहार्थ में अञ् प्रत्यय होता है। ञित् होने से ये आद्युदात्त पद होते हैं। **संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च** (अष्टा० ७।३।१५) से उत्तरपदवृद्धि होती है। तै० सं० में **द्विषाहस्रम् त्रिषाहस्रम्** में षत्व देखा जाता है और अन्यत्र षत्वाभाव है। यहां **पूर्वपदात्** (अष्टा० ८।३।१०६) से षत्व का विकल्प जानना चाहिये।

व्याख्या—क्या प्राप्त होता है? [नित्य कर्म में भी] ये ही होवें। किस हेतु से? यहां (=नित्य कर्म में) ब्रह्मसाम आदि को अवश्य होना चाहिये। कहे हुए ही वे [ब्रह्मसामादि] सन्निहित साधनों की आकाङ्क्षा रखते हैं। और इनके साधन विहित नहीं हैं। समीपता से नैमित्तिक साधन उपस्थित होते हैं। उन प्रकृत समीपस्थ [बार्हद्गिरादि] से ये निराकांक्ष किये जाते हैं, यह न्याय्य है। कैसे? नैमित्तिक [बार्हद्गिरादि] सन्निहित हैं यह वाक्य से जाना जाता है, अन्य साम नहीं सुना जाता है। जितना दोष श्रुत के उत्सर्ग (=त्याग) में होता है उतना ही अश्रुतकल्पना में होता है। (आक्षेप) वे प्रकृत [बार्हद्गिरादि] निमित्तार्थ हैं [अर्थात् तत्तन्निमित्त होने पर उनका विधान किया है]। (समाधान) यह दोष नहीं है। अन्यार्थ प्रकृत अन्य से

ध्यते। यथा—शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते उपस्पृश्यते च।[1] एवमिहापि द्रष्टव्यम्। अथवाऽस्त्येवात्रावान्तरवाक्यम्। यथा, गोदोहनेन प्रणयेत्, इति। तदकामसंबद्धं गोदोहनेन प्रणयनं प्रापयति। न च शक्यं श्रुतमुत्स्रष्टुम्। योऽप्ययं पशुकामस्येति शब्दः, स पशुकामसंबन्धं शक्नुयात्कर्तुं, नावान्तरवाक्यस्यार्थं निवारयितुम्। न च गम्यमानं विना कारणेनाविवक्षितमिति शक्यं वदितुम्। भवन्ति च द्विष्ठानि वाक्यानि। यथा, श्वेतो धावति, अलम्बुसानां याता[2] इति। तस्मान्नैमित्तिकान्येव नित्यार्थे भवितुमर्हन्तीति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

नैमित्तिके विकारत्वात् क्रतुप्रधानमन्यत् स्यात् ॥४॥ (उ०)

सम्बद्ध होता है। जैसे—धान के लिये कुल्या (छोटी नहरें वा नालियां) बनाई जाती हैं, और उनसे पानी पिया जाता है तथा स्नान किया जाता है। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। अथवा यहां अवान्तर वाक्य है ही जैसे गोदोहनेन प्रणयेत्। वह (=अवान्तर वाक्य) कामपद से संबद्ध न हो कर गोदोहन से प्रणयन की प्राप्ति कराता है। और श्रुत अर्थ को छोड़ा नहीं जा सकता। और जो यह 'पशुकामस्य' शब्द है, वह पशुकाम के संबन्ध को कर सकता है, परन्तु अवान्तर वाक्य के अर्थ को हटा नहीं सकता। गम्यमान अर्थ विना कारण के 'अविवक्षित है' ऐसा नहीं कह सकते। और दो अर्थों में ठहरने वाले अर्थात् द्व्यर्थक वाक्य होते हैं। जैसे—श्वेतोधावति (=सफेद घोड़ा दौड़ता है तथा यहां से कुत्ता दौड़ता है), अलम्बुसानां याता (=अलम्बुसनामक देश को प्राप्त होने वाला, तथा भूसे की प्राप्ति में समर्थ)। इसलिये नैमित्तिक ही [बार्हद्गिरादि] नित्यार्थ में हो सकते हैं। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—शाल्यर्थंकुल्याः—यह वाक्य महाभाष्य १।१।२३ में उद्धृत है। उद्योत की छाया टीका के रचयिता वैद्यनाथ पायगुण्ड ने उपस्पर्शन का अर्थ आचमनादि किया है। आचमन में भी किञ्चित् जल का पान ही होता है। अतः हमने उपस्पर्शन का अर्थ स्नान किया है। छायाकार का 'आचमनादि' में आदि पद से अन्यार्थ ग्रहण सम्भव है, यह द्योतित होता है। श्वेतो धावति—ये वाक्य भी महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १ के अन्त में उद्धृत हैं।

नैमित्तिके विकारत्वात् क्रतुप्रधानमन्यत् स्यात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(नैमित्तिके) बार्हद्गिर गोदोहन आदि के नैमित्तिक निमित्त विशेष में

---

१. महाभाष्ये (१।१।२३) इदं वचनं दृश्यते। तत्र उद्योतछायाकारो वैद्यनाथः उपस्पर्शोऽत्राचमनादिरित्याह। आचमनं पानीयं पीयते इत्यनेन गतार्थत्वात् उपस्पर्शनं स्नानमित्यस्मन्मतम्।

२. अयमपि पाठो महाभाष्यस्य पस्पशाह्निकान्ते (१।१।१) श्रूयते।

नैमित्तिके श्रूयमाणे क्रत्वर्थमन्यत्स्यादिति। कुतः ? विकारत्वात्। विशेषे श्रुतत्वादित्यर्थः। विशेषे हि तत्र नैमित्तिकं श्रूयते। तदसति तस्मिन् विशेषे न भवितुमर्हति। यदुक्तमवश्यकर्तव्यानीति। नैष दोषः। अवश्यं कर्तव्यत्वात् करिष्यन्ते। यत्तु नान्यदेषां विहितं साधनमिति। सामान्यविहितं भविष्यतीति न दोषः। किं तत् ? अभीवर्तो ब्रह्मसाम, अष्टादशमन्त्रगतोऽग्निः, वारणं प्रणयनपात्रम। अथ यदुक्तं, संनिहितैः प्रकृतैर्नैमित्तिकैर्ब्रह्मसामादीनि संभत्स्यन्त इति। नेति ब्रूमः। न हि बार्हद्गिरादीनां प्रकरणम्। अथोच्येत, प्रकृतैः स्तोत्रादिभिः संत्रथ्यन्त इति। एतदपि नोपपद्यते। यद्यपि प्रकृतानि नित्यानि स्तोत्रादीनि, तथाऽपि वाक्येन निमित्तसंयोगे श्रूयन्ते बार्हद्गिरादीनि। वाक्यं च प्रकरणाद् बलीयः।

होने पर (क्रतुप्रधानम्) क्रतु है प्रधान जिसका, ऐसा क्रत्वङ्ग नित्य सामादि (अन्यत्) अन्य (स्यात्) होवे, (विकारत्वात्) बार्हद्गिर साम आदि के विकार अर्थात् कामसंयोग के अनित्य होने से। इसका तात्पर्य यह है कि बार्हद्गिर साम, साहस्रेष्टका चयन और गोदोहनादि पात्र कामसंयोग रूप निमित्त के होने पर विहित होने से अनित्य रूप से श्रुत हैं। अतः इन का सम्बन्ध काम्यकर्म के साथ ही होगा। नित्यरूप से श्रुत कर्मों में इन से भिन्न सामादि होंगे।

व्याख्या—निमित्त विशेष में श्रूयमाण होने से क्रतु के लिये अन्य साम—आदि होवें। किस हेतु से ? विकार होने से अर्थात् विशेष में श्रुत होने से। विशेष में वहां नैमित्तिक [बार्हद्गिर, साहस्र चयन गोदोहन] सुने जाते हैं। इसलिये विशेष निमित्त के न होने पर नैमित्तिक नहीं हो सकते। जो यह कहा है कि [ब्रह्मसाम चयन प्रणयन] अवश्य कर्तव्य हैं। यह दोष नहीं है। अवश्य कर्तव्य होने से किये जायेंगे। और जो यह कहा है कि इनका अन्य साधन नहीं कहा है। [इस विषय में] सामान्य विहित साधन हो जायेंगे इस से कोई दोष नहीं है। वह [सामान्य विहित साधन] क्या है ? अभीवर्त नाम का ब्रह्मसाम, अष्टादशमन्त्र में विहित अग्नि (=अग्निचयन), वरण वृक्ष से निर्मित प्रणयन-पात्र। और जो यह कहा है कि सन्निहित प्रकृत नैमित्तकों के साथ [प्रकृतिगत] ब्रह्मसामादि संबद्ध हो जायेंगे। ऐसा नहीं होगा। बार्हद्गिर आदि का प्रकरण नहीं है। यदि यह कहो कि प्रकृत स्तोत्र आदि के साथ [बार्हद्गिर आदि] संबद्ध होते हैं। यह भी उपपन्न नहीं होता। यद्यपि प्रकृत [पृष्ठ] स्तोत्रादि नित्य हैं, फिर भी वाक्य से निमित्त के संयोग में बार्हद्गिर आदि श्रुत हैं। और वाक्य प्रकरण से बलवान् होता है। [इस से प्रकृत नित्य पृष्ठ स्तोत्र जिसमें आर्भव ब्रह्मसाम का विधान है उनके साथ नैमित्तिक बार्हद्गिर का तथा प्रकृत नित्य वारण प्रणयनपात्र के साथ काम संयुक्त गोदोहनादि का सम्बन्ध नहीं होगा।]

विवरण—अभीवर्तो ब्रह्मसाम—माध्यन्दिन सवन का जो तृतीय ब्रह्मसाम नामक पृष्ठस्तोत्र है, उसमें अभीवर्त साम विहित है। यह पूर्व (पृष्ठ १३१०) कह चुके हैं। अष्टादशमन्त्रगतोऽग्निः—यह वाक्य हमारी समझ में नहीं आया। यहां यह ज्ञातव्य है कि आरम्भ में उदाहृत

बार्हद्गिर आदि साम, गोदोहनादि प्रणयन-पात्र विधायक वाक्यों में जिस प्रकार ब्राह्मणादि और पशुकाम आदि नैमित्तिक पदों का श्रवण है, उस प्रकार साहस्रं चिन्वीत आदि वाक्यों में नहीं है। यदि प्रथमं चिन्वानः, द्वितीयं चिन्वानः तृतीयं चिन्वानः पदों को नैमित्तिक कर्म सूचक मानें तो द्वितीयं चिन्वानः तृतीयं चिन्वानः कथंचित् निमित्त श्रवण बन सकते हैं। भाष्यकार के अतिरिक्त किसी भी व्याख्याकार ने साहस्रं प्रथमं चिन्वानश्चिन्वीत आदि उदाहरण नहीं दिये। इस का कारण इन विधियों के नैमित्तिकत्व का अभाव ही प्रतीत होता है। आपस्तम्ब श्रौत के अनुसार प्रथम अग्निचयन में ५ चितियां होती है अर्थात् एक बार इष्टकाएं रख कर पुनः उन पर दूसरी बार इष्टकाएं रखी जाती हैं इसी प्रकार तृतीय चतुर्थ और पञ्चम बार इष्टकाएं स्थापित की जाती हैं। प्रत्येक चिति में दो दो सौ इष्टकाएं होती हैं। इस प्रकार पांच चितियों में २०० × ५ = १००० इष्टकाएं लगती हैं। इष्टकाओं के पांच बार चयन में प्रथम तृतीय और पञ्चम का चयन समान होता है, द्वितीय और चतुर्थ का समान होता है। जैसे भींत के निर्माण में राज पहली पंक्ति की ईंटों के ऊपर द्वितीय पंक्ति की ईंटों को विपरीत ढंग से रखता है और तृतीय पंक्ति में द्वितीय से भिन्न प्रकार से रखता है। इस प्रक्रिया में जैसे प्रथम पङ्क्ति की ईंटों को जिस ढंग से रखता है। उसी ढंग से तृतीय पङ्क्ति की ईंटों को रखता है। चतुर्थ पङ्क्ति में ईंट रखने का प्रकार द्वितीय पङ्क्तिवत् होता है। पुनः पञ्चम पङ्क्ति में ईंट रखने का प्रकार पुनः वही होता है जो प्रथम और तृतीय का था। यही प्रकार पांचों चितियों की ईंटों को रखने का है। प्रति पङ्क्ति विपरीत क्रम से ईंटें रखने से वे परस्पर दबकर दृढ़ हो जाती हैं। इस प्रकार प्रथम चयन में पांच चित्तियों की ऊंचाई जानु=जांघ बराबर अर्थात् ३० अङ्गुल होती है। इस प्रकार प्रत्येक ईंट की ऊंचाई ६ अङ्गुल रखी जाती है। दूसरी बार के चयन में १० चितियां होती हैं। अतः उनमें इष्टकाओं की संख्या २००० होती है और ऊंचाई नाभि के बराबर होती है। तीसरी बार के चयन में १५ चितियां होती हैं। अतः उसमें ३००० इष्टकाएं लगती हैं और उसकी ऊंचाई मुख के बराबर होती है।

अग्निष्टोम में जिस अग्नि का स्थापन होता है उस का संबन्ध मध्यम स्थानीय विद्युत् के साथ है। सोमयाग में पञ्चम दिन की जितनी क्रियाएं होती है, वे वृष्टियज्ञ की प्रतीक हैं। इस अग्निचयन का नाम सुपर्णचयन है। सुपर्ण सूर्य का नाम है। अतः इसका संबन्ध आदित्य के साथ है। आदित्य की विभिन्न काल की तीन प्रकार की स्थितियों का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है।[1]

वारणं प्रणयनम्—प्रकृति में अपः प्रणयन के लिये वरण वृक्ष निर्मित चमस-पात्र विहित है—**वारणान्यहोमसंयुक्तानि** (कात्या० श्रौत १।३।३७)।

---

१. इसके लिये 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त श्रौत यज्ञों का परिचय' ग्रन्थ देखें।

यदुक्तम्—संनिधानाद् वाक्यादवगतोऽयमर्थ इति । नैवंजातीयको वाक्यार्थः सामान्यपदार्थं बाधितुमर्हति । निमित्तसंयोगे हि बार्हद्गिरादीनामर्थवत्ता । तस्मात्तत्र तत्रान्यन्नैमित्तिकान्नित्य इति । अथ यदुक्तम्—अवान्तरवाक्येन गोदोहनमपि प्रापितं न शक्यमुत्स्रष्टुम्, ऋते कारणादविवक्षितं कल्पयितुम् । द्विष्ठं हि तद्भवतीति । उच्यते । कारणादविवक्षितम् । किं कारणम् ? न हीदं युगपद्भवति—परिपूर्णेन चार्थाभिधानमवान्तरवाक्येन चेति । कथम् ? प्रणयतीति प्रपूर्वे नयतौ विधिविभक्तिः स्वपदगतमर्थं श्रुत्या विदधाति । प्रणयनादिसंबन्धमपि गोदोहनादि श्रुत्या, वाक्येन च । यस्तु फलस्य गोदोहनादेश्च संबन्धः, स हित्वा श्रुत्यर्थं केवलेन वाक्येन । अथ प्रणयनस्य गोदोहनादिसंबन्धं, गोदोहनादेश्च फलेन संबन्धं विदधातीत्युच्यते । तन्न । द्व्यर्थाभिधानाद्भिद्येत नितरां वाक्यम् । न चैतन्न्याय्यम् ।

व्याख्या—जो यह कहा है—"सान्निधान(=समीपस्थ) वाक्य से यह अर्थ जाना जाता है" (समाधान) इस प्रकार का वाक्यार्थ सामान्य [विहित] पदार्थ को नहीं बाध सकता है । निमित्त के संयोग में ही बार्हद्गिर आदि की अर्थवत्ता है । इस लिये वहां (=नित्यार्थ में) नैमित्तिक से अन्य [अभीवर्त साम आदि] नित्य होते हैं । और जो यह कहा है—"अवान्तर वाक्य (=गोदोहनेन प्रणयेत्) से गोदोहन भी प्राप्त हुआ छोड़ा नहीं जा सकता, कारण के विना 'अविवक्षित है' ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । दो अर्थवाला वह [वाक्य] होता है" । (समाधान) कारण होने से [अवान्तर वाक्यार्थ] अविक्षित है । क्या कारण है ? यह एक साथ नहीं होता है परिपूर्ण वाक्य से अर्थ का कथन और अवान्तर वाक्य से अर्थ का कथन । किस हेतु से ? 'प्रणयति' में 'प्र' पूर्वक 'नयति, (=नयन रूप धात्वर्थ) में [विद्यमान] विधि विभक्ति (=विधि लिङ् के प्रथम पुरुष का एकवचन) स्वपदगत [नयन रूप धातु के] अर्थ का श्रुति से विधान करती है [प्रणयेत्=प्रणयनं कुर्यात्] । प्रणयनादि सम्बन्ध को और गोदोहनादि को श्रुति से और वाक्य से कहता है । जो फल का गोदोहन के साथ सम्बन्ध हैं वह श्रुत्यर्थ को छोड़ कर केवल वाक्य से बोधित होता है । प्रणयन का गोदोहनादि के साथ संबन्ध और गोदोहनादि का फल के साथ सम्बन्ध का [गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत् वाक्य] विधान करता है ऐसा जो कहते हो, वह ठीक नहीं है । दो अर्थों ['गोदोहनेन प्रणयेत्', गोदोहनेन पशुरूपं फलं भावयेत्'] के अभिधान से अवश्य वाक्य भेद होवे । यह (=वाक्यभेद होना) न्याय्य नहीं है ।

विवरण—नैवं जातीयकः···बाधितुमर्हति—इसका भाव यह है कि 'अपः प्रणयति' इस सामान्य विहित अपः प्रणयन को जो पात्र की आकाङ्क्षा है, उसे गोदोहन वाक्य निवृत्त करने में समर्थ नहीं है । कैसे ? फल के साधनत्व से गोदोहन निराकांक्ष है । अतः वह 'अपः प्रणयति' के पात्र की आकांक्षा को कैसे मिटा सकता है । इसलिये सामान्याकांक्षा के अनिवर्तित होने पर (अपः प्रणयति) 'चमस' के साथ संबद्ध होगा । ....

यत्तु श्वेतो धावतीत्येवमादि, भवेत्तत्र विशेषानवगमादुभयार्थावगतिः । इह तु गम्यते विशेषः कमिपदोच्चारणम् । स इह श्रौतः । मन्येत यदि गोदोहनादेः क्रिया-संवन्धो विवक्ष्यते, कमिपदं प्रमादो भवेत् । न चायं प्रमादः । न चावान्तरवाक्यार्थे विवक्षिते कमिपदसंवन्धोऽवकल्पते । तस्मान्न द्विष्ठं वाक्यम् । गोदोहनादिकमिसंवन्ध एवात्राभिधीयते, न नित्यकार्ये भवितुमर्हतीति । एवं सर्वत्र ॥ ४ ॥ नैमित्तिकानां बार्हद्गिरादीनामनित्यार्थताधिकरणम् ॥२॥

—:०:—

व्याख्या—और जो 'श्वेतो धावति' इत्यादि वाक्य, उनके विशेषार्थ के बोधित न होने से उभय अर्थ की प्रतीति हो सकती है । यहाँ (=गोदोहन वाक्य में) कामपद का उच्चारण रूप विशेष अर्थ जाना जाता है । वह यहां श्रुतिबोधित अर्थ है । यदि गोदोहनादि का क्रिया के साथ संबन्ध विवक्षित है, ऐसा मानो तो कामपद प्रमाद [समाम्नात] होवे । और यह प्रमाद [समाम्नात] नहीं है । और अवान्तर वाक्यार्थ की विवक्षा होने पर कामपद के साथ सम्बन्ध समर्थित नहीं होगा । इसलिये यह दो अर्थों में वर्तमान वाक्य नहीं है । गोदोहनादि का कामपद सम्बन्ध एक ही अर्थ यहां कहा जाता है । इस लिये [गोदोहनादि] नित्य कार्य में संबद्ध नहीं हो सकता । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये ।

विवरण—यत्तु श्वेतोधावति—इन द्वयर्थक लौकिक वाक्यों में द्वयर्थ की प्रतीति का कारण भाष्यकार ने विशेषानवगमात्=विशेष अर्थ की प्रतीति न होना माना है । बृहतीकार ने विशेषार्थ की अप्रतीति में प्रकरणादि का अभाव हेतु दिया है । भट्ट कुमारिल ने श्वेतो धावति आदि वाक्यों का द्वयर्थकत्व का ही प्रतिषेध किया है । वे लिखते हैं—द्विष्ठ वाक्य नहीं है । एक ही अर्थ वाक्य का है । जिन वाक्यों में द्वयर्थकता होती है उनमें भी पूर्ण वाक्य से ही द्वयर्थाभि-धान होने से इस प्रकार (=विभक्त करके) श्वेतो धावति श्वा इतो धावति द्वयर्थता नहीं है । अर्थात् अखण्डवाक्य से ही द्वयर्थता मानी जाती है । वाक्यान्तर (=श्वेतो धावति) में इतनी थोड़ी सी विशेषता है । उनमें भी एक ही विवक्षा । श्वेतादि में वक्ता के भेद से भेद होता है । एक व्यक्ति की विवक्षा 'श्वेत गुणवाला अश्व दौड़ता है' है, दूसरे की 'कुत्ता यहां से दौड़ता है' विवक्षा है । हमारे विचार में भट्ट कुमारिल का लेख युक्तियुक्त है । महाभाष्यकार आदि का द्वयर्थता में इन वाक्यों का उदाहरण देना उदात्तादि स्वरों के अभाव में सामान्य रूप से है । वस्तुतः पुराकाल में जब भाषा में भी उदात्तादि स्वरों का व्यवहार होता था तब 'श्वा इतो' 'श्वेतो' में स्वर भेद होने से द्वयर्थकता की संभावना ही नहीं रहती । भट्ट कुमारिल का 'यत्रापि द्विष्ठत्वं तत्रापि पूर्णेनैवार्थद्वयाभिधानात्, लिखना युक्त है । इस का तात्पर्य यह है कि जहां अखण्डश्लेष हो वहां पूर्ण वाक्य से अर्थ द्वय की प्रतीति होती है । सखण्ड श्लेष में स्वरभेद के कारण द्वयर्थता मानना अप्रामाणिक है । हां, सखण्डश्लेष में भी स्वरभेद यदि बाधक न होता

[दध्यादेरुभयार्थताधिकरणम् ॥ ३ ॥]

अग्निहोत्रे श्रूयते—दध्ना जुहोति[1] इति। पुनश्च **दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्**[2] इति। तथाऽग्नीषोमीये पशावाम्नायते—खादिरे बध्नाति[3] इति। पुनश्च **खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्**[4] इति। तत्र संदेहः—किमत्राप्यन्यन्नित्यार्थमुत नैमित्तिकमेवेति ? किं प्राप्तम् ? पूर्वेण न्यायेनान्यदिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् ॥ ५ ॥ (उ०)

हो वहां द्वयर्थकता स्वीकार की जा सकती है। यथा अरुणोमासकृत् (ऋ० १।१०५।१८)। यहां मा सकृत् दो पद किये जायें अथवा मासकृत् एक पद होवे। इसमें स्वर में कोई भेद नहीं पड़ता। अतः शाकल्य का 'मा' 'सकृत्' दो पद मानना और निरुक्तकार का 'मासकृत्' एक पद मानना (द्र० निरुक्त ५।२१) दोनों ही सम्भव हो सकते हैं।

—:o:—

व्याख्या—अग्निहोत्र में सुना जाता है—दध्ना जुहोति (=दही से अग्निहोत्र करे)। पुनः दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् (दही से इन्द्रिय की कामना वाले का अग्निहोत्र करे)। तथा अग्निषोमीय पशु [के प्रकरण] में पढ़ा है—खादिरे बध्नाति (=खदिर के पेड़ से बने यूप में पशु को बांधता है)। पुनः खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात् (=वीर्य की कामनावाले यजमान का खदिर के वृक्ष का यूप बनावे)। इस में सन्देह होता है—क्या यहां भी यह (=दधि और खादिर यूप) नित्यार्थ है अथवा नैमित्तिक ही है ? क्या प्राप्त होता है ? पूर्व न्याय से यह अन्यत् अर्थात् नैमित्तिक है। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—

एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थः—(एकस्य) एक द्रव्य दही वा खादिर यूप के (तु) तो (उभयत्वे) नित्यत्व और नैमित्तिकत्व दोनों में (संयोग पृथक्त्वम्) संयोग=संबन्ध का पृथक् पृथक् होना कारण है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—दध्नेन्द्रियकामस्य। तै० ब्रा० २।१।५।६॥

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तस्मात् खादिरो यूपो भवति। शत० ३।६।२।१२॥

४. अनुपलब्धमूलम्। ऐ० ब्राह्मणे (२।१) स्वर्गकामस्य—खादिरो यूपो विहितः, वीर्यकामस्य तु तत्रैव बैल्वो यूपो विधीयते।

एकस्योभयत्वे नित्यत्वे नैमित्तिकत्वे च संयोगपृथक्त्वं कारणम् । तदिह संयोग-पृथक्त्वमस्ति । एकः संयोगो दध्ना जुहोतीति, एको दध्नेन्द्रियकामस्येति । तथैकः खादिरे बध्नातीति, अपरः खादिरं वीर्यकामस्येति । तस्मान्नित्यार्थे कामाय च दधि-खादिरादीति ॥ ५ ॥

शेष इति चेत् ॥ ६ ॥

इति चेत्पश्यसि, कस्मान्न पूर्वस्यायमपि शेषो भवति । यदेतदुक्तं—दध्ना जुहोति, खादिरे बध्नातीति । तस्यैव तु दध्नः फलमिन्द्रियं, तथा खादिरस्य वीर्यम् । तच्चेदं चैकं वाक्यमिति ॥ ६ ॥

इसका भाव यह है कि दध्ना जुहोति में होम को उद्देश्य करके दधि का विधान है और दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् में दधि का इन्द्रिय कामना के साथ संबन्ध है। इसी प्रकार खादिर यूप के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।

व्याख्या—एक द्रव्य के दोनों में अर्थात् नित्यत्व और नैमित्तिकत्व में संयोग का कारण पृथकत्व है। वह संयोग पृथक्त्व यहां है। एक संयोग है—दध्ना जुहोति और एक है—दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्। इसी प्रकार एक संयोग है—खादिरे बध्नाति और दूसरा है—खादिरं वीर्यकामस्य। इसलिये नित्य के लिये और कामना के लिये दधि और खादिर आदि हैं।

विवरण—इन उदाहरणों में से दधि के संबन्ध मी० २।२, अ० ११। सू० २५-२६ का प्रकरण भी देखना चाहिये ॥५॥

शेष इति चेत् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थः—'दध्नाजुहोति' वचन 'दध्नेन्द्रियकामस्य' का और 'खादिरे बध्नाति' वचन 'खादिरं वीर्यकामस्य' का (शेषः) शेष होवे (इति चेत्) ऐसा माना जाये तो [दोनों की एक वाक्यता होने से दधि और खादिर का फल इन्द्रिय और वीर्य माना जायगा]।

व्याख्या—यदि यह समझते हो कि पूर्व का यह शेष क्यों नहीं होता? जो यह कहा हैं—दध्ना जुहोति, खादिरे बध्नाति। उसी का ही तो दधि का फल इन्द्रिय और खादिर का फल वीर्य है। वह (='दध्ना जुहोति' और 'खादिरे बध्नाति') और यह [फल विधायक वचन] एक वाक्य है।

विवरण—जैसे अपः प्रणयति का अनुवाद करके चमस विधायक चमसा प्रणयति वाक्य के साथ एक वाक्यत्व है—चमसा अपः प्रणयति। इसी प्रकार दध्ना जुहोति, खादिरे बध्नाति

नार्थपृथक्त्वात् ।।७।। (उ०)

नैतदेवम्, पृथगेतावर्थौ— यश्च दधिहोमसंयोगो यश्च दधीन्द्रियसंयोगः । तथा खादिरस्य बध्नातिना संयोगो वीर्येण च । द्वावेतावर्थौ, द्वावपि च विधित्सितौ । अर्थैकत्वाच्चैकं वाक्यं समधिगतम् । इहार्थद्वयेन भिद्येत वाक्यम् । कथम् ? जुहोतिसमभिव्याहृता विधिविभक्तिरसंभवे श्रौतहोमविधानस्य, गुणं समभिव्याहृतं विधातुमर्हति । तदसंभवे गुणफलसंबन्धम् । तत्र ह्यत्यन्ता श्रुतिरुत्सृष्टा वाक्यानुरोधेन स्यात् । न च युगपत्संभवासंभवौ संभवतः । तस्माद् यदेव नैमित्तिकं तदेव नित्यार्थमिति ।।७।। **दध्यादेर्नित्यनैमित्तिकोभयार्थताधिकरणम् ।। ३ ।।**

—:०:—

का अनुवाद करके दध्नेन्द्रियकस्य' खादिरं वीर्यकामस्य की एक वाक्यता है—**दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात् खादिरे वीर्यकामस्य बध्नीयात्** ।।६।।

नार्थपृथक्त्वात् ।।७।।

सूत्रार्थः (अर्थपृथक्त्वात्) दोनों (='दध्ना जुहोति' और 'दध्नेन्द्रियकामस्य' तथा 'खादिरे बध्नाति' और 'खादिरं वीर्यकामस्य' वाक्यों' के अर्थों के पृथक् होने से [पूर्व वचन का उत्तर वचन] शेष (न) नहीं है ।

व्याख्या—ऐसा (=शेषभाव) नहीं है । ये दोनों अर्थ पृथक् हैं—जो दधि होम संयोग और दधि इन्द्रिय संयोग तथा खादिर का 'बध्नाति' के साथ संयोग और वीर्य के साथ संयोग । ये दो अर्थ हैं और दोनों ही विधित्सित (=विधान की इच्छा से युक्त) । अर्थ के एक होने से एक वाक्य होता है यह जाना गया है [अर्थात् पहले कहा गया है] । यहां दो अर्थ होने से भिन्न वाक्य होवें । कैसे ? 'हु' धातु के साथ उच्चरित विधि विभक्ति [लिङ्] श्रौत होम के विधान के असंभव होने पर सह उच्चरित गुण को विधान करेगी । उस (=सह उच्चरित गुण) के असम्भव होने पर फल संबन्ध को कहेगी । वहां (=दधि फल सम्बन्ध के कहने पर) वाक्य के अनुरोध से श्रुति (=लिङ् विभक्ति) अत्यन्त छोड़ी जाने वाली होगी । एक साथ सम्भवता और असम्भवता सम्भव नहीं है । इसलिये जो ही नैमित्तिक (=इन्द्रिय फल के लिये दधि और वीर्य फल के लिये खादिर यूप) है, वही नित्यार्थ भी है ।

विवरण—असंभवे श्रौतहोमविधानस्य—अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः वाक्य से होम का विधान किया जा चुका है । अतः दध्ना जुहुयात् वाक्यस्थ लिङ् विभक्ति होम की विधायिका नहीं हो सकती । इसीलिये वह लिङ् विभक्ति होम को उद्देश करके दधि का विधान करती है । **दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्** वाक्यस्थ लिङ् विभक्ति स्ववाक्य पठित दधिरूप गुण की विधायिका

[पयोव्रतादीनां क्रत्वर्थताधिकरणम् ॥ ४ ॥]

ज्योतिष्टोमे समामनन्ति—**पयो व्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य'** इति । तत्र संदेहः--किमयं पुरुषधर्मं उत क्रतोरिति ? प्रकरणम् बाधित्वा वाक्येन विनियुक्तः पुरुषस्येति । एवं प्राप्ते ब्रूमः--

---

नहीं हो सकती, क्यों कि दधिरूप गुण का विधान दध्ना जुहुयात् से किया जा चुका है। अतः यह लिङ् विभक्ति दधि और इन्द्रियरूपी फल के सम्बन्ध की विधायिका होगी। इस प्रकार अर्थ में **दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्** वाक्यस्थ लिङ् विभक्ति अत्यन्त गौण हो जाती है। **न च युगपत् सम्भवासम्भवौ संभवतः**—इस का भाव यह है कि द्वितीय वचन को प्रथम वचन का शेष मानने पर वाक्य का स्वरूप **दध्ना जुहुयाद् इन्द्रियकामस्य** होगा। इस में जुहुयात्' पदस्थ एक ही लिङ् विभक्ति दधि का विधान करने में समर्थ होवे और असमर्थ होकर इन्द्रियरूप फल का विधान करे यह सम्भव नहीं है। अर्थात् एक ही जुहुयात् पदस्थ लिङ् विभक्ति दधिरूप गुण की विधायिका होवे और उसी दधि होम को उद्देश करके फल संबन्ध का विधान करे, यह सम्भव नहीं है। इस लिये जो नैमित्तक (=इन्द्रियफल के लिये विहित) दधि है वही दध्ना जुहुयात् से नित्य होम के लिये भी होवे। इस से **दध्ना जुहोति पयसा जुहोति** में **व्रीहिभिर्यजेत् यवैर्यजेत्** के समान अग्निहोत्र में दधि और पयः द्रव्य का विकल्प होगा। इसी नित्य अग्निहोत्र के लिये विहित दधि का **दध्नेन्द्रियकामस्य** वचन से इन्द्रियरूप फल का कथन किया है। इस प्रकार एक ही दधि नित्यार्थ भी है और फलार्थ भी है। **अपः प्रणयति** वाक्य में **केन प्रणयेत्**। (किस से अपः का प्रणयन करे) इस अर्थ की आकांक्षा होने से **चमसा प्रणयति** वाक्यस्थ चमस से आकांक्षा की पूर्ति हो जाने से प्रयोजनकत्व से एक वाक्यता होती है। यहां **दध्ना जुहोति** होम प्रयोजन वाले दधि से **केन जुहुयात्** आकांक्षा के निराकृत हो जाने से यह अन्य प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रखता है। पुनः उस दधि से क्या फल होता है ? इस आकांक्षा की पूर्ति **दध्नेन्द्रियकामस्य** वाक्य में इन्द्रियरूप साध्य के निर्देश से हो जाती है। इस प्रकार इन दोनों वाक्यों के साध्य भिन्न-भिन्न हैं—प्रथम वाक्य का साध्य होम है और द्वितीय वाक्य का इन्द्रियरूप फल। अतः दोनों वाक्यों का परस्पर संबन्ध नहीं है। प्रयोजन के भिन्न भिन्न होने से ॥ ७ ॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में पढ़ते हैं—**पयो व्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य** (=ब्राह्मण का व्रत=अन्न=अदनीय पदार्थ दूध है, राजन्य का यवागू और वैश्य का आमिक्षा=पनीर)। इसमें सन्देह होता है—यह (=पयो व्रत आदि) पुरुष का धर्म है अथवा याग का ? प्रकरण को बाधकर वाक्य से [ब्राह्मणादि में] विनियुक्त पुरुष का धर्म है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतु-धर्मः स्यात् ॥ ८ ॥ (उ०)

पुरुषाणां क्रियार्थानां शरीरधारणार्थो बलकरणार्थश्चायं संस्कारो व्रतं नाम। स क्रतुधर्मो भवितुमर्हति, प्रकरणानुग्रहाय। ननु वाक्यात् पुरुष-धर्म इति। नेति ब्रूम। तथा सति फलं कल्प्यं, क्लृप्तमितरत्र। प्रयोगवचनेनोपसंहृतं हि तत्प्रधानस्य तस्मात् क्रतुधर्मः ॥८॥

विवरण—पयो व्रतम्—यहां व्रत शब्द अन्न=अदनीय=भक्षणीय पदार्थ का वाचक है। द्र०—अन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम् (निरुक्त २।१३)। शरीर को आच्छादित =बलयुक्त करने से अन्न को भी व्रत कहते है। स्कन्द स्वामी की निरुक्त टीका में भोजनमपि व्रतमुच्यते पाठ है। यवागू राजन्यस्य—यहां यवागू शब्द का अर्थ पक कर पानी में घुले हुए चावल है। जैसे पतली घुली हुई खिचड़ी होती है, उस प्रकार के पानी में घुले हुए चावल। यवागू में जौ का वाचक यवशब्द नहीं है यवागू शब्द 'यु मिश्रणे' धातु से आगूच् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है (द्र० उणादि ३।८१)। प्रकरणं बाधित्वा वाक्येन—प्रकरण की अपेक्षा वाक्य प्रमाण के बलवत् होने से ज्योतिष्टोम के प्रकरण को बाधकर पुरुष का धर्म कहा है। वाक्येन विनियुक्तः पुरुषस्य—इस का तात्पर्य यह है कि वाक्य के द्वारा यह पुरुष का धर्म कहा गया है ब्राह्मण का भोजन दूध है, क्षत्रिय का यवागू, और वैश्य का पनीर। अर्थात् ब्राह्मण को जब भूख लगे दूध ही पीवे। इसी प्रकार क्षत्रिय यवागू का और वैश्य आमिक्षा का ही सेवन करे।

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(क्रियार्थानाम्) क्रिया=याग के प्रयोजन से कहे गये (द्रव्याणाम्) [क्रत्व-धिकृत] द्रव्यों [=पुरुषों] का (तु) तो (संस्कारः) संस्कार (क्रतुधर्मः) याग का धर्म (स्यात्) होवे।

विशेष—सूत्र में 'द्रव्याणाम्' सामान्य निर्देश किया है प्रकृत में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य अभिप्रेत हैं। अर्थात् इन के लिये कहा गया पयोव्रतत्वादि संस्कार क्रतु का धर्म है।

व्याख्या—क्रिया (=याग) प्रयोजन वाले [ब्राह्मणादि] पुरुषों के शरीर धारणार्थ और बल करणार्थ यह व्रतरूप संस्कार है। वह क्रतु का धर्म होना चाहिये प्रकरण के अनुग्रह के लिये। (आक्षेप) वाक्य से पुरुष धर्म है [ऐसा जाना जाता है]। (समाधान) नहीं, वैसा (=पुरुषधर्म) होने पर [उस का] फल कल्प्य होगा अर्थात् फल की कल्पना करनी होगी। दूसरे (=क्रतुधर्म) पक्ष में फल क्लृप्त=सिद्ध है। प्रयोगवचन (=इदमिदमत्र कर्तव्यम्) से वह व्रतरूप संस्कार प्रधान (=याग) का उपसंहृत है [अर्थात् अन्यकर्मों के साथ व्रत भी प्रधान ज्योतिष्टोमार्थ है, यह जाना जाता है]। इस लिये यह क्रतु का धर्म है। ८॥

पृथक्त्वाद् व्यवतिष्ठेत ।।९।।

अथ पुरुषसंयोगः किमर्थः ? व्यवस्थापनार्थ इति ब्रूमः । पयोव्रतं ज्योतिष्टोमस्य भवति । तत्तु ब्राह्मणकर्तृकस्यैव, नान्यकर्तृकस्येति । एवं सर्वत्र ।।९।। **पयोव्रतादीनां क्रतुधर्मताधिकरणम् ।।४।।**

—:०:—

[विश्वजिदादीनां फलवत्त्वाधिकरणम् ।।५।।]

इदमामनन्ति—तस्मात्पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति[1] इति । तथा सर्वेभ्यो वा एष

पृथक्त्वाद् व्यवतिष्ठेत ।। ९ ।।

सूत्रार्थः—[ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कृत प्रयोगों=यागों के] पृथक् पृथक् होने से [पयोव्रतत्वादि] (व्यवतिष्ठेत) व्यवस्थित होवे । अर्थात् ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम का पयोव्रत संस्कार कर्म है, क्षत्रियकर्तृक का यवागूव्रत और वैश्यकर्तृक का आमिक्षाव्रत ।

व्याख्या—(आक्षेप) **[यदि पयोव्रतादि क्रतु के धर्म हैं तो वाक्यों में] पुरुषों (=ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों) का संयोग किस लिये है ? (समाधान) व्यवस्था के लिये [पुरुषों का संयोग है] ऐसा कहते हैं । पयोव्रत ज्योतिष्टोम का** [संस्कारक] होता है और वह ब्राह्मण द्वारा किये गये [ज्योतिष्टोम] का ही, अन्य (=क्षत्रिय आदि) से किये गये का [संस्कारक] नहीं होता । **इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये ।**

विशेष—इस सूत्र की व्याख्या में कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा है—'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य' में षष्ठी उद्देश्यता संबन्ध से अन्वित नहीं होती [अर्थात् सम्बन्ध में षष्ठी नहीं है] जिस से ब्राह्मणादि के लिये पयोव्रत में केवल पुरुषार्थता होवे । किन्तु 'ब्राह्मणस्य' कर्ता में विहित षष्ठी ज्योतिष्टोम में अन्वित होती है—ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम में पयोव्रत (एवमन्यत्र) । इसका तात्पर्य यह है कि कृदन्त 'व्रत' शब्द के योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (अष्टा० २।३।६५) से ब्राह्मणादि कर्ता में षष्ठी है । अर्थ होगा—ब्राह्मणेन पयोव्रतनीयम् भोजनीयम् । कहां ब्राह्मण से पयः भोजनीय है ? इस आकांक्षा की पूर्ति होगी ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित होने से 'ज्योतिष्टोम में'। तात्पर्यार्थ होगा—ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम में पयः व्रतनीय है । इसी प्रकार अन्यत्र जानें ।।९।।

—:०:—

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—तस्मात् पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति (**=इस लिये पितरों के**

---

१. तै० सं० २।५।३।६।।

देवेभ्यः सर्वेभ्यश्छन्दोभ्यः सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य आत्मानमागुरते, यः सत्रायाऽऽगुरते, स विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्वस्तोमेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत', इत्येवंलक्षणके श्रुते भवति संदेहः। किं निष्फलमेतत्कर्ममात्रमुत सफलमिति ? किं प्राप्तम् ? निष्फलमिति। कुतः ?

लिये पहले दिन(=दर्शेष्टि से पूर्व दिन) करता है। तथा सर्वेभ्यो वा एष देवेभ्यः सर्वेभ्यश्छन्दोभ्यः सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य आत्मानमागुरते, यः सत्रायागुरते, स विश्वजिता अतिरात्रेण सर्व पृष्ठेन सवस्तोमेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत (=वह सब ही देवों के लिये, सब छन्दों के लिये, सब पृष्ठ [स्तोत्रों] के लिये अपने को संकलिपत=निवेदित करता है जो सत्र के लिये संकल्प करता है। वह सर्वपृष्ठ सर्वस्तोम सर्ववेदस दक्षिणा वाले विश्वजित् अतिरात्र से यजन करे) इस प्रकार के श्रवण में सन्देह होता है कि क्या यह कर्म निष्फल है अथवा सफल (=फलवान्) है ? क्या प्राप्त होता है ? निष्फल है। किस हेतु से ?

विवरण—तस्मात् पितृभ्यः वाक्य से प्रतिपदा में विहित दर्शेष्टि से पूर्व दिन मध्याह्नोत्तर पिण्डपितृयज्ञ का विधान किया है। इस पिण्डपितृयज्ञ का पौराणिक श्राद्ध कर्म से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। सर्वेभ्यो वा ·········यजेत—यह भाष्यकारोक्त वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ। तैत्तिरीय ब्राह्मणादि में जो पाठ मिलता है वह नीचे भाष्य की टिप्पणी में लिखा है। इन ग्रन्थों के अनुसार जो 'मैं सत्र करूंगा' ऐसा संकल्प लेकर जो सत्र नहीं करता, उसके लिये प्रायश्चित्तरूप यह सर्वपृष्ठ सर्वस्तोम सर्ववेदस दक्षिण विश्वजित अतिरात्र का विधान है। प्रायश्चित विधि में निष्फल अथवा सफल की शङ्का ही नहीं होती। अतः भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन एकाह प्रकरण में पठित विश्वजिद अतिरात्र का विधायक है। यह निर्देश भट्ट कुमारिल ने अगले सिद्धान्त सूत्र की टुप्टीका में किया है—एकाहकाण्डपठितो विश्वजिद् इहोदाहरणम्। इसी व्याख्या में लिखा है—'एकाहकाण्डपठितेति—अनेन च 'यः सत्रायाऽऽगुरते स विश्वजिता यजेत्' इत्यादि नैमित्तिकानामनुदाहरणत्वं सूचितम्। द्र०—शाबरभाष्य पूना संस्क०, पृष्ठ १२५४॥ कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा हैं—'यः सत्रायागूर्य न यजेत स विश्वजिता यजेत अर्थात् जो सत्र करने का संकल्प करके सत्र न करे वह विश्वजित् से यजन करे इस विश्वजित सत्र का जो फल है वही विश्वजित् का है ऐसा षष्ठाध्याय में कहेंगे (द्र० कु० वृत्ति० ६।४।२८)। एकाह काण्ड में पठित विश्वजित् का स्वर्गफल छान्दोग्य ब्रा० में कहा है (तां० ब्रा० २२।८।४ में

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तुलना कार्या—सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य आत्मानमागुरते, यः सत्रायागुरते। एतावान् खलु वै पुरुषः, यावदस्य वित्तम्। सर्ववेदसेन यजेत'। तै० ब्रा० १।४।७॥ अत्र बौधा० श्रौत १४।२६ अपि द्रष्टव्यम्। यदि सत्रायागूर्य न यजेत विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्वस्तोमेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत। आप० श्रौत १४।२३।१॥

चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत नह्यशब्दं प्रतीयते ॥ १० ॥ (पू०)

फलाश्रुतेः, शब्दप्रमाणके कर्मण्येवंजातीयके न ह्यशब्दं प्रतीयते । ननु वैदिकानि कर्माणि फलवन्ति भवन्तीत्येवमुक्तम् । उच्यते । फलदर्शनात्तानि फलवन्तीत्युक्तम्, न वैदिकत्वात् । एवं तर्हि कर्तव्यतावगमात्फलवन्तीत्यध्यवस्यामः । सुखफलं हि कर्तव्यं भवतीति । उच्यते । प्रत्यक्षविरुद्धमेवंजातीयकस्य कर्तव्यत्वम् । साक्षाद्धि तद्दुःखफलमवगच्छामः । न चैवंजातीयकं प्रत्यक्षविरुद्धं वचनं प्रमाणं भवति । यथाऽम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते, पावकः शीत इति । अपि चानुमानादत्र सुखफलता—यस्मात् कर्तव्यमतः सुखफलमिति । प्रत्यक्षं चानुमानाद्बलीयः । तस्मान्निष्फलमेवंजातीयकमिति ।

एवं ह्यत्र फलं कल्प्येत—यद्येतत्फलवत्, एवमुपदेशोऽर्थवान् भवतीति ।

पठित विश्वजित् का स्वर्ग वहां निर्दिष्ट नहीं है) । इसलिये जहां अर्थवादादि से फल श्रुत न हो ऐसा पिण्डपितृयज्ञ आदि हो यहां उदाहरणीय हैं' ।

चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत, न ह्यशब्दं प्रतीयते ॥१०॥

सूत्रार्थः—(चोदनायाम्) कर्म की विधि में (फलाश्रुतेः) फल का श्रवण न होने से (कर्ममात्रं विधीयेत) कर्ममात्र का विधान किया जाता है । (अशब्दम्) जो शब्द से विहित नहीं है वह (न हि प्रतीयते) नहीं जाना जाता है ।

व्याख्या—फल की श्रुति (श्रवण) न होने से शब्दप्रमाण वाले इस प्रकार के कर्म में अशब्द (जो शब्द से बोधित न हो) वह [अर्थ] नहीं जाना जाता है । (आक्षेप) वैदिक कर्म फलयुक्त होते हैं यह कह चुके हैं ।(समाधान)फल के दर्शन से वे[वेदोक्त कर्म] फल वाले हैं, यह कहा है, वैदिक होने से[फलवान् है ऐसा]नहीं कहा ।(आक्षेप)अच्छा तो कर्तव्यता के परिज्ञान से [वैदिक कर्म] फल वाले हैं ऐसा निश्चय करेंगे[क्योंकि]सुख रूप फल वाला कर्म ही कर्तव्य होता है ।(समाधान प्रत्यक्ष विरुद्ध है इस प्रकार के कर्म का कर्तव्यत्व । साक्षात् ही वह कर्तव्य दुःख फल वाला है, ऐसा जानते हैं । इस प्रकार का प्रत्यक्ष-विरुद्ध वचन प्रमाण नहीं होता । जैसे जल में अलाबू (=सूखी लौकी, तुम्बी) डूबती है, शिला तैरती है, अग्नि शीतल है । और भी, यहां (=विश्वजित अतिरात्र के विषय में) सुख-फलता अनुमान से [प्राप्त होती है]—जिस कारण यह कर्तव्य है अतः सुख फल वाला है । प्रत्यक्ष अनुमान से बलवान् होता है । इसलिये इस प्रकार का कर्म निष्फल है ।

विवरण—साक्षाद्धि तद् दुःखफलम्—विश्वजित् अतिरात्र का अनुष्ठान व्रतादि तथा चिरकालव्यापी कर्तव्यता के कारण नियम साक्षात् दुःखरूप है ।

व्याख्या—(आक्षेप) इस प्रकार फल की कल्पना होगी—यदि यह [कर्म] फलवान् हो

उच्यते । कामं वाक्यमनर्थकमिति न्याय्यं वचनं भवेत् । भवन्ति ह्यनर्थकान्यपि वचनानि—'दश दाडिमानि षडपूपाः'[1] इत्येवंजातीयकानि । ननु विश्वजिद्व्यापारः सुखफल इति । सुखफलं हि भवत्यपूर्वं, न व्यापारः । नचायमपूर्वस्य कर्तव्यतामाह । फलकर्तव्यतायां हि सत्यां तदवगम्यते । वाक्यार्थश्च फलस्य कर्तव्यामाह, न पदार्थः । न चात्र फलसंबद्धं वाक्यमस्ति । तस्मान्नायमपूर्वस्य विधायकः शब्द, व्यापारमात्रमेव विदधाति । स च व्यापारो न तदात्वे सुखफलो नाप्यायत्याम्, भङ्गित्वात् । तत्रापूर्वं कल्पयित्वा फलमवगम्येत, फलं च कल्पयित्वाऽपूर्वम् । एवमितरेतराश्रयं भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते । तस्मान्निष्फलेवंजातीयमिति ।

तो इस का उपदेश अर्थवान् (=सप्रयोजन) होता है [अर्थात् यदि यह कर्म निरर्थक होता तो इस का उपदेश (=कथन=विधान) न होता] । (समाधान) चाहे वाक्य अनर्थक होवे, यह कथन न्याय्य होगा । अनर्थक भी वचन होते हैं—'दस अनार, छ पूये' इत्यादि रूप ।[इस विषय में शाबरभाष्य १।१।५ भाग १, पृष्ठ ३७ का विवरण देखें, वहां पूरे पाठ की व्याख्या की है] (आक्षेप) विश्वजित् का व्यापार (कर्म) सुखफल वाला है । (समाधान) अपूर्व सुखफल वाला होता है, व्यापार [सुखफल वाला] नहीं होता । यह [विश्वजित् कर्म बोधक वचन] अपूर्व की कर्तव्यता को नहीं कहता । फलरूप कर्तव्यता के होने पर ही वह [अपूर्व होता है ऐसा] जाना जाता है । वाक्यार्थ फल की कर्तव्यता को कहता है, पदार्थ नहीं कहता । यहां(विश्वजिद् विधायक वचन में) फल से सम्बद्ध वाक्य नहीं है । इसलिये यह (=विश्वजिद् विधायक वचन) अपूर्व का विधायक शब्द नहीं है केवल व्यापार मात्र का विधान करता है । वह [विश्वजिद् सम्बन्धी] व्यापार उस समय (=कर्म काल में) सुख फलवाला नहीं है और ना ही भविष्य में सुख फल-वाला [हो सकता है]', उस व्यापार के नाशवान् होने से ।[इतना ही नहीं,] वहाँ (=विश्व-जित् के विषय में) अपूर्व की कल्पना करके फल की प्रतीति होगी, और फल की कल्पना करके अपूर्व की प्रतीति होगी । इस प्रकार यह इतरेतराश्रय होता है और इतरेतराश्रय कार्य सिद्ध नहीं होते । इसलिये इस प्रकार का कर्म निष्फल ही है ।

विवरण—नचायमपूर्वस्य कर्तव्यतामाह—'स विश्वजिता·········यजेत' वाक्य में 'यजेत' पद अपूर्व का विधायक नहीं है । फलकर्तव्यतायां—जैसे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत् स्वर्ग-कामः वाक्य से स्वर्गरूप फल की प्रतीति होती है और वह स्वर्ग यागरूप व्यापार के नाशवान् होने से याग स्वर्ग का निमित्त नहीं बन सकता । अतः स्वर्गरूप फल की सिद्धि के लिये यजेत् पद से अपूर्व की कल्पना की जाती है [द्र० चोदना पुनरारम्भः (मी० २।१।५) सूत्र का भाष्य और व्याख्या] । वाक्यार्थश्च फलस्य कर्तव्यतामाह—'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत् स्वर्गकामः' इस

---

१. द्र० शाबरबाष्य १।१।५॥ महाभाष्य १।१।१; तथा वात्स्यायन भाष्य ५।२।१० ॥

आह । अध्याहरिष्यामहे फलवचनम् । उच्यते । न शक्यं परिपूर्णे वाक्येऽध्याहर्तुम् परिपूर्णं हीदं वाक्यं, विश्वजिद्याग: कर्तव्य इति । न किंचित्पदमस्ति साकाङ्क्षं, येनाध्याहृत्य फलं संवध्येत । यथाऽक्षेमेऽपि पथि भवति विप्रलम्भकोपदेश: । क्षेमोऽयं, पथा[1] गच्छतु भवानेति । परिपूर्णमेवेदं वाक्यं नाध्याहारमर्हति विप्रलम्भकत्वेपि[2] । एवमिदमपि परिपूर्णं वाक्यं नाध्याहारमर्हति । अपि चाध्याह्रियमाणे नैवेदं वाक्यं संबध्येत । विश्वजिद्याग: कर्तव्य:, इदं च फलं भवतीति, द्वाविमार्थौ । एकार्थं च वाक्यं समाधिगतम् । तस्मादनर्थकमेवंजातीयकं कर्मेति ।।१०।।

वाक्य के अर्थ से दर्शपूर्णमास कर्म का स्वर्गरूप फल जाना जाता है । वाक्यार्थ होता है 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' । यहां केवल 'यजेत्' पद फल की कर्तव्यता का बोधक नहीं है । **नापूर्वस्य विधायकः शब्दः**—विश्वजिद् विधायक वचन में यजेत्—पद अपूर्व का विधायक नहीं है, वह केवल विश्वजित् संज्ञक कर्म का ही विधान करता है ।

व्याख्या—(आक्षेप) फलबोधक वचन का अध्याहार कर लेंगे । (समाधान) परिपूर्ण वाक्य में अध्याहार करना सम्भव नहीं है । यह वाक्य परिपूर्ण है—'विश्वजिद् याग करना चाहिये' । [इस में] कोई भी पद साकाङ्क्ष नहीं है, जिस से [आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिये] फल का अध्याहार करके सम्बन्ध किया जाये । जैसे अक्षेम (=अकल्याणकारी =दुखदायी) मार्ग में भी विप्रलम्भक (=ठग) का कथन होता है—'यह [मार्ग] सुखदायी है, इस मार्ग आप जायें' । यह (='क्षेमोऽयं ·······अनेन') वाक्य परिपूर्ण है । वाक्य के विप्रलम्भक (=ठगी से युक्त=झूठ) होने पर भी [यह] अध्याहार की योग्यता नहीं रखता । इस प्रकार यह (विश्वजिद्) वाक्य भी परिपूर्ण है, अध्याहार की अपेक्षा नहीं रखता । और भी, [फल बोधक पद के] अध्याहार करने पर यह वाक्य संबद्ध नहीं होगा । 'विश्वजित् याग करना चाहिये' और [इसका] 'यह फल है' ये दो अर्थ हैं । 'एकार्थ वाला वाक्य होता है' यह जाना गया है [अर्थात् कहा गया है] । इसलिये इस प्रकार का कर्म अनर्थक ही है ।

विवरण—विप्रलम्भकत्वेऽपि—यहां 'क्षेमोऽयम्' इत्यादि वाक्य का विप्रलम्भकत्व दर्शाया है । विप्रलम्भकर्तृकम्—इस पाठान्तर का अर्थ होगा—ठग व्यक्ति से उच्चरित परिपूर्ण वाक्य भी अध्याहार की अपेक्षा नहीं रखता । **एकार्थं च वाक्यं समधिगतम्**—द्र० अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात् । मी० २।१।४६।।१०।।

---

१. 'सर्वत्र' 'यथा' पदं पठ्यते । स चानान्वित: । अत्र 'पथा' पदेन भाव्यम् ।

२. विप्रलम्भककर्तृकमिति पा० ।

अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्याच्चोदनाऽर्थेन गम्येतार्थानां ह्यर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्येऽप्यसंबन्धस्तस्माच्छ्रुत्येकदेशः सः ॥ ११ ॥ (उ०)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः । न चैतदस्ति, अफलमिति । फलचोदना अर्थेन गम्येत । कतमेनार्थेन ? कर्तव्यतावचनेन । आह । ननु व्यापारस्य प्रत्यक्षविरुद्धा कर्तव्यता । न व्यापारस्योच्यते । कस्य तर्हि ? व्यापारेणान्यस्य कस्यचिदिति । भवति तेनेदानीं वाक्यं साकाङ्क्षम् । तत्राध्याहारोऽवकल्पते । भवति चाध्याहारेणापि कल्पना । यथा, द्वारं द्वारमित्युक्ते, संव्रियतामपाव्रियतामिति वा । कथं पुनरवगम्यत इहाध्याहारेण कल्पयितव्यमिति । आम्नानसामर्थ्यात् । एवमिदमाम्नानमर्थवद् भविष्यति । शक्नोति चार्थमवगमयितुम् । तस्मान्नानर्थकम् ।

अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्याच्चोदना..... तस्माच्छ्रुत्येकदेशः सः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) ये पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये हैं अर्थात् विश्वजिद् विधायक वाक्य अनर्थक नहीं है । (आम्नानसामर्थ्यात्) [विश्वजिद् वाक्य का] वेद में पाठ होने से फल की (चोदनार्थेन) 'यजेत्' रूप चोदना के अर्थ से (गम्येत) प्रतीति होवे । (अर्थानाम्) पदों के अर्थों की (अर्थवत्वेन हि) अर्थवान्=प्रयोजनवान् होने से ही [व्यवहित] (वचनानि) वचन (प्रतीयन्ते) विदित होते हैं अर्थात् सबद्ध होते हैं । (हि) इसलिये (अर्थतः) अर्थ से (असमर्थानाम्) असमर्थ पदों का (आनन्तर्येऽपि) आनन्तर्य=समीपता होने पर भी (असम्बन्धः) संबन्ध नहीं होता है । (तस्मात्) इसलिये (सः) दूर पठित फल बोधक पद भी (श्रुत्येकदेशः) श्रुति=विश्वजिद् विधायक वचन का एक देश है ।

व्याख्या—'अपि वा' पद [विश्वजित् याग अनर्थक है, इस] पक्ष की निवृत्ति के लिये है । यह नहीं है कि [विश्वजिद् याग] फल रहित है । फल की चोदना (=यजेत) के अर्थ से जानी जाती है । किस अर्थ से ? कर्तव्यतारूप वचन से । (आक्षेप) व्यापार (=याग कर्म) की कर्तव्यता प्रत्यक्ष विरुद्ध है । (समाधान) ['यजेत' से] व्यापार की कर्तव्यता नहीं कही जाती है । तो किसकी कर्तव्यता कही जाती है ? व्यापार से भिन्न किसी की । इस से इस अवस्था में (=व्यापार से भिन्न की कर्तव्यता कहने पर) वाक्य साकाङ्क्ष होता है । वहां (=वाक्य के साकाङ्क्ष होने पर) अध्याहार सम्भव होता है । अध्याहार से भी [आकाङ्क्षित अर्थ] समर्थित होता है । यथा द्वारम् द्वारम् ऐसा कहने पर 'बन्द करो' अथवा 'खोलो' [क्रिया का अध्याहार होता है] । कैसे जाना जाता है कि यहां अध्याहार से [किसी पद की] कल्पना करनी चाहिये ? आम्नान (=पाठ) के सामर्थ्य से । इस प्रकार (=अध्याहार की कल्पना से) [विश्वजिद् याग का] आम्नान अर्थवान् (सप्रयोजन) होगा । और (अर्थ को जतलाने के लिये समर्थ होता है । इसलिये [विश्वजिद् वचन] अनर्थक नहीं है ।

ननु यत्पदमध्याह्रियते तत्पौरुषेयम् । तेनावगतं चाप्रमाणम् । उच्यते । नापूर्वमध्याहरिष्यामः । वैदिकेनवास्य सहान्यत्र समाम्नातेनैकवाक्यतामध्यवस्यामः । आह । नैवं शक्यम् । अन्तिकादुपनिपतितं हि पदं वाक्यार्थमुपजनयितुमलं भवति, न दूरादवतिष्ठमानम् । अत्रोच्यते । व्यवहितमपि हि पराणुद्य व्यवधायकमानन्तर्येण मनसि विपरिवर्तमानमलमेव भवति विशेषमुपजनयितुम् । यथा—

इतः पश्यसि धावन्तं दूरे जातं वनस्पतिम् ।
त्वां ब्रवीमि विशलाक्षि या पिनक्षि जरद्गवम् ।। इति ।

अत्र इतः पश्यसीति शब्दो बुद्धौ भवति । स दूरे जातं वनस्पतिमित्येतैः पदै-

---

विवरण — **कर्तव्यतारूपवचनेन** —'यजेत' पद से यागरूप व्यापार की कर्तव्यता जानी जाती है । अर्थात् 'यजेत' पद के श्रवण से याग करणीय है यह जाना जाता है । **व्यापारस्य प्रत्यक्षविरुद्ध कर्तव्यता** —यागरूप व्यापार प्रत्यक्षतः दुःख-साध्य है, अतः उसकी कर्तव्यता उचित नहीं है । **व्यापारेणान्यस्य कस्यचित्** — जैसे **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्** में यजि(=याग) धात्वर्थ करण बन कर स्वर्गरूप भावना को कहता है—**दर्शपूर्णमासाभ्यां यागाभ्यां स्वर्गं भावयेत्** इसी प्रकार यहां भी **विश्वजिता यजेत** कर्तव्यतावचन याग भावना में पुरुष को प्रवर्तित करता है—**विश्वजिता यागेन पुरुषो भावयेत्** । इस अवस्था में आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है— कि भावयेत्? उसकी पूर्ति के लिये अध्याहार से अर्थ की पूर्ति करना उपपन्न होता है । **आम्नानसामर्थ्यात्**— 'विश्वजिता यजेत' इस आम्नात वचन के सामर्थ्य से ।

व्याख्या —(आक्षेप) जो पद आहृत किया जाता है वह पौरुषेय होगा । उस (=पौरुषेय पद के अध्याहार) से वचन का अप्रामाण्य जाना गया है । (समाधान) हम अपूर्व (=वेद में अपठित) पद का अध्याहार नहीं करेंगे । इस (=यजेत) पद के साथ ही अन्यत्र पठित वैदिक पद के साथ एक वाक्यता का निश्चय करेंगे —अर्थात् अन्यत्र पठित वैदिक पद के साथ 'यजेत' की एकवाक्यता निष्पादित करेंगे] । (आक्षेप) ऐसा नहीं हो सकता । समीप में पठित पद ही वाक्यार्थ को जतलाने में समर्थ होता है, न कि दूर स्थित । (समाधान) व्यवहित पद भी व्यवधायक को हटाकर आनन्तर्य से मन से विपरिवर्तमान (=बदलते हुए) विशेष में अर्थ को बोधन कराने में समर्थ होता है । यथा—

यहां से देखती है दौड़ते हुए को दूर उत्पन्न हुई वनस्पति को ।
तुझे कहता हूं हे विशालक्षि जो पीसती है जरद्गव को ।।

यहां इतः पश्यसि (=यहां से देखती है) यह शब्द बुद्धि में वर्तमान होता है । वह दूरे जातं वनस्पतिम् इत्यादि पदों से व्यवहित जरद्गवम् शब्द के साथ, व्यवधायक पदों को दूर

र्व्यवहितेन जरद्गवमित्यनेन शब्देन व्यवधायकान्यपोद्य संवध्यमान: संवध्यते। अर्थानां ह्यर्थवत्त्वेन हेतुना व्यवहितान्यपि वचनानि संबध्यन्ते। यानि पुनरर्थतो ह्यसमर्थानि तान्यानन्तर्येऽपि सति न परस्परेण संवन्धमर्हन्ति। यथा या पिनक्षि जरद्गवमित्येवमादीनि। तस्मान्न पौरुषेयता भविष्यति।

आह। नन्वत्राप्यपेक्षा पौरुषेयी। उच्यते। नापेक्षा वेदे। वेदार्थप्रतिपत्तावभ्युपाय एष भवति। अनन्तरापेक्षायामसंभवन्त्यामाम्नानसामर्थ्यादितरापेक्षावृत्तिरा-

---

हटाकर सम्बद्ध होता है। अर्थों के अर्थवत्त्व हेतु से व्यवहित वचन भी सम्बद्ध होते हैं। और जो पुनः अर्थ से [सम्बद्ध होने में] असमर्थ होते हैं वे आनन्तर्य (=समीपता) होने पर भी परस्पर सम्बद्ध के योग्य नहीं होते। जैसे—या पिनक्षि जरद्गवम् आदि [अर्थात् या पिनक्षि जरद्गव के साथ अर्थ से समर्थ न होने के कारण समीप में पठित होने पर भी सम्बन्ध नहीं होता]। इसलिये पौरुषेयता [दोष] नहीं होगा।

विवरण—व्यवहितमपि पराणुद्य इत्यादि भाष्य से जो बात सोदाहरण कही है, न्यायभाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने इस प्रकार लिखा है—

यस्य येनार्थसंबन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्॥ न्यायभाष्य १।२।९

अर्थात्—जिस पद का जिस पद के साथ अर्थ संबन्ध है, वह दूरस्थ का भी होता है। अर्थ से असमर्थ पदों का आनन्तर्य भी सम्बन्ध में कारण नहीं होता है।

यही बात महाभाष्यकार ने भी १।१।५८ के भाष्य में कही है—

आनुपूर्व्येण सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसंबन्धः शक्यते कर्तुम्, न चैतानि आनुपूर्व्येण सन्निविष्टानि। अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसंबन्धो भवति। तद्यथा—अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीः?

अर्थात्—(आक्षेप) आनुपूर्वी से सन्निविष्ट पदों का ही यथेष्ट सम्बन्ध किया जा सकता है, ये आनुपूर्वी से सन्निविष्ट नहीं है। (समाधान) अनानुपूर्वी से सन्निविष्ट पदों का भी यथेष्ट सम्बन्ध होता है। जैसे—अनड्वान् (बैल) को, हे पानी ढोनेहारी (पनिहारी)! जो तू ले जा रही है शिर से घड़े को, बहिन! तिरछे दौड़ते हुए को देखा? यहां पर 'अनड्वानम्' का 'साचीनं धावन्तम्' के साथ संबन्ध है। इसी प्रकार 'उदहारि' का 'भगिनि' के साथ।

व्याख्या—(आक्षेप) यहाँ भी अपेक्षा पौरुषेयी है। (समाधान) वेद में अपेक्षा नहीं है। वेदार्थ के परिज्ञान में यह उपायभूत है। अनन्तर की अपेक्षा के असम्भव होने पर आम्नान (=पाठ) सामर्थ्य इतर अपेक्षा रखने वाली वृत्ति का आश्रयण किया जाता है। इसलिये वह [अपे-

श्रीयते। तस्माच्छ्रुत्येकदेशः सः। फलकामपदं दूरेऽपि सत्तस्य वाक्यस्यैकदेशभूतमित्यर्थः ॥११॥

वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् ॥ १२ ॥ (उ०)

इन्द्राय राज्ञे सूकर[1] इति यथा वाक्यान्तरस्थेन विधिशब्देन गुणविधानं भवति, एवं फलविधानमपि भवितुमर्हतीति। यथा **वरुणो वा एतं गृह्णाति**[2] इति व्यवधारणकल्पना[3] [4]एवमिदमपि द्रष्टव्यम् ॥१२॥ **विश्वजिदादीनां सफलत्वाधिकरणम्** ॥५॥

—:०:—

क्षितपद) श्रुति का एक देश है। फल काम पद दूर होता हुआ भी उस [विश्वजिद् विधायक] वाक्य का एकदेश भूत है यह जानना चाहिये ॥११॥

वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(वाक्यार्थः) विश्वजिद् विधायक वाक्य का अर्थ (च) भी [वेदस्थ अध्याहृत फल बोधक पद के अध्याहार से]परिपूर्ण होता है' (गुणार्थवत्) जैसे[इन्द्राय राज्ञे सूकरः' में द्रव्य देवता रूप] गुण का विधान ['अश्व आलभ्यते' वाक्यस्थ 'आलभ्यते' इस अध्याहृत पद से संबद्ध होकर] यागपरक होता है।

विशेष—अश्वमेध प्रकरण में **इन्द्राय राज्ञे सूकरः** (तै० ५।५।११) में द्रव्य और देवता का विधान होने पर भी क्रिया पद के न होने से अनर्थक सा प्रतीत होता है, पुनरपि अश्व आलभ्यते (तै० सं० ५।४।१२।२) इस दूरस्थ वाक्य में श्रुत आलभ्यते क्रिया का सम्बन्ध 'इन्द्राय राज्ञे सूकरः' के साथ करने पर यह द्रव्य देवता विशेष याग का विधायक होता है। इसी प्रकार विश्वजिद् याग विधायक वचन में दूरस्थ फलवाचक शब्द का सम्बन्ध होने से वाक्यार्थ परिपूर्ण हो जाता है।

व्याख्या—इन्द्राय राज्ञे सूकरः (=इन्द्र राजा के लिये सूकर आलम्भित किया जाये) में जैसे वाक्यान्तरस्थ [आलभ्यते] विधि शब्द से गुण विधान होता है, इसी प्रकार [विश्वजिता·········यजेत वाक्य में वाक्यान्तरस्थ फलवाचक शब्द से] फलविधान भी हो सकता है। जैसे वरुणो वा एतं गृह्णाति में [दातृ-क्रम के अनुरोध से वाक्यान्यथात्वकरणरूप] व्यवधारण कल्पना [मानी जाती है], इसी प्रकार यह [विश्वजिता ·········यजेत] वाक्य भी जानना चाहिये।

१. तै० सं ५।५।११ ॥
२. तै० सं० २।३।१० ॥ 'वरुणो वा एतं प्रत्यगृह्लाद्' इति काशीमुद्रिते पाठः।
३. 'व्यवधारणकल्पनायामपि प्रामाण्यम्' इति पूनासंस्करणे पाठः।
४. यथा गृह्णातीति इत्यारभ्य श्रूयमाणे 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्क-

[विश्वजिदादेरेकफलकत्वाधिकरणम् ॥६॥]

तस्मात् पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति इति, विश्वजिता यजेत् इति फलवदेवंविधं कर्मेत्येतत्समधिगतम् । इदं तु संदिह्यते । किं सर्वफलमेतत्कर्म, उतैकफलमिति । किं प्राप्तम् ?

तत्सर्वार्थमनादेशात् ॥१३॥ (पू०)

विवरण—इन्द्राय राज्ञे सूकरः यह अश्वमेध में आलभन किये जाने वाले पशुसंघों के प्रकरण (तै०सं०५।५।११) में पढ़ा है । इस प्रकरण में द्रव्य और देवता मात्र का निर्देश है । द्रव्य देवता का विधान तभी सार्थक होता है, जब यागबोधक कोई पद पठित हो । अतः द्रव्य देवतारूप गुणविधान के लिये दूर श्रुत अश्वः आलभ्यते (तै० सं० ५।४।१२।२) वाक्यस्थ आलभ्यते पद का यहां सम्बन्ध किया जाता है । भाष्यकार ने यद्यपि अश्व आलभ्यते वाक्य का निर्देश नहीं किया है, तथापि सभी व्याख्याकारों ने इस वाक्य का उल्लेख किया है । यद्यपि आलभ्यते क्रिया भी यागबोधक नहीं है तथापि अश्वालम्भन निरर्थक न होवे इसलिये इस से याग की कल्पना की जाती है । यथा अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् (तै० सं० २।२।२।१) में विहित पथिकृत् अग्नि के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश के निर्वाप से यागपर्यन्त विधि का निर्देश अभिप्रेत माना जाता है । यदि याग का विधान न हो केवल निर्वाप क्रिया तक ही अर्थ गति मानी जाये तो द्रव्य देवता का विधान निरर्थक होवे । वरुणो वा एतं गृह्णाति उपक्रम वाले यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणाश्चतुष्कपालानिर्वपेत् वाक्य में श्रुत गृह्णीयात् का अर्थ उपक्रम के अनुरोध से प्रतिग्राहयेत् अन्यथात्वरूप व्यवधारण कल्पना होती है । इस विषय में मी० भा० ३।४ अधि० ११ (सूत्र ३०-३१) द्रष्टव्य है ॥१२॥

—:o:—

व्याख्या—तस्मात् पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति, विश्वजिता यजेत इत्यादि इस प्रकार के कर्म फलयुक्त हैं, ऐसा [पूर्व अधिकरण से] जाना गया । यह तो सन्देह होता है—यह कर्म सब फल वाला है अथवा एक फलवाला ? क्या प्राप्त होता है ?

तत्सर्वार्थमनादेशात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(तत्) वह (पिण्डपितृयज्ञ और विश्वजित आदि कर्म (सर्वार्थम्) सब फलों के लिये हैं, (अनादेशात्) किसी फल विशेष का यहां आदेश=कथन न होने से ।

पानन्निर्वपेत्' इत्येतस्मिन्वाक्ये दातृपक्रमानुरोधने प्रतिगृह्णीयादित्यस्य प्रतिग्राहयेदित्येवं वाक्यान्यथात्वकरणरूपव्यवधारणकल्पनाऽऽश्रिता, तद्वदिहापीति दृष्टान्तभागाशयः ।

तत्सर्वार्थमिति । कुतः ? अनादेशात् । न किंचिदिहातिदिश्यत इदं नाम फलमिति । अस्ति चेद्विज्ञायेत । तस्मात्सर्वार्थमविशेषात् ॥१३।

एकं वा चोदनैकत्वात् ॥ १४ ॥ (उ०)

एकफलं स्यात्, न वा सर्वार्थम् । कुतः ? चोदनैकत्वात् । साकाङ्क्षत्वादेतदर्थिपदेन संवध्यत इत्युक्तम् । यच्चानेकेनापि संवद्धुं शक्नोति, तदेकेन संवध्यते । एकेन संवद्धं सन्निराकाङ्क्षं भवति । न तदपरेणापि संबन्धमर्हति । तस्मादेकैव कर्तव्यचोदना न्याय्या । तस्मादेकफलतेति ॥१४॥ **विश्वजिदादीनामेकफलत्वाधिकरणम् ॥६॥**

—:०:—

[विश्वजिदादेः स्वर्गफलकत्वाधिकरणम् ॥७॥

एवंजातीयकेष्वेवोदाहरणेष्वेतत्समधिगतमेकं फलमिति । इदमिदानीं संदिह्यते–

व्याख्या—वह (=अनादिष्ट फल वाला कर्म) सब फलों के लिये है । किस हेतु से ? [फलविशेष का] कथन न होने से । यहां कुछ कहा नहीं है कि यह इस का यह फल है । यदि 'फल' होवे तो जाना जाये । इसलिये [अनुक्त फलवालाकर्म] सर्वार्थ (=सब फलों के लिये) है विशेष कथन न होने से ॥१३॥

एकं वा चोदनैकत्वात् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है अर्थात् अनादिष्ट फल वाले कर्म सर्वफलार्थ नहीं हैं । (एकम्) इनका एक ही फल है । (चोदनैकत्वात्) चोदना=विधि के एक होने से ।

व्याख्या—एक फल होवे, सब फलों के लिये नहीं है । किस हेतु से ? चादना के एक होने से । ['यजेत' यह चोदना] साकाङ्क्ष होने से फल पद के साथ सम्बद्ध होती है, यह कह चुके हैं । जो [चोदना पद] अनेक फल के साथ संबद्ध हो सकता है वह एक के साथ भी संबद्ध होता है । एक फल के साथ संबद्ध हुआ निराकाङ्क्ष हो जाता है । [अतः] वह अन्य फल पद के साथ भी संबन्ध के योग्य नहीं होता । इसलिये एक कर्तव्य (=फल) की चोदना ही न्याय्य है । इसलिये [एवंविध कर्मों की] एकफलता ही है ॥१४॥

—:०:—

व्याख्या—इस प्रकार (=जिन यागविधायक वचनों में फल का निर्देश नही हैं] के ही उदाहरणों में यह जाना गया कि [इन का] एक फल होता है । अब यह सन्देह होता है कि [वह

किं यत् किंचिदुत स्वर्ग इति। यत्किंचिदिति प्राप्तम्, विशेषानभिधानात्। तत उच्यते—

स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१५॥ (उ०)

स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्। सर्वे हि पुरुषाः स्वर्गकामाः। कुत एतत्? प्रीतिर्हि स्वर्गः सर्वश्च प्रीतिं प्रार्थयते। किमतो यद्येवम्। अविशेषवचनः शब्दो न विशेषे व्यवस्थापितो भविष्यति। यजेत कुर्यादिति। तस्मात्स्वर्गफलमेवंजातीयकमिति ॥१५॥

प्रत्ययाच्च ॥१६॥ (उ०)

भवति चानादिष्टफले कर्मणि स्वर्गः फलमिति प्रत्ययो लोके। एवमुच्यते—आरामकृद् देवदत्तः, नियतोऽस्य स्वर्गः; तडागकृद् देवदत्तः, नियतोऽस्य स्वर्ग इति। किमतो। यद्येवम्। इत्थमनेन न्यायेन स्वर्गे संप्रत्ययो भवति। यस्मात्स्वर्गफलेषु कर्मसु

फल] जो कोई होवे अथवा स्वर्ग होवे? जो कोई (=कोई सा भी) फल होवे, ऐसा प्राप्त होता है, विशेष [फल] का कथन नहीं होने से। इसलिये कहते हैं—

स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—(सः) वह फल (स्वर्गः) स्वर्ग (स्यात्) होवे (सर्वान् प्रति) सब मनुष्यों के प्रति (अविशिष्टत्वात्) सामान्य होने से। सभी मनुष्य स्वर्ग की कामना करते हैं।

व्याख्या—वह फल स्वर्ग होवे सब मनुष्यों के प्रति सामान्य होने से। सभी पुरुष स्वर्ग की कामना वाले हैं। किस कारण से? प्रीति ही स्वर्ग है। और सभी प्रीति की इच्छा करते हैं। यदि ऐसा है? इस से क्या? सामान्य वाचक शब्द विशेष में व्यवस्थापित नहीं होगा [अर्थात् स्वर्ग के प्रति सभी की कामना होने से उसे धन आयुष्य पशु आदि विशेष कामना के प्रति संकुचित नहीं करना पड़ेगा]। यजेत का अर्थ है कुर्यात्=कामना की पूर्ति करे। इस लिये इस प्रकार के कर्म स्वर्ग फलवाले हैं ॥१५॥

प्रत्ययाच्च ॥ १६ ॥

सूत्रार्थः—(प्रत्ययात्) स्वर्गफल का परिज्ञान होने से (च) भी।

व्याख्या—जिस कर्म का फल नहीं कहा है ऐसे कर्म का स्वर्ग फल है ऐसा लोक में जाना जाता है। इस प्रकार कहा जाता है—[देवदत्त] बाग बनाने वाला है, इस का स्वर्ग नियत (अवश्यंभावी) है; देवदत्त तालाब बनाने वाला है, इस का स्वर्ग अवश्यंभावी है। इस प्रकार इस [लौकिक प्रत्यय रूप] न्याय से स्वर्ग का परिज्ञान होता है। जिस कारण स्वर्गफल

कर्तव्येषु फलवचनं नैवोच्चारयन्ति, गम्यत एवेति । तस्मादप्यवगच्छाम एवंजातीयकेषु स्वर्गः फलमिति ॥ १६ ॥ **विश्वजिदादीनां स्वर्गफलताधिकरणम् ॥ इदमधिकरणत्रयं विश्वजिन्न्यायः ॥**

—:०:—

[रात्रिसत्रस्याऽर्थवादिकफलकत्वाधिकरणम् ॥८॥]

रात्रीः प्रकृत्य श्रूयते—प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति । ब्रह्मवर्च

वाले कर्मों के करने से फल का कथन नहीं करते, [फिर भी वह] जाना ही जाता है। इस से भी हम जानते हैं कि इस प्रकार के कर्मों का स्वर्ग फल है।

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने पूर्व अधिकरण में लिखा है कि 'जहां अर्थवाद आदि से फल उक्त नहीं हैं, ऐसा पिण्डपितृयज्ञ आदि यहां उदाहरण है (द्र० पूर्व पृष्ठ १३२३ का विवरण)। यहां कुतुहलवृत्तिकार ने 'नित्य कर्मों का भी स्वर्ग फल होवे' इस आशंका के निवारणार्थ कहा है—'जीवनदि निमित्त होने पर नित्य कर्मों की अवश्य कर्तव्यता कही है (यावज्जीवमग्निहोत्रं-जुहोति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासौ यजते)। इनका स्वर्ग फल मानने पर मुमुक्षजनों के द्वारा स्वर्ग की भी अभिलाषा न होने से इनकी यावज्जीवन कर्तव्यता नष्ट होती है। इस लिये स्वर्ग फल का नित्यविधि में अन्तर्भाव युक्त नहीं है अर्थात् नित्यकर्मों का फल स्वर्ग नहीं है। [नित्यकर्मों के न करने से होने वाले] प्रत्यवाय (=दोष) की निवृत्ति तो मुमुक्ष पुरुषों द्वारा भी काम्य है अर्थात् प्रत्यवाय से बचने के लिये नित्यकर्म तो उन्हें भी करने ही होते हैं, यह हमने द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद के प्रथम अधिकरण में कहा है। इस प्रकार पिण्डपितृयज्ञ के भी नित्य होने से इसका स्वर्ग फल नहीं है। अतः इस अधिकरण का उदाहरणान्तर अन्वेषणीय है।

मीमांसकों में यह अधिकरण विश्वजिदादेः स्वर्गफलकत्वाधिकरणम् नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व दो अधिकरणों को मिलाकर विश्वजिन्न्याय मीमांसकों में प्रसिद्ध है। कुतुहलवृत्तिकार के मत में विश्वजिता·········यजेत वाक्यविहित प्रायश्चित्त रूप में विहित और एकाहकाण्ड (ताण्डच ब्रा०) में पठित दोनों विश्वजिद् यागों की इन अधिकरणों में अविचार्यमाणता होने से भी मीमां-सक प्रसिद्धि का क्या समाधान होगा, यह विचारणीय है। तीनों अधिकरणों के किसी भी सूत्र में विश्वजिद् का उल्लेख नहीं है। हमारा विचार है भाष्यकार द्वारा परम्परागत उदाहृत वचन को तथा एकाह पठित के विश्वजिद् यागविधायक वचन दोनों को स्वतन्त्र माना जाये तो कथंचिन्मी-मांसक प्रसिद्धि उपपन्न हो सकती है ॥१६॥

—:०:—

व्याख्या—रात्रिसत्रों के प्रकरण में सुना जाता है—प्रतितिष्ठन्ति य एता रात्रीरुप-

स्विनोऽन्नादा भवन्ति, य एता उपयन्ति[1] इति । तत्र संदेहः—किं ते फलार्थवादा उत फलविधय इति ? किं प्राप्तम् ?

क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत् कार्ष्णाजिनिः ॥१७॥ (पू०)

फलार्थवादा इति कार्ष्णाजिनिर्मेने । कुतः ? फलर्थवादसरूपा एते शब्दा इति । किं सारूप्यम् । विधिविभक्तेरभावः । अङ्गवत् । तथा यस्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्दसामेव रसेनावद्यति इत्येवमादिषु ॥१७॥

यन्ति (=वे प्रतिष्ठित होते हैं जो रात्रिसत्रों को प्राप्त होते हैं=करते हैं। वर्चस्विनोऽन्नादा भवन्ति य एता उपयन्ति (=वे वर्चस्वी और अन्नाद होते हैं जो इन को करते हैं) । इस में सन्देह होता है—क्या वे फलार्थवाद हैं अथवा फलविधियां हैं ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—फलार्थवादाः—फलविषयक अर्थवाद मात्र । फलविधयः—फल के विधायक ।

क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत् कार्ष्णाजिनिः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थः—(कार्ष्णाजिनिः) कार्ष्णाजिनि आचार्य (क्रतौ) रात्रिसत्र में श्रुत प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति आदि वचन को (फलार्थवादम्) फल विषयक अर्थवाद मानता है । (अङ्गवत्) जैसे याग के अङ्गभूत खादिर स्रुव आदि विधायक वचन फलार्थवाद हैं (द्र० मी० ४।१। अधि० १) तद्वत् ही यह भी फलार्थवाद है।

व्याख्या—फलार्थवाद हैं, ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य मानता है । किस हेतु से ? ये ('प्रतितिष्ठन्ति' आदि) शब्द फलार्थवाद के समान हैं । क्या सारूप्य है ? विधि (=लिङादि) विभक्ति का अभाव । अङ्ग के समान । जैसे यस्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्दसामेव रसेनावद्यति' इत्यादि में [फलार्थवाद है तद्वत्] ।

विवरणः—कार्ष्णाजिनिः—कृष्णाजिन का पुत्र । अत इञ् (अष्टा० ४।१।९५) से अपत्यार्थ में इञ् प्रत्यय । कृष्णाजिन का अर्थ है—काले मृग का चर्म । कृष्णाजिनमिवाजिनमस्य स कृष्णाजिनः–कृष्णमृग के समान चर्म=त्वक् है जिसकी वह कृष्णाजिन पुरुष । यह व्युपत्त्यर्थ है । यहां कृष्णाजिन नामक व्यक्ति विशेष अभिप्रेत है, जिसका पुत्र कार्ष्णाजिनि कहाता है । कार्ष्णाजिनि आचार्य का मत मीमांसा ६।७।३६ में भी निर्दिष्ट है । यही मत कात्या० श्रौत १।६।२३ में भी स्मृत है । प्रकृत (मी० ४।३।१७) में तथा अन्यत्र कार्ष्णाजिनि का मत भाष्यकार आदि के अनुसार पूर्वपक्षरूप में उद्धृत किया गया है । मीमांसा में बहुत्र अनेक आचार्यों के मत पूर्व-

---

१. अनुपलब्धमूलम् । कुतुहलवृत्तिकारेण 'ज्योतिगौरायुरित्यादि सुत्या प्रकृत्य श्रूयते—प्रतितिष्ठन्ति······रात्रीरुपयन्ति' इत्युक्तम् । ताण्ड्यब्राह्मणे (२३।९–४) तु पाठः किञ्चिद् भेदेनोपलभ्यते । तत्र भाष्यकारोद्धृतः पाठस्तु नास्त्येव ।

फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमान स्यात् ॥१८॥ (उ०)

आत्रेयः पुनराचार्य एवंजातीयकेभ्यः फलमस्तीति मेने, न फलार्थवाद इति। कुतः ? अश्रुतफलत्वेऽप्यमीषां फलचोदनया वाक्यशेषभूतया भवितव्यम। तस्मादन्या व्यवहिता सती, अव्यवहिता कल्पनीया। इयं त्वव्यवहिता क्लृप्तैव। प्रतिष्ठया ब्रह्मवर्चससत्तया च समभिव्याहार आसां प्रत्यक्षः। विधिविभक्तिमात्रमन्यतोऽपेक्ष्यम्।

आह कथं केवलं विधिविभक्तिमात्रमन्यतो भविष्यति। यदनेन प्रतिष्ठादिना

पक्ष रूप में व्याख्यात हैं। हमारे विचार में किसी भी ऋषि के मत को पूर्वपक्ष में रखकर उसका खण्डन करना युक्त नहीं है। भला नीरजस्तम ऋषि लोग असत्य=खण्डनीय मत का प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं ? इस विषय पर विशद् विचार छठे अध्याय के सातवें पाद में सहस्रसंवत्सर-साध्य सत्र के प्रकरण में करेंगे। यस्य खादिर स्रुवो भवति आदि वचनों की फलार्थवादिता के सम्बन्ध में मी० ४।२ अधि० १ (सूत्र १-३) में विचार किया है ॥ १७ ॥

फलमात्रेयो निर्देशाद् अश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात् ॥ १८ ॥

सूत्रार्थः—(आत्रेय) आत्रेय आचार्य (फलम्) फलविधि मानता है, (निर्देशात्) प्रतिष्ठादि के निर्देश से। (अश्रुतौ) प्रतिष्ठा आदि का श्रवण न होने पर (हि) ही फलों का (अनुमानम्) अनुमान होवे। जैसे विश्वजिद् याग में फल की श्रुति न होने पर स्वर्ग फल का अनुमान किया है। यहां प्रतिष्ठादि फल साक्षात् श्रुत है।

व्याख्या—आत्रेय आचार्य इस प्रकार के कर्मों से फल होता है फलार्थवाद नहीं है, ऐसा मानता है। किस हेतु से ? फल का श्रवण न होने पर भी इन कर्मों की वाक्य शेषभूत फल-चोदना को होना चाहिये। इसलिये अन्य [स्वर्गरूप फलचोदना] व्यवहित होती हुई भी अव्यवहित कल्पनीय है। यह [फलचोदना] तो अव्यवहित क्लृप्त (=विद्यमान) है। प्रतिष्ठा और ब्रह्मवर्चस सत्ता से इन रात्रियों (=रात्रिसत्रों) का समभिहार (=सन्निधान) प्रत्यक्ष है, केवल विधि-विभक्ति (=लिङ् विभक्ति) मात्र अन्यतः अपेक्ष्य है।

विवरण—विभक्तिमात्रमन्यतोऽपेक्ष्यम्—इस का तात्पर्य यह है कि उपयन्ति में श्रुत जो वर्तमानापदेश (लट्) है उसमें साधन और साध्य (प्रतिष्ठादि) की संगति के लिये यहां साधनत्व प्रतीति के लियें लिङ् विभक्ति मात्र का अध्याहार अन्यत हो जायगा। 'उपयन्ति' रूप लट् के समान लेट् लकार में भी बनता है। लेट् लिङ् के अर्थ में होता है—लिङर्थे लेट् (अष्टा०३।४।७)। इस प्रकार 'उपयन्ति' का अर्थ उपेयुः सम्भव है। पुनरपि मीमांसक लट्-लेट् के समान रूपों में भी प्रायः लेट् का आश्रयण न करके लट् का निर्देश ही मानते हैं।

व्याख्या—(आक्षेप) केवल विधि विभक्ति-मात्र अन्य स्थान से अपेक्ष्य कैसे होगी, जो इस

धात्वर्थेन संभन्त्स्यत इति ? उच्यते । सह धात्वर्थेन भविष्यति, न केवलम् । तस्माद्-अदोषः । अथवा रात्रीणां या विधायिका विभक्तिः, सा इममपि प्रतिष्ठादिविशेषं विधास्यति प्रयोगवचनेन । स्तुतिर्वा सह प्रतिष्ठादिभिर्विधात्री भविष्यतीति ॥१८॥

प्रतिष्ठादि धात्वर्थ के साथ संबद्ध होगी ? (समाधान) धात्वर्थ के साथ मिलकर (='उपेयुः' रूप में) [प्रतिष्ठादि के साथ सम्बद्ध होगी] केवल [विधि-विभक्ति मात्र संबद्ध] नहीं होगी । इसलिये दोष नहीं हैं । अथवा रात्रिसत्रों की जो विधायिका विभक्ति है वह प्रयोग वचन से [संगृहीत] इस प्रतिष्ठादि विशेष [फल] का भी विधान करेगी । अथवा स्तुति प्रतिष्ठादि के साथ विधान करने वाली होगी ।

विवरण—यदनेन प्रतिष्ठादिना धात्वर्थेन—इस का तात्पर्य यह है कि प्रतितिष्ठति इत्यादि वाक्य से उपयन्ति यह धात्वर्थ लक्षित होता है । अतः अन्यतः लिङ् विभक्ति मात्र का अध्याहार कैसे होगा ? सह धात्वर्थेन—जो साध्य (=प्रतिष्ठादि) और साधन (याग) के सम्बन्ध को समर्थ करने के लिये धात्वर्थ होगा उसके साथ ही अध्याहृत करेंगे—उपेयुः । ये प्रतिष्ठासन्ति त एता रात्रीरुपेयुः=जो प्रतिष्ठा आदि की इच्छा करते हैं वे रात्रिसत्रों के द्वारा सिद्ध करें । रात्रीणां या विधायिका विभक्तिः—भाष्यकार के इस वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि रात्रीरुपेयुः ऐसा कोई स्वतन्त्र रात्रिसत्रों का विधायक वाक्य है । भट्ट कुमारिल की व्याख्या से भी यही ध्वनित होता है । वह उदाहरण रूप में लिखता है—'एकैकस्यै कामायान्ये यज्ञ क्रतव आह्रियन्ते, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः[1] (=अन्य यज्ञ क्रतु एक एक कामना के लिये किये जाते है, सब कामनाओं के लिये ज्योतिष्टोम किया जाता है) यहां (=सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः) इस वाक्य में लिङ् विभक्ति का अभाव होने पर भी [अग्निष्टोमेन यजेत] वाक्यस्थ जो लिङ् विभक्ति ज्योतिष्टोम का विधान करेगी वही सर्वकामफलत्व का भी विधान करेगी । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये ।' परन्तु भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन का मूल स्थान हमें परिज्ञात न होने से हम निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कह सकते । यह भी सम्भव है कि प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति वाक्य को ही उभयवादिसम्मत रात्रिसत्रों का विधायक मानने पर रात्रिसत्रों के विधान के लिये जो लिङ् विभक्ति स्वीकार्य होगी, वही प्रतिष्ठादि फल का भी विधान कर देगी, ऐसा तात्पर्य भी सम्भव है । इस पक्ष में फलमात्र विधान के लिये लिङ् विभक्ति का अध्याहार इष्ट नहीं है, रात्रिसत्रों की विधायिका विभक्ति ही दोनों का विधान कर देगी । इस पक्ष में उपयन्ति को लेट् विभक्ति का रूप मानने से यह विधान अञ्जसा सम्पन्न हो जाता है । स्तुतिर्वा सह—इस का तात्पर्य यह है कि स्तुति रूप अर्थवाद विना विधि के उपपन्न नहीं होता है । अतः अर्थवाद विधि को लक्षित करता है । अर्थात् वह स्तुति अर्थवाद अविनाभाव सम्बन्ध के कारण उपयन्ति को उपेयुः में

---

१. द्र०—ताण्ड्य ब्रा० ६।३।२॥

अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् ।। १९ ।।

अथ यदुक्तं यथा यस्य खादिरः स्रुवो भवतीत्येवमादिषु फलश्रुतिरर्थवादो भवति, एवमिहापि स्यादिति । युक्तं तत्र फलार्थवादः । फलविध्यसंभवात, फलार्थवादसंभवाच्च । तदुक्तं द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्याद्[1] इति ।।१९।।
रात्रिसत्रस्यार्थवादिकफलकत्वाधिकरणम् ।।८।। रात्रिसत्रन्यायः ।।

—:०:—

परिणत करता है । इस का तात्पर्य यह है कि प्रतितिष्ठन्ति अर्थवाद भी तभी उपपन्न होगा, जब इस वाक्य में रात्रिसत्रों की विधि मानी जाये । उस अवस्था में अर्थवादत्व की उपपत्ति के लिये उपयन्ति शब्द 'उपेयुः' रूप में रात्रिसत्रों का विधान करता हुआ अर्थवाद से प्रतीयमान प्रतिष्ठादि फलों का भी विधायक हो जायेगा । इस प्रकार यहां अर्थवादबोधित फल भी स्वीकार किया गया है । यही रात्रिसत्र-न्याय कहाता है ।। १८ ।।

अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् ।।१९।।

सूत्रार्थः—(अङ्गेषु) यस्य खादिरः स्रुवो भवति इत्यादि वचनों में स्रुव आदि के अङ्ग भूत होने से उन में (स्तुतिः) स्तुतिरूप अर्थवाद मात्र माना जायेगा (परार्थत्वात्) स्रुव आदि के यागार्थ होने से । अर्थात् परार्थरूप अङ्गों के विधायक वचनों में जो फल की प्रतीति होती है वह स्तुतिरूप अर्थवाद मात्र है ।

व्याख्या—और जो यह कहा कि जैसे यस्य खादिरं स्रुवो भवति (जिसका खैर की लकड़ी का स्रुव होता है वह निन्दा नहीं सुनता) इत्यादि में फलश्रुति अर्थवाद है, उसी प्रकार यहां (=प्रति तिष्ठन्ति ह वा) आदि में भी होवे । (समाधान) वहां (=यस्य खादिर स्रुवो भवति) इत्यादि में फलार्थवाद युक्त है, फलविधि के असम्भव होने से और फलार्थवाद के सम्भव होने से । जैसा कि कहा है—द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् । (द्रव्य=स्रुवादि, संस्कार—केशश्मश्रुवपनादि, कर्म=आघारादि के विषय में फल का श्रवण अर्थवाद होवे, द्रव्य, संस्कार और कर्मों के परार्थ=प्रधान याग के लिये होने से) ।।१९।।

—:०:—

---

1. मी० ४।३। अधि० १, सू० १ ।।

[स्ववाक्यश्रुतफलकानां स्वर्गफलकत्वाभावाधिकरणम् ॥६॥]

काम्यानि कर्माण्युदाहरणम्—सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः[1] इत्येवमादीनि। तत्र--संदेहः किमेषां स्वर्गः फलं कामश्च, उत काम एवेति ? किं प्राप्तम् ?

काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः ॥२०॥ (पू०)

काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गः स्यात्। कथम् ? सर्वपुरुषार्थाभिधायी सामान्यवचनः शब्दो न विशेषेऽवस्थापितो भवति। गम्यते[2] ह्यस्य दूरस्थेनापि स्वर्गकामशब्देन संबन्धः। आह। ननु विशेषकः शब्दः श्रूयते, ब्रह्मवर्चसकाम इति। नैष विशेषकः। उपाधिकर एषः। यथा काष्ठान्याहर्तुं प्रस्थित उच्यते--भवता शाकमप्याहर्तव्यमिति। काष्ठाहरणे शाकाहरणमुपाधिः क्रियत इति। किमिदमुपाधिः क्रियत इति ? काष्ठाह-

---

व्याख्या—काम्य कर्म उदाहरण हैं—सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः (—सूर्य देवताक चरु का निर्वाप करे, ब्रह्मवर्चस की कामना वाला) इत्यादि। इन में सन्देह होता है—क्या इनका स्वर्ग फल है और कामना, अथवा कामना ही फल है ? क्या प्राप्त होता है ?

काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः ॥२०॥

सूत्रार्थः—(काम्ये कर्मणि) काम्य कर्म में (नित्यः स्वर्गः) नित्य स्वर्गरूप फल होवे। (यथा) जैसे (यज्ञाङ्गे) यज्ञाङ्ग में [श्रूयमाण फल] (क्रत्वर्थः) क्रतु के अर्थ=प्रयोजन=फल के साथ होता है अर्थात् गोदोहनादि यज्ञाङ्ग का पशुकामरूप फल और दर्शादि क्रतु का स्वर्गफल दोनों होते हैं, उसी प्रकार नित्य स्वर्गफल होवे और ब्रह्मवर्चस की प्राप्तिरूप फल भी होवे।

व्याख्या—सब पुरुषार्थों को कहने वाला सामान्यवाची [निर्वपेद्] शब्द विशेष [कामना] में स्थापित नहीं होता। इसका दूरस्थ स्वर्गकाम शब्द से भी सम्बन्ध जाना जाता है। (आक्षेप) [यहां] विशेषित (विशेष में स्थापित) करने वाला ब्रह्मवर्चसकाम, शब्द सुना जाता है। (समाधान) यह विशेषक शब्द नहीं है। यह उपाधि (=समीप में उपस्थापित) को बोधित करने वाला शब्द है। जैसे काष्ठ लाने के लिए प्रस्थान करने वाले को कहा जाता है—आप शाक भी लेते आवें। काष्ठ के आहरण (=लाने) में शाक का आहरण उपाधि किया जाता है। यह क्या उपाधि की जाती है ? काष्ठ आहरण के अधिकार के समीप में द्वितीय कर्म उपस्थित किया जाता है। काष्ठ के आहरण करने पर यह अन्य (=शाकाहरण) कर्म करे[3]। इसी

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—सौर्यं घृते चरुं निर्वपेच्छुक्लानां व्रीहीणां ब्रह्मवर्चसकामः। मै० सं० २।२।२॥　　२. 'शक्यते' इति पूनासंस्करणे पाठः।

३. अर्थात् शाक न लाना हो तो काष्ठ भी न लावें।

रणाधिकारसमीपे द्वितीयं कर्मोपधीयते । सति काष्ठाहरणे, इदमपरं कर्तव्यमिति । एवमिहापि स्वर्गफले फलमपरमुपधीयते, ब्रह्मवर्चसकामो यागेन स्वर्गमभिनिर्वर्तयेदिति । न हि तत्र ब्रह्मवर्चसफलवचनं स्वर्गफलस्य प्रतिषेधकम् । यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः । **गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेद्'** इति । यः पशुकामः स गोदोहनेन प्रणयनमभिनिर्वर्तयेदिति ।।२०।।

वीते च कारणे नियमात् ।।२१। (पू०)

प्रकार यहां भी स्वर्गरूपी फल में यह अन्य फल उपस्थापित किया जाता है—ब्रह्मवर्चस की कामना वाला याग से स्वर्ग को सिद्ध करे। यहां ब्रह्मवर्चस फल का वचन स्वर्ग फल का प्रतिषेधक नहीं है । जैसे यज्ञाङ्ग में क्रत्वर्थ (=क्रतुफल) होता है—गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत् (=पशु की कामना वाले यजमान का, जिस पात्र में गायें दुही जाती हैं, उस से अपः का प्रणयन करे) । जो पशु की कामना वाला है वह गोदोहन से [अप: का] प्रणयन करे ।

विवरण—**सर्वपुरुषार्थाभिधायी सामान्यवचनः शब्दः**—इस का भाव यह है कि उदाहरण वाक्य में पठित निर्वपेत् यह विधि पुरुष मात्र को प्रवृत्त करती है, यदि उसे स्वर्गरूप फल इष्ट होता है । इस प्रकार पुरुष के प्रयत्न वाचक शब्द [निर्वपेत्] की बाधा नहीं होती है। प्रीतिमात्र [स्वर्ग] की सब ही इच्छा करते हैं। इस लिये इसका स्वर्ग फल है। **उपाधिकर एषः**—उप+आङ्पूर्वक 'धा' धातु से भाव में उपसर्गे घोः किः (अष्टा० ३।२।९२) से 'कि' प्रत्यय । कार्यान्तर के साथ कार्यान्तर को उपस्थापित करने वाला शब्द । यह उपस्थापित कर्म गौण होता है । **सति काष्ठाहरणे इदमपरं कर्तव्यम्**—काष्ठ लाने हों तो साथ में शाक भी ले आना । यदि काष्ठाहरण के लिये नहीं जाना है तो शाक लाने के लिये जाने की आवश्यकता नहीं है । **गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्**—दर्शपूर्णमास यागों का विधायक वाक्य है—**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्** (द्र० मी० भाष्य २।१।१) स्वर्ग की कामना वाला दर्शपूर्णमास यागों से यजन करे अर्थात् स्वर्ग को प्राप्त करे । इससे दर्शपूर्णमास यागों का स्वर्गफल जाना जाता है । उसी स्वर्ग फलवाले दर्शपूर्णमास में पशु फल की इच्छा वाला यजमान गोदोहन पात्र से अपः का प्रणयन करे । यहां जैसे पशुफल स्वर्गफल का बाधक न होकर स्वर्ग संबद्ध कामानान्तर का साधक होता है इसी प्रकार **सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः** में स्वर्गफल के साथ ब्रह्मवर्चस फल भी समन्वित होता है, यह इस प्रकरण का भाव है। यह पूर्वपक्ष का सूत्र है ।।२०।।

वीते च कारणे नियमात् ।।२१।।

सूत्रार्थः—(कारणे) निमित्त के (वीते) निवृत्त हो जाने पर (नियमात्) यज्ञ की समाप्ति का नियम होने से (च) भी ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र० आप० श्रौत १।६।१।२।।

वीते च कारणे, वीतायां फलेच्छायामवाप्ते वा फले समाप्तिनियमो दृश्यते। वृष्टिकामेष्टचाम्--यदि वर्षेत् तावत्येव जुहुयात्, यदि न वर्षेत् श्वोभूते जुहुयाद्[1] इति। यदि न स्वर्गः, किमर्थः समाप्तिनियमो भवेत्? तस्मान्नित्यः स्वर्ग इति ॥२१॥

कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते ॥ २२ ॥ (उ०)

व्याख्या—[यज्ञ के] कारण के निवृत्त होने पर अर्थात् फल की इच्छा के निवृत्त हो जाने पर अथवा [कर्म की समाप्ति से पूर्व ही] फल के प्राप्त हो जाने पर [याग की] समाप्ति का नियम देखा जाता है। वृष्टिकामेष्टि में—यदि वर्षेत् तावत्येव जुहुयात् (=यदि वृष्टि-कामेष्टि के करते हुए ही वर्षा हो जाये तो उसी समय [सक्तुपिण्डों का] होम करे), यदि न वर्षेत् श्वोभूते जुहुयात् (=यदि वर्षा न होवे तो अगले दिन होम करे)। यदि [वृष्टिकामेष्टि का] स्वर्ग फल न होवे तो याग की समाप्ति का नियम किस लिये होवे? इस से [काम्येष्टियों का] नित्य स्वर्ग फल है।

विवरण—वृष्टिकामेष्टचाम्—कारीरी नाम की वर्षाकामेष्टि है (द्रष्टव्य आप० श्रौत १९।२५।१६ से १९।२७।२३॥ बौधा० श्रौत १३।३६-४०)। उसे करने के लिये जो वेदी बनाई जाती है उस पर तीन छदियां (ऊपर के आच्छादन) बनाई जाती हैं। प्रत्येक छदि में देवा वसव्याः, देवाः शर्मण्याः, देवाः सपीतयः इन मन्त्रों से सत्तू की पिण्डियां बांधी जाती हैं (तै० सं० सायण भाष्य २।४।१०)। यदि वर्षेत् तावत्येव जुहुयात्—सक्तु बन्धन करते ही यदि वर्षा हो जावे तो पुरोडाश निर्वाप के विना ही पिण्डियों का होम कर दे। प्रथम दिन वर्षा होने पर तीनों पिण्डियों के होम से कर्म समाप्त करे। इसी प्रकार द्वितीय दिन या तृतीय दिन वर्षा होने पर पिण्डियों के होम से कर्म समाप्त करे। (तै० सं० सा० भा० २।४।१०)। यदि न वर्षेत् श्वोभूते जुहुयात्—यदि तीन दिन वर्षा न होवे तो तीनों पिण्डियों का होम करके धाम-च्छद अग्नि आदि के लिये पुरोडाशों का निर्वाप करे (=तत्तद्देवताक पुरोडाश से होम करे) ॥२१॥

कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते ॥२२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् काम्येष्टियों का स्वर्ग फल नहीं होता। (कामः) जो कामना कही है वही फल होता है। क्योंकि (तत्संयोगेन) तत्तत्काम संयोग के साथ (चोद्यते) काम्येष्टियों की विधि कही है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यदि वर्षेत् तावत्येव होतव्यं यदि न वर्षेच्छ्वोभूते हविर्निर्व-पेत्। तै० सं० २।४।१०॥

कामो वा फलं भवेन्न स्वर्गः। तत्संयोगेनास्य चोदना भवति, न स्वर्गकामसंयोगेन। आनुमानिकोऽस्य स्वर्गकामेनैकवाक्यभावः। प्रत्यक्षस्तु कामवचनेन। प्रत्यक्षं चानुमानाद्बलीयः। तस्मात् काम एव फलमिति ॥२२॥

अङ्गे गुणत्वात् ॥ २३ ॥ (उ०)

अथ यदुक्तं, यथा यज्ञाङ्ग इति। युक्ततम्, अङ्गे गुणत्वात्। प्रत्यक्षस्तत्र क्रतुना संयोगः, कामेन च। यः पशुकामः स्यात् स गोदोहनेन प्रणयनमभिनिर्वर्तयेदिति। न त्वत्र प्रत्यक्षः शब्दोऽस्ति। यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात्, स यागेन स्वर्गमभिनिर्वर्तयेदिति। कथं तर्हि? यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात्, स तद्यागेन निर्वर्तयेदिति। तस्मान्नाङ्गवद्भवितुमर्हतीति ॥२३॥

अथ यदुक्तं, वीतायां फलेच्छायामवाप्ते वा फले समाप्तिनियमो दृश्यत इति। तत्र ब्रूमः—

व्याख्या—काम (=कामनारूप) फल ही होता है, स्वर्ग फल नहीं होता। उस उस काम से संयुक्त विधि होती है, स्वर्ग काम के संयोग से विधि नहीं है। स्वर्गकाम पद के साथ इस [काम्येष्टि विधि] की एकवाक्यता आनुमानिक है। कामवचन के साथ एकवाक्यता प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष अनुमान से बलवान् होता है। इसलिये काम [पद वाच्य] ही फल होता है ॥२१॥

अङ्गे गुणत्वात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—[गोदोहनादि से प्रणयनरूप] (अङ्गे) अङ्ग में कहे गये फल के (गुणत्वात्) गुण अर्थात् गौण होने से [स्वर्गादिफल के साथ अतिरिक्त फल होता है]।

व्याख्या—और जो कहा है—जैसे यज्ञाङ्ग में। वहां युक्त है—अङ्ग में गुणभूत होने से। यहां (='गोदोहनेन प्रणयेद् पशुकामः' में) क्रतु के साथ प्रत्यक्ष संयोग है और काम के साथ भी। —'जो पशुकामना वाला होवे वह गोदोहन से प्रणयन द्वारा पशुफल को सिद्ध करे। यहां (='सूर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' में) प्रत्यक्ष शब्द नहीं हैं। —जो ब्रह्मवर्चस की कामना वाला होवे वह याग से स्वर्ग की सिद्धि करे'। तो कैसे है? जो ब्रह्मवर्चस की कामना वाला है वह उसे याग से सिद्ध करे। इसलिये यह अङ्ग के समान नहीं हो सकता।

विवरण—प्रत्यक्षस्तत्र क्रतुना संयोगः, कामेन च—इसका भाव यह है कि प्रणयन कर्म का क्रतु (=दर्शपूर्णमास) के साथ और काम (=पशुकाम) के साथ प्रत्यक्ष संयोग है। इस लिये दर्शपूर्णमास के प्रति गोदोहन के गुणभूत (साधनरूप होने से स्वर्गफल के साथ अङ्ग का पशुफल भी समन्वित होता है ॥ २३ ॥

व्याख्या—और जो कहा है—'फल की इच्छा निवृत होने पर अथवा फल की प्राप्ति हो जाने पर भी कर्म की समाप्ति का नियम देखा जाता है, इस विषय में कहते हैं—

वीते च नियमस्तदर्थम् ॥ २४ ॥ (उ०)

वीते नियमस्तदर्थम् । वीते नियमो भवति, तस्मै प्रयोजनाय । कस्मै ? शिष्टाविगर्हणाय । उपक्रम्यापरिसमापयतस्तदनन्तरमेवैनं शिष्टा विगर्हयेयुः--प्राक्रमिकोऽयं कापुरुष इति वदन्तः । ये हि देवेभ्यः संकल्प्य हविः, न यागमभिनिर्वर्तयन्ति, तान् शिष्टा विगर्हन्ते । तस्मादवश्यं समापयितव्यम् । तत्रैतद्दर्शनं युक्तं भविष्यति, यदि वर्षेत्तावत्येव जुहुयादिति । तस्मात्काम्यानां काम एव फलमिति ॥२४॥ **काम्यानां यथोक्तकाम्यफलकत्वाधिकरणम् ॥९॥**

—:०:—

वीते च नियमस्तदर्थम् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(च) और (वीते) फल की इच्छा के निवृत्त हो जाने पर अथवा फल की [कर्म के मध्य में ही] प्राप्ति हो जाने पर (नियमः) जो [समाप्ति का] नियम कहा है वह (तदर्थम्) उस प्रयोजन के लिये है [जो कर्म का संकल्प करके पूरा नहीं करने से प्रत्यवाय अथवा शिष्टपुरुषों के द्वारा निन्दा होती है, उसके परिहारार्थ है] ।

व्याख्या—[फलेच्छा की निवृत्ति अथवा फल की प्राप्ति] हो जाने पर जो नियम है वह उस प्रयोजन के लिये है । कारण के निवृत्त होने पर नियम होता है उस प्रयोजन के लिये । किस प्रयोजन के लिये ? शिष्ट पुरुषों के द्वारा निन्दा न होवे, इसके लिये । कर्म को आरम्भ करके समाप्त न करने वाले की उस के अनन्तर ही शिष्ट लोग 'यह आरम्भ करने वाला (=आरम्भशूर) कापुरुष है ऐसा कहते हुए निन्दा करेंगे । जो देवों के प्रति हवि का संकल्प करके याग को सिद्ध नहीं करते उन की शिष्ट पुरुष निन्दा करते हैं । इसलिये कर्म अवश्य समाप्त करना चाहिये । उस अवस्था में यह दर्शन (=निर्देश) युक्त होगा—यदि वर्षा होवे तो उसी समय ही [सक्तु पिण्डियों का] होम करले । इसलिये काम्यकर्मों का कामना ही फल है ।

विवरण—शिष्टा विगर्हेयुः—शिष्ट पुरुष के कई लक्षण प्राचीन शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं । हम यहां निदर्शनार्थ शिष्ट पुरुष के प्रमुख लक्षण उपस्थित करते हैं । भगवान् मनु ने कहा है—

> धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
> ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेया श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ मनु १२।१०९॥

अर्थात्—जिन्होंने धर्म से अर्थात् निष्काम भाव से अङ्ग उपाङ्गादि विविध शास्त्रों से उपबृंहित (= बढ़े) हुए अर्थात् अङ्ग उपाङ्गादि विविध शास्त्रों के साथ वेद को प्राप्त (=अध्ययन) किया है वे ब्राह्मण शिष्ट कहाते हैं, वे श्रुति के प्रत्यक्षीकरण में हेतु होते हैं

[दर्शपूर्णमासादीनां सर्वकामार्थताधिकरणम् ॥१०॥]

इदमाम्नायते—एकस्मै[1] वाऽन्या इष्टयः कामायाऽऽह्रियन्ते, सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ;[2] एकस्मै 'वाऽन्ये क्रतवः कामायाऽऽह्रियन्ते सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः[3], इति। तत्र

अर्थात् वे श्रुति के प्रत्यक्ष दर्शन में समर्थ होते हैं।

बौधायनमुनि स्वीय धर्मशास्त्र में लिखते हैं—

शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहंकाराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः। धर्मेणाधिगतो येषां वेदः स परिबृंहणः। शिष्टास्तदनुमानज्ञा श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः। बौधा० धर्म १।१।५–६॥

अर्थात्—जो मात्सर्यरहित, अहंकाररहित, कुम्भीधान्य (=केवल घड़ाभर अन्न रखने वाले), अलोलुप, (=धनादि की चाहना से रहित) दम्भ-दर्प-लोभ-मोह-क्रोध से रहित हैं। जिन्होंने अङ्गादि से परिबृंहित वेद को धर्म से प्राप्त किया है वे शिष्ट हैं, श्रुति के प्रत्यक्षदर्शन में समर्थ और प्रत्यक्ष अश्रुत स्मार्त धर्म विषयक श्रुति के अनुमान को जानने वाले हैं वे शिष्ट होते हैं।

महाभाष्यकार ने बौधायन आचार्य परिबृंहित (विस्तृत) शिष्ट के लक्षण को संक्षेप में इस प्रकार दर्शाया है—

एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्र भवन्तः शिष्टाः। महाभाष्य ६।३।१०९॥

अर्थात्=इस आर्यावर्त में जो ब्राह्मण कुम्भीधान्य अलोलुप (=धनादि की लिप्सा से रहित) विना किसी दृष्ट प्रयोजन के सदाचार का पालन करने हारे, विना किसी कारण के (धर्म बुद्धि से) किसी विद्या के पारंगत जो महनीय हैं वे शिष्ट कहाते हैं।

इस प्रकार के शिष्ट पुरुष आरम्भ किये गये कार्य को समाप्त न करनेवालों की निन्दा करते हैं। अतः शिष्टविगर्हा एक महान् दोष माना जाता है॥२४॥

—:o:—

व्याख्या—यह पढ़ा जाता है—एकस्मै वाऽन्या इष्टयः कामायाऽऽह्रियन्ते, सर्वेभ्यो दर्शपौर्णमासौ (=एक कामना के लिये अन्य इष्टियाँ की जाती हैं, सब कामनाओं के लिये दर्शपूर्णमास किये जाते हैं)। एकस्मै वाऽन्ये क्रतव कामयाऽऽह्रियन्ते, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः (=एक कामना के लिये अन्य क्रतु किये जाते हैं सब कामनाओं के लिये ज्योतिष्टोम किया जाता है)। इसमें सन्देह होता है—क्या अङ्गों की कामनाओं तथा अङ्ग

१. एकैकस्मै' इति युक्तः पाठ स्यात्। २. अनुपलब्धमूलम्।

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र० 'एकस्मा अन्यो यज्ञः कामायाह्रियते सर्वेभ्योऽग्निष्टोमः।

संदेहः—किमङ्गकामैरङ्गाङ्गकामैश्च सहास्यानुवादः, अथवा विधिरिति ! किं प्राप्तम् ?

सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात् ॥ २५ ॥ (पू०)

अनुवाद इति । यदेतत्सार्वकाम्यं, तदनूद्यते अङ्गकामैश्चाङ्गाङ्गकामैश्च सह । सन्ति ह्यङ्गकामाश्चाङ्गाङ्गकामाश्च । यथा—आहार्यपुरीषां पशुकामस्य वेदिं कुर्यात्[1], खननपुरीषां प्रतिष्ठाकामस्य[2], इत्येवमादयः । तथा—यदि कामयेत वर्षेत् पर्जन्य

के अङ्गों की कामनाओं के साथ इस (दर्शपूर्णमास की सर्वकामना और ज्योतिष्टोम की सर्वकामना) का अनुवाद है अथवा [सर्वकामता की] विधि है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अङ्गकामैरङ्गाङ्गकामः—अङ्ग की कामना—जैसे गोदोहनेन प्रणयेत् पशुकामः (=पशु की कामना वाला गोदोहन पात्र से अपः का प्रणयन करे)। यहां प्रणयनरूप अङ्ग की कामना कही है। अङ्ग के अङ्ग की कामना का उदाहरण आगे भाष्य में नहीं दिया है। सूत्र में केवल 'अङ्गकाम' का निर्देश है।

सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(सार्वकाम्यम्) [दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम की] सब कामनाएं अनुवाद हैं, (अङ्गकामैः) अङ्ग यागों की कामनाओं के साथ (प्रकरणात्) प्रधान याग का प्रकरण होने से।

विशेष—इसका भाव यह है कि प्रधान यागों का जो फल कहा है उसके साथ अङ्गकर्मों के कहे गये फलों के संयोग से दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम का सर्वकाम्यत्व कहना अनुवाद है।

व्याख्या—[अङ्गों और अङ्गाङ्गों की कामनाओं के साथ] अनुवाद है। यह जो सर्व कामता है उसका अनुवाद किया है। अङ्ग कामनाओं और अङ्गाङ्ग कामनाओं के साथ। अङ्गों की कामनाएं और अङ्गाङ्ग की कामनाएं हैं अर्थात् कही गई है। जैसे—आहार्यपुरीषां पशुकामस्य वेदिं कुर्यात् (=पशु की कामना वाले दर्शपूर्णमास के यजमान की वेदी [तडाग आदि से] लाई गई मिट्टी वाली करे), खननपुरीषां प्रतिष्ठाकामस्य (=खोदी हुई मिट्टी वाली वेदी प्रतिष्ठाकामना वाले की बनावे) इत्यादि। तथा—यदि कामयेत वर्षेत् पर्जन्य इति

---

१. आप० श्रौत २।३।५॥ भार० श्रौत २।३।१॥ आहार्य्यं पुरीषं देशान्तराद् यस्याः सा तथोक्ता इति रुद्रदत्तः। यस्याभूमेराहरति तां खनति मन्त्रेणेति धूर्तस्वामी।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—खननपुरीषां प्रजाकामस्य। भार० श्रौत २।३।१॥

इति नीचैः सदो मिनुयाद्[1] इति । तद्विहितमेवेदमाभिधीयत इत्यनुवादं न्याय्यं मन्यामहे ।।२५।।

फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंप्रयोगात् ।।२६।। (उ०)

फलविधिर्वा । कुतः ? प्रधानशब्देन फलसंयोगो भवति—सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोम इति च । प्रधानाभिधानेन च प्रधानस्य सर्वफलवत्ता विहिता। तस्मान्नानुवादः । अथङ्गकामानङ्गाङ्गकामांश्चापेक्षते, तथा लक्षणाशब्दः स्यात् । श्रुतिश्च लक्षणाया गरीयसी । तस्मात् प्रयोगवचनेन विधिरिति ।।२६।। **दर्शपूर्णमासादीनां सर्वकामार्थताधिकरणम् ।।१०।।**

—:०:—

नीचैः सदो मिनुयात् (=यदि कामना करे कि पर्जन्य बरसे, तो सदःमण्डप को नीचा बनावे)। इन से विहित [कामनाओं] का ही यह [सर्वकामरूप] कथन किया जाता है। इसलिये हम अनुवाद को न्याय्य मानते हैं ।

विवरण—प्रकृत सूत्र के भाष्य में प्रथम दो वचन दर्शपूर्णमासस्थ वेदी की रचना विशेष के फल के बोधक हैं और अगला वचन ज्योतिष्टोम के सदोमण्डप निर्माण के प्रकार विशेष के फल का बोधक है ।। २५ ।।

फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंप्रयोगात् ।। २६ ।।

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द [अनुवादरूप पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (फलोपदेशः) [सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः वचन] फलविधायक हैं। (प्रधानशब्दसंप्रयोगात्) [यज्ञवाचक] प्रधान शब्द [दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम] का संयोग होने से। अर्थात् सर्वफल विधायक वचन में प्रधानकर्म शब्द दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम का संयोग होने से उक्त वचन दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम के ही सर्वफल विधायक विधिरूप हैं।

व्याख्या—अनुवाद नहीं, फलविधि है। किस हेतु से ? प्रधान शब्द के साथ फल का संयोग होता है—सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः । [इन वचनों में] प्रधान याग का कथन होने से प्रधान कर्म की सर्वफलवत्ता कही है। इसलिये [अङ्ग फलों तथा अङ्गाङ्ग फलों का] अनुवाद नहीं हैं। और यदि अङ्ग की कामनाओं तथा अङ्गाङ्ग की कामनाओं की [दर्शपूर्णमास तथा ज्योतिष्टोम] अपेक्षा करे तो [ये] लक्षणा शब्द होवे। श्रुति लक्षणा से गरीयसी होती है। इसलिये प्रयोजन वचन से [सब फलों की] विधि है।

---

१. मै० सं० ३।८।६।।

[योगसिद्ध्यधिकरणम् ॥११॥]

एवंजातीयकेष्वेवोदाहरणेष्वेतदुक्तम्—प्रधाने सर्वकामानां विधिरिति। इदमिदानीं संदिह्यते—किं सकृत्प्रयोगे सर्वे कामा उत पर्यायेणेति। किं प्राप्तम्? सकृत्प्रयोगे सर्वे कामा इति। कथम्?

विवरण—तथा लक्षणार्थशब्दः स्यात्—यदि सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः में श्रुत दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम शब्द अङ्गों और अङ्गाङ्गों का बोधन करायें तो ये प्रधान शब्द न होकर लाक्षणिक होंगे। अर्थात् अङ्गाङ्गिभावरूप लक्षणा से दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम शब्द स्व अङ्गों के बोधक होंगे। श्रुत्यर्थ की संभावना में लक्षणार्थ की कल्पना युक्त नहीं होती। इतना ही नहीं, ये वचन किसी विधि के शेष भूत नहीं हैं, जिससे अनुवाद होवे। यदि यह कहा जाये कि सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः विधायक वचन लिङादि नहीं है, तब विधि कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि यहां विधायक वचन लिङादि का अध्याहार करके फल की विधि सम्भव है (द्र०—टुप् टीका)।

यहां यह भी विचारणीय है कि सर्वकाम शब्द से स्वर्गकामना का भी ग्रहण हो जायेगा उस अवस्था में दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत् स्वर्गकामः ज्योतिष्टोमेन यजेत् स्वर्गकामः वचनों का आनर्थक्य होगा। इसका समाधान यह है कि यहां ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय से सर्वकाम शब्द से स्वर्ग से व्यतिरिक्त पशु-प्रजा-प्रतिष्ठा आदि ऐहलौकिक कामनाओं का ही ग्रहण जानना चाहिये। ऐसा स्वीकार करने पर भी पश्वादि कामनाओं के दर्शपूर्णमास आदि से सिद्ध होने पर गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्, कंसेन ब्रह्मवर्चसकामस्य, मृन्मयेन प्रतिष्ठाकामस्य (आप० १।१६।२) आदि अङ्ग कामनाओं के विधायक वचनों की व्यर्थापत्ति होगी। इसका समाधान फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात् (मी० १।२।१७, भाग १, पृष्ठ १६३-१६४) सूत्र द्वारा कर चुके हैं। इसे वहीं देखें। इतना ही नहीं, एक काल में तो यजमान की सब कामनाएं होती नहीं हैं, अतः जिस जिस कामना से प्रेरित होकर वह दर्शपूर्णमास तथा ज्योतिष्टोम करता है, वे सब उसकी पूर्ण होती हैं (द्र० अगला २८ वां सूत्र) इतना ही इन वचनों का तात्पर्य है॥ २६॥

—:०:—

व्याख्या—इस प्रकार के उदाहरणों में यह कहा है—प्रधान में सब कामों की विधि है। अब यह सन्देह होता है—क्या एक बार के प्रयोग में ही सब कामनाएं सिद्ध होती हैं अथवा पर्याय से? क्या प्राप्त होता है? एक बार के प्रयोग से ही सब कामनाएं सिद्ध होती हैं। किस हेतु से?

तत्र सर्वेऽविशेषात् ॥ २७ ॥ (पू०)

सर्वेषां कामानां दर्शपूर्णमासौ निमित्तं, ज्योतिष्टोमश्चेति। निमित्तं चेत्सर्वेषां कामानां, कोऽत्र खलु कामो न भविष्यतीति ? तस्माद् यौगपद्येन सर्वे कामा इति ॥२७॥

योगसिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात् ॥ २८ ॥ (उ०)

न चैतदस्ति सर्वे युगपत्कामा इति। पर्यायो योगसिद्धिः। पर्यायेण भवेयुः कामा इति। कुतः ? अर्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात्। अर्था इमे कामा नाम, न सर्व एव युगपदुत्पद्यन्ते। असंभवो युगपदुत्पत्तेः सर्वेषां, विरोधात्।

अथवा उत्पत्त्यसंयोगित्वादिति। न कामानामेतदुत्पत्तिवचनम्। उत्पन्नानां

तत्र सर्वेऽविशेषात् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थः—(तत्र) दर्शपूर्णमास तथा ज्योतिष्टोम के करने पर (सर्वे) सब काम=कामनाएं सिद्ध होती हैं, (अविशेषात्) विशेषरूप से किसी कामना विशेष का निर्देश न होने से।

व्याख्या—सब कामनाओं का दर्शपूर्णमास याग निमित्त है, और ज्योतिष्टोम भी। यदि सब कामनाओं के निमित्त हैं तो कौन सी कामना [सिद्ध] नहीं होगी ? [अर्थात् सब कामनाएं सिद्ध होंगी।] इसलिये एक साथ सब कामनाएं सिद्ध होती हैं ॥ २७ ॥

योगसिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात् ॥ २८ ॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति करता है। सब फल युगपत् सिद्ध होते हैं, ऐसा नहीं है। (योगसिद्धिः) योग=संबन्ध अर्थात् प्रत्येक प्रयोग के संबन्ध से फल की सिद्धि होती है [वह संबन्ध पर्याय से होता है। इसलिये पर्याय से ही फल की सिद्धि होती है, युगपत् फल की सिद्धि नहीं होती]। (अर्थस्य) सम्पूर्ण फल का (उत्पत्त्यसंयोगित्वात्) युगपत् उत्पत्ति के साथ संयोगी नहीं होने से अर्थात् सम्पूर्ण कामनाओं के एक साथ उत्पन्न न होने से सब फल भी एक साथ नहीं होते।

व्याख्या—यह नहीं है कि सब कामनाएं युगपत् होवें। योग की सिद्धि पर्याय से होती है अर्थात् पर्याय से कामनाएं होवेंगी। किस हेतु से ? अर्थ का उत्पत्ति के साथ संयोगी न होने से। अर्थ ये कामनाएं हैं, ये सब युगपत् उत्पन्न नहीं होतीं। सब कामनाओं की युगपत् उत्पत्ति असम्भव है' विरोध होने से।

अथवा उत्पत्ति का संयोगी न होने से। यह (='सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' आदि) काम-

लक्षणत्वेन वचनम् । ये सर्वे कामास्तेभ्यो दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमश्चेति । न सर्वे कामाः कर्मणः श्रूयन्ते, ये सर्वे कामास्तेभ्यो हि कर्म विधीयते : तस्मान्न कामानां साहित्यं गम्यत इति ।।२८।। **दर्शपूर्णमासादीनां प्रतिफलं पृथगनुष्ठानाधिकरणम् ।।११।। योगसिद्धिन्यायः । इदमस्मधिकरणद्वय दर्शपूर्णमासन्यायः ।।**

—:o:—

[वर्णकान्तरेण पुत्रवृष्ट्यादेः कर्मफलस्यैहिकामुष्मिकत्वप्रतिपादनम् ।।११।।]

।। एवं वा ।। काम्यानि कर्माण्युदाहरणम् । **सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः**[1] **ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः**[2], **चित्रया यजेत पशुकामः**[3], **वैश्वदेवीं सांग्र-**

नाओं की उत्पत्ति का वचन नहीं है। उत्पन्न हुई कामनाओं को लक्षित (=इंगित) करके वचन है। जो सब कामनाएं हैं उन के लिये दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम है। सब कामनाएं [युगपत्] कर्म के साथ श्रुत नहीं हैं। जो सब कामनाएं हैं उन के लिये कर्म का विधान हैं। इसलिये कामनाओं का साहित्य (=यौगपद्य) नहीं जाना जाता है।

विवरण—इन दोनों व्याख्याओं में यह अन्तर है कि प्रथम व्याख्या में इन की युगपत् उत्पत्ति की असंभावना दर्शाई है। इसलिये जिस कामना की अभिलाषा होगी, उसकी पूर्ति दर्श-पूर्णमास और ज्योतिष्टोम से हो जायगी। दूसरी व्याख्या में कहा है कि **सर्वेभ्योदर्शपूर्णमासौ सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः** वचन कामनाओं को उत्पन्न करने का विधायक नहीं है, अपितु उत्पन्न हुई कामनाओं का लक्षणा से सर्व शब्द से कथन किया है।

—:o:—

व्याख्या—अथवा [२७-२८ सूत्रों की व्याख्या] इस प्रकार समझें। काम्य कर्म उदाहरण हैं सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः (=ब्रह्मवर्चस की कामना वाला सूर्यदेवताक चरु का निर्वाप करे), ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत प्रजाकामः (=प्रजा की कामना वाला इन्द्र और अग्नि देवता वाले एकादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे), चित्रया यजेत पशुकामः (=पशु की कामना वाला चित्रा संज्ञक याग से यजन करे), वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद्

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र० भाग २, पृष्ठ ५५८ की टिप्पणी ।

२. तै० सं० २।२।१।१।।

३. तै० सं० २।४।६। अत्र द्वितीयभागस्य २९३ तमे पृष्ठे ५ मी टिप्पणी द्र० ।

हणीं निर्वपेद् ग्रामकामः'[1] इति । तेषु संदेहः । किमिह लोके कामाः, उतामुष्मिलँ्लोक इति । किं प्राप्तम् ?

तत्र सर्वेऽविशेषात् ॥ २७ ॥ (पू०)

तत्रामुष्मिल्लँ्लोके कामाः । अविशेषात् । यथा स्वर्गः, एवमिमेऽपि । न ह्यनन्तरं निर्वृत्ते कर्मणि फलमुपलभ्यते पश्वादि । यच्चानन्तरमुपलभ्यते, ततत इति विज्ञायते । यथा यत्कालं मर्दनं, तत्कालं मर्दनसुखम् । यच्च कालान्तर उपलभ्यते, तस्याप्यन्यदेव कारणमस्ति प्रत्यक्षम् । शरीरग्रहणस्य तु नादृष्टादृते किंचित्कारणमस्ति । तस्माद् विशिष्टेन्द्रियशरीरादि फलं पशुसंबन्धसमर्थं पशुफलात् कर्मणो भवतीत्येवं बोद्धव्यम् । तद्धि दर्शयति—कैकेयो यज्ञं विवित्सन् दाल्भ्यमुवाच । अनया स्वाराष्ट्रप्रतिपादनीय-

---

ग्रामकामः (=ग्राम की कामना वाला विश्वदेव देवताक सांग्रहणी का निर्वाप करे) । इन [कामों] में संदेह होता है—क्या ये इस लोक के काम हैं, अथवा परलोक के ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—इस का भाव यह है कि इन कामनाओं की सिद्धि इसी लोक (=जन्म) में होती है अथवा परलोक में ?

तत्र सर्वेऽविशेषात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—[तत्र सर्वे] उक्त वचनों में कहे गये सब काम परलोक सम्बन्धी हैं, (अविशेषात्) विशेष (=इस लोक या परलोक का) कथन न होने से [जैसे स्वर्गरूप काम परलोक सम्बन्धी है]।

व्याख्या—उक्त वचनों में कहे गये काम पर लोक में [सिद्ध होते हैं] विशेष कथन न होने से । जैसे स्वर्गरूप कामना है उसी प्रकार ये भी हैं । कर्म के पूर्ण होने के अनन्तर पश्वादि फल उपलब्ध नहीं होते । जो [फल कर्म के] अनन्तर प्राप्त होता है वह उस[निमित्त]से हुआ है ऐसा जाना जाता है । जैसे जब तक मालिश की जाती है तब तक मालिश का सुख होता है । और जो [फल] कालान्तर में उपलब्ध होता है उस का प्रत्यक्ष अन्य ही कुछ कारण होता है । इसलिये पशु संबन्ध समर्थ विशिष्ट इन्द्रिय शरीरादि फल पशुफल वाले कर्म से होता है, ऐसा जानना चाहिये । उसे [श्रुतिवचन] दर्शाता है—कैकेयो यज्ञं विवित्सन् दाल्भ्यमुवाच अनया स्वाराष्ट्रप्रतियादनीयया इष्टचा याजयेति । सोऽब्रवीत्—न वै सौम्य राष्ट्रप्रतिपादनीयां वेत्थ, अमुष्मैकामाय यज्ञा आह्रियन्ते (=कैकय देश का राजा यज्ञ को जानने की

---

1. तै० सं० २।३।६।२॥

येष्टचा याजयेति । सोऽब्रवीत्—न वै सौम्य राष्ट्रप्रतिपादनीयां वेत्थ, अमुष्मै कामाय यज्ञा आह्रियन्ते[1] इति जन्मान्तरफलतां दर्शयति । तस्माज्जन्मान्तरफलानि काम्यानीति ॥२७॥

योगसिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात् ॥ २८ ॥

इहैवैषां सिद्धिर्योगस्य । उत्पत्त्या योगो न संभवति । यः पशून् कामयते स एतेन यागेन कुर्यादिति नात्रैद्गतम्यते, इह जन्मनि न संभवतीति । यच्चानन्तरं नोपलभ्यत इति । तन्न । प्रत्यक्षानुमानाभ्यां न गम्यते, शब्देन त्वस्त्यवगतिः । यत्तु कालान्तरेऽन्यत्कारणमिति । नैष दोषः । अन्यदपि भविष्यति, एतदपि । यच्चामुष्मै कामाय यज्ञा आह्रियन्त इति । अत्रोच्येत—एवमस्य ऋषेर्मतम्—इहा [यस्य फलं तेन त्वा न

इच्छा करता हुआ दाल्भ्य से कहा—इस राष्ट्रप्रतिपादनीया [=राष्ट्र को देने वाली] इष्टि से मुझे यज्ञ करा । वह [दाल्भ्य] बोला—हे सौम्य राष्ट्रप्रतिपादनीया को तू नहीं जानता, परलोक की कामना के लिये यज्ञ किये जाते हैं) । यह [वचन यज्ञ कर्म की] जन्मान्तर में होने वाली फलवत्ता को दर्शाता है । इसलिये काम्य कर्म जन्मान्तर के फलवाले हैं ॥ २७ ॥

योगसिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात् ॥ २८ ॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् जन्मान्तर में फल होता है, ऐसा नहीं है । यहां भी (योगसिद्धिः) योग=फल के योग की सिद्धि होती है । (अर्थस्य) फलरूप अर्थ का (उत्पत्त्यसंयोगित्वात्) उत्पत्ति=यागरूप कर्म की उत्पत्ति के साथ संयोग न होने से । अर्थात् याग के होते ही फल होता है, ऐसा यागविधायक वाक्य से नहीं जाना जाता है ।

व्याख्या—यहीं योग (=फल) की सिद्धि होती है । [फल की] उत्पत्ति के साथ [जन्मान्तर का] सम्बन्ध सम्भव नहीं है । जो पशुओं की कामना करता है वह [उन्हें] याग से प्राप्त करे' यहाँ यह नहीं जाना जाता है कि इस जन्म में [पशुफल] सम्भव नहीं है । और जो कहा कि [याग के] अनन्तर फल नहीं उपलब्ध होता है,' यह नहीं है । प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं जाना जाता है, शब्द से तो जाना जाता है । और जो यह कहा कि 'कालान्तर में [फल की प्राप्ति का] अन्य कारण है' यह दोष नहीं है अन्य [कारणान्तर] भी होगा और यह [याग भी कारण] होगा । और जो यह कहा है कि 'परजन्म [में प्राप्त होने वाले फल] की कामना के लिये यज्ञ किये जाते हैं' । इस विषय में कहते हैं—उस ऋषि का यह मत इस प्रकार है कि

---

१. अनुपलब्धमूलम् । कुतुहलवृत्ताविदं वचनमेवमुद्ध्रियते—'कैकेयं वै यज्ञकेशी आलिङ्ग्योवाच । अनया मां राष्ट्रप्रतिपादनीययेष्टचा याजयेति···' ।

याजयामि, यस्यामुत्र फलं तेन याजयिष्यामीति। तस्मादेतत् परिहृतमिति ॥२८॥
कास्यानामैहिकामुष्मिकफलवत्त्वाधिकरणम् ॥११॥

—:०:—

इस जन्म में जिस याग का फल होता है इस से तुझे यजन नहीं कराऊंगा, जिस याग का फल परलोक में होता है उस से यजन कराऊंगा। इसलिये यह [मत कि इस जन्म में फल नहीं होता] परिहृत हो गया [अर्थात् इस जन्म में फल होता है, यह सिद्ध हो गया]।

विवरण—**उत्पत्त्या योगो न संभवति**—यहां 'उत्पत्ति' से क्या अभिप्रेत है यह स्पष्ट नहीं है। 'जन्मान्तर में फल की उत्पत्ति के साथ सम्बन्ध नहीं है' ऐसा कुतुहलवृत्ति से जाना जाता है। 'याग कर्म की उत्पत्ति के साथ ही फल होता है ऐसा सम्बन्ध नहीं जाना जाता है' यह अर्थ भी सम्भव हैं। अतः भाष्य-व्याख्या में प्रथम अर्थ किया है और सूत्रार्थ में दूसरा। **एवमस्य ऋषेर्मतम्**—'यह इस ऋषि का मत है' ऐसा अर्थ करने पर भाष्यकार द्वारा आश्रित ब्राह्मण ग्रन्थों की अपौरुषेयता पर आंच आती है। अतः उन के मत में इसे अर्थवाद मानना होगा [कुतुहलवृत्तिकार ने अर्थवाद ही माना है]। हम ब्राह्मण को वेद नहीं मानते। इसलिये हमारे मत में ऋषि का कथन अञ्जसा उपपन्न हो जाता है।

जयन्तभट्ट, जो उत्कृष्ट मीमांसक था, ने न्यायमञ्जरी ग्रन्थ में न्यायशास्त्र तथा मीमांसाशास्त्र के आधार पर वेद-प्रामाण्य पर विस्तार से लिखा है। उसी प्रसंग में **ग्रामकामः सांग्रहण्या यजेत** द्वारा प्रतिपादित ग्राम कामना की तत्काल पूर्ति के सम्बन्ध में लिखा है—तथा—**ह्यस्मत्पितामह एव ग्रामकामः सांग्रहणीं कृतवान्, स इष्टिसमाप्तिसमन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप।** न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २७४ (मेडिकलहाल प्रेस काशी, सं० १९५१)। अर्थात् हमारे ग्राम की कामनावाले पितामह ने सांग्रहणी इष्टि की थी। उन्होंने इष्टि की समाप्ति के साथ ही 'गौरमूलक' नाम का गांव पाया था।

विशेष—इस अधिकरण का नामकरण है—**पुत्रवृष्ट्यादेः कर्मफलस्यैहिकामुष्मिकत्व प्रतिपादनम्** अर्थात् पुत्र वृष्टि आदि कर्मफल का ऐहलौकिक वा पारलौकिक फल का प्रतिपादन। यहां यह विचारणीय है कि निस्सन्तान व्यक्ति और सूखे से पीड़ित कृषक यदि पुत्र और वृष्टि की कामना से याग करते हैं। पुत्र जन्म तो तत्काल न होकर कुछ वर्ष पश्चात् होने पर भी याग का फल माना जा सकता है, परन्तु खेत सूखने पर वृष्टि होने को क्या कोई कृषक उसे इष्टि का फल स्वीकार करेगा? ऐसी अवस्था में इन यागों का फल परलोक में प्राप्त होगा, ऐसी कल्पना करना कहां तक युक्ति संगत हो सकती है, यह विचारना चाहिये। इस जन्म में पुत्र की प्राप्ति और तात्कालिक सूखे की निवृत्ति के लिए ही तो इन्होंने याग किया था, न कि अभी पुत्र और वृष्टि रूप फल न मिले तो परलोक में प्राप्त होवे, ऐसी भावना तो याग करने वालों की थी नहीं। इस लिये पुत्रकामेष्टि और कारीरी इष्टि के करने पर सद्यः फल प्राप्त नहीं होता है तो उस

[सौत्रामण्यादेश्चयनाद्यङ्गताधिकरणम् ॥१२॥]

अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत[1], **वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत**[2] इति । तत्र संदेहः—किमङ्गप्रयोजनसंबन्ध एष उत कालार्थः संयोग इति ?

का कारण न्यायसूत्रकार ने इस प्रकार लिखा है—न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् (न्या० १।२।४७)। इसका भाव यह है कि पुत्रकामेष्टि तथा कारीरी इष्टि करने पर फल का अभाव होने से जो अप्रामाण्य दर्शाया है वह ठीक नहीं है । कर्म=याग, कर्ता=यजमान और साधन=हवि; मन्त्र, ऋत्विक् आदि की विगुणता (यथावत् न होने) से पुत्रेष्टि और कारीरी इष्टि में फल का अभाव होता है । स्त्री-पुरुष में सन्तानयोग्य वीर्यादि में कोई दोष नहीं होवे तो याथातथ्य प्रकार से पुत्रेष्टि और कारीरी इष्टि करने पर सद्यः फल प्राप्त होता है ।

इस के साथ ही यह भी जानना चाहिये कि अनेक काम्येष्टियों में जो हवि कही है, वह उस कामना के लिये यजमान द्वारा सेवनीय भी होती है । यथा—**दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्** (=दहि से इन्द्रिय की प्राप्ति के लिये अग्निहोत्र करे) । इसी प्रकार ब्रह्मवर्चस कीं प्राप्ति के लिये **सोमारौद्रं घृते चरुं निर्वपेत् शुक्लानां व्रीहिणां ब्रह्मवर्चसकामः** (मै० सं० २।१।५) से घृत में पकाये श्वेत तण्डुल के ओदन से याग करने का विधान किया हैं । दोनों कामनाओं की पूर्ति के लिये दधि और घृत में पकाये चावलों का भोज्यरूप में भक्षण भी करना चाहिये, तभी इष्ट फल की प्राप्ति होगी । आयुर्वेद की दृष्टि से दधि का प्रयोग ऐन्द्रिय बलवर्धन के तथा घृत में पकाये चावलों का भक्षण ब्रह्मवर्चसत्व की प्राप्ति के साधन हैं ॥ २८ ॥

—:०:—

व्याख्या—**अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत** (=अग्नि का चयन करके सौत्रामणी से यजन करे), **वाजपेयेनेष्टवा बृहस्पतिसवेन यजेत** (=वाजपेय से यजन करके बृहस्पतिसव से यजन करे) । इस में सन्देह है—क्या यह अङ्ग प्रयोजनरूप सम्बन्ध कहा है अथवा काल के निदर्शन के लिये संयोग है ?

विवरण—**अङ्गप्रयोजनसंबन्धः**—इस का भाव है—अङ्गाङ्गी भावरूप सम्बन्ध दर्शाना । यहां **अङ्गप्रयोजनः सम्बन्धः** पाठ हो तो शब्दार्थ स्पष्ट हो जाता है-यह सम्बन्ध अङ्गत्व प्रयोजन वाला =अङ्गत्व का बोधन कराने वाला है । **कालार्थः संयोगः**—इस का भाव है अग्निचयन तथा वाजपेय की पूर्व कालता और सौत्रामणी तथा बृहस्पतिसव की उत्तर कालता को दर्शाने के लिये **चित्वा** और **इष्ट्वा** का निर्देश है ।

---

१. तै० सं० ५।६।३।४॥

२. अनुपलब्धमूलम् । आप०श्रौ०१८।७।१८ सूत्रे वाजपेयानन्तरं बृहस्पतिसवो विधीयते ।

समवाये चोदना सयोगस्याथवत्त्वात् ॥ २९ ॥ (उ०)

अङ्गप्रयोजनसंवन्ध इति ब्रूमः। एवं हि श्रुतिविनियुक्तोऽर्थः। इतरथा कालो लक्ष्येत। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तस्मादग्न्यङ्गं सौत्रामणी, वाजपेयाङ्गं बृहस्पतिसव इति ॥ २९॥

कालश्रुतौ काल इति चेत् ॥ ३० ॥ (पू०)

एवं चेत्पश्यसि, अङ्गप्रयोजनसंवन्ध इति। अथ कालविधानं कस्मान्न भवति? कालविधिरूपो हि शब्दः, चित्वा चयनेऽभिनिर्वृत्त इति ॥ ३० ॥

नासमवायात् प्रयोजनेन स्यात् ॥ ३१ ॥ (उ०)

समवाये चोदना संयोगस्यार्थवत्त्वात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(समवाये) अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध में (चोदना) सौत्रामणी और बृहस्पतिसव का कथन है। अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध में ही (सयोगस्यार्थवत्त्वात्) अग्निचयन और सौत्रामणी तथा वाजपेय और बृहस्पतिसव के संयोग के अर्थवान् होने से, अन्यथा अग्निचयन और वाजपेय के प्रकरण में सौत्रामणी और बृहस्पतिसव का पाठ व्यर्थ होवे।

व्याख्या—अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार ही श्रुति से विनियुक्त अर्थ है [अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत]। अन्यथा काल लक्षित होवे [अर्थात् सौत्रमाणी का काल अग्निचयन के पश्चात् तथा बृहस्पतिसव का काल वाजपेय के पश्चात् है]। श्रुति और लक्षणा में सन्देह होने पर श्रुति न्याय्य है, लक्षणा न्याय्य नहीं है। इसलिये अग्निचयन का अङ्ग है सौत्रामणी और वाजपेय का अङ्ग है बृहस्पतिसव ॥ २९ ॥

कालश्रुतौ काल इति चेत् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थः—(कालश्रुतौ) कालबोधक [क्त्वा प्रत्ययान्त चित्वा, इष्ट्वा] शब्दों का श्रवण होने पर (काल इति चेत्) काल=पौर्वापर्य काल का विधान होवे तो। [यहां सूत्र में 'कालश्रुतेः' पाठ भी है।

व्याख्या—यदि ऐसा समझते हो कि अङ्गाङ्गिभाव संबन्ध है तो काल का विधान किस हेतु से नहीं होता? कालविधि के समान ही शब्द है—चित्त्वा चयन (=अग्निचयन) के सम्पन्न हो जाने पर।

नासमवायात् प्रयोजनेन स्यात् ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थः—(न) कालश्रुति नहीं है (प्रयोजनेन) फल के साथ (असमवायात्) सम्बन्ध न

नैतदेवम् । असमवायात् । शब्दार्थेनेत्यर्थः । शब्दप्रयोजनेन शब्दार्थश्चयनम् । तेनासमवायः स्यात् सौत्रामण्याः, वाजपेयेन च बृहस्पतिसवस्य । प्रकरणं च बाध्येत । अग्निप्रकरणे श्रूयमाणोऽग्नेर्धर्मो गम्यते यागः, वाजपेयप्रकरणे च वाजपेयस्य । इतरथा तयोः प्रकरणेऽन्यस्य धर्मः कालो गम्येत । तस्मादङ्गप्रयोजनसंबन्ध इति ॥ ३१ ॥
सौत्रामण्यादीनां चयनाद्यङ्गताधिकरणम् ॥ १२ ॥

—:०:—

होने से । अर्थात् यहां अग्निचयन और वाजपेय दोनों प्रधान है=फलवान् हैं, सौत्रामणी और बृहस्पतिसव अप्रधान अर्थात् अङ्ग है, अतः फलरहित है (सुबोधिनी) ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है [कि यहाँ कालविधि है]। असमवाय (=संबन्ध का अभाव) होने से । शब्द प्रयोजन के साथ अर्थात् शब्दार्थ के साथ । शब्दार्थ है चयन । [अग्नि चित्वा, वाजपेयेनेष्ट्वा में अग्नि चयन और वाजपेय यजन का विधान है । यदि काल अङ्ग माना जाय तो] चयन के साथ सौत्रामणी और वाजपेय के साथ बृहस्पतिसव का सम्बन्ध न होवे और प्रकरण भी बाधा जावे । अग्नि के प्रकरण में श्रूयमाण अग्नि का धर्म माना जाता है, और वाजपेय के प्रकरण में पठित वाजपेय का । अन्यथा उन (= अग्निचयन और वाजपेय) के प्रकरण में अन्य (=सौत्रामणी और बृहस्पतिसव) का कालरूप धर्म माना जाये । इसलिये यहां अङ्गाङ्गिभाव प्रयोजन वाला सम्बन्ध है ।

विवरण—सौत्रामणी और बृहस्पतिसव यागों का स्वतन्त्ररूप से अन्यत्र विधान किया है। यथा—ब्राह्मणयज्ञः सौत्रामण्यृद्धिकामस्य, राज्ञोऽपरुद्धस्य (का० श्रौत १९।१,३), यः पुरोधा-कामः स्यात् स बृहस्पतिसवेन यजेत (तै० ब्रा० २।७।१) । इस अधिकरण में उद्धृत वाक्यों से विहित सौत्रामणी और बृहस्पतिसव अग्निचयन और वाजपेय के अङ्ग हैं, अथवा चित्वा इष्ट्वा शब्दों से स्वतन्त्ररूप से विहित सौत्रामणी और बृहस्पतिसव का आनन्तर्य विहित है, यह विचार किया गया है । इस विषय में सिद्धान्त यह है कि भाष्य निर्दिष्ट वचनों में विहित सौत्रामणी और बृहस्पतिसव का अग्निचयन और वाजपेय के प्रकरण में पाठ होने से ये उनके अङ्ग हैं । अङ्गों का काल प्रधान के काल के साथ होता है। इसलिये सौत्रामणी और बृहस्पतिसव के क्रमशः अग्नि-चयन और वाजपेय के अङ्ग होने से अग्निचयन और वाजपेय के प्रधान याग के साथ प्रयोग प्राप्त होता है, उस की निवृत्ति चित्वा और इष्ट्वा शब्द से कही है, अर्थात् साङ्ग अग्निचयन और साङ्ग वाजपेय करने के अनन्तर सौत्रामणी और बृहस्पतिसव करने का विधान किया है। इस विषय में विशेष मी० ४।३।४१ के भाष्य और विवरण में देखें ॥ ३१ ॥

—:०:—

[वैमृधस्य पौर्णमासीमात्राङ्गताधिकरणम् ॥ १३ ॥]

दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति—'संस्थाप्य पौर्णमासीं वैमृधमनुनिर्वपति'[1] इति। तत्र संदेहः—किमुभयाङ्गं वैमृधः, कालार्थः पौर्णमासीसंयोग उताङ्गप्रयोजनसंबन्ध इति। किं प्राप्तम् ?

उभयार्थमिति चेत् ॥ ३२ ॥ (पू०)

एवं चेदुभयार्थो वैमृधः। कुतः ? प्रकरण उभयोराम्नानसामर्थ्यात्। कालविधिसारूप्याच्च संस्थाप्येति ॥ ३२ ॥

न शब्दैकत्वात् ॥ ३३ ॥ (उ०)

व्याख्या—दर्शपूर्णमास [के प्रकरण] में पढ़ते हैं—संस्थाप्य पौर्णमासीं वैमृधमनुनिर्वपति (=पौर्णमासेष्टि को पूर्ण करके वैमृध का अनुनिर्वाप करता है)। इस में सन्देह होता है—क्या वैमृध इष्टि दोनों (=दर्श और पूर्णमास इष्टियों) का अङ्ग है, [वाक्य में] पौर्णमासी का संयोग [वैमृधेष्टि का] काल निदर्शनार्थ है अथवा [पौर्णमासी का निर्देश] अङ्गप्रयोजन वाला है [अर्थात् पौर्णमासेष्टि के अङ्गत्व निर्देशन के लिये वैमृधेष्टि का निर्देश है]। क्या प्राप्त होता है ?

उभयार्थमिति चेत् ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थः—(उभयार्थम्) दर्शपूर्णमासेष्टियों के अङ्गत्व और पौर्णमासी काल दोनों के लिये वैमृधेष्टि का विधान है, यदि ऐसा माना जाये तो।

व्याख्या—यदि ऐसा [संशय] है तो वैमृध का निर्देश उभयार्थ (=दर्शपूर्णमासेष्टियों के अङ्गत्व और पौर्णमासी काल के विधानार्थ) है। किस हेतु से ? दोनों के प्रकरण में पाठसामर्थ्य से और कालविधि के समान रूप वाले [संस्थाप्य] शब्द के श्रवण से ॥३२॥

विवरण—इस पक्ष में दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित वैमृधेष्टि पूर्णमास के अनन्तर की हुई भी दर्शपूर्णमास दोनों का अङ्ग होगी।

न शब्दैकत्वात् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थः—(न) वैमृधेष्टि का विधान उभयार्थ नहीं है, (शब्दैकत्वात्। एक शब्द होने

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—पौर्णमासं संस्थाप्यैतामिष्टिमनु निर्वपेत्। तै० सं० २।५।४।२ [एतां वैमृधीम्] ॥ संस्थाप्य पौर्णमासीं वैमृधाय······अनुनिर्वपति। आप० श्रौत ३।१५।१॥

एकः शब्दः – अनुनिर्वपतीति। एकस्मिन्नेव वाक्ये न द्वौ संबन्धौ शक्नोति विधातुं वैमृधस्य दर्शपूर्णमासाभ्यां पूर्णमासीकालेन च। एकार्थत्वाद्ध्येक वाक्यं' समधिगतम् ॥ ३३ ॥

प्रकरणादिति चेत् ॥ ३४ ॥ (पू०)

प्रकरणादिति यदुक्तं, तत्परिहर्तव्यम् ॥ ३४ ॥

नोत्पत्तिसंयोगात् ॥ ३५ ॥ (उ०)

से। [इस का भाव यह है कि निर्वपति एक विधिशब्द वैमृधेष्टि के दर्शपूर्णमास यागों के अङ्गत्व और पौर्णमासी कालत्व का विधान नहीं कर सकता।

व्याख्या—एक शब्द है अनुनिर्वपति। [यह] एक ही वाक्य में दो सम्बन्धों का विधान नहीं कर सकता, विमृध [इष्टि] का दर्शपूर्णमास के साथ और पौर्णमासी काल के साथ। एकार्थत्व से ही एक वाक्य होता है, यह [मी० २।१।४६ में] जाना गया है।

विवरण—एकः शब्दः—अनुनिर्वपति—यहां भाष्यकार ने 'अनुनिर्वपति' को एक शब्द कहा है, यह चिन्त्य है। 'अनु' स्वतन्त्र पश्चात् अर्थवाला निपात है। इसी लिये तै०सं० २।५।४।२ के पौर्णमासं संस्थाप्यानु निरवपन् में 'अनु' आद्युदात्त है। अन्यथा गतिर्गतौ (अष्टा० ८।१। ७०) से 'अनु' को सर्वानुदात्त होना चाहिये। अतः एकः शब्दः—निर्वपति ऐसा कहना चाहिये। हम पूर्व मी० ४।३।३,१८ पृष्ठ १३०९, १३३६ में लिख चुके हैं कि मीमांसक वर्तमानकालिक लट् लकार और लेट् लकार के रूपों के सादृश्य के कारण लेट् लकार को प्रायः विधायक नहीं मानते। कहीं कहीं लेट् की विधायकता स्वीकार भी करते हैं। इस का यही निर्वपति शब्द उदाहरण है। यहां इसे विध्यर्थक माना है। अतः इसे लेट् लकार का रूप जानना चाहिये ॥३३॥

प्रकरणादिति चेत् ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थः—(प्रकरणात्) दर्शपूर्णमास का प्रकरण होने से यह वैमृधेष्टि दर्शपूर्णमास का अङ्ग होवे (इति चेत्) ऐसा यदि मानें तो।

व्याख्या—प्रकरण से यह [वैमृधेष्टि दर्शपूर्णमास का अङ्ग है] ऐसा जो कहा है उस का परिहार करो ॥४

नोत्पत्तिसंयोगात् ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थः—(न) वैमृधेष्टि दर्शपूर्णमास का अङ्ग नहीं है। (उत्पत्तिसंयोगात्) इसी

---

१. मी० २।१।४६॥

नैतदेवम्, एतदेव वैमृधस्योत्पत्तिवाक्यम् । तद्दर्शपूर्णमासाभ्यां वा प्रकरणादेकवाक्यभावमियात्, प्रत्यक्षं वा पौर्णमास्या । तत्र प्रत्यक्षसंयोगः प्रकरणाद् बलवान् । प्रत्यक्षश्च पौर्णमास्या संयोगः, परोक्षः कालेन । तस्मात् पौर्णमास्यङ्गं वैमृध इति ॥ ३५ ॥ **वैमृधादेः पौर्णमास्याङ्गताधिकरणम्** ॥ १३ ॥

—:०:—

[वाक्य] का वैमृध इष्टि की उत्पत्ति के साथ संबन्ध होने से । [इसका भाव यह है कि यही वाक्य वैमृधेष्टि का उत्पत्ति वाक्य है और इस का पौर्णमासी के साथ साक्षात् सम्बन्ध है ।

व्याख्या—यह नहीं है । यही वाक्य वैमृधेष्टि का उत्पत्ति वाक्य है । वह दर्शपूर्णमास यागों के साथ प्रकरण से एक वाक्यभाव को प्राप्त होवे अथवा प्रत्यक्ष पौर्णमासी के साथ । ऐसे सन्देह में प्रत्यक्ष संयोग प्रकरण से बलवान् होता है । पौर्णमासी के साथ [इस वाक्य का] प्रत्यक्ष संयोग है, काल के साथ संयोग परोक्ष है । इसलिये वैमृधेष्टि पौर्णमासी का अङ्ग है ।

विवरण—कुतुहलवृत्तिकार ने इस अधिकरण के सम्बन्ध में विशेष विचार किया है जो इस प्रकार है—

"कतिपय आचार्य कहते हैं कि पूर्वपक्ष में अमावस्या में भी वैमृधेष्टि की जाये, सिद्धान्त पक्ष में अमावस्या में वैमृधेष्टि न की जाये, यह इस विचार का प्रयोजन है । यह युक्त नहीं है । ऐसा मानने कर कालार्थ संयोग की बाधा प्राप्त होगी । पौर्णमासी के उत्तरकाल में ही क्रियमाण वैमृधेष्टि के उभयाङ्गता के पूर्वपक्ष में अभिमत होने से । (प्रश्न) दोनों (दर्शपूर्णमास का अङ्ग और काल निर्देशार्थ पौर्णमासी संयोग तथा पौर्णमासी मात्र का अङ्ग रूप) पक्षों में कर्म के अनुष्ठान में विशेष न होने से [अर्थात् पौर्णमासेष्टि के अनन्तर ही वैमृध याग के होने से] प्रकृत विचार का क्या प्रयोजन है ? (समाधान) [किसी कारण वश] जब पौर्णमासेष्टि स्वकाल में नहीं की गई और प्रायश्चित्त करके केवल दर्शेष्टि ही की जाये, तब [वैमृधेष्टि के दर्शेष्टि का भी अङ्ग होने से] दर्शेष्टि के आरम्भ से पूर्व दर्शेष्टि के अङ्ग रूप में वैमृधेष्टि करनी होगी । पौर्णमासेष्टि के अनुष्ठान के अभाव में भी [वैमृधेष्टि के] पौर्णमास उपलक्षित काल के होने से[1] **नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजते** (=नक्षत्र को देखकर वाग् विसर्जन करता है के समान) । वहां नक्षत्र दर्शन के वाग्विसर्जन काल के प्रति उपलक्षण होने से मेघादि के आवरणादि के कारण नक्षत्र का दर्शन न

---

१. इसका भाव यह है कि किन्हीं आचार्यों के मत में अमावास्या के अनन्तर शुक्ल पक्ष में पौर्णमासी से पूर्व सब तिथियों में अमावास्या होती है । इसी प्रकार पौर्णमासी के अनन्तर कृष्ण पक्ष में अमावास्या से पूर्व सब तिथियों में पौर्णमासी रहती है । द्र० मी० भा० १।३।१४ के **'पूर्वपक्षे सर्वासु तिथिषु अमावस्या'** पर टिप्पणी (भाग १, पृष्ठ २४९, टि० २) ।

[अनुयाजादीनां कालविधानार्थताधिकरणम् ॥ १४ ॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—आग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति[1]. प्रहृत्य परिधीञ्जुहोति हारियोजनम्[2] इति । तत्र संदेहः—किमङ्गं विधीयते, उत काल इति ? अङ्गविधाने श्रुतिः, कालविधाने लक्षणा । तस्मादङ्गविधानमिति प्राप्ते, ब्रूमः—

अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात् प्रयोजनेन संबन्धात् ॥ ३६ ॥ (उ०)

होने पर भी नक्षत्रदर्शन से उपलक्षित काल के विद्यमान होने से वाग् का विसर्जन निवृत्त नहीं होता [अर्थात् आवरणादि के कारण नक्षत्रदर्शन न होने पर भी जिस समय नक्षक्षदर्शन होता है उस समय वाक् का विसर्जन किया जाता है] । सिद्धान्त पक्ष में पौर्णमासेष्टि के स्वकाल का अतिक्रमण होने पर प्रायश्चित्त करके केवल दर्शेष्टि ही की जाती है, न कि उससे प्राक् वैमृवेष्टि भी" ॥ ३५ ॥

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—आग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति (अग्नि और मरुद् देवता के कर्म के अनन्तर अनुयाजों से यजन करता है), प्रहृत्य परिधीञ्जुहोति हारियोजनम् (=परिधियों को अग्नि में छोड़ने के उत्तर काल में हारियोजन ग्रहस्थ सोम का होम करता है) । इस में सन्देह होता है—क्या [अनुयाजों को आग्निमारुत कर्म का तथा हारियोजन होम को परिधिप्रहरण कर्म का] अङ्ग का विधान किया जाता है अथवा काल का निर्देश है [अर्थात् अनुयाजों का काल अग्निमारुत कर्म के पश्चात् और हारियोजन होम का काल परिधि-प्रहरण के पश्चात् है] ? अङ्ग के विधान में श्रुति (श्रवण) है [अर्थात् अनुयाजैश्चरन्ति और जुहोति हारियोजनम् से क्रमश आग्निमारुत कर्म और परिधिप्रहरण कर्म के अङ्ग रूप से अनुयाजों तथा हारियोजन का विधान किया जाता है] । काल के विधान में लक्षणा होगी [अर्थात् आग्निमारुत कर्म और परिधिप्रहरण कर्म अनुयाजों और हारियोजन होम के काल को लक्षित करेंगे] इसलिये अङ्ग का विधान है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात् प्रयोजनेन संबन्धात् ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थः—(अनुत्पत्तौ) अनुयाजैश्चरन्ति, जुहोति हारियोजनम् वाक्यों के अनुयाज और हारियोजन के उत्पत्ति=विधायक वाक्य न होने से (कालः) काल [का विधान] (तु) ही (स्यात्) होवे, (प्रयोजनेन) अनुयाजों का सवनीय पशु के उपकाररूप प्रयोजन के साथ तथा हारियोजन के अग्निष्टोम के उपकार रूप प्रयोजन के साथ (संबन्धात्) सम्बन्ध होने से ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. अनुपलब्धमूलम् ।

अनुत्पत्तिवाक्ये कालः स्यात् । आग्निमारुतं सोमाङ्गम्, अनुयाजाः पश्वङ्गम् । तत्र न तयोः परस्परेण संवन्धः । तथा परिधयः पश्वङ्गं, हारियोजनमन्यदेव प्रधानम् । अनुयाजा आग्निमारुतं च प्राप्तम् । आनन्तर्यमेव तयोर्न प्राप्तम्, तद्विधीयते । तथा हारियोजनस्य परिधिप्रहरणस्य च । एवं च सति न हारियोजनस्य परिधिप्रहरणेन कश्चिदुपकार क्रियते, हारियोजनेन वा परिधिप्रहरणस्य । ननु परिधिप्रहरणस्योपरिष्टाद् भावेन तस्योपक्रियेतेति । उच्यते । न ह्युपरिभावार्थं परिधिप्रहरणमनुष्ठेयम् । विद्यत एवैतत् पश्वर्थम् । तस्मिंश्च सति तस्योपरिभावो विद्यत एवेति । तस्मात् कालार्थः संवन्ध इति ॥ ३६ ॥

—:०:—

व्याख्या—अनुत्पत्ति (=अविधायक) वाक्य में काल [का निर्देश] होवे । आग्निमारुत सोम का अङ्ग है, अनुयाज [सवनीय] पशुयाग के अङ्ग हैं । इन दोनों (=आग्निमारुत और अनुयाजों) का कोई परस्पर संबन्ध नहीं है । इसी प्रकार परिधियाँ पशुयाग का अङ्ग है, हारियोजन अन्य स्वयं प्रधान है । अनुयाज और आग्निमारुत प्राप्त है, उन का आनन्तर्य प्राप्त नहीं है, उसका विधान किया जाता है । इसी प्रकार हारियोजन और परिधिप्रहरण के आन्तर्य का विधान किया जाता है । इस प्रकार न हारियोजन होम का परिधि प्रहरण से कुछ उपकार किया जाता है और न हारियोजन होम से परिधिप्रहरण का । (आक्षेप) परिधिप्रहरण के ऊर्ध्वकाल में होने से उस (=हारियोजन) का उपकार किया जाये अर्थात् उपकार होवे । (समाधान) उपरिभाव [दर्शाने] के लिये परिधि के प्रहरण का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये । यह (=परिधिप्रहरण) पशुयाग के लिये विद्यमान है उसके [पशुयाग में विद्यमान] होने पर हारियोजन का उपरिभाव है ही [अर्थात् पशुयाग के पश्चात् हारियोजन होम होता है,] अतः पशुयागान्तर्गत परिधिप्रहरण से हारियोजन होम का पश्चाद्भाव विद्यमान ही है । इसलिये काल [के बोधन] के लिये सम्बन्ध है ।

विवरण—भाष्योद्धृत वाक्यों के उपलब्ध न होने से हम इस प्रकरण को भलीभांति स्पष्ट नहीं कर पाये । कुतुहलवृत्तिकार ने इस अधिकरण का प्रयोजन लिखा है—'पूर्वपक्ष में प्रयोजन है—आग्निमारुत के लिये [प्रकृत वाक्य से अङ्गरूप में] विहित अनुयाजों के भिन्न होने से सवनीय पशु के लिये जो अनुयाज हैं उन्हें स्वकाल में [यथास्थान] करना चाहिये । सिद्धान्त पक्ष में—सवनीय पशु के अनुयाजों का आग्निमारुत कर्म के अनन्तर विधान होने से स्वकाल (=पशुयाग के समय) में उन का पृथक् अनुष्ठान नहीं करना चाहिये । सवनीय अनुयाजों अर्थात् सवनीय पशुयाग के अनुयाजों का स्वकाल में अनुष्ठान न करके आग्निमारुत कर्म के अनन्तर करना चाहिये ॥ ३६ ॥

—:०:—

[ज्योतिष्टोमस्य दर्शपूर्णमासोत्तरकालत्वाधिकरणम् ॥१५॥]

इदमाम्नायते दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत[1] इति। तत्र संदेहः—किमेतदङ्गस्य विधानमुत कालस्येति? किं प्राप्तम्? श्रुतेरङ्गस्येति प्राप्ते, उच्यते—

उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद् वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ ३७ ॥ (उ०)

अस्मिन् कालाङ्गविधानसंशये कालः स्यात्। वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्। कालप्रधानं ह्येतद्वाक्यम् न यागविधानपरम्। कथमतत्परताऽस्य? रूपावचनात्। कथं रूपावचनम्? देवताभावात्। कथमभावः? अश्रुतत्वात्। या हि यस्य श्रूयते, सा तस्य देवता भवति। श्रुत्या हि देवता गम्यते, न प्रत्यक्षादिभिः। तस्मान्नापूर्वस्य यागस्य विधानम्। कालार्थेऽनुवादे नायं दोषः। विहितदेवताको ह्यनूद्यते। तस्मादत्र कालार्थः संबन्ध इति। तच्च दर्शयति—**एष वै देवरथो यद् दर्शपूर्णमासौ, यद्दर्शपूर्णमासा-**

व्याख्या—यह पढ़ा जाता है—दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत (=दर्शपूर्णमास यागों से यजन करके सोम से यजन करे)। इसमें सन्देह होता है—क्या यह अङ्ग का विधान है अथवा काल का? क्या प्राप्त होता है? श्रुति से अङ्ग का [विधान] प्राप्त होने पर कहते हैं—

उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद् वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थः—(उत्पत्तिकालविशये) अङ्गत्व-विधान और काल-विधान के संशय में (कालः) काल (स्यात्) होवे [अर्थात् काल का विधान होवे], (वाक्स्य) वाक्य के (तत्प्रधानत्वात्) कालप्रधान होने से।

व्याख्या—इस काल और अङ्ग के विधान के संशय में काल होवे। वाक्य के कालप्रधान होने से। यह (=दर्शपूर्ण......सोमेन यजेत) वाक्य कालप्रधान है, याग-विधानपरक नहीं है। इस वाक्य की यागपरता किस हेतु से नहीं है? रूप (=यागरूप) के कथन न होने से। रूप का कथन किस हेतु से नहीं है? देवता के अभाव से। [देवता का] अभाव किस हेतु से है? [देवता का] श्रवण न होने से। जो ही [देवता] जिस [याग] की श्रुत होती है वह उस [याग] की देवता होती है। श्रुति से ही देवता जानी जाती है, प्रत्यक्षादि से नहीं जानी जाती। इसलिये यह अपूर्व याग का विधान नहीं है। काल के लिये [दर्शपूर्णमास के] अनुवाद में यह दोष नहीं है। जिस [याग] की देवता विहित है उसका अनुवाद किया जाता है। इसलिये यहां काल के लिये ही सम्बन्ध है। और इसे [श्रुति] दर्शाती है—एष वै देवरथो यद्

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—दर्शपूर्णमासाविष्टा सोमेन यजेत। तै० सं० २।५।६॥

नैतदेवम्, एतदेव वैमृधस्योत्पत्तिवाक्यम् । तद्दर्शपूर्णमासाभ्यां वा प्रकरणादेकवाक्यभावमियात्, प्रत्यक्षं वा पौर्णमास्या । तत्र प्रत्यक्षसंयोगः प्रकरणाद् बलवान् । प्रत्यक्षश्च पौर्णमास्या संयोगः, परोक्षः कालेन । तस्मात् पौर्णमास्यङ्गं वैमृध इति ॥ ३५ ॥ **वैमृधादेः पौर्णमास्याङ्गताधिकरणम् ॥ १३ ॥**

—:०:—

[वाक्य] का वैमृध इष्टि की उत्पत्ति के साथ संबन्ध होने से । [इसका भाव यह है कि यही वाक्य वैमृधेष्टि का उत्पत्ति वाक्य है और इस का पौर्णमासी के साथ साक्षात् सम्बन्ध है ।

व्याख्या—यह नहीं है । यही वाक्य वैमृधेष्टि का उत्पत्ति वाक्य है । वह दर्शपूर्णमास यागों के साथ प्रकरण से एक वाक्यभाव को प्राप्त होवे अथवा प्रत्यक्ष पौर्णमासी के साथ । ऐसे सन्देह में प्रत्यक्ष संयोग प्रकरण से बलवान् होता है । पौर्णमासी के साथ [इस वाक्य का] प्रत्यक्ष संयोग है, काल के साथ संयोग परोक्ष है । इसलिये वैमृधेष्टि पौर्णमासी का अङ्ग है ।

विवरण—कुतुहलवृत्तिकार ने इस अधिकरण के सम्बन्ध में विशेष विचार किया है जो इस प्रकार है—

"कतिपय आचार्य कहते हैं कि पूर्वपक्ष में अमावस्या में भी वैमृधेष्टि की जाये, सिद्धान्त पक्ष में अमावस्या में वैमृधेष्टि न की जाये, यह इस विचार का प्रयोजन है । यह युक्त नहीं है । ऐसा मानने कर कालार्थ संयोग की बाधा प्राप्त होगी । पौर्णमासी के उत्तरकाल में ही क्रियमाण वैमृधेष्टि के उभयाङ्गता के पूर्वपक्ष में अभिमत होने से । (प्रश्न) दोनों (दर्शपूर्णमास का अङ्ग और काल निर्देशार्थ पौर्णमासी संयोग तथा पौर्णमासी मात्र का अङ्ग रूप) पक्षों में कर्म के अनुष्ठान में विशेष न होने से [अर्थात् पौर्णमासेष्टि के अनन्तर ही वैमृध याग के होने से] प्रकृत विचार का क्या प्रयोजन है ? (समाधान) [किसी कारण वश] जब पौर्णमासेष्टि स्वकाल में नहीं की गई और प्रायश्चित्त करके केवल दर्शेष्टि ही की जाये, तब [वैमृधेष्टि के दर्शेष्टि का भी अङ्ग होने से] दर्शेष्टि के आरम्भ से पूर्व दर्शेष्टि के अङ्ग रूप में वैमृधेष्टि करनी होगी । पौर्णमासेष्टि के अनुष्ठान के अभाव में भी [वैमृधेष्टि के] पौर्णमास उपलक्षित काल के होने से[1] **नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजते** (=नक्षत्र को देखकर वाग् विसर्जन करता है के समान) । वहां नक्षत्र दर्शन के वाग्विसर्जन काल के प्रति उपलक्षण होने से मेघादि के आवरणादि के कारण नक्षत्र का दर्शन न

---

१. इसका भाव यह है कि किन्हीं आचार्यों के मत में अमावास्या के अनन्तर शुक्ल पक्ष में पौर्णमासी से पूर्व सब तिथियों में अमावास्या होती है । इसी प्रकार पौर्णमासी के अनन्तर कृष्ण पक्ष में अमावास्या से पूर्व सब तिथियों में पौर्णमासी रहती है । द्र० मी० भा० १।३।१४ के **'पूर्वपक्षे सर्वासु तिथिषु अमावस्या'** पर टिप्पणी (भाग १, पृष्ठ २४६, टि० २) ।

[अनुयाजादीनां कालविधानार्थताधिकरणम् ।। १४ ।।]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—आग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति[1], प्रहृत्य परिधीञ्जुहोति हारियोजनम्[2] इति । तत्र संदेहः--किमङ्गं विधीयते, उत काल इति ? अङ्गविधाने श्रुतिः, कालविधाने लक्षणा । तस्मादङ्गविधानमिति प्राप्ते, ब्रूमः--

अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात् प्रयोजनेन संबन्धात् ।। ३६ ।। (उ०)

होने पर भी नक्षत्रदर्शन से उपलक्षित काल के विद्यमान होने से वाग् का विसर्जन निवृत्त नहीं होता [अर्थात् आवरणादि के कारण नक्षत्रदर्शन न होने पर भी जिस समय नक्षक्षदर्शन होता है उस समय वाक् का विसर्जन किया जाता है] । सिद्धान्त पक्ष में पौर्णमासेष्टि के स्वकाल का अतिक्रमण होने पर प्रायश्चित्त करके केवल दर्शेष्टि ही की जाती है, न कि उससे प्राक् वैमृधेष्टि भी" ।। ३५ ।।

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—आग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति (अग्नि और मरुद् देवता के कर्म के अनन्तर अनुयाजों से यजन करता है), प्रहृत्य परिधीञ्जुहोति हारियोजनम् (=परिधियों को अग्नि में छोड़ने के उत्तर काल में हारियोजन ग्रहस्थ सोम का होम करता है) । इस में सन्देह होता है—क्या [अनुयाजों को आग्निमारुत कर्म का तथा हारियोजन होम को परिधिप्रहरण कर्म का] अङ्ग का विधान किया जाता है अथवा काल का निर्देश है [अर्थात् अनुयाजों का काल अग्निमारुत कर्म के पश्चात् और हारियोजन होम का काल परिधि-प्रहरण के पश्चात् है] ? अङ्ग के विधान में श्रुति (श्रवण) है [अर्थात् अनुयाजैश्चरन्ति और जुहोति हारियोजनम् से क्रमश आग्निमारुत कर्म और परिधिप्रहरण कर्म के अङ्ग रूप से अनुयाजों तथा हारियोजन का विधान किया जाता है] । काल के विधान में लक्षणा होगी [अर्थात् आग्निमारुत कर्म और परिधिप्रहरण कर्म अनुयाजों और हारियोजन होम के काल को लक्षित करेंगे] इसलिये अङ्ग का विधान है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात् प्रयोजनेन संबन्धात् ।। ३६ ।।

सूत्रार्थः—(अनुत्पत्तौ) अनुयाजैश्चरन्ति, जुहोति हारियोजनम् वाक्यों के अनुयाज और हारियोजन के उत्पत्ति=विधायक वाक्य न होने से (कालः) काल [का विधान] (तु) ही (स्यात्) होवे, (प्रयोजनेन) अनुयाजों का सवनीय पशु के उपकाररूप प्रयोजन के साथ तथा हारियोजन के अग्निष्टोम के उपकार रूप प्रयोजन के साथ (संबन्धात्) सम्बन्ध होने से ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. अनुपलब्धमूलम् ।

अनुत्पत्तिवाक्ये कालः स्यात्। आग्निमारुतं सोमाङ्गम्, अनुयाजाः पश्वङ्गम्। तत्र न तयोः परस्परेण संबन्धः। तथा परिधयः पश्वङ्गं, हारियोजनमन्यदेव प्रधानम्। अनुयाजा आग्निमारुतं च प्राप्तम्। आनन्तर्यमेव तयोर्न प्राप्तम्, तद्विधीयते। तथा हारियोजनस्य परिधिप्रहरणस्य च। एवं च सति न हारियोजनस्य परिधिप्रहरणेन कश्चिदुपकार क्रियते, हारियोजनेन वा परिधिप्रहरणस्य। ननु परिधिप्रहरणस्योपरिष्टाद् भावेन तस्योपक्रियेतेति। उच्यते। न ह्युपरिभावार्थं परिधिप्रहरणमनुष्ठेयम्। विद्यत एवैतत् पश्वर्थम्। तस्मिंश्च सति तस्योपरिभावो विद्यत एवेति। तस्मात् कालार्थः संबन्ध इति॥ ३६॥

—:o:—

व्याख्या—अनुत्पत्ति (=अविधायक) वाक्य में काल [का निर्देश] होवे। आग्निमारुत सोम का अङ्ग है, अनुयाज [सवनीय] पशुयाग के अङ्ग हैं। इन दोनों (=आग्निमारुत और अनुयाजों) का कोई परस्पर संबन्ध नहीं है। इसी प्रकार परिधियाँ पशुयाग का अङ्ग है, हारियोजन अन्य स्वयं प्रधान है। अनुयाज और आग्निमारुत प्राप्त है, उन का आनन्तर्य प्राप्त नहीं है, उसका विधान किया जाता है। इसी प्रकार हारियोजन और परिधिप्रहरण के आन्तर्य का विधान किया जाता है। इस प्रकार न हारियोजन होम का परिधि प्रहरण से कुछ उपकार किया जाता है और न हारियोजन होम से परिधिप्रहरण का। (आक्षेप) परिधिप्रहरण के ऊर्ध्वकाल में होने से उस (=हारियोजन) का उपकार किया जाये अर्थात् उपकार होवे। (समाधान) उपरिभाव [दर्शाने] के लिये परिधि के प्रहरण का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। यह (=परिधिप्रहरण) पशुयाग के लिये विद्यमान है उसके [पशुयाग में विद्यमान] होने पर हारियोजन का उपरिभाव है ही [अर्थात् पशुयाग के पश्चात् हारियोजन होम होता है,] अतः पशुयागान्तर्गत परिधिप्रहरण से हारियोजन होम का पश्चाद्भाव विद्यमान ही है। इसलिये काल [के बोधन] के लिये सम्बन्ध है।

विवरण—भाष्योद्धृत वाक्यों के उपलब्ध न होने से हम इस प्रकरण को भलीभांति स्पष्ट नहीं कर पाये। कुतुहलवृत्तिकार ने इस अधिकरण का प्रयोजन लिखा है—'पूर्वपक्ष में प्रयोजन है—आग्निमारुत के लिये [प्रकृत वाक्य से अङ्गरूप में] विहित अनुयाजों के भिन्न होने से सवनीय पशु के लिये जो अनुयाज हैं उन्हें स्वकाल में [यथास्थान] करना चाहिये। सिद्धान्त पक्ष में—सवनीय पशु के अनुयाजों का आग्निमारुत कर्म के अनन्तर विधान होने से स्वकाल (=पशुयाग के समय) में उन का पृथक् अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। सवनीय अनुयाजों अर्थात् सवनीय पशुयाग के अनुयाजों का स्वकाल में अनुष्ठान न करके आग्निमारुत कर्म के अनन्तर करना चाहिये॥ ३६॥

—:o:—

[ज्योतिष्टोमस्य दर्शपूर्णमासोत्तरकालत्वाधिकरणम् ॥१५॥]

इदमाम्नायते दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत[1] इति। तत्र संदेहः— किमेतदङ्गस्य विधानमुत कालस्येति? किं प्राप्तम्? श्रुतेरङ्गस्येति प्राप्ते, उच्यते—

उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद् वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ ३७ ॥ (उ०)

अस्मिन् कालाङ्गविधानसंशये कालः स्यात्। वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्। कालप्रधानं ह्येतद्वाक्यम् न यागविधानपरम्। कथमतत्परताऽस्य? रूपावचनात्। कथं रूपावचनम्? देवताभावात्। कथमभावः? अश्रुतत्वात्। या हि यस्य श्रूयते, सा तस्य देवता भवति। श्रुत्या हि देवता गम्यते, न प्रत्यक्षादिभिः। तस्मान्नापूर्वस्य यागस्य विधानम्। कालार्थेऽनुवादे नायं दोषः। विहितदेवताको ह्यनूद्यते। तस्मादत्र कालार्थः संबन्ध इति। तच्च दर्शयति—**एष वै देवरथो यद् दर्शपूर्णमासौ, यद्दर्शपूर्णमासा-**

व्याख्या—यह पढ़ा जाता है—दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत (=दर्शपूर्णमास यागों से यजन करके सोम से यजन करे)। इसमें सन्देह होता है—क्या यह अङ्ग का विधान है अथवा काल का? क्या प्राप्त होता है? श्रुति से अङ्ग का [विधान] प्राप्त होने पर कहते हैं—

उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद् वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थः—(उत्पत्तिकालविशये) अङ्गत्व-विधान और काल-विधान के संशय में (कालः) काल (स्यात्) होवे [अर्थात् काल का विधान होवे], (वाक्यस्य) वाक्य के (तत्प्रधानत्वात्) कालप्रधान होने से।

व्याख्या—इस काल और अङ्ग के विधान के संशय में काल होवे। वाक्य के कालप्रधान होने से। यह (=दर्शपूर्ण……सोमेन यजेत) वाक्य कालप्रधान है, याग-विधानपरक नहीं है। इस वाक्य की यागपरता किस हेतु से नहीं है? रूप (=यागरूप) के कथन न होने से। रूप का कथन किस हेतु से नहीं है? देवता के अभाव से। [देवता का] अभाव किस हेतु से है? [देवता का] श्रवण न होने से। जो ही [देवता] जिस [याग] की श्रुत होती है वह उस [याग] की देवता होती है। श्रुति से ही देवता जानी जाती है, प्रत्यक्षादि से नहीं जानी जाती। इसलिये यह अपूर्व याग का विधान नहीं है। काल के लिये [दर्शपूर्णमास के] अनुवाद में यह दोष नहीं है। जिस [याग] की देवता विहित है उसका अनुवाद किया जाता है। इसलिये यहां काल के लिये ही सम्बन्ध है। और इसे [श्रुति] दर्शाती है—एष वै देवरथो यद्

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—दर्शपूर्णमासाविष्टा सोमेन यजेत। तै० सं० २।५।६॥

विष्ट्वा सोमेन यजते, रथस्पष्ट एवावसाने वरे देवानामवस्यति[1] इति। प्रदर्शिते मार्गे रथेन यातुः सुखं भवति। एवं दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यष्टुः सुखं भवति। दर्शपूर्णमासप्रकृतीनि तस्य दीक्षणीयादीनि स्वभ्यस्तानि भवन्ति। एवमर्थवादोऽर्थवान् भवति ॥३७॥

—:०:—

दर्शपूर्णमासौ, यद्दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजेत्' रथस्पष्ट एवावसाने वरे देवानामवस्यति (=यह निश्चय ही देवों का रथ=रथ स्थानीय है जो दर्शपूर्णमास याग हैं। जो दर्शपूर्णमास यागों का यजन करके सोम से यजन करता है वह रथस्पष्ट=रथ पर बैठा हुआ ही देवों के श्रेष्ठ अवसान=गृह में अवस्थित होता है)। प्रदर्शित (=बताए हुए) मार्ग में रथ से जाने वाले को सुख होता है। इसी प्रकार दर्शपूर्णमास यागों का यजन करके सोम से याग करने वाले को सुख होता है। दर्शपूर्णमास प्रकृतियाँ है, जिनकी, ऐसी उस [सोमयाग] की दीक्षणीयादि इष्टियां अच्छे प्रकार अभ्यस्त होती है। इस प्रकार [यह] अर्थवाद सप्रयोजन होता है।

विवरण—कालप्रधानं ह्येतद् वाक्यम्—यहां पूर्व निर्दिष्ट **अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत, वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत** (मी० ४।३। अधि० १२, पृष्ठ १३५३) वाक्य से प्रकृत वाक्य में क्या भिन्नता है जिससे पूर्ववाक्य अङ्गभाव-बोधक थे और प्रकृत वाक्य अङ्ग-बोधक न होकर कालपरक है? इस का स्पष्टीकरण नहीं होता है। जो **रूपाभावात्… …अश्रुतत्वात्**—इस भाष्य वचन में **दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत** वचनान्तर्गत **दर्शपूर्णमासाभ्याम्** को देवता के अनिर्देश से याग का विधायक नहीं है, ऐसा कहा है। ऐसा ही देवता का अनिर्देश **अग्निं चित्वा** और **वाजपेयेनेष्ट्वा** में भी है।

यहां पूर्व उद्धृत वाक्यों से प्रकृत वाक्य में एक विषय को छोड़कर पूर्ण समानता है। भेद यह है कि पूर्व उद्धृत वचन अग्निचयन और वाजपेय याग के प्रसङ्ग में हैं। यह वाक्य दर्शपूर्णमास प्रकरण में न होकर सोमयाग के प्रकरण में है। अतः इस वाक्य से सोमयाग दर्शपूर्णमास का अङ्ग नहीं हो सकता। इन्हीं कारणों से भट्ट कुमारिल ने **देवताभावात्** आदि को अयुक्त कहकर लिखा है—'इसलिये अन्य प्रकार से वर्णन किया जाता है। यह वचन ज्योतिष्टोम प्रकरण में पढ़ा है। (आक्षेप) इस के प्रकरणान्तर में होने से सोमयाग के प्रति दर्शपूर्णमास की अङ्गता होवे। (समाधान) **दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा** में आख्यात पद के न होने से पूर्व विहित दर्शपूर्णमास नामधेय वाले का ही कथन होता है, दर्शपूर्णमास का विधान नहीं किया जाता है।

१. तै० सं० २।५।६।१॥ अत्र तै० संहितायां 'यो दर्शपूर्णमासा०' इति स्वल्पो भेदः।

[वैश्वानरेष्टेः पुत्रगतपूतत्वादिफलप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ॥१६॥]

वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते[1] इति विधायाऽऽम्नायते—**यस्मिञ्जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव स तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति**[2] इति। तत्र संदेहः—किमात्मनिःश्रेयसाय, उत पुत्रनिःश्रेयसायेति ? आत्मनिःश्रेयसायेति ब्रूमः। नेमानि फलदानि परस्य भवन्ति कर्माणि। कुतः ? आधान आत्मनेपदनिर्देशात्।

इसलिये पूर्वप्रज्ञात दर्शपूर्णमास के अनन्तर सोमयाग करें' यही जाना जाता है।' (यह टुप्टीका का सारांश है)

एष वै देवरथः—यह प्रशंसारूप अर्थवाद है। इस का भाव यह है कि जैसे रथ में बैठा हुआ व्यक्ति अपने गन्तव्य स्थान पर विना किसी कण्टक आदि की पीड़ा के सुखपूर्वक पहुंच जाता है, उसी प्रकार सब इष्टियों की प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास का प्रथम यजन कर लेने से सोम प्रकरणस्थ विकृतिरूप दीक्षणीयादि इष्टियों के करने में सुविधा होती है। इसलिये दर्शपूर्णमास को देवरथ कहा है। इसके सहारे सोमयाग में देवों का जो उत्कृष्ट उत्तरवेदिरूप देवयजन स्थान है उसको सुगमता से प्राप्त करता है ॥३७॥

—:०:—

व्याख्या—वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते (=पुत्र उत्पन्न होने पर द्वादशकपाल वाला वैश्वानर याग करे) ऐसा विधान करके पढ़ा है—यस्मिञ्जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव स तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति (=जिसके उत्पन्न होने पर इस इष्टि को करता है वह पवित्र हुआ तेजस्वी अन्नाद इन्द्रियवान्=दृढ़ेन्द्रिय और पशुमान् =पशुओं से युक्त होता हैं)। इस में सन्देह होता है—क्या [यह इष्टि] अपने निःश्रेयस (=फल) के लिये है अथवा पुत्र के निःश्रेयस के लिये। अपने निःश्रेयस के लिये है ऐसा कहते हैं। ये यागादि कर्म दूसरे को फल देने वाले नहीं होते। किस हेतु से ? आधान में आत्मनेपद का निर्देश होने से।

विवरण—**यस्मिञ्जाते एतामिष्टिं ....भवति**—यह वचन वैश्वानरेष्टि के फल का बोधक वचन है। अर्थात् पुत्र उत्पन्न होने पर द्वादशकपाल वैश्वानरेष्टि करने से पुत्र पवित्र तेजस्वी अन्नाद दृढ़ेन्द्रिय और पशुमान् होता है। **अन्नादः**—प्राचीन समस्त शास्त्रों में अन्नाद्य (=अन्न को खानेवाला=पचानेवाला) होने की प्रार्थना उपलब्ध होती है। कहा भी है—**अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः**=प्राणियों के प्राण अन्न ही है अर्थात् अन्न से ही शरीर को सभी पोषक

---

१. तै० सं० २।२।५।३॥ २. तै० सं० २।२।५।३।४॥

यथा—यद्येकं कपालं नश्येदेको मासः संवत्सरस्यापेतः स्यात् । अथ यजमानः प्रमीयेत, द्यावापृथिवीयमेककपालं निर्वपेत् । यदि द्वे नश्येयातां द्वौ मासौ संवत्सरस्यापेतौ स्याताम् । अथ यजमानः प्रमीयेत, आश्विनं द्विकपालं निर्वपेत् । संख्यायोद्वासयति यजमानस्य गोपीथाय' इति कपालनाशे निमित्त आत्मनिःश्रेयसफलं कर्म दर्शयति ।

तत्त्व प्राप्त होते हैं । शरीर के वृद्धिकाल में तो अन्न की प्रभूत मात्रा अभीष्ट होती है । अत एव कहा है—अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्या द्वादश वानप्रस्थिनाम् । षोडश गृहस्थानां तु अमितं ब्रह्मचारिणाम् अर्थात् मुनियों=संन्यासियों को ८ ग्रास परिमित भोजन करना चाहिये, वानप्रस्थियों को १२ ग्रास, गृहस्थियों को १६ ग्रास, ब्रह्मचारी को अमित (=जितना भी पचाया जा सके) भोजन करना चाहिये । दूध घृत भी शरीर को बलिष्ठ बनाने वाले और आयुवर्धक हैं, परन्तु इन में सभी पोषक तत्त्व पूर्णमात्रा में नहीं होते (दूध का सेवन वृद्धावस्था में विशेष लाभदायक होता है) । अकेले रूखे सूखे अन्न से ही निर्धन ग्रामीण खाते पीते नागरिकों से बलवान् होते हैं। देश का दुर्भाग्य है कि अब निर्धन जनता को पूर्ववत् शुद्ध पोषक अन्न भी उपलब्ध नहीं होता । रासायनिक खादों तथा संकरण से अन्न की मात्रा तो बढ़ गई, परन्तु जो पोषक तत्त्व भूमि और गोबर की खाद से प्राप्त होते थे, वे प्रायः नष्ट हो गये । भूमि की उर्वरा शक्ति भी उत्तरोत्तर नष्ट हो रही है ।

किमात्मनिःश्रेयसाय उत पुत्रनिःश्रेयसाय—रात्रिसत्रन्याय (मी० अ० ४, पा० ३, अधि० ८, पृष्ठ १३३७-३८) से दर्शाया है कि अर्थवाद से भी फल का निर्देश होता है अर्थात् फलरहित याग का अर्थवाद बोधित फल स्वीकार किया जाता है, ऐसा निर्णय होने पर पुत्रजन्म निमित्त इष्टि का फल पिता को होता है अथवा पुत्र को यह इस अधिकरण में विचार किया है । आधाने आत्मनेपदनिर्देशात्—अग्न्याधान के विधायक वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः (मी० २।३।४ में उद्धृत) वाक्य में आदधीत आत्मनेपद की क्रिया है । इसलिये जब अग्नि का आधान यजमान ने अपने फल के लिये किया है तो उसी आहित अग्नि में की गई वैश्वानरेष्टि का तेजस्विता आदि फल भी यजमान अर्थात् पिता को ही होगा ।

व्याख्या—जैसे यद्येकं कपालं नश्येदेको मासः संवत्सरस्यापेतः स्यात् । अथ यजमानः प्रमीयेत द्यावापृथिवीयमेककपालं निर्वपेत् (=यदि [पुरोडाश पकाने के कपालों में से] एककपाल नष्ट हो जावे तो संवत्सर का एक महिना कट जाये, यजमान मर जाये । [इसलिये] द्यावापृथिवी-देवताक एककपाल पुरोडाश का निर्वाप करे) । यदि द्वे नश्येयातां द्वौ मासौ संवत्सरस्यापेतौ स्याताम् । अथ यजमानः प्रमीयेत आश्विनं द्विकपालं निर्वपेत् (=यदि दो कपाल नष्ट हो जायें तो संवत्सर के दो महिने कट जावें, यजमान मर जाये । [इसलिये] अश्वि-देवताक दोकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे) । संख्ययोद्वासयति यज-

---

१. अनुपलब्धमूलम् । एतत्सदृशं वचनं तै० संहितायां २।६।३।५-६ स्थाने द्रष्टव्यम् ।

एवमिहापि द्रष्टव्यम् । तस्मादात्मनिःश्रेयसार्थमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

फलसंयोगस्त्वचोदिते न स्यादशेषभूतत्वात् ॥ ३८ ॥ (उ०)

फलसंयोगो न स्यात् पितुः । फलवचनं, शेषभूतं पुत्रस्य न पितुः । कथम् ? एवं श्रूयते—वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते । यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं[1] ब्रह्मवर्चसेन पुनाति । यन्नवकपालो भवति[2] त्रिवृतैवास्मिंस्तेजो दधाति । [यद्दशकापलो विराजै वास्मिन्नन्नाद्यांदधाति ।[3]] यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभैवास्मिन्निन्द्रिय

मानस्य गोपीथाय (=गिनती [=एक दो तीन ऐसा उच्चारण] करके कपालों का उदवासन [अंगारों पर से उतारना] करता है यजमान की रक्षा के लिये) यह वचन कपाल के नाश होने पर क्रियमाण कर्म (=एककपाल पुरोडाशादि) आत्मा सम्बन्धी फलवाला है, ऐसा बताता है । इसी प्रकार यहां (=वैश्वानरीयेष्टि में) भी जानना चाहिये । इसलिये [तेजस्वी आदि] आत्म-निःश्रेयस के लिये हैं । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—यद्येकं कपालं नश्येत इत्यादि—यहां कपालों के अंगारों पर से नीचे उतारते समय प्रथममुद्वासयामि द्वितीयमुद्वासयामि आदि गणनापूर्वक उद्वासन करना चाहिये, यह विधि है । इस गणना से ज्ञात हो सकेगा कि जितने कपाल अंगारों पर धरे थे उनमें कोई नष्ट तो नहीं हुआ । एक या दो कपालों के नष्ट होने पर क्रमशः द्यावापृथिवीय एककपाल और आश्विन द्विकपाल पुरोडाश वाली प्रायश्चित्तेष्टि करे जिससे यजमान की रक्षा होवे ।

फलसंयोगस्त्वचोदिते न स्यादशेषभूतत्वात् ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थः—(फलसंयोगः) तेजस्वी आदि फलों का संयोग (तु) तो (अचोदिते) वाक्यशेष से अनुक्त=अनवगत पिता के साथ (न स्यात्) न होवे, (अशेषभूतत्वात्) फल के पिता के प्रति शेषभूत=अङ्गभूत न होने से ।

व्याख्या—फल का संयोग पिता को न होवे । फलवचन पुत्र का शेषभूत (=अङ्गभूत) है । किस हेतु से ? इस प्रकार सुना जाता है—वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते । यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति (=पुत्र उत्पन्न होने पर वैश्वानर द्वादशकपाल का निर्वाप करे । जो [द्वादशकपालान्तर्गत] अष्टाकपाल होता है, गायत्री से ही इस को ब्रह्मवर्चस से पवित्र करता है) । यन्नवकपालो भवति त्रिवृतैवास्मिंस्तेजो दधाति (=जो नवकपाल होता है त्रिवृत् [स्तोत्र] से ही इस में तेज को धारण कराता है) । [यद्दशकपालो भवति विराजैवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति (=जो दशकपाल होता है विराट से

---

१. तै० संहितायां 'गायत्रियैवैनं' पाठो दृश्यते । २. तै० संहितायां 'कपालस्त्रिवृतै० पाठः ।

३. अयं पाठो भाष्ये लेखक प्रमादान्नष्टः । 'अन्नादः' इति फलस्य निर्देशकेन वचनेनात्रावश्यंभाव्यम् । तै० संहितायां श्रूयते ।

दधाति। यद् द्वादशकपालो जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति। यस्मिञ्जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव स तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान्भवति[1] इति। यो जातस्तत्र फलं श्रूयते। नास्ति वचनस्यातिभारः। तस्मात् पुत्रस्य फलमिति।

ही इस में अन्नाद्य को धारण कराता है)।] यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभैवास्मिन्निन्द्रियं दधाति (=जो एकादशकपाल होता हैं त्रिष्टुप् से ही इस में इन्द्रिय को धारण कराता हैं)। यद्द्वादशकपालो जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति (=जो द्वादशकपाल होता है जगती से ही इस में पशुओं को धारण कराता है)। यस्मिञ्जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव स तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति (जिस पुत्र के उत्पन्न होने पर इस इष्टि को करता है वह पवित्र हुआ ही तेजस्वी अन्नाद इन्द्रियवान् और पशुमान् होता है)। जो उत्पन्न हुआ है उस के विषय में फल सुना जाता हैं। [इस अर्थ को कहने में] वचन को अतिभार नहीं है। इसलिये जो उत्पन्न हुआ है उसके विषय में फल सुना जाता है।

विवरण—एवं श्रूयते वैश्वानरं…… …यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं इत्यादि— वैश्वानरेष्टि द्वादशकपाल पुरोडाश वाली होती है। द्वादश संख्या में ८, ९,१०,११,१२ संख्यायें भी अन्तर्भूत होती हैं। अतः उन संख्यायुक्त कपालों वाले पुरोडाशों से पुत्र में पवित्रता तेजस्विता आदि फलों को धारण कराने का उल्लेख इन वचनों में किया है। **यदष्टाकपालो भवति** से लेकर **जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति** पर्यन्त भाग द्वादशकपाल की स्तुति के लिये अर्थवाद है, यह मीमांसा अ० १, पा० ४, अ० ११ में सिद्धान्त किया है। **अष्टाकपाल और गायत्री—** गायत्री छन्द में आठ आठ अक्षरों के तीन पाद होते हैं। यह इन का सम्बन्ध है। **नवकपाल और त्रिवृत्—**एक साम तीन ऋचाओं में गाया जाता है—तृचं साम गायति। त्रिवृत् का अर्थ है त्रिरावर्तन। इस प्रकार त्रिवृत् स्तोत्र में ९ ऋचाएं हो जाती हैं (द्र० मी० १।४।२४ का विवरण, पृष्ठ ३४२)। **दशकपाल और विराट्—**छन्दःशास्त्र में विराट् से १० संख्या उपलक्षित होती है। जिस अनुष्टुप् में १०-१० अक्षरों के तीन पाद होते हैं उस का नाम विराड् अनुष्टुप कहा है (द्र०—वैदिकछन्दोमीमांसा पृष्ठ १४४, द्वि० सं०)। **एकादशकपाल और त्रिष्टुप्—**त्रिष्टुप् छन्द में ११-११ अक्षरों के चार पाद होते हैं। **द्वादशकपाल और जगती—** जगती छन्द में १२-१२ अक्षरों के चार पाद होते हैं। यही कपाल संख्या और गायत्री आदि का सम्बन्ध यहां अभीष्ट है। इसी प्रकार गायत्री, त्रिवृत्, विराट्, त्रिष्टुप् और जगती का क्रमशः ब्रह्मवर्चस, तेज, अन्नाद्य, इन्द्रिय और पशु के साथ सम्बन्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थवाद के रूप में दर्शाया है।

---

१. तै० सं० २।२।५।३-४॥

यदुक्तं न परस्य फलदान्येतानि कर्माणीति । तदुच्यते । यत्पुत्रस्य फलम्, आत्मनः सा प्रीतिः । तस्मादात्मनेपदं न विरुध्यते । एतामेवाऽऽत्मनः प्रीतिमभिप्रेत्य भवति वचनम्—आत्मा वै पुत्र[1] इति ।

अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम्[2] ॥ इति ॥३८॥

अङ्गानां तूपघातसंयोगो निमित्तार्थः ॥३९॥

अथ यदुक्तं, यद्येकं कपालं नश्येदित्येवमादि । तत्रोच्यते । अङ्गानामुपघातसंयोगो निमित्तार्थ उपपद्यते, नान्यथा । न हि कपाले नष्टे तदन्वेषणार्था इष्टिर्युक्ता । न हि काकिन्यां नष्टायां तदन्वेषणं कार्षापणेन क्रियते ॥३९॥ **वैश्वानरेष्टिः पुत्रगतफलकत्वाधिकरणम् ॥१६॥**

व्याख्या—जो यह कहा था कि ये कर्म दूसरे को फल देने वाले नहीं होते हैं । (समाधान) जो पुत्र को फल [होता है] वह [पिता की] अपनी प्रीति है [अर्थात् पुत्र को विभिन्न गुणों से युक्त देखकर पिता को प्रसन्नता होती है] । इसलिये [आधान में प्रयुक्त–आदधीत] आत्मनेपद के साथ विरोध नहीं होता है । इसी अपनी प्रीति को लक्षित करके वचन होता है—आत्मा वै पुत्रः (पुत्र आत्मा ही है) । अङ्गादङ्गात् ...... शरदः शतम् (तू अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न होता है, हृदय से प्रादुर्भूत होता है, पुत्र नाम वाला तू मेरी आत्मा ही है, वह तू सौ वर्ष तक जी) ।

विवरण— आत्मा वै पुत्रः—यहां जन्य-जनक के अभेदोपचार से पुत्र को पिता की आत्मा कहा है ॥३८॥

अङ्गानां तूपघातसंयोगो निमित्तार्थः ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थः—(अङ्गानाम्) कपाल रूप अङ्गों के (तु) तो (उपघातसंयोगः) नाश का सम्बन्ध (निमित्तार्थः) [प्रायश्चित्तरूप इष्टियों के] निमित्त के लिये कहा गया है ।

व्याख्या—और जो यह कहा है—'यदि एक कपाल नष्ट होवे तो' इत्यादि उस के विषय में कहते हैं—अङ्गों के नाश का सम्बन्ध [प्रायश्चित्तेष्टियों के] निमित्त के लिये उपपन्न होता है [अर्थात् एक वा दो कपालों के नष्ट होने पर प्रायश्चित्तार्थ उक्त इष्टियाँ करे], अन्यरूप से [उपघातसंयोग] उपपन्न नहीं होता । कपाल के नष्ट हो जाने पर उस के अन्वेषण के लिये इष्टि [का विधान] युक्त नहीं है । कौड़ी के गुम हो जाने पर पैसा खर्च करके उस का अन्वेषण नहीं किया जाता है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. निरुक्ते ३।४ उद्धृतः ।

[वर्णकान्तरेण वैश्वानरेष्टेर्जातकर्मोत्तरकालत्वाधिकरणम् ॥]

एवं वा—

वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' इति । तत्र संन्देहः—किं जातमात्रे, उत कृते जातकर्मणीति ? जातमात्र इति ब्रूमः । संप्राप्ते हि निमित्ते नैमित्तिकेन भवितव्यम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

कृते जातकर्मणीति । कुतः ? सामर्थ्यात् । कृते हि जातकर्मणि प्राशनं तस्य विधीयते² । यदि प्राग् जातकर्मण इष्टिः क्रियते, प्राशनकालो विप्रकृष्येत । तत्रास्य शरीरधारणं न स्यात् । अथ यदुक्तम्—संप्राप्ते निमित्ते हि नैमित्तिकेन भवितव्यमिति । उच्यते—

विवरण—(उपघातसंयोगः—कुतुहलवृत्ति में 'उपपातसंयोगः' पाठ है । न हि कपाले नष्टे—इस का भाव यह है कि अल्प मूल्य वाले कपाल के नाश होने पर उसे ढूंढने (=प्राप्त करने) के लिये महद् द्रव्य साध्य इष्टि का करना युक्त नहीं है । इस में काकिन्यां नष्टायां का लौकिक उदाहरण दिया है । इस का तात्पर्य यह है कि कपाल के नाश होने पर जो इष्टि कही है वह उसके अन्वेषण के लिये नहीं, किन्तु प्रमाद के कारण कपाल के नाश होने पर प्रायचित्तार्थ इष्टि का विधान है ॥ ३९ ॥

—:०:—

व्याख्या—अथवा इस प्रकार —

वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते (=वैश्वानर द्वादशकपाल) [पुरोडाश] का निर्वाप करे पुत्र उत्पन्न होने पर) । इस में सन्देह होता है—क्या उत्पन्न होते ही [वैश्वानरेष्टि करे] अथवा जातकर्म [संस्कार] करने के पश्चात् करे । उत्पन्न होते ही करे, ऐसा हम कहते हैं । निमित्त प्राप्त होते ही नैमित्तिक कार्य को होना चाहिये । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—एवं वा इस से 'अङ्गानां तूपधात' इत्यादि सूत्र का अन्यार्थ प्रस्तुत किया जाता है।

व्याख्या—जात कर्म करने के पश्चात् [वैश्वानरेष्टि करनी चाहिये] । किस हेतु से ? सामर्थ्य से । जातकर्म के करने के अनन्तर उस [बालक] को प्राशन का विधान किया है । यदि जातकर्म से पहले इष्टि की जाती है तो प्राशन का काल खिंच जाता है । उस अवस्था में इस [बालक] का शरीरधारण सम्भव न होवे । और जो यह कहा—'निमित्त प्राप्त होते ही नैमित्तिक कर्म को होना चाहिये' । इस विषय में कहते हैं—

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १३६३ टि० १ ॥

२. जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननायुष्ये करोति । अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधुघृते प्राशयति घृतं वा ॥ पार० गृह्य १।१६।३-४॥ कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिमधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत । आश्व० गृह्य १।१५।१॥

अङ्गानां तूपघातसंयोगो निमित्तार्थः ॥ ३९ ॥

उपघातः पुत्रजन्म, तद्भूतं निमित्तम् । न तत्कालोऽङ्गम् । तच्च निमित्तम्, कृतेऽपि जातकर्मणि नापैति । इतरस्मिन् पक्षे कालोऽपेयात् । लक्षणा चास्मिन् पक्षे स्यात् । तस्मात् कृते जातकर्मणीति ।

विवरण—प्राशनं विधीयते—गृह्यसूत्रों में बालक उत्पन्न होने पर नालछेदन से पूर्व बालक को मधु और घृत मिला कर सुवर्ण सहित अनामिका अङ्गुली अथवा सुवर्ण की शलाका से प्राशन कराये=चटाये[1] । तत्रास्य शरीरधारणं न स्यात्—संभावना में लिङ् लकार है । इस से मधुघृत के प्राशन के अभाव में शरीरधारण के अभाव (=मृत्यु) की आशंकामात्र व्यक्त की है ।

अङ्गानां तूपघातसंयोगो निमित्तार्थः ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थः—(अङ्गानाम्) पुत्र के प्रति शेषभूत पूतत्वादि फलोंवाली इष्टियों का (उपघातसंयोगः) पुत्रजन्म के साथ संयोग (निमित्तार्थः) निमित्त के लिये ही है अर्थात् पुत्रजन्म के निमित्त होने पर इष्टि के विधान के लिये है।

विशेष—भाष्य से सूत्रार्थ स्पष्ट ज्ञात नहीं होता है । सुबोधिनीवृत्ति में भी स्पष्टता नहीं है । कुतुहलवृत्ति में अर्थ कुछ स्पष्ट है । वस्तुतः यहां 'अङ्गानां' बहुवचनान्त पद का प्रकृत अधिकरण में समन्वय नहीं होता है । सभी को सूत्रार्थ में खीचातानी करनी पड़ी है ।

व्याख्या—उपघात अर्थात् पुत्र का जन्म, वह भूतकालिक निमित्त है [अर्थात् पुत्र के जन्म हो जाने के पश्चात्] । वह [जन्मरूप] काल अङ्ग नहीं है । वह [जन्म] तो निमित्त हैं । [वह निमित्त] जातकर्म संस्कार कर लेने पर भी दूर (=नष्ट) नहीं होता है । दूसरे (=जातमात्र) पक्ष में काल नष्ट होगा और लक्षणा भी इस पक्ष होगी । इसलिये जातकर्म करने के अनन्तर इष्टि होवे ।

विवरण—पुत्रे जाते—यहां 'जातः शब्द में 'क्त' प्रत्यय भूत सामान्य में उत्पन्न होता है । अतः उस 'क्त' प्रत्यय का जो 'भूत सामान्य' श्रुत्यर्थ है वह जातकर्म के अनन्तर भी विद्यमान रहता ही है । कालोऽपेयात्—आनन्तर्य स्वीकार करने पर तो आनन्तर्य भी सम्भव नहीं है क्योंकि उत्पत्तिक्षण के अनन्तर क्षण में ही इष्टि सम्पन्न नहीं हो सकती । अतः आनन्तर्यरूप काल के क्षणिक होने से आनन्तर्यरूप काल तो रहेगा ही नहीं । लक्षणा चास्मिन् पक्षे स्यात्—जो उत्पत्त्यानन्तर्य को निमित्त मानता है, उस के पक्ष में सामान्य भूतकाल का वाचक शब्द आनन्तर्यरूप विशेष अर्थ में लक्षणा से स्थापित होगा । अर्थात् आनन्तर्य अर्थ लक्षणा से करना होगा ।

---

१. प्रमाण वचन पृष्ठ १३६८ के भाष्य की टिप्पणी २ में देखें ।

अथ किमन्तर्दशाहे यस्मिन् कस्मिन् वाऽहनि, उत स्वकाल इति । किं प्राप्तम्? यस्मिन् कस्मिन् वाऽहनीत्येवमनियमः प्राप्तः। कुतः? नियामकाभावादिति। अत्रोच्यते—पौर्णमास्याममावास्यायां वा। कुतः? श्रुतेः। एवं हि श्रूयते—**य इष्टचा पशुना सोमेन वा यजेत, स पौर्णमास्याममावास्यायां वा यजेत**[1] इति। नातिभारो वचनस्य। इतरस्मिन् पक्षे कालोऽपेयात्। लक्षणाऽप्यस्मिन् पक्षे स्यात्। अन्यस्यां तिथावन्तर्दशाहे वा कुर्वन् सर्वाण्यङ्गान्युपसंहर्तुं न शक्नुयात्। कालं शौचं च नोपसंगृह्णीयात्। तस्मादतीते दशाहे पौर्णमास्याममावास्यायां वा कुर्यादिति।। ३९।। **वैश्वानरेष्टेर्जातकर्मोत्तरकालताधिकरणम्** ।। **इदमधिकरणद्वयं जातेष्टिन्यायः** ।।

—:०:—

व्याख्या—[जातकर्म करने के पश्चात्] क्या दशाह (=दस दिनों) के भीतर जिस किसी भी दिन अथवा स्वकाल (=इष्टि के लिये विहित) काल में [वैश्वारेष्टि करनी चाहिये]। क्या प्राप्त होता है? [दशाह के भीतर] जिस किसी दिन में, ऐसा अनियम प्राप्त होता है। किस हेतु से? नियामक के न होने से। इस विषय में कहते हैं—पौर्णमासी अथवा अमावास्या में [इष्टि करनी चाहिये]। किस हेतु से? ऐसा सुना जाता है—य इष्टचा पशुना सोमेन वा यजेत स पौर्णमास्याममावास्यायां वा यजेत (=जो इष्टि पशु अथवा सोम से यजन करे वह पौर्णमासी अथवा अमावास्या में करे)। वचन को अतिभार नहीं है। दूसरे पक्ष में [आनन्तर्यरूप] काल नष्ट होगा और इस पक्ष में लक्षणा भी माननी पड़ेगी। अन्य तिथि में अथवा दशाह के मध्य में [इष्टि को] करता हुआ सब अङ्गों का उपसंहार नहीं कर सकेगा। काल और शौच को भी उपसंगृहीत नहीं करेगा। इसलिये दशाह के व्यतीत होने पर पौर्णमासी वा अमावास्या [जो भी तिथि प्रथम प्राप्त होवे उस] में इष्टि करे।

विवरण—अथ किमन्तर्दशाहे—कुतुहलवृत्तिकार ने इस का अधिकरणान्तर के रूप में व्याख्यान किया है अर्थात् उस के मत में प्रथम अधिकरण का विषय 'जातकर्म के अनन्तर वैश्वारेष्टि करे' इतना ही है और दूसरे अधिकरण का विषय है 'दशाह के अनन्तर स्वकाल=इष्टि का जो पौर्णमासी और अमावास्या काल विहित है, उस में करे। कालं शौचं च नोपसंगृह्णीयात्—काल=इष्टि का काल पौर्णमासी वा अमावास्या। शौच=पवित्रता। पुत्र उत्पन्न होने पर धर्मशास्त्रों में दश दिन तक आशौच कहा है अर्थात् शुचिता=पवित्रता का अभाव माना गया है।

—:०:—

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यदीष्ट्या यदि पशुना यदि सोमेन यजेतामावास्यायां वैव पौर्णमास्यां वा यजेत ।। आप० श्रौत १०।२।८।।

[सौत्रामण्यादेः स्वकालकर्तव्यत्वाधिकरणम् ॥ १७ ॥]

अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत[1], वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत[1] इति। अङ्गप्रयोजनसंबन्ध इत्युक्तम्[2]। एतदिदानीं संदिह्यते—किं चितमात्रे तन्त्रमध्य एव कर्तव्यमुत स्वकाले कर्तव्यमिति? तथा वाजपेये किं बृहस्पतिसव उत स्वकाल इति?

प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम् ॥ ४० ॥ (पू०)

मुख्यकालत्वमनयोः स्यात्। कुतः? प्रधानकालत्वादङ्गानाम्। एको हि कालः प्रधानानामङ्गानां चेति वक्ष्यते—अङ्गानि तु विधानत्वात् प्रधानेनोपदिश्येरन्[3] इति। अग्निचयनं कृत्वा न तावत्येव स्थातव्यं, सौत्रामणीसंज्ञकोऽपरो यागः कर्तव्य इति।

व्याख्या—अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत (=अग्नि का चयन करके सौत्रामणी से यजन करे), वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत (=वाजपेय से यजन करके बृहस्पतिसव से यजन करे)। [इन वचनों में] अङ्गत्व प्रयोजन (=बोधन) सम्बन्ध है, यह कह चुके (द्र० पूर्व अधि० १२ पृष्ठ १३५३–१३५५)। अब यह सन्देह होता है—क्या चित-मात्र (=इष्टकाओं का चयनमात्र) कर लेने पर अग्निचयन याग के मध्य में ही [सौत्रामणी से यजन करना चाहिये] अथवा स्वकाल में [सौत्रामणी याग] करना चाहिये तथा वाजपेय के मध्य में ही बृहस्पतिसव करना चाहिये अथवा स्वकाल में करना चाहिये।

प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(अङ्गानाम्) अङ्गों के (प्रधानेन) प्रधान याग के साथ (अभिसंयोगात्) सम्बन्ध होने से सौत्रामणी और बृहस्पतिसव का (मुख्यकालत्वम्) मुख्य अग्निचयन और वाजपेय का जो काल है वही काल है।

व्याख्या—इनका मुख्य कालत्व होवे। किस हेतु से? अङ्गों का काल प्रधान का काल होने से। एक ही काल होता है प्रधान यागों का और अङ्गों का ऐसा कहा—अङ्गानि तु विधानत्वात् प्रधानेनोपदिश्येरन् (=विधान होने से अङ्गों का प्रधान के साथ उपदेश किया जाये)। अग्नि का चयन करके उतने कार्य तक ही नहीं रुकना चाहिये, सौत्रामणी संज्ञक अन्य

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १३५३ टि० १-२।		२. द्र० मी० ४।३। अधि० १२॥

३. मी० अ० ११। पा० २। अधि० १। सू० ८॥

तथा वाजपेयमभिनिर्वर्त्य नैतावता कृती स्यात्, बृहस्पतिसवसंज्ञकं यागमभिनिर्वर्तयेदिति ॥ ४० ॥

अपवृत्ते तु चोदना तत्सामान्यात् स्वकाले स्यात् ॥ ४१ ॥ (उ०)

अपवृत्ते यागे चोद्यते यागान्तरमिदम्। अपवृत्तिश्च सर्वेषु यागाङ्गेष्वकृतेषु न भवति, न यथा भवान् मन्यते यागमात्रे निर्वृत्त इति। कुतः ? करणविभक्त्या संयोगात्—वाजपेयेनेष्ट्वा—वाजपेयेन फलस्य व्यापारं कृत्वा। साङ्गेन च व्यापारो गम्यते, न निरङ्गेन। भवेत् तन्त्रमध्ये प्रयोगो यदि वाजपयेमभिनिर्वर्त्येतीप्सितभावो वाजपेयस्य स्यात् ततः प्रधानमात्रं वाजपेयसंज्ञकमभिनिर्वर्त्येति गम्येत, न त्वेवमस्ति। तस्माद् यथोक्तानि सर्वाण्यङ्गानि कृत्वेत्यर्थः। एवं चेन्निर्वृत्ते प्रयोगेऽतिक्रान्ते वाज-

---

याग भी करना चाहिये। तथा वाजपेय को सम्पन्न करके इतने से ही कृती (=कर्तव्य की पूर्णतावाला) न होवे, बृहस्पतिसव संज्ञक याग को भी सम्पन्न करे।

अपवृत्ते तु चोदना तत्सामान्यात् स्वकाले स्यात् ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थः—'(तु) 'तु' शब्द पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है अर्थात् सौत्रामणी और बृहस्पतिसव का काल अग्निचयन और वाजपेय का काल नहीं है। (अपवृत्ते चोदना) अग्निचयन और वाजपेय के पूर्ण हो जाने पर सौत्रामणी और बृहस्पतिसव का विधान किया है। (तत्सामान्यात्) सौत्रामणी और बृहस्पतिसव की विधि वचन के सामान्य होने से (स्वकाले) सौत्रामणी और बृहस्पतिसव का जो अपना काल है उस में ये याग (स्यात्) होवें।

व्याख्या—याग (=वाजपेय के व्यापार) के निवृत्त (=पूर्ण) हो जाने पर यह यागान्तर (बृहस्पतिसव) कहा जाता है। और निवृत्ति (=पूर्णता) सब यागाङ्गों के विना किये नहीं होती है। वैसा नहीं कि जैसा आप मानते हैं—'यागमात्र'[1] के पूर्ण हो जाने पर [पूर्णता हो जाती है]। किस हेतु से ? करणविभक्ति के संयोग से—वाजपेयेनेष्टवा =वाजपेय से फल का व्यापार करके। साङ्ग कर्म से ही [फल का] व्यापार जाना जाता है, अङ्गरहित से नहीं जाना जाता है। [वाजपेय के] तन्त्र के मध्य में ही [बृहस्पतिसव का] प्रयोग होवे यदि 'वाजपेय को पूर्ण करके' ऐसा ईप्सितभाव (=चाहना) होवे [अर्थात् 'वाजपेयमिष्टवा' ऐसा निर्देश होवे]तब 'प्रधान मात्र वाजपेय संज्ञक कर्म को करके' ऐसा अर्थ जाना जाये। ऐसा (वाजपेयमिष्टवा) तो है नहीं। इसलिये [वाजपेयेनेष्टवा से] 'यथोक्त सब अङ्गों का करके' यही अर्थ होगा। यदि ऐसा है तो [वाजपेय के साङ्ग] प्रयोग के पूर्ण होने पर और वाजपेय याग के काल के अतिक्रमण होने पर याग (=बृहस्पतिसव) प्रयुक्त होता है। उस

---

१. अर्थात् अग्निचयन और बृहस्पतिसव के प्रधानयाग मात्र के।

पेयकाले यागः प्रयुज्यते। तस्य चोदनासामान्याज्ज्यौतिष्टोमिके विध्यन्ते प्राप्ते स्वेन चोदकप्राप्तेन कालेन भवितव्यम्। सौत्रामण्याश्चोदनासामान्याद् दर्शपूर्णमास-कालेनेति।

(=बृहस्पतिसव) को ['यजेत' इस] चोदना के सामान्य से ज्योतिष्टोमवाले विध्यन्त (=विधि के) प्राप्त होने पर अपने चोदक से प्राप्त (='प्रकृतिवद् विकृति करनी चाहिये' इस अतिदेश से प्राप्त) काल में ही होना चाहिये। और सौत्रामणी की ['यजेत' इस] चोदना के सामान्य से [सौत्रामणी को] दर्शपूर्णमास के काल में होना चाहिये।

विवरण – **तस्य चोदनासामान्यात्........चोदक प्राप्तेन कालेन भवितव्यम्**—इसका भाव यह कि **'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत'** यहां **बृहस्पतिसवेन यजेत** में **यजेत** को चोदना सामान्य मानें तो वाजपेय याग जो ज्योतिष्टोम (=सोम) याग है, उस सोमयाग की विधि प्राप्त होने पर स्वकाल में बृहस्पतिसव से यजन करना चाहिये। **शरदि वाजपेयः** (आप० श्रौत १८।१।१) इस वचन से वाजपेय का काल शरद् ऋतु विहित है। **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** नियम से बृहस्पतिसव में सोमयागोचित वसन्तकाल की प्राप्ति होने से उसे स्वकाल=वसन्त में करना चाहिये; शरद् ऋतु में वाजपेय के अनन्तर नहीं करना चाहिये।

बृहस्पतिसव के वाजपेय क्रतु का अङ्ग होने पर भी भिन्न कालों में इन्हें किया जा सकता है। यथा **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** यहां दर्श और पौर्णमास याग में प्रतिकर्म भिन्न भिन्न अपूर्व उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् साङ्ग दर्शयाग से एक समुदायापूर्व उत्पन्न होता है और पौर्णमासेष्टि से दूसरा समुदायापूर्व उत्पन्न होता है, पृथक् पृथक् काल में उत्पन्न उन दोनों समुदायापूर्वों के परमापूर्व से फल प्राप्त होता है। इसी प्रकार यहां भी बृहस्पतिसव के विना भी वाजपेयेनेष्ट्वा में तृतीयाविभक्ति के श्रवण से समुदायापूर्व की उत्पत्ति होती है और कालान्तर में बृहस्पतिसव करने पर परमापूर्व उत्पन्न होता है उससे फल की सिद्धि होती है। इस प्रकार भिन्न काल में होने पर भी बृहस्पतिसव वाजपेय का अङ्ग हो सकता है।

यद्यपि सभी मीमांसकों का यही मत है कि शरद ऋतु में किये जाने वाले वाजपेय क्रतु के अङ्गभूत बृहस्पतिसव का वसन्त में ही अनुष्ठान होना चाहिये, तथापि याज्ञिक लोग वाजपेय याग के साङ्ग पूर्ण होने के पश्चात् ही बृहस्पतिसव का अनुष्ठान करते हैं। ऐसा हम ने लातूर और शोलापुर में देखा है।

सौत्रामण्याश्चोदकसामान्याद् दर्शपूर्णमासकालेन—यहां पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ है। यहां पाठ होना चाहिये—**सौत्रामण्याश्चोदनासामान्यात् इष्टिप्रकृतित्वात् दर्शपूर्णमासकालेन** अर्थात् **अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत्** इस विधि सामान्य से सौत्रामणी याग की इष्टि प्रकृति होने से

आह । वाजपेये तावदिष्ट्वेति वचनाद्यागमभिनिर्वर्त्येति गम्यते । अग्नौ तु [नोपपद्यते । तत्र चित्वेति वचनाच्चयनमभिनिर्वर्त्येत्यर्थः स्यात् । उच्यते । नैतदेवम् । अग्निं चित्वेति हि श्रूयते । अग्निं चयनेन संस्कृत्येत्यर्थः । अग्निरिति ज्वलनोऽभिधीयते । न तस्य स्थलस्थापनमात्रमुपकारः । यदि स्थलस्थिते यागो भवति, ततश्चयने-

---

दर्शपूर्णमास काल में होना चाहिये । सौत्रामणी में सुराग्रह और पयोग्रह हैं । सुरा[1] की निष्पत्ति ओदनादि द्रव्य से होती है । दर्शपूर्णमास में भी औषध (=व्रीहि यव) आज्य दधि और पयः द्रव्य हैं । इसलिये सौत्रामणी की प्रकृति दर्शपूर्णमास मानी जाती है । द्र० आप० परिभाषा सूत्र ३।३९ कपर्दीभाष्य ।

दर्शपूर्णमासकालेन—यद्यपि प्रायः सभी मीमांसक अग्निचयन के अङ्गभूत सौत्रामणी का काल अग्निचयन के अनन्तर प्राप्त होने वाली अमावास्या अथवा पौर्णमासी मानते हैं, तथापि संकर्ष काण्ड अ० १, पा० १, अधि० ६ सूत्र १६ 'सा तदपवर्गे क्रियेत यथा संस्थाप्य पौर्णमासीं वैमृधमनुनिर्वपतीति' से सौत्रामणी का विधान साङ्ग अग्निचयन कर्म के पूर्ण होने पर किया है । इसमें उदाहरण दिया है—जैसे पौर्णमासेष्टि को पूर्ण करने के अनन्तर वैमृधेष्टि का निर्वाप करता है । याज्ञिक लोग भी साङ्ग अग्निचयन के पूर्ण होने के पश्चात् सौत्रामणी का अनुष्ठान करते है । यह हमने नांदेड़ (महाराष्ट्र) में देखा है । पूर्व निर्दिष्ट लातूर शोलापुर, तथा नांदेड़ में यजमान यज्ञमूर्ति श्री रंगनाथ कृष्ण सेलूकर दीक्षित और साक्षात् यज्ञपरिग्रहरूप प्रधान याज्ञिक वेदमूर्ति विश्वनाथ श्रौती नेल्लूर निवासी थे । आप जैसे शास्त्रज्ञ और कर्मकाण्ड-कुशल उभयविध विद्वान् दुर्लभ हैं ।

व्याख्या—(आक्षेप) वाजपेय में तो 'इष्ट्वा' इस वचन से 'याग पूर्ण करके' यह अर्थ जाना जाता है अग्नि में तो यह अर्थ उपपन्न नहीं होता । वहां चित्वा ऐसा कहने से [इष्टकाओं] 'चयन करके' अर्थ होवे । (समाधान) ऐसा नहीं है । अग्निं चित्त्वा ऐसा सुना जाता है । 'अग्नि को चयन से संस्कृत करके' यह अर्थ है । 'अग्नि' शब्द से ज्वलन (=आग) कहा जाता है । उस अग्नि का स्थल (=इष्टकाओं से बने स्थण्डिल) पर स्थापनमात्र तो उपकार नहीं है । यदि स्थण्डिल पर वर्तमान अग्नि में याग होता है तब चयन से अग्नि का उपकार है । [इसलिये] उस को बना कर का अर्थ 'स्थण्डिल स्थित अग्नि में याग सम्पन्न करके' ऐसा जाना

---

१. यह सुरा शराब के समान मदकारी नहीं होती है । जिस प्रकार गाजर वा बड़ों से कांजी बनाई जाती है, वही इसकी प्रक्रिया है । कांजी की निष्पत्ति तो ९-१० दिनों में होती है । परन्तु यह सुरा केवल तीन दिन में निष्पन्न की जाती है । अतः सुरा नाम सादृश्य से लोक में इसे शराब समझा जाता है और कहते हैं—सौत्रामणी याग में शराब का विधान है । यह कथन भ्रान्तिमूलक है ।

नाग्नेरुपकारोऽस्ति। तमभिनिर्वर्त्येति स्थलस्थितेऽग्नौ यागमभिनिर्वर्त्येति गम्यते। यावत् स्थलस्थितेऽग्नौ यागो न भवति, न तावदग्निश्चयनेनोपक्रियते। येनाग्निर्यजमानस्योपकरोति, सोऽग्नेरुपकारो न स्थलस्थापनमात्रम्। तस्मात् तत्रापि यागमभिनिर्वर्त्यति गम्यते ॥ ४१ ॥ सौत्रामण्याद्यङ्गानां स्वकालकतर्व्यताधिकरणम् ॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य

तृतीयः पादः ॥

जाता है। जब तक स्थण्डिल स्थित अग्नि में याग नहीं होता है तब तक 'अग्नि' चयन से उपकृत नहीं होता है। जिस [उपकार] से अग्नि यजमान को उपकृत करती है (=फलाभिमुख करती है) वह अग्नि का उपकार स्थण्डिल पर [अग्नि का] स्थापनमात्र नहीं है। इसलिये यहां भी 'याग करके' यही अर्थ जाना जाता है ॥ ४१ ॥

चतुर्थेऽध्याये चतुर्थः पादः

[राजसूयशब्दवाच्यानां यागानामेव फलार्थत्वाधिकरणम् ॥ १ ॥]

सन्त्यनुमत्यादीन्यैष्टिकानि[1] कर्माणि, मल्हादयः पशवः[2], पवित्रादयः सोमाः[3], वल्मीकवपायां होम[4] इत्येवमादीनि दार्विहोमिकानि । तथा पष्ठौहीं दीव्यति[5], राजन्यं जिनाति[6], शौनःशेपमाख्यापयति[7], अभिषिच्यते[8] इति । एतेषां संनिधौ श्रूयते—राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत[9] इति । स एष रूपवतां संनिधावरूपः शब्दः श्रूयमाणः समुदायवाचकः समधिगतः । तत्र संदेहः—किं सर्वेषामनुमत्यादीनां समुदायस्य राज-

---

व्याख्या—अनुमत्यादि ऐष्टिक (=इष्टि-संबन्धी) कर्म, मल्हादि पशु, पवित्रादिसंज्ञक सोमयाग) वल्मीकवपा (=दीमक की बामी की मिट्टी) में होम इत्यादि दर्विहोम हैं। तथा पष्ठौहीं दीव्यति (=बाल गर्भिणी गौ[10] को जुए की बाजी पर लगाता है), राजन्यं जिनाति (=राजन्य=राजवंशीय क्षत्रिय को व्यथित करता है), शुनःशेपमाख्यापयति (=शुनःशेप की कथा कहाता है), अभिषिच्यते (=अभिषेक=राजतिलक किया जाता है)। इन के समीप में सुना जाता है—राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत् (=स्वाराज्य की कामनावाला राजसूय से यजन करे)। वह यह रूपवानों (जिन का द्रव्य देवता रूप जाना गया है, ऐसे यागों) के समीप में श्रूयमाण अरूपवान् (=जिस का द्रव्य देवता ज्ञात नहीं है ऐसा अयागवाचक राजसूय) समुदाय का वाचक जाना गया है। उस में सन्देह होता है—क्या सब अनुमत्यादि कर्मों के समुदाय

---

१. अनुमत्यै पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति धेनुर्दक्षिणा (तै० सं० १।८।१) इत्यादीनि।

२. आदित्यां मल्हां गर्भिणीमा लभते (तै० सं० १।८।१९) इत्यादयः।

३. द्रष्टव्य आप० श्रौत० १८।८॥

४. अनुपलब्धमूलम् ।

५. अनुपलब्धमूलम् ।

६. तै० ब्रा० १।७।६॥

७. शौनःशेपमाख्यापयते । तै० ब्रा० १।७।१०॥

८. अभिषेककमार्थं तै० सं० १।८।१४ द्रष्टव्या ।

९. अनुपलब्धमूलम् । राजसूयक्रतुः—द्र० आप० श्रौत १८।८।१॥ हिरण्यकेशीय (सत्याषाढ़) १३।३॥ लाटचा० श्रौत ९।१।१॥

१०. विशेष आगे विवरण में देखें।

सूयशब्दो वाचकः उत केषांचिद् वाचकः केषांचिन्नेति । किं प्राप्तस् ?

का वाचक राजसूय शब्द है अथवा किन्ही [कर्मों] का वाचक है, किन्हीं का वाचक नहीं है। क्या प्राप्त होता है ? सब का वाचक है। किस हेतु से ?

विवरण—सन्त्यनुमत्यादीन्यैष्टिकानि कर्माणि—राजसूय प्रकरण में **अनुमत्यै पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति धेनुर्दक्षिणा** (=अनुमति देवता के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है, इसकी धेनु दक्षिणा है) इत्यादि आठ हविर्याग कहे हैं (द्र० तै० सं० १।८।१, तै० ब्रा० १।६।१)। **मल्हादयः पशवः—आदित्यां मल्हां गर्भिणीमा लभते** (=आदित्य अथवा अदिति देवता वाली गले में स्तन सदृश लटके हुए दो मांस खण्डों वाली गर्भिणी अजा का आलभन करे) इत्यादि पशुयाग विहित हैं (द्र० तै० सं० १।८।१९)। **आदित्याम्**—भट्टभास्कर ने **आदित्यो देवता यस्याः सा** इस अर्थ में आदित्य शब्द से **दित्यदित्यादित्य** (अष्टा० ४।१।८५) से 'ण्य' प्रत्यय माना है। सायण ने **अदितिर्देवता यस्याः सा** इस अर्थ में अदिति शब्द से आदित्य शब्द स्वीकार किया है। इस प्रकार इस पशु का देवता भट्टभास्कर के मत में आदित्य है और सायण के मत में आदिति। **पवित्रादयः सोमाः**—पवित्र, दशपेय आदि नाम वाले कुछ सोम याग कहे गये हैं (द्र० आप० श्रौत १८।८)। **दर्विहोमिकानि**—जिस में कड़छी जैसे पात्र से होम किया जाय वह दर्विहोम कहाता है। **पष्ठौहीं दीव्यति**—'पष्ठौही' शब्द के अर्थ में व्याख्याकारों का मतभेद है। भट्टभास्कर ने तै० सं० १।८।१८ के भाष्य में लिखा है—**चतुर्वर्षा स्त्रीगवी** (चार वर्ष की गाय)। वहीं सायण ने लिखा है—बालगर्भिणी गाय। तै० सं० १।८।१ के भाष्य के अन्तर्गत जैमिनिन्यायमाला (४।४।१-२) को उद्धृत करके व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—**यावता वयसा वर्षत्रयरूपेण पृष्ठे भारं वाढुं समर्था शक्तिर्भवति तावद्वयस्का** (वै० सं० मं० पूना संस्क० भाग २, पृष्ठ ३१३) अर्थात् तीन वर्ष की गाय। पुनः वही तै० सं० १।८।१९ के भाष्य में लिखता है—**पञ्चवर्षाया अपि पष्ठौहीशब्दवाच्यत्वात्** अर्थात् पांच वर्ष की गाय पष्ठौही कहाती है। **राजन्यं जिनाति**—भट्टभास्कर ने तै० ब्रा० १।७।९ में इसका अर्थ किया है—"राजपुरुष को जीतता है। यहां 'श्ना' प्रत्यय व्यत्यय से हुआ है। यद्वा—'ज्या वयोहानौ' राजन्य को इषु से बींधता है।" **शौनःशेपमाख्यापयति**—ऐतरेय ब्राह्मणोक्त शुनःशेप सम्बन्धी जो गाथा वा शुनःशेपदृष्ट जो ऋग्वेद की ऋचाएं हैं उन को होता से वंचवाता है। **अभिषिच्यते—सोमो राजा वरुणो देवा** (तै० सं० १।८।१४) आदि मन्त्र से राजा का अभिषेक किया जाता है। यह १४ वां अनुवाक अभिषेकानुवाक कहाता है। **सर्वेषामनुमत्यादिनाम्**—अनुमत्यादि याग और याग से भिन्न देवन=जुआ खेलना आदि सब कर्मों का वाचक राजसूय शब्द है। **केषांचिद् वाचकः केषांच्चिन्न**—इस का भाव यह है कि यागमात्र का वाचक है, याग भिन्न देवयन आदि कर्मों का वाचक नहीं है।

प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्वम् ॥ १ ॥ (पू०)

सर्वेषां वाचक इति । कुतः? प्रकरणशब्दसामान्यात् । प्रकरणशब्दः सर्वेषां समानो राजसूयेनेति । राजा तत्र सूयते तस्माद् राजसूयः, राज्ञो वा यज्ञो राजसूयः । तत्प्रकरणसंनिधाने सति, विशेषाभावे च सर्वेषां वाचको भवितुमर्हति । यश्च राजसूयशब्दितस्ततः फलं भवति । तस्मात् सर्वाणि प्रधानानीति ॥ १ ॥

अपि वाऽङ्गमनिज्याः स्युस्ततो विशिष्टत्वात् ॥ २ ॥ (उ०)

प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्वम् ॥१॥

सूत्रार्थः—(प्रकरणशब्दसामान्यात्) प्रकरण में श्रूयमाण राजसूय शब्द के सब के प्रति समान होने से (चोदनानाम्) सभी यागपरक तथा अयागपरक विधियों का (अनङ्गत्वम्) अङ्गत्वाभाव अर्थात् सम प्रधानत्व है ।

व्याख्या—प्रकरण शब्द [राजसूय] के समान होने से । प्रकरण शब्द सब विधियों के प्रति समान है—राजसूयेन [अर्थात् राजसूय का प्रकरण होने से राजसूयेन यजेत से सभी विधियों का ग्रहण होता है] । राजा वहां अभिषिक्त होता है इस हेतु से वह राजसूय कहाता है अथवा राजा का यज्ञ राजसूय होता है । उस (=राजसूय) प्रकरण की समीपता में विशेष [के निर्देश] का अभाव होने से [राजसूय शब्द] सब का वाचक हो सकता है। जो राजसूय शब्द से सम्बद्ध है उससे फल होता है । इसलिए सभी कर्म प्रधान हैं ॥१॥

अपि वाङ्गमनिज्याः स्युस्ततो विशिष्टत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) ये पद पूर्व निर्दिष्ट पक्ष की निवृत्ति के लिये हैं अर्थात् 'राजसूय' शब्द सभी का वाचक नहीं है । (अनिज्याः) जो यागवाचक नहीं हैं, ऐसे देवनादि कर्म (अङ्गम्) अङ्ग (स्युः) होवें । (ततः) 'यजेत' पद से (विशिष्टत्वात्) विशिष्ट होने से [राजसूय शब्द अनुमत्यादि यागों का ही वाचक है] ।

विशेष—अनिज्या अङ्गम् यहां बहुवचन 'अङ्गानि' के स्थान में 'अङ्गम्' एकवचन का प्रयोग 'वेदाः प्रमाणम्' आदि के समान जानना चाहिये । ततः विशिष्टत्वात्—'राजसूयेन यजेत' में यजेत का प्रयोग होने से राजसूयसंज्ञकेन यागेन स्वाराज्यरूपं फलं भावयेत् (राजसूयसंज्ञक याग से स्वाराज्य फल को सिद्ध करे) अर्थ विदित होता है । यहां याग ही फल की प्राप्ति में विशिष्ट साधन कहा गया है । अतः राजसूय शब्द अनुमत्यादि यागों का ही वाचक है । देवनादि कर्म अङ्गभूत हैं ।

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः । या अनिज्यास्ता अङ्गं, यथा विदेवनादयः । राजसूयसंज्ञकेन यागेन स्वाराज्यं साध्यते, नायागेन । अयागाश्च विदेवनादयः । तस्मादङ्गं भवेयुरिज्यानां फलवतीनां श्रूयमाणा इति ॥२॥ **विदेवनादीनां राजसूयाङ्गत्वाधिकरणम् ॥१॥**

—:०:—

[विदेवनादीनां कृत्स्नराजसूयाङ्गताधिकरणम् ॥ २ ॥]

राजसूयेऽभिषेचनीयमध्ये पष्ठौहीं दीव्यति[1] इति विदेवनादयः समाम्नाताः । ते किमभिषेचनीयस्याङ्गमुत कृत्स्नस्य राजसूयस्येति संशयः ? उच्यते—

मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ॥ ३ ॥ (पू०)

मध्याम्नानादभिषेचनीयस्येति । तथा आनन्तर्यमनुग्रहीष्यत इति ॥ ३ ॥

व्याख्या—'अपि वा' शब्द से [पूर्व उक्त] पक्ष की निवृत्ति होती है । जो अनिज्या (=यागरूप नहीं) हैं वे अङ्ग हैं । जैसे विदेवन (=जुआ खेलना) आदि । 'राजसूय संज्ञक याग से स्वाराज्य को सिद्ध करे' ऐसा कहने पर याग से ही स्वाराज्य की सिद्धि की जाती है, अयाग (=यागरहित) से स्वाराज्य की सिद्धि नहीं की जाती है । विदेवनादि कर्म यागरूप नहीं हैं । इसलिये वे फलवाली इज्याओं (=इष्टियों=यागों) के श्रूयमाण अङ्ग होवें ॥२॥

—:०:—

व्याख्या—राजसूय में 'अभिषेचनीय' [अवान्तर प्रकरण] के मध्य पष्ठौहीं दीव्यति विदेवनादि कर्म पठित हैं । वे क्या अभिषेचनीय के अङ्ग होवें अथवा सम्पूर्ण राजसूय के, यह संशय होता है । इस विषय में कहते हैं—

मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ॥ ३ ॥

सूत्रार्थः—(यस्य) जिस अभिषेचनीय के (मध्यस्थम्) मध्य में पठित विदेवनादि हैं (तन्मध्ये) उसी के मध्य में होवे अर्थात् अभिषेचनीय कर्म के ही अङ्ग होवें ।

व्याख्या—मध्य में पाठ होने से अभिषेचनीय के [अङ्ग होवें] । ऐसा होने से आनन्तर्य अनुगृहीत होगा ॥ ३ ॥

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १३७६ टि० ५ ।

सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्न हि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये ॥ ४ ॥ (उ०)

सर्वासां चानुमत्यादीनां चोदनानामङ्गं विदेवनादि स्यात् । कुतः ? चोदनातः समत्वात् । समाना एता अनुमत्याद्याश्चोदनाः । ताः सर्वाः फलवत्यश्च प्रधानभूताः । सर्वासामासां प्रकरणम्, न ह्यभिषेचनीयस्य केवलस्य । क्रमादभिषेचनीयस्य प्राप्नुवन्ति, प्रकरणात् सर्वासाम् । प्रकरणं च क्रमाद् बलीयः[1] । तस्मान्नाभिषेचनीयस्य

सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्न हि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये ॥ ४ ॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् विदेवनादि अभिषेचनीय मात्र के अङ्ग नहीं हैं। (चोदनातः समत्वात्) इष्टि पशु और सोम सभी चोदनाओं के समान होने से अर्थात् सब के समानरूप से फलवान् होने से (सर्वासाम्) सब इष्टि पशु और सोम आदि यागों के अङ्ग (स्यात्) होवें। (तस्य) अभिषेचनीय का (प्रकरणम्) प्रकरण (नहि) नहीं है। (मध्ये) अभिषेचनीय के मध्य में विदेवनादि का निर्देश (देशार्थम्) उनके काल रूपी स्थान के निर्देश के लिये है।

विशेष—इसका भाव यह है कि **माहेन्द्रस्य स्तोत्रं प्रत्यभिषिच्यन्ते**[2] इस वचन से माहेन्द्र स्तोत्र के समय अभिषेचनीय कर्म का विधान होने से अभिषेचनीय कर्म के अन्तर्गत विदेवनादि का पाठ किया है। सुबोधिनीकार ने 'देशार्थिम्' का अभिप्राय यह लिखा है कि वस्तुमात्र की देश के विना स्थिति न होने से विदेवनादि का राजसूय में कहीं भी निर्देश करना ही था, सो यहां अभिषेचनीय के प्रकरण में कर दिया है।

व्याख्या—सभी अनुमत्यादि यागों की चोदनाओं (=विधियों) का विदेवनादि अङ्ग होवें। किस हेतु से ? [सभी विधियों की] चोदनारूप से समान होने से। ये अनुमत्यादि यागों की सभी चोदनाएं समान है। वे सब फलवती है, अर्थात् प्रधानभूत है। इन सभी (अनुमत्यादि चोदनाओं) का प्रकरण है, केवल अभिषेचनीय कर्म का प्रकरण नहीं है। क्रम(विदेवनादि के अभिषेचनीय के मध्य में पाठ होने)से अभिषेचनीय के अङ्ग प्राप्त होते हैं। [राजसूय=अनुमत्यादि सभी यागों का] प्रकरण होने से सभी अनुमत्यादि चोदनाओं का अङ्ग हैं। प्रकरण क्रम से बलवान् होता है (द्र० मी० ३।३। अधि० ७, भाग ३, पृष्ठ ८२०-८२२)। इसलिये

---

१. द्र० मी० ३।३ अधि० ७ क्रमप्रकरणयोर्मध्ये प्रकरणस्य बलवत्त्वम्।

२. इसी सूत्र की टुप्टीका में उद्धृत वचन।

केवलस्येति। अभिषेचनीयस्य तु मध्ये स्थानं विदेवनादीनां, तत्र क्रियमाणाः सर्वासा-मुपकुर्वन्तीति ॥४॥ विदेवनादीनां कृत्स्नराजसूयाङ्गताधिकरणम् ॥२॥

—:o:—

[सौम्यादीनामुपसत्कालकत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥]

राजसूय उपसदः प्रकृत्य श्रूयते—पुरस्तादुपसदां सौम्येन चरन्ति, अन्तरा त्वाष्ट्रेण, उपरिष्टाद् वैष्णवेन इति। तत्र संदेहः—किमुपसदङ्गं सौम्यादयः उत उपसत्काला इति ? उपसदङ्गमिति ब्रूमः। कुतः ? उपसत्संयोगस्य श्रुतत्वात्। कालविधौ सति लक्षणा स्यात्। तस्मादुपसदङ्गमिति। ननु कालवदङ्गं भविष्यति। तथा सत्युभयमनुगृह्येत—उपसत्संयोगश्च, पुरस्तादिति च कालाभिधानम्। उपसच्छब्दसंयोगादुपसदङ्गता भविष्यति पुरस्ताच्छब्दसामर्थ्याच्च पूर्वादिषु प्रयोग इति। उच्यते—

[विदेवनादि] केवल अभिषेचनीय के अङ्ग नहीं है। विदेवनादि कर्मों का स्थान अभिषेचनीय कर्म के मध्य में है। वहां किये हुए [विदेवानादि कर्म] सब [अनुमत्यादि की] चोदनाओं का उपकार करते हैं ॥४॥

—:o:—

व्याख्या – राजसूय में सुना जाता है— पुरस्तादुपसदां सौम्येन प्रचरन्ति (=उपसद् इष्टियों से पूर्व सौम्य=सोमदेवताक चरु से याग करते हैं), अन्तरा त्वाष्ट्रेण पूर्वाह्ण और अपराह्ण की उपसदों के मध्य त्वष्टादेवताक अष्टाकपाल पुराडाश से याग करते हैं), उपरिष्टाद् वैष्णवेन (=अपराह्ण की उपसद् के अनन्तर विष्णुदेवताक त्रिकपाल पुरोडाश से याग करते हैं)। इसमें सन्देह होता है—क्या सौम्यादि याग उपसत् इष्टियों के अङ्ग हैं अथवा उपसत्-काल वाले हैं ? उपसत् के अङ्ग हैं ऐसा हम कहते हैं। किस हेतु से ? उपसत् के संयोग के सुने जाने से। काल की विधि में लक्षणा होवे। इसलिये उपसत् के अङ्ग हैं। (आक्षेप) कालयुक्त अङ्ग होगा [अर्थात् काल का और उपसदों के अङ्गत्व दोनों का विधान होगा]। ऐसा होने पर दोनों अनुगृहीत होंगे—उपसदों का संयोग और 'पुरस्तात्' से काल का कथन। उपसत् शब्द के संयोग से उपसदों का अङ्गत्व होगा और 'पुरस्तात्' शब्द के सामर्थ्य से पूर्व [काल] आदि में प्रयोग होगा। इस विषय में कहते हैं—

विवरण—पुरस्तादुपसदां सौम्येन·····उपरिष्टाद् वैष्णवेन—राजसूय में अभिषेचनीय कर्म के पञ्चमी के दिन पूर्ण होने पर षष्ठी से दश संसृप संज्ञक याग कहे हैं, जो एक एक करके प्रतिदिन होते हैं। इनमें से षष्ठी सप्तमी अष्टमी नवमी दशमी एकादशी में क्रमश ६ संसृप याग

प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम् ॥५॥ (पू०)

विप्रतिसिद्धं ह्युभयं न शक्नोत्युपसदामित्येष शब्दः सौम्यादींश्च विशेष्टुमेकस्मिन् वाक्ये, पूर्वादींश्च । भिद्येत हि तथा वाक्यम् । तस्मान्न कालवङ्गम् ॥ ५ ॥

करके द्वादशी में सप्तम संसृप याग के अनन्तर दशपेय याग की एक दीक्षा करके आगे तीन दिन पूर्वाह्ण अपराह्ण में उपसद् इष्टियां होती हैं। इन उपसद् इष्टियों के दिनों में प्रथम दिन पौर्वाह्णिक उपसद् इष्टि से पूर्व सोमदेवताक चरु से याग किया जाता है। द्वितीय दिन पूर्वाह्ण की उपसद् इष्टि के अनन्तर अपराह्ण की उपसद् इष्टि से पूर्व [दोनों के मध्य में] त्वाष्ट्र अष्टाकपाल पुरोडाश से याग किया जाता है। तृतीय दिन अपराह्ण की उपसद् इष्टि के अनन्तर विष्णुदेवताक त्रिकपाल पुरोडश से याग किया जाता है (द्र० तै० सं० १।८।१७ के अन्त में भट्टभास्कर और सायण का भाष्य)।

उपसत्संयोगस्य श्रुतत्वात्—इसका भाव यह है कि **पुरस्तादुपसदां सौम्येन प्रचरन्ति** में उपसद् इष्टियों का श्रवण होने से सौम्यादि कर्म उपसद् इष्टियों के अङ्ग होंगे। **कालविधौ-लक्षणा स्यात्**—'उपसदाम्' में श्रुत उपसद् शब्द से यदि उपसद्काल को लक्षित किया जाये तो लक्षणा माननी पड़ेगी। कालवद् अङ्गं भविष्यति का तात्पर्य है सौम्यादि इष्टियां उपसत् काल युक्त उपसद् इष्टियों का अङ्ग होगा।

प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम् ॥५॥

सूत्रार्थः—(प्रकरणाविभागे) [राजसूय] प्रकरण के अविभाग=विभक्त न होने पर अर्थात् एक होने पर (च) भी (उभयम्) सौम्य चरु आदि का उपसदों का अङ्गत्व और काल की विधि दोनों (विप्रतिषिद्धम्) विरुद्ध हैं।

विशेष—**पुरस्तादुपसदां सौम्येन प्रचरन्ति**, में 'उपसदाम्' षष्ठी विभक्ति से उपसद् का अङ्गत्व प्राप्त होता है और 'पुरस्तात्' से सौम्य याग का उपसदों से पूर्वकालत्व जाना जाता है। इस प्रकार एक वाक्य सौम्य चरु को उपसदों के अङ्गत्व का भी विधान करे और उसके काल का भी निर्देश करे, परस्पर विरुद्ध है।

व्याख्या—दोनों (अङ्गत्व और कालसम्बन्ध परस्पर विरुद्ध हैं। 'उपसदाम्' यह शब्द एक ही वाक्य से सौम्यादि को और पूर्वादि को विशेषित करने में समर्थ नहीं है। उस प्रकार (दोनों को विशेषित करने पर) वाक्यभेद होवे [अर्थात् उपसदामङ्गत्वेन सौम्येन प्रचरन्ति=उपसद् के अङ्गरूप सौम्य याग करता है, तथा उपसदां पुरस्तात् प्रचरन्ति=उपसदों से पहले याग करता है, इस प्रकार वाक्यभेद होगा। इसलिये कालयुक्त अंग [काल का विधान और अङ्गत्व का विधान] नहीं है [केवल अङ्गत्व का विधान है] ॥५॥

अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद् विशेषस्य ॥ ६ ॥ (उ०)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः। कालमात्रं स्यात् नाङ्गप्रयोजनसंबन्धः। कुतः ? अदर्शनाद् विशेषस्य। नान्यैः कालाभिधानैरस्य कश्चिद्विशेषो लक्ष्यते, आग्निमारुतादूर्ध्वं-मनुयाजैश्चरन्ति इत्येवमादिभिः। अत्रापि हि सौम्यादयो विहिताः, उपसदोऽपि। इदमानुपूर्व्यमविहितं तद्विधीयते। तस्मात् कालमात्रमिति ॥ ६ ॥

—:o:—

[आमनहोमानां सांग्रहणीष्ट्यङ्गताधिकरणम् ॥ ४ ॥

वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः'[1] इति। तत्राऽऽमनहोमाः श्रूयन्ते—

अपि वा कालमात्रं स्याद् अदर्शनाद् विशेषस्य ॥६॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये हैं अर्थात् अङ्गत्व का विधान नहीं है। (कालमात्रम्) कालमात्र का विधान (स्यात्) होवे, (विशेषस्य अदर्शनात्) अन्य कालविधायक वचनों से भिन्नता का दर्शन न होने से।

व्याख्या—'अपि वा' से पक्ष की निवृत्ति कही है। कालमात्र [का विधान] होवे, अङ्ग-प्रयोजनसम्बन्ध न होवे। किस हेतु से ? विशेष के अदर्शन से। अन्य काल के कथन करने हारे वाक्यों से इस वाक्य का कोई वैशिष्ट्य विदित नहीं होता है—आग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजै-श्चरन्ति इत्यादि के साथ। यहां (='पुरस्तादुपसदां' सौम्येन प्रचरन्ति में) भी सौम्यादि कर्म विहित है और उपसद् भी। यह आनुपूर्वी (=पूर्व आदि क्रम) विहित नहीं है, उस का विधान किया जाता है। इस लिये यहां कालमात्र का विधान है।

विवरण—नान्यैः कालभिधानैः इत्यादि का अभिप्राय यह है कि जैसे आग्निमारुतादूर्ध्व-मनुयाजैश्चरन्ति में आग्निमारुत कर्म और अनुयाज दोनों के विहित होने से ऊर्ध्व शब्द से काल-मात्र सम्बन्ध का विधान होता है (द्र०मी० ४।३ अधि १२, सू०३६) वैसे ही सौम्यादि याग भी विहित है (तै० सं० १।८।१७) और उपसद् भी अतिदेश से प्राप्त हैं। अत: यहां भी पुरस्तात् आदि से कालमात्र के सम्बन्ध का विधान किया जाता है ॥६॥

—:o:—

व्याख्या—वैश्वदेवीं सांग्रहणी निर्वपेद् ग्रामकामः (=ग्राम की कामना वाला वैश्वदेवी सांग्रहणी इष्टि को करे)। वहां आमन होम सुने जाते हैं—आमनस्यामनस्य देवा इति

---

१. तै० सं० २।३।९।२॥ अत्र १३८४ तमस्य पृष्ठस्य टि० १ द्र०।

आमनमस्यामनस्य देवा इति तिस्र आहुतीर्जुहोति' इति । अत्र संदेह,--किं समप्रधानभूता आमनहोमाः सांग्रहणीष्टया, उताङ्गं तस्या इति ? किं प्राप्तम् ? समप्रधानभूता इति । कुतः ? तुल्यहेतुत्वादितरस्य । तुल्यं हि यजिमत्त्वम् । नन्वफला होमाः ? उच्यते । ग्रामकाम इत्येवानुषज्यते । तस्मात् समप्रधानभूता इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः--

फलवद् वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् ॥ ७ ॥ (पू०)

फलवद् वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् । न चैतदस्ति समप्रधानभूता होमा इष्टचेति । फलवद्धचफलस्य प्रधानम् । फलवती चेष्टिः, अफला होमाः । ननूक्त-

---

तिस्र आहुतीर्जुहोति । इस में सन्देह होता है—क्या आमन होम सांग्रहणी इष्टि के बराबर प्रधानभूत हैं अथवा उस के अङ्ग हैं ? क्या प्राप्त होता है ? बराबर प्रधानभूत हैं । किस हेतु से ? तुल्य हेतु होने से इतर (=आमन होम के) । [दोनों का] यजिमत्व (=यागत्व) तुल्य ही है । (आक्षेप) होम फल रहित हैं [अतः सांग्रहणी के बराबर आमन होम नहीं हैं]। (समाधान) [आमन होम की विधि में] 'ग्रामकामः' पद का अनुषङ्ग होता है [तिस्र आहुतिर्जुहोति ग्रामकामः] । इस लिये [आमन होम के फलयुक्त होने से वह सांग्रहणी इष्टि के] बराबर प्रधान भूत हैं । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—किं समप्रधानभूता आमनहोमाः—इस का भाव यह है कि क्या आमन होम सांग्रहणी इष्टि के समान फलवान् हैं ? **तुल्यं हि यजिमत्वम्**—यद्यपि आमन होम में 'जुहोति' का श्रवण है तथापि देवतोद्देश्य से दोनों में त्याग के समान होने से आमन होम को भी यजिमत् कहा है ।

फलवद् वोक्तहेतुत्वाद् इतरस्य प्रधानं स्यात् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द एव=ही अर्थ में है । (फलवत्) फलवाला है सांग्रहणी कर्म (वा) ही (इतरस्य) फलरहित आमन होम का प्रधान (स्यात्) होवे । (उक्तहेतुत्वात्) 'फलवान्' की समीपता में पठित फलरहित कर्म फलवत् कर्म का अङ्ग होता है' इस उक्त हेतु से ।

व्याख्या—फलवान् उक्त हेतु से उतर=फलरहित कर्म का प्रधान होवे । यह नहीं है कि होम इष्टि के बराबर प्रधानभूत हैं । फलवान् ही फलरहित का प्रधान होता है । [साँग्रहणी] इष्टि फलवाली है । होम फलरहित हैं । (आक्षेप) [ग्रामकामः का] अनुषङ्ग हो जायेगा । (समाधान)

---

१. यद्यपि तै० सं० २।३।६।३ स्थाने पाठोऽयं दृश्यते तथाऽप्यग्रे 'उग्रोऽस्युग्रस्त्वम्' इत्यादीनां परिधिमन्त्राणां निर्देशादन्यतः कस्याश्चित् शाखातोऽयं पाठ उद्धृतः स्यात् । तै० संहितायां तु 'ध्रुवोऽसि ध्रुवोऽहम्' इत्यादिपरिधिमन्त्रः श्रूयते ।

मनुषङ्गो भविष्यतीति ? उच्यते। नानुषङ्गः प्राप्नोति। कुतः ? व्यवायात्। तदुक्तम्—व्यवायान्नानुषज्येत[1] इति। केन व्यवायः ? परिधिमन्त्रैः—उग्रोऽस्युग्रस्त्वं देवेष्वध्युग्रोऽहं सजातेषु भूयासं प्रियः सजातानामुग्रश्चेत्ता वसुवित्[2] इत्येवमादिभिः। एताननुक्रम्य, आमनमस्यामनस्य देवा इति तिस्र आहुतीर्जुहोतीत्यामनन्ति। तस्मात् सांग्रहण्या अङ्गमामनहोमा इति ॥७॥ आमनहोमाना सांग्रहण्यङ्गताधिकरणम्॥४॥

—:०:—

[दधिग्रहस्य नित्यत्वाधिकरणम् ॥५॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—यां वै कांचिदध्वर्युश्च यजमानश्च देवतामन्तरितस्तस्या

अनुषङ्ग प्राप्त नहीं होता है। किस हेतु से ? व्यवधान होने से, जैसा कि कहा है—व्यवायान्नानुषज्येत (मी० २।१।४१) =व्यवधान होने से, अनुषङ्ग नहीं होता है। किस से व्यवधान है ? परिधि के मन्त्रों से—उग्रोऽस्युग्रस्त्वं देवेष्वध्युग्रोऽहं सजातेषु भूयासं प्रियः सजातानामुग्रश्चेत्ता वसुवित (=हे परिधि तू उग्र है, उग्र है तू देवों में, उग्र मैं सजातियों में होऊं) इत्यादि से। इन [परिधि मन्त्रों] का कथन करके आमनमस्यामनस्य देवा इति तिस्र आहुतीर्जुहोति पढ़ते हैं। इसलिये सांग्रहणी इष्टि के आमन होम अङ्ग हैं।

विवरण—परिधिमन्त्रैः—उग्रोऽस्युग्र०—सांग्रहणी इष्टि और आमन होम के विधायक वाक्य तै० सं० २।३।६।२-३ में मिलते हैं। परन्तु भाष्यकार ने सांग्रहणी इष्टि के विधायक वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः और आमनमस्यामनस्य देवा इति तिस्र आहुती र्जुहोति के मध्य में उग्रोऽस्युग्रस्त्वम् इत्यादि जिन परिधि मन्त्रों का निर्देश किया है वे तै० सं० में उपलब्ध नहीं होते। वहां ध्रुवोऽसि ध्रुवोऽहं स जातेषु भूयासमिति परिधीन् परिदधाति में ध्रुवोऽसि आदि परिधि-मन्त्र पठित हैं। भाष्यकार ने किस शाखा का यहां समाश्रयण किया है, यह अज्ञात है ॥७॥

— :०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—यां वै कांश्चिदध्वर्युश्च यजमानश्च देवतामन्तरितस्तस्या आवृश्चेते। यत्प्राजापत्यं दधिग्रहं गृह्णाति शमयत्येवैनाम्(=जिस

---

१. मी० २।१।४६॥

२. अयं मन्त्र एतत्सदृशश्च बहुत्र पठ्यते। परन्तु भाष्यकृता यस्मिन् प्रकरणे निर्दिष्टस्तत्र नोपलब्धं क्वाप्यस्माभिः।

आवृश्चेते, यत्प्राजापत्यं दधिग्रहं गृह्णाति, शमयत्येवैनाम्[1] इति । तत्र संदेहः—किं नित्यो दधिग्रह उत नैमित्तिक इति ? किं प्राप्तम् ?

दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् ॥ ८ ॥ (पू०)

दधिग्रहो नैमित्तिकः स्यात्, श्रुतिसंयोगात् । देवतान्तराये निमित्ते श्रूयते । न च नित्योऽन्तरायः । तस्मान्नैमित्तिक इति ॥८॥

नित्यश्च ज्येष्ठशब्दात् ॥ ९ ॥ (पू०)

यदुक्तं नैमित्तिक इति तद्गृह्यते, किंतु नित्यश्च । कुतः ? ज्येष्ठशब्दात् । ज्येष्ठशब्दो भवति—ज्येष्ठो वा एष ग्रहाणां यस्यैष गृह्यते, ज्यैष्ठ्यमेव गच्छति[2]

किसी देवता को अध्वर्यु वा यजमान ने [प्रमादवश] छोड़ दिया, उस देवता से दोनों अध्वर्यु और यजमान विच्छिन्न हो जाते हैं। जो प्रजापति देवतावाले दधिग्रह का ग्रहण करता है वह उस देवता के कोप को शान्तकर देते हैं) । इस में सन्देह होता है—क्या यह दधिग्रह नित्य है अथवा नैमित्तिक है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—शमयत्येवैनाम्—इसका भाव यह है कि प्रजापति ही सब देवों को उत्पन्न करने वाला है । अतः प्रजापति के लिये दधिग्रहण के ग्रहण से वह उस देवता को शान्त कर देता है ।

दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(दधिग्रहः) दधिग्रह (नैमित्तिकः) नैमित्तिक है (श्रुतिसंयोगात्) श्रुति के संयोग से [अर्थात् देवता के अन्तराय होने पर दधिग्रह के ग्रहण का श्रुति में निर्देश होने से] ।

व्याख्या—दधिग्रह नैमित्तिक होवे श्रुति के संयोग से । देवता के अन्तराय (=छूट जाने) रूप निमित्त में सुना जाता है । अन्तराय (=देवता का छूट जाना) नित्य नहीं है। इसलिये [दधिग्रह] नैमित्तिक है ॥८॥

नित्यश्च ज्येष्ठशब्दात् ॥९॥

सूत्रार्थः—दधिग्रह (नित्यः) नित्य (च) भी होवे (ज्येष्ठशब्दात्) ज्येष्ठ शब्द के निर्देश से ।

व्याख्या—जो यह कहा है—[दधिग्रह] नैमित्तिक है, उसे हम स्वीकार करते हैं, किन्तु नित्य भी है। किस हेतु से ? ज्येष्ठ शब्द से । [दधिग्रह के लिये] ज्येष्ठ शब्द प्रयुक्त है—ज्येष्ठो वा एष ग्रहाणां यस्यैष गृह्यते ज्यैष्ठ्यमेव गच्छति (=ज्येष्ठ है यह ग्रहों में

---

१. अनुलब्धमूलम् । एतत्सदृशः पाठः तै० सं० ३।५।९ स्थाने उपलभ्यते ।

२. तै० सं० ३।५।९।१॥

इति। ज्येष्ठशब्दश्च प्राधान्ये प्राथम्ये वा स्यात्। नैष प्रथमो न प्रधानम्। यदि नित्यः, एवं प्रशस्यत्वादुपपद्यते। न जातु चलाचलं प्रशंसन्ति। तस्मान्नित्यश्च नैमित्तिकश्चेति विनाऽपि निमित्तेन ग्रहीतव्यो निमित्तेनापि पुनरिति ॥९॥

सार्वरूप्याच्च ॥ १० ॥ (पू०)

सर्वरूपता च श्रूयते—सर्वेषां वा एतद् देवानां रूपं यदेष ग्रहो यस्यैष गृह्यते सर्वाण्येवैनं रूपाणि पशूनामुपतिष्ठन्ते[1] इति। न हि देवतारूपमस्माकं किंचिदन्यत्प्रत्यक्षम्, अन्यदतो नित्यत्वात्, तस्मादपि नित्यश्च नैमित्तिकश्चेति ॥१०॥

दधिग्रह, जिस का यह गृहीत होता है वह ज्येष्ठता को ही प्राप्त होता है)। ज्येष्ठ शब्द प्रधानता वा प्रथमता में प्रयुक्त होवे। यह दधिग्रह न [ग्रहों में] प्रथम है और न प्रधान। यदि नित्य होवे तो इस प्रकार प्रशस्य होने से [ज्येष्ठत्व] उपपन्न होता है। कभी भी चला-चल [=अनित्य] की प्रशंसा नहीं करते। इसलिये (=प्रशंसा होने से) दधिग्रह नित्य भी है और नैमित्तिक भी। विना निमित के भी दधिग्रह का ग्रहण करना चाहिये और निमित्त होने पर भी।

विवरण—न जातु चलाचलं प्रशंसन्ति—चलाचल शब्द चल गतौ धातु से अच् प्रत्यय में धातु के द्विर्वचन और अभ्यास को आक् का आगम होकर निष्पन्न होता है—चरिचलिपतिवदीनां द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्य (महाभाष्य ६।१।१२)। अतः इसका अर्थ है चल=चलायमान, स्थिर न होना अर्थात् अनित्य ॥९॥

सार्वरूप्याच्च ॥१०॥

सूत्रार्थः—(सार्वरूप्यात्) सब देवताओं का रूप होने से (च) भी। [इस का भाव यह है कि दधिग्रह को सब देवताओं का रूप कहा है, किसी अन्तरित=छोड़े गये देवता का रूप नहीं कहा है। इस हेतु से भी दधिग्रह नित्य भी है।]

व्याख्या—[दधिग्रह की] सर्वरूपता सुनी जाती है—सर्वेषां वा एतद् देवतानां रूपं यदेष ग्रहो यस्यैष गृह्यते सर्वाण्येवैनं रूपाणि पशूनामुपतिष्ठन्ते (=यह निश्चय ही सब देवताओं का रूप है जो यह दधिग्रह है, जिस का यह ग्रह ग्रहण किया जाता है उस को सभी रूप पशुओं के उपस्थित होते हैं)। देवताओं का रूप हमारे लिये कोई प्रत्यक्ष नहीं है, नित्य होने के अतिरिक्त। इसलिये भी [दधिग्रह] नित्य भी है और नैमित्तिक भी।

विवरणम्—देवतानां रूपमस्माकं किञ्चिदन्यत् प्रत्यक्षमस्ति—मीमांसक देवताओं को विग्रहवती (=शरीरधारी) नहीं मानते हैं। इस का निर्देश भाष्यकार अ० ९, पा० १, अधि० ४,

---

१. तै० सं० ३।५।९।१॥

नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः कर्मण्यसंबन्धाद् भङ्गित्वाच्चान्तरायस्य ॥११॥ (उ०)

यदुक्तम्—नित्यो नैमित्तिकश्चेति । तत्र नित्य एव स्यात्, ज्येष्ठशब्दात् सार्वरूप्याच्च । यदुक्तम् देवतान्तराये निमित्ते श्रूयत इति । न देवतान्तरायो निमित्तत्वेन गम्यते, तयोरध्वर्युयजमानयोः कर्मण्यन्तरायेण संबन्धात् । न ह्येतच्छ्रूयतेऽध्वर्युणा देवताऽन्तरितव्या यजमानेन वेति । अनित्यो हि अन्तरायः । न चैवंशब्दोऽस्ति अन्तराये सति दधिग्रहो ग्रहीतव्य इति । विनैव संयोगेन दधिग्रहस्य ग्रहणम्, अन्तरायसमाधानं त्वस्य प्रयोजनमिति । तदेतन्नित्यवद् ग्रहणम्, अनित्यं प्रयोजनम् । नित्यं

सूत्र ६-१० में करेंगे। अन्यदतो नित्यत्वात्—मीमांसक शब्दमयी देवता मानते है । मीमांसकों के मत में शब्द नित्य है (द्र० अ० १, पा १, सूत्र ६-२३) । अत एव यहां देवता का स्वरूप नित्यत्व कहा है ॥१०॥

नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः......भङ्गित्वाच्चन्तरायस्य ॥११॥

सूत्रार्थ—दधिग्रह (नित्यः) नित्य (वा) ही (स्यात्) होवे (अर्थवादः) ज्येष्ठत्व और सार्वरूप्यत्व अर्थवाद है, (तयोः) अध्वर्यु और यजमान का (कर्मणि) कर्म में अन्तराय के साथ (असंबन्धात्) सम्बन्ध न होने से (च) और (अन्तरायस्य) अन्तराय=प्रमाद से परित्याग के (भङ्गित्वात्) अनित्य होने से ।

विशेष—कुतुहलवृत्ति में 'नित्य एव स्याद्' पाठ भेद है। 'वा' शब्द का पाठ पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिये हो सकता है और अवधारण=निश्चय के लिये भी । कुतुहलवृत्तिकार ने बहुत्र 'वा' शब्द को अवधारणार्थ माना है ।

व्याख्या—जो कहा है कि [दधिग्रह] नित्य और नैमितिक है। उस में [दधिग्रह] नित्य ही होवे जेष्ठ शब्द से और सारूप्य से । और जो यह कहा है कि देवता के अन्तराय (=प्रमाद से भूल जाने) रूप निमित्त होने पर सुना जाता है । [यह ठीक नहीं है] देवता का अन्तराय निमित्त रूप से नहीं जाना जाता है, उन अध्वर्यु और यजमान के कर्म में अन्तराय के साथ सम्बन्ध होने से । यह नहीं सुना जाता है कि अध्वर्यु के द्वारा देवता को अन्तरित करना (=छोड़ना) चाहिये अथवा यजमान के द्वारा देवता को अन्तरित करना चाहिये । अन्तराय अनित्य है [अर्थात् कभी प्रमाद वश छूटता है] । ऐसा भी कोई शब्द नहीं है कि [देवता का] अन्तराय होने पर दधिग्रह को ग्रहण करना चाहिये । [अन्तराय के] सम्बन्ध के विना ही दधिग्रह का ग्रहण होता है, अन्तराय का समाधान (=प्रमाद से देवता के छूट जाने का प्रायश्चित) इस [दधिग्रह] का प्रयोजन है। इसलिये यह [दधिग्रह का]

गृह्णीयादनित्यमन्तरायं समाधातुमिति नावकल्पते। तत्र प्रयोजनेऽनित्यत्वाद ग्रहणे नित्यवच्छ्रुतिर्बाध्येत। अर्थवादत्वे तु न वाध्यते। न हि तदन्तरायं समाधातुं गृह्यते। अन्यदेव प्रयोजनमस्यास्तीति प्रशंसितुमभिधीयते दधिग्रहस्य तु सोमाङ्गतैव प्रयोजनमिति। भङ्गित्वाच्चान्तरायस्य। भङ्गी चान्तरायः—अनित्यो नित्यप्रशंसार्थं संकीर्त्यते। तस्मान्नैष दोषः। नित्य एव दधिग्रह इति ॥११॥ दधिग्रहस्यनित्यताधिकरणम् ॥५॥

—:०:—

[वैश्वानरेष्टेर्नैमित्तिकत्वाधिकरणम् ॥६॥]

अस्त्यग्निः—य एवं विद्वानग्निं चिनुते[1] इति। तत्र श्रूयते—यो वै संवत्सरमुख्यमभृत्वाऽग्निं चिनुते, यथा सामिगर्भो विपद्यते तादृगेव तदार्तिमार्च्छेत्। वैश्वानरं

ग्रहण नित्यवत् है, प्रयोजन (=अन्तराय का समाधान) अनित्य है। नित्य [दधिग्रह का] ग्रहण करे अनित्य अन्तराय के समाधान के लिये, यह [कथन] संभव नहीं होता। ऐसा स्वीकार करने पर प्रयोजन के अनित्य होने से ग्रहण में नित्यवत् श्रुति बाधित होती है। अर्थवाद मानने पर तो नित्यवत् श्रुति बाधित नहीं होती, क्योंकि [दधिग्रह] अन्तराय के समाधान के लिये ग्रहण नहीं किया जाता है। अन्य ही प्रयोजन इस का है [दधिग्रह] प्रशंसा करने के लिये कहा जाता है, दधिग्रह की सोमाङ्गता ही प्रयोजन है। अन्तराय के भङ्गी (=अनित्य) होने से। अन्तराय अनित्य है। वह अनित्य [अन्तराय] नित्य [दधिग्रह की] प्रशंसा के लिये कहा गया है। इसलिये यह दोष नहीं है। दधिग्रह नित्य ही है।

विवरण—न चैवं शब्दोऽस्ति—इस का भाव यह है कि निमित्तता का कथन सप्तमी से यत् शब्द से अथवा यदि शब्द से होता है। यहां उक्त वाक्य में इनमें से कोई भी नहीं है। दधिग्रह का निमित्त तो ज्योतिष्टोम से उत्पन्न अपूर्व ही है। इसलिये जब अग्निष्टोम होगा तब तदुत्पन्न अपूर्व दधिग्रह का निमित्त विद्यमान है [अर्थात् अग्निष्टोम से सम्पद्यमान फलसाधक अपूर्व विना दधिग्रह के उत्पन्न नहीं होता]। अतः दधिग्रह की सोमाङ्गता होने से उस का नित्य ग्रहण अभीष्ट है ॥११॥

—:०:—

व्याख्या—अग्नि [चयन कर्म] है—य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते (=जो इस प्रकार से विद्वान् अग्नि का चयन करता है)। उस प्रसंग में सुना जाता है—यो वै संवत्सरमुख्यमभृत्वाऽग्निं चिनुते यथा सामिगर्भो विपद्यते तादृगेवार्तिमार्च्छेत् (=जो एक वर्ष

---

१. द्र०—तै० सं० ५।५।२॥

द्वादशकपालं पुरस्तान्निर्वपेत् । संवत्सरो वाऽग्निर्वैश्वानरो यथा संवत्सरमाप्त्वा काल आगते हि जायते । एवमेव संवत्सरमाप्त्वा काल आगतेऽग्निं चिनुते । नाऽऽर्तिमार्च्छेदिति । एषा वाऽग्नेः प्रिया तनूर्यद्वैश्वानरः । प्रियामेवास्य तनूमवरुन्धे[1] इति । तत्र संदेहः किं नित्यो वैश्वानरोऽथ नैमित्तिक इति ? किं प्राप्तम् ?

पर्यन्त उखा में संस्थापित अग्नि को धारण न करके अग्नि का चयन करता है वह जैसे अधूरा गर्भ गिर जाता है उसी प्रकार कष्ट को प्राप्त करता है अर्थात् मर जाता है), वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरस्तान्निर्वपेत् (=वैश्वानर द्वादशकपाल पुरोडाश का पहले निर्वाप करे), संवत्सरोवाऽग्निर्वैश्वानरो यथा संवत्सरमाप्त्वा काल आगते हि जायते । एवमेव संवत्सरमाप्त्वा काल आगतेऽग्निं चिनुते नार्तिमार्च्छेदिति (=संवत्सर ही वैश्वानर अग्नि है। जैसे संवत्सर को प्राप्त होकर समय आने पर गर्भ उत्पन्न होता है इसी प्रकार संवत्सर को प्राप्त करके समय आने पर अग्नि का चयन करता है वह कष्ट को प्राप्त नहीं होता है), एषा वाऽग्नेः प्रिया तनूर्यद् वैश्वानरः । प्रियामेवास्य तनूमवरुन्धे (=यह निश्चय ही अग्नि का प्रिय शरीर है जो वैश्वानर है। इस की प्रिय तनू=स्वरूप का ही अवरोधन करता है) । इस में सन्देह है—क्या वैश्वानर याग नित्य है अथवा नैमित्तिक है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—उख्यमभृत्वा—उखा नाम का पात्र मिट्टी में कई पदार्थ मिला कर बनाया जाता है (विधि श्रौतसूत्रों में देखें) । इस में अग्नि को रखकर एक वर्ष पर्यन्त धारण करना होता है। (उखा को ६ या १२ रस्सियों का छींका बना कर उस में रख कर हृदय तक लटका कर रखते हैं। जैसे कश्मीरी शीत काल में कण्डी में आग रख कर गले में लटकाते हैं)। संवत्सर पर्यन्त धारण करने के पश्चात् चयन कर्म होता है। जो व्यक्ति संवत्सर पर्यंत धारण नहीं कर सकते वे तीन वा छः वा दस दिन तक धारण कर के वैश्वानर द्वादशकपाल पुरोडाश याग करके चयन करते हैं **अग्निर्वैश्वानरो यथा—**वैश्वानर अग्नि आदित्यरूप है। उस का परिभ्रमण १ वर्ष में पूर्ण होता है। इस लिये कहा है—**संवत्सरमाप्त्वा काल आगते।** द्वादशकपाल वैश्वानर याग संवत्सररूप है। अत एव इस में १२ मास स्थानीय द्वादशकपाल हैं। इस प्रकार इस याग से संवत्सर काल की पूर्णता की उपपत्ति मान ली गई है। द्र० तै० सं० ५।५।१ सायणभाष्य।

यास्क ने वैश्वानर अग्नि को याज्ञिकों के मत में द्युस्थानीय आदित्य स्वीकार करके स्वमत में उसे पृथिवीस्थानीय माना है। कुछ आचार्य वैश्वानर को मध्यमस्थानीय विद्युत् मानते हैं। द्रष्टव्य निरुक्त ।।७।२२।।

---

१. द्र०—तै० सं० ५।५।१।६,७।। अत्र तैत्तिरीयसंहितायां 'विपद्यते' इत्यस्यस्थाने 'अवपद्यते', 'हि जायते' इत्यस्यस्थाने 'विजायते', 'आर्च्छेदिति' इत्यस्यस्थाने' आर्च्छति' पाठो दृश्यते ।

वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यैः समानसंख्यत्वात् ॥१२॥ (पू०)

अत्रापि नित्य एव, अर्थवाद उख्यस्य संवत्सराभरणेन कृतो दोषो वैश्वानरेण विहन्यत इति। नित्यैश्चास्य समानसंख्यत्वं भवति। **त्रीण्येतानि हवींषि भवन्ति त्रय इमे लोका एषां लोकानामारोहाय**[3] इति, लोकानां हविषां सामान्यं नास्ति। यदि यथा लोका नित्यास्त्रय एवमिमानि हवींषि नित्यानि त्रीणि। एवं लोकैः संस्तवो घटते। तस्मान्नित्यो वैश्वानर इति ॥१२॥

पक्षे वोत्पन्नसंयोगात् ॥१३॥ (उ०)

वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यैः समानसंख्यत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(वैश्वानरः) वैश्वानर [द्वादशकपाल] याग (च) भी (नित्यः) नित्य (स्यात्) होवे। (नित्यैः) नित्यों के साथ (समानसंख्यत्वात्) समान संख्या वाला होने से। ['समानसंख्यत्वात्' का अभिप्राय आगे भाष्य के विवरण में देखें]।

व्याख्या—यहां भी नित्य पक्ष ही है। अर्थवाद है—उख्य अग्नि के संवत्सर पर्यन्त धारण न करने से उत्पन्न दोष वैश्वानर याग से नष्ट होता है। [इस प्रकार] नित्यों के साथ इस का समान संख्यत्व उपपन्न होता है—त्रीण्येतानि हवींषि भवन्ति त्रय इमे लोका एषां लोकानामारोहाय इति (=ये तीन हवियां होती है तीन ही ये लोक हैं, लाकों के आरोहण=प्राप्ति के लिये) लोकों की और हवियों की समानता नहीं है। यदि यथा तीन लोक नित्य हैं तो ये तीन हवियां भी नित्य हैं। इस प्रकार लोकों के साथ इनकी स्तुति उपपन्न होती है। इसलिये वैश्वानर याग नित्य है।

विवरण—त्रीण्येतानि हवींषि—वैश्वानर देवताक द्वादशकपाल पुरोडाश अग्नि-विष्णु देवताक एकादशकपाल पुरोडाश और अदिति देवताक धृतपक्व चरु। **यथालोका नित्याः**—यहां तीन लोक नित्य हैं उन से समसंख्या वाले याग भी नित्य हैं। लोकों की नित्यता सापेक्ष रूप से कही है क्यों कि ये करोड़ों वर्षों तक बने रहते हैं। आधुनिक निरीश्वर मीमांसक सृष्टि को अनादि मानते हैं। अर्थात् उनके मत में सृष्टि की उत्पत्ति न होने से ये नित्य हैं ॥१२॥

पक्षे वा उत्पन्नसंयोगात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है—वैश्वानर याग नित्य नहीं है। (पक्षे) उख्याग्नि के संवत्सर पर्यन्त धारण के अभाव में वैश्वानर याग कहा है। (उत्पन्न-संयोगात्) संवत्सर पर्यन्त धारण न करने रूप उत्पन्न दोष के साथ संयोग के होने से।

---

३. तै० सं० ५।५।१।७॥

उत्पन्नस्य निमित्त उख्याभरणे निर्घातिन संयोगः। नासंयुक्तस्योत्पन्नस्य दोषनिर्घातप्रयोजनता। तस्मादिह न दधिग्रहवद्विरोधोऽस्ति। तेन नार्थवादः, नैमित्तिक इति। अथ यदुक्तम्—लोकैः समानसंख्यत्वं नित्यत्व उपपद्यते, नान्यथेति। तत्र ब्रूमः। त्रित्वाल्लोकानां हविषां च सामान्यादर्थवादो भविष्यतीति ॥१३॥ **वैश्वानरेष्टेर्नैमित्तिकत्वाधिकरणम् ॥६॥**

—:०:—

[षष्ठचाश्चितेर्नैमित्तिकत्वाधिकरणम् ॥ ७ ॥]

अस्त्यग्निः—**य एवं विद्वानग्निं चिनुते**[1] इति। तत्र श्रूयते—**संवत्सरो वा एनं प्रतिष्ठायै नुदति योऽग्निं चित्वा न प्रतितिष्ठति। पञ्च पूर्वाश्चितयो भवन्ति। अथ षष्ठीं चितिं चिनुते**[2] इति। तत्र संदेहः—किं योऽयं नित्य एवाग्निः स एवायं षट्चितिक उच्यते, उतैकचितिको नैमित्तिक इति? किं प्राप्तम्?

व्याख्या—[उख्य अग्नि के धारण न करने रूप] निमित्त के उत्पन्न होने पर उत्पन्न [वैश्वानर याग का] दोष के दूर करने के साथ संयोग है। असंयुक्त उत्पन्न [अर्थात् नित्य रूप से उत्पन्न वैश्वानर याग का] दोष दूर करना प्रयोजन नहीं बनता। इस कारण यहां दधिग्रह के समान विरोध नहीं है। इस से अर्थवाद नहीं है [वैश्वानर याग] नैमित्तिक है। [अर्थात् उख्याग्नि के धारणाभाव निमित्त होने पर विहित है]। और जो यह कहा—लोकों के साथ समान संख्यत्व नित्यत्व पक्ष में उपपन्न होता है अन्यथा उपपन्न नहीं होता है। इसमें कहते हैं—लोकों के तीन होने और हवियों के तीन होने रूप सामान्य से [यह वचन] अर्थवाद होगा ॥१३॥

—:०:—

व्याख्या—अग्नि चयन कहा है—य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते (=जो विद्वान् इस प्रकार अग्नि का चयन करता है)। वहां सुना जाता है—संवत्सरो वा एनं प्रतिष्ठायै नुदति योऽग्निंचित्वा न प्रतितिष्ठति। पञ्च पूर्वाश्चितयो भवन्ति, अथ षष्ठीं चितिं चिनुते (=संवत्सर निश्चय ही इस यजमान को प्रतिष्ठित होने के लिये प्रेरित करता है जो अग्नि का चयन करके प्रतिष्ठित नहीं होता है। पांच पहली चितियां होती है पश्चात् छठी चिति का चयन करता है)। इस में सन्देह है—क्या जो नित्य ही अग्निचयन है वही छः चितियों वाला कहा जाता है अथवा एक चिति वाला नैमित्तिक है? क्या प्राप्त होता है?

---

१. द्र०—तै० सं० ५।५।२॥

२. द्र०—तै० सं० ५।४।२॥ तै० संहितायाम् 'एनं' पदस्य स्थाने 'एतं', 'नुदति' इत्यस्य स्थाने 'नुदते' पाठः।

षट्चितिः पूर्ववत्त्वात् ॥१४॥ (पू०)

तस्मिन्नेव नित्येऽग्नौ षष्ठी चितिरेषा विधीयते। नित्यायामेव षष्ठ्यामेषोऽर्थवादः। योऽपि न प्रतिष्ठार्हः, सोऽप्यनया षष्ठ्या चित्या प्रतिष्ठातुमर्हतीति चितिप्रशंसा। किमर्थमेवं वर्ण्यते ? षष्ठीशब्दश्रवणात्। षण्णां हि पूरणी षष्ठी। एकस्यां हि

विवरण—य एव विद्वान्—यहां 'अग्नि' शब्द से अग्न्याधारभूत इष्टिकाओं से निमित स्थण्डिल अभिप्रेत है। इसलिये चिनुते='चयन करता है' क्रिया प्रयुक्त है। अग्निचयन कर्म में सुपर्ण (श्येन) पक्षी के आकार का आहवनीय अग्नि का स्थण्डिल (चबूतरा) बनाया जाता है। सहस्र ईंटों के पांच चयन होते हैं (ये ईंटें भिन्न-भिन्न आकार वाली होती हैं)। दो-दो सौ ईंटों से एक-एक बार चयन होता है। इन चयनों में प्रथम तृतीय और पञ्चम का चयन एक जैसा होता है और द्वितीय और चतुर्थ का उस से भिन्न प्रकार का (जैसे मकान बनाते समय प्रथम बार चिनी गई ईंटों से द्वितीय बार की ईंटों का चयन भिन्न प्रकार का होता है, तृतीयबार का प्रथम के समान और चतुर्थ का द्वितीय बार के समान। ऐसा ही यहां जानना चाहिये)। इस प्रकार चयन से ईंटों की पकड़ सुदृढ़ होती है। ईंटों का आकार प्रकार और चयन की विधि श्रौत सूत्रों से जाननी चाहिये अथवा प्रत्यक्ष कर्म देख कर। इस प्रकार द्वितीय बार में दो सहस्र इष्टिकाओं का और तृतीया बार में तीन सहस्र इष्टिकाओं का चयन होता है।

संवत्सरो वा एनम्—इसका सायणाचार्य ने इस प्रकार व्याख्यान किया है—'जो यजमान पूर्वोक्त प्रकार से पांच चितियों वाले अग्नि का चयन करके अगले याग के अनुष्ठान के लिये द्रव्यादि सम्पत्तिरूप प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता है, उस यजमान को संवत्सराभिमानी देव प्रतिष्ठा से दूर हटाता है। ऐसा होने पर जो पूर्व पांच चितियां हैं उन से प्रतिष्ठा की प्राप्ति न होने पर उसकी अपेक्षा से जो यह छठी चिति है, उस का चयन करे'। द्र०—तै० सं० ४।४।११ के अन्तर्गत।

षट्चितिः पूर्ववत्त्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(षड्चितिः) छः चितियों वाला अग्निचयन कर्म (पूर्ववत्त्वात्) पूर्ववत् न होने से अर्थात् षष्ठी शब्द में श्रूयमाण पूरण प्रत्यय पूर्व पांच संख्या की अपेक्षा रखती है। अतः छटी चिति नित्य है।

विशेष—सुबोधिनी और कुतुहलवृत्ति में षट् चितिः पूर्ववत् स्यात् सूत्र पाठ है। इस का अर्थ होगा—षष्ठी चिति पूर्ववत्=जैसे पाँच चितियां कहीं है उसी प्रकार नित्य होवे।

व्याख्या—उसी ही नित्य अग्नि में इस छठी चिति का विधान किया जाता है। षष्ठी चिति के नित्य होने पर ही यह अर्थवाद होता है—'जो भी [पाँच चितियों से] प्रतिष्ठायोग्य नहीं होता वह इस षष्ठी चिति से प्रतिष्ठित होने योग्य होता है' यह [षष्ठी] चिति की प्रशंसा है। ऐसा वर्णन क्यों करते हो ? षष्ठी शब्द के श्रवण से। छः संख्या को पूरण करने

चितौ षष्ठीशब्दो न सामञ्जस्येन स्यात । तस्मात षट्चितिकोऽग्निर्नित्य इति ॥१४॥

ताभिश्च तुल्यसंख्यानात् ॥१५॥ (पू०)

ताभिश्च—पूर्वाभिरस्यास्तुल्यवत्प्रसंख्यानं भवति । कथम् ? इयं वाव प्रथमा चितिः, ओषधयः पुरीषम् । अन्तरीक्षं वाव द्वितीया चितिः. वयांसि पुरीषम् । असौ वाव तृतीया चितिः, नक्षत्राणि पुरीषम् । यज्ञो वाव चतुर्थी चितिः, दक्षिणा पुरीषम् । यजमानो वाव पञ्चमी चितिः, प्रजाः पुरीषम् । सवत्सरो वाव षष्ठी चितिः, ऋतवः पुरीषम्[1] इति । तुल्यानां च तुल्यवदनुक्रमणं भवति । यथा—देवा ऋषयो गन्धर्वास्तेऽन्यत आसन् । असुरा रक्षांसि पिशाचाः, तेऽन्यत आसन्[2] इति । तुल्यवच्चामूषां चितीनामनुक्रमणमनया षष्ठ्या । तस्मादेतया तत्तुल्यया भवितव्यम् । यदि च यस्मि-

---

वाली षष्ठी होती है । [यदि यह स्वतन्त्र होवे तो] एक ही चिति में षष्ठी शब्द सरलता से उपपन्न न होवे । इसलिये छः चितियां वाला अग्नि नित्य है ॥१४॥

ताभिश्च तुल्यसंख्यानात ॥१५॥

सूत्रार्थ—(च) और (ताभिः) उन छः चितियों के साथ (तुल्यसंख्यानात्) समान गणना होने से भी छः चितियों वाला अग्नि नित्य है । [परिगणन की तुलना भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—उनके साथ—पूर्व चितियों के साथ इस [छठी चिति] की तुल्यता की गणना होती है । कैसे ? इयं वाव प्रथमा चितिः, ओषधयः पुरीषम् (=यह पृथिवी ही पहली चिति है ओषधियां ही पुरीष [प्रथम चिति के ऊपर डाली गई] मिट्टी है), अन्तरिक्षं वाव द्वितीया चितिः, वयांसि पुरीषम् (=अन्तरिक्ष ही दूसरी चिति है, पक्षी पुरीष हैं), असौ वाव तृतोया चितिः, नक्षत्राणि पुरीषम् (=यह सूर्य ही तीसरी चिति है, नक्षत्र पुरीष हैं), यज्ञो वाव चतुर्थी चितिः दक्षिणा पुरीषम् (=यज्ञ ही चौथी चिति है, दक्षिणा पुरीष है), यजमानो वाव पञ्चमी चितिः, प्रजाः पुरीषम् (=यजमान ही पांचवीं चिति है, प्रजा पुरीष है), संवत्सरो वाव षष्ठी चितिः, ऋतवः पुरीषम् (=संवत्सर ही छठी चिति है, ऋतुएं पुरीष हैं) । तुल्य पदार्थों का तुल्य के साथ अनुक्रमण (कथन) होता है । यथा—देवा ऋषयो गन्धर्वास्ते अन्यत आसन्, असुरा रक्षांसि पिशाचाः ते अन्यत आसन् (=देव ऋषि गन्धर्व एक ओर थे तथा असुर राक्षस पिशाच ये दूसरी ओर थे) । समानरूप से इन चितियों का कथन है इस छठी चिति के साथ । इस कारण इस (षष्ठी चिति) को भी उन (पांच चितियों) के तुल्य होना चाहिये । यदि जिस ऋतु में वे (पांच

---

१. द्र०—तै० सं० ५।६।१०॥ इत्यत्र किञ्चिद् भेदेन पाठः ।
२. द्र०—उत्तरभागः—तै० सं० २।४।१॥

न्नेव क्रतौ तास्तस्मिन्नेवैषा, तत एताभिस्तुल्या । तस्मादपि स एव नित्योऽग्निः षट्-चितिक इति ॥१५॥

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१६॥ (पू०)

अर्थवादश्च भवति—षट्चितयो भवन्ति, षट् पुरीषाणि, तानि द्वादश संपद्यन्ते, द्वादश मासाः संवत्सरः, संवत्सर एव प्रतितिष्ठति[1] इति । तदेकचितिकेऽग्नौ न सामञ्जस्येन वचनं भवति । तस्मान्नित्य एव षट्चितिकः ॥१६॥

एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन ॥१७॥ (उ०)

एकचितिर्वा नैमित्तिकः स्यात् । कुतः ? अपवृक्ते हि यागे चोद्यते, अप्रतिष्ठया निमित्तेन । यो न प्रतितिष्ठति तस्यैषा चितिरुच्यते नैमित्तिकी । सा न नित्या भवितु-

---

चितियां) हैं उसी में यह (छठी चिति) होवे तब उनके साथ तुल्यता [सम्भव है] इसलिये भी वही नित्य अग्नि छः चितियों वाला है ॥१५॥

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१६॥

सूत्रार्थ—(अर्थवादोपपत्तेः) अर्थवाद के उपपन्न होने से (च) भी छः चितियों वाला अग्नि नित्य है ।

व्याख्या—अर्थवाद होता है—षट् चितयो भवन्ति, षट् पुरीषाणि, तानि द्वादश सम्पद्यन्ते (=छः चितियां होती हैं [उनपर] छः पुरीष (=डाली गई मिट्टी), वे बारह हो जाते हैं), द्वादश मासाः संवत्सरः, संवत्सर एव प्रतितिष्ठति (=बारह मास का संवत्सर होता है अतः संवत्सर में ही प्रतिष्ठित हो जाता है) । यह (अर्थवाद) वचन एक चिति वाले अग्नि में सरलता से उपपन्न नहीं होता है । इसलिये छः चितियों वाला अग्नि नित्य ही है ॥१६॥

एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन ॥१७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् छः चितियों वाला याग नहीं है । (एकचितिः) एक चिति वाला अग्नि चयन (स्यात्) होवे । (अपवृक्ते) [पांच चितियों वाले अग्निचयन की] समाप्ति पर (हि) ही (निमित्तेन) अप्रतिष्ठा रूप निमित्त से (चोद्यते) कही है ।

व्याख्या—एकचिति वाला नैमित्तिक होवे । किस हेतु से ? याग के पूर्ण होने पर ही कहा जाता है अप्रतिष्ठा रूप निमित्त से । जो प्रतिष्ठित नहीं है उसकी यह नैमित्तिकी [छठी] चिति कही है । वह [निमित्त से होने वाली] नित्य नहीं हो सकती । और भी, वह [छठी

---

1. द्र०—तै० सं० ५।६।१०॥ इत्यत्र स्वल्पभेदेन पाठः ।

मर्हति । अपि चापवृक्ते यागे चोद्यते सा, न वर्तमाने भवितुमर्हति । ननु चित्वेति चयने निवृत्ते, न यागे । उच्यते । नैतत्पदार्थे निर्वृत्ते चित्वेति । किं तर्हि ? वाक्यार्थे । अग्निं चित्वेति अग्नेश्चयनेनार्थमभिनिर्वर्त्येति । कृते च यागे चयनेनाग्नेरर्थो निर्वर्तितो भवति, नान्यथा । षष्ठीशब्दश्च, पञ्च पूर्वाश्चितय उक्तास्ता अपेक्ष्यावकल्पिष्यते । तस्मान्निर्वृत्ते याग इत्युच्यते । तस्माद् वचनादेकचितिरग्निः ॥१७॥

विप्रतिषेधात् ताभिः समानसंख्यत्वम् ॥१८॥ (उ०)

द्वयोः सूत्रयोरिदमुत्तरम्, ताभिश्च तुल्यसंख्यानात्, अर्थवादोपपत्तेश्चेति । ताभिर्नित्याभिः समानसंख्यत्वं भविष्यति, अर्थवादश्चोपपत्स्यते । पञ्च पूर्वाश्चितयो भवन्ति,

---

चिति] याग के पूर्ण होने पर कही है । (आक्षेप) ['योऽग्निं चित्वा' में] 'चित्वा' का अर्थ होगा [पांच चितियों का] चयन पूर्ण हो जाने पर, याग के पूर्ण होने पर [यह अर्थ] नहीं है । (समाधान) 'चित्वा' पद के अर्थ की पूर्णता यह नहीं है । तो क्या है ? वाक्यार्थ की पूर्णता । अग्नि चित्वा चयन से अग्नि के प्रयोजन को पूर्ण करके । याग के कर लेने पर ही चयन से अग्नि का प्रयोजन पूर्ण होता है । अन्यथा [इष्टिकाओं के चयन मात्र से अग्नि का प्रयोजन पूर्ण] नहीं होता है । षष्ठी शब्द भी, पहले पांच चितियाँ कहीं है उनकी अपेक्षा से उपपन्न हो जायेगा । इसलिये [अग्नि चयन] याग के पूर्ण होने पर [छठी चिति] कही है । इस वचन से एक चिति वाला यह अग्निचयन है ।

विवरण—अग्निं चित्वा का अर्थ 'चयन से अग्नि के प्रयोजन को सिद्ध करके' करने में कुतुहल वृत्तिकार ने 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत' वाक्यान्तर उपस्थित किया है । इसमें 'अग्निं चित्वा' का अर्थ अग्नि चयन याग को पूर्ण कर के सौत्रामणी से यजन करे, यही अभिप्रेत है । अग्निचयन के अनन्तर सौत्रामणि की कर्त्तव्यता पांचवें अध्याय में कहेंगे । १७॥

विप्रतिषेधात् ताभिः समानसंख्यत्वम् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(विप्रतिषेधात्) [योऽग्निं चित्वा वाक्य में निमित्त बोधक यत् शब्द के साथ] विरोध होने से छठी चिति की अनित्यता ही जाननी चाहिये । (ताभिः) पूर्व निर्दिष्ट पांच चितियों के साथ नैमित्तिक छटी चिति की गणना से (समानसंख्यत्वम्) चितियों और पुरीषों का समान संख्यात्व उपपन्न हो जायेगा । और उसी से अर्थवाद भी उपपन्न हो जायेगा ।

विशेष—यह सूत्रार्थ कुतुहलवृत्ति के अनुसार है । भाष्यकार अभिप्रेत सूत्रार्थ भाष्य व्याख्या में देखें । उस के कुछ क्लिष्टकल्पना-युक्त होने से तदनुसार हम ने सूत्रार्थ नहीं किया है ।

व्याख्या—यह 'ताभिश्च तुल्यसंख्यानात् अर्थवादोपपत्तेश्च इन दोनों सूत्रों का उत्तर है । उन नित्य (पाँच चितियों) के साथ समान संख्यात्व हो जायेगा और अर्थवाद भी उपपन्न हो जायेगा । पांच पूर्व चितियां होती हैं, उन चितियों से यह [यजमान] प्रतिष्ठित

याभिरसौ चितिभिर्न प्रतितिष्ठति, अथेयं षष्ठो प्रतिष्ठार्थमिति । ताश्च सपुरीषा अपक्ष्ये द्वादशत्वेन संस्तवो भविष्यति । विप्रतिषेधादेकस्य षट्संख्याया द्वादशसंख्यायाश्चेति । अतुल्यानामपि तुल्यवदनुक्रमणं भवति । यथा—देवा मनुष्याः पितरस्तेऽन्यत आसन् इति ।।१८।। षष्ठ्याश्चितेर्नैमित्तिकत्वाधिकरणम् ।।७।।

—:o:—

(पिण्डीपितृयज्ञस्य दर्शेष्ठ्यनङ्गत्वाधिकरणम् ।।८।।)

अस्ति आमावास्ये कर्मणि पितृयज्ञः—'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' इति । तत्र संशय—किमामावास्यास्य कर्मणः पिण्डपितृयज्ञोऽङ्गमुतानङ्गमिति ? किं प्राप्तम् ? अङ्गम्, फलवत्संनिधानान्निष्क्रयवचनाच्च ।

नहीं होता है तो अनन्तर यह षष्ठी चिति प्रतिष्ठार्थ है । उन [छः] चितियों की पुरीष के साथ अपेक्षा करके द्वादश रूप से स्तुति हो जायेगी । छः संख्या वाले और द्वादश संख्या वाले एक के विप्रतिषेध (=परस्पर विरुद्ध) होने से । अतुल्यों (=असमानों) का भी तुल्यवत् अनुक्रमण (=निर्देश) होता है । जैसे—देवा मनुष्याः पितरस्ते अन्यत आसन् (देव मनुष्य और पितर ये दूसरी ओर थे) । [यहां देवों मनुष्यों और पितरों के असमान होने पर भी इकट्ठा निर्देश किया है] ।।१८।।

—:o:—

व्याख्या—अमावास्या में होने वाले कर्म में पितृयज्ञ है—अमावस्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति (=अमावस्या में अपराह्ण काल में पिण्डपितृयज्ञ से विचरते हैं) । इस में सन्देह है—क्या अमावास्या में होने वाले कर्म का पिण्डपितृयज्ञ अङ्ग है अथवा अङ्ग नहीं है ? क्या प्राप्त होता है ? अङ्ग है फल वाले कर्म [दर्श] की समीपता और निष्क्रीय (=खरीदना) वचन से ।

विवरण—फलवत् सन्निधानात्—स्वर्ग फल वाले अमावास्येष्टि क्रम के सन्निधि में होने से । चतुर्दशी के दिन यजमान दर्शेष्टि का संकल्प करता है—दर्शेष्टयाऽहं यक्ष्ये । याग प्रतिपदा को होता है । इस प्रकार पिण्डपितृयज्ञ दर्शेष्टि के मध्य में आ जाता है ।

निष्क्रय वचनात्—तैत्तिरीय ब्रा० १।३।१० में एक आख्यायिका है—'इन्द्र वृत्र को मार कर अमावास्या याग के दिन (अमावास्या के अगले दिन शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन) स्वगृह को आया (उसी दिन अमावास्येष्टि होती है)। उस से पूर्व दिन अमावास्या में पितर लोग आये उन के साथ यज्ञ भी आया । यज्ञ को पितरों के साथ बैठा देख कर देवों ने अपने लिये यज्ञ को

---

१. अनुपलब्धमूलम् । अमावास्यायमपराह्णेऽधिवृक्षसूर्ये वा पिण्डपितृयज्ञ प्रायेण सर्वेष्वेव याजुषसूत्रेषु विधीयते ।

आह । ननु फलवत्संनिधावफलं तदङ्गं भवति । फलवच्चेदं कल्प्येत स्वर्गेणेति । उच्यते । सत्यम्, अमावास्ययैकवाक्यत्वान्न शक्यः स्वर्गः कल्पयितुमिति । आह । कालवचनत्वान्न कर्मणैकवाक्यत्वं संभवतीति । उच्यते । लक्षणयाऽपि तावत् कर्मैकवाक्यता संभवति । स्वर्गे कल्प्ये न लक्षणा, न श्रुतिः । एवं चाऽऽमनन्ति—'यत्पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति, पितृभ्य एतद्यज्ञं निष्क्रीय यजमानो देवेभ्यः प्रतनुते' इति । अमावास्यां प्रति निष्क्रेतुं प्रतनितुं च श्रूयते । तस्मात् तदङ्गभूतमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

पितृयज्ञः स्वकालत्वाद् अनङ्गं स्यात् ॥१९॥ [उ०]

मांगा (यज्ञ पहले हमारा था अब आप के समीप आ गया है) इसे हमें देओ । पितरों ने घूस मांगी—पहले (अमावास्या के) दिन हमारे लिये कर्म करो पश्चात् प्रतिपदा के दिन दर्शपूर्णमास याग करो तो हम यज्ञ को देंगे । देवों ने स्वीकार किया इस लिये पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति । पितृभ्य एव तद् यज्ञं निष्क्रीय यजमानो देवेभ्यः प्रतनुते अर्थात् पितरों के लिये पूर्व दिन (अमावास्या) को कर्म करता है । उस के द्वारा पितरों से ही उस यज्ञ को खरीद कर यजमान अगले दिन देवों के लिये याग करता है ।

व्याख्या—(आक्षेप) फलवान् कर्म के समीप जो कर्म निष्फल होता है वह फलवान् कर्म का अङ्ग होता है । यह (पितृयज्ञ) स्वर्ग रूप फल से फलवान् है । (समाधान) सत्य है, अमावास्या [कर्म] के साथ एक वाक्य होने से स्वर्ग की कल्पना नहीं हो सकती है । (आक्षेप) [अमावास्या शब्द के] काल वाचक होने से एक-वाक्यत्व सम्भव नहीं है । (समाधान) लक्षण से [अमावास्या काल वाची शब्द उस काल में होने वाले] कर्म के साथ एक वाक्यता हो सकती है । स्वर्ग फल की कल्पना में न लक्षणा है न श्रुति । इस प्रकार पढ़ते हैं—यत्पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति पितृभ्य एतद यज्ञं निष्क्रीय यजमानो देवेभ्यः प्रतनुते (=जो पितरों के लिये पहले दिन कर्म करता है [उस से] पितरों से यज्ञ को खरीद कर यजमान देवों के लिये याग करता है) । और अमावस्या को प्रति निष्क्रय तथा प्रतान सुना जाता है । इसलिये पितृयज्ञ अङ्गभूत है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

पितृयज्ञः स्वकालत्वाद् अनङ्गं स्यात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(पितृयज्ञः) पितृयज्ञ (स्वकालत्वात्) अपने काल वाला होने से (अनङ्गम्) अमावास्या कर्म का अङ्ग नहीं (स्यात्) होवे । अर्थात् अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति वचन से पिण्डपितृयज्ञ का अमावास्या के दिन स्वतन्त्र विधान है । इस वाक्य में अमावास्या शब्द काल का वाचक है न कि लक्षणा से अमावास्या संबद्ध कर्म का । कर्म का वाचक होने पर अङ्ग हो सकता है ।

---

१. तै० ब्रा० १।३।१०॥

पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्। अनङ्गभूतः पिण्डपितृयज्ञः। कस्मात्? स्वकालत्वात्। स्वशब्दाभिहितेन कालेनास्य संबन्धो, न कर्मणा लक्षितेनेति। यथा—दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत[1] इति। यथा—पुरस्तादुपसदां सौम्येन चरन्ति[2] इति। अत्र काल एवायं मुख्यः शब्दो न कर्मणि। कर्मणि लक्षणा। श्रुतिश्च लक्षणाया बलीयसी। यच्चोक्तं लक्षणया कर्मैकवाक्यता भविष्यतीति। तच्च न। कस्मात्? अनुवादे हि लक्षणा न्याय्या, न विधौ। विधिश्चायम्। तस्मान्नामावास्याकर्मणा संबन्धः। एकस्मिन्काले द्वे कर्मणी परस्परेणासंबद्ध इति॥१९॥

तुल्यवच्च प्रसंख्यानाद् ॥२०॥

तुल्यवच्चान्यैः प्रधानैः प्रसंख्यायते। चत्वारो वै महायज्ञाः—अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, ज्योतिष्टोमः, पिण्डपितृयज्ञः[3] इति। महायज्ञैस्तुल्यवत्प्रसंख्यायते। काऽस्य महायज्ञता स्यादन्यतः फलवत्तायाः? तस्मादनङ्गम् ॥२०॥

व्याख्या—पितृयज्ञ स्व-काल वाला होने से अनङ्ग होवे। पिण्डपितृयज्ञ [दर्शेष्टि का] अङ्गभूत नहीं है। किस हेतु से? स्व-काल वाला होने से। स्व शब्द [अमावास्या] से कथित काल के साथ इस का संबन्ध है, [अमावास्या से] लक्षित कर्म के साथ संबन्ध नहीं है। जैसे दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्टवा सोमेन यजेत (=दर्शपूर्णमास से यजन कर के सोम से यजन करे) [में दर्शपूर्णमास काल से लक्षित कर्म का निर्देश है]। यथा—पुरस्तादुपसदां सौम्येन चरन्ति (=उपसदों से पहले सौम्ययाग से यजन करता है) यहां (='अमावास्यामपराह्णे' वचन में काल में ही मुख्य [अमावास्या] शब्द है, कर्म में नहीं। कर्म में [मानने पर] लक्षणा होवे। श्रुति लक्षणा से बलवती है। और जो यह कहा—लक्षणा से कर्म के साथ एक वाक्यता होगी, वह नहीं होगी। किस हेतु से? लक्षणा अनुवाद में ही न्याय्य होती है विधि में [लक्षणा नहीं होती]। यह विधि है। इस लिये अमावास्या कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं। एक ही समय में दो कर्म [पितृयज्ञ और दर्शेष्टि] परस्पर असम्बद्ध हैं॥१९॥

तुल्यवच्च प्रसंख्यानात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(तुल्यवत्) अन्य प्रधान यज्ञों के तुल्य पिण्डपितृयज्ञ के (प्रसंख्यानात्) गणना करने से (च) भी पिण्डपितृयज्ञ अमावास्येष्टि का अङ्ग नहीं है।

व्याख्या—अन्य प्रधान यागों के साथ समानरूप से गिना जाता है। चत्वारो वै महायज्ञाः—अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमः पिण्डपितृयज्ञश्च (=चार निश्चय ही महायज्ञ हैं—अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम और पिण्डपितृयज्ञ)। महायज्ञों के साथ तुल्यरूप से गिना जाता है। फलवान् होने से अन्य क्या महायज्ञता है? इसलिये [पिण्डपितृयज्ञ अमावास्येष्टि का] अङ्ग नहीं है॥२०॥

---

१. तै० सं० २।५।६॥

२. द्र०—तै० ब्रा० १।८।१ ('चरन्ति' स्थाने 'चरति')।　　३. अनुपलब्धमूलम्।

प्रतिषिद्धे च दर्शनात् ॥२१॥

इतश्चानङ्गम्। प्रतिषिद्धे ह्यामावास्ये पिण्डपितृयज्ञं दर्शयति—पौर्णमासीमेव यजेत भ्रातृव्यवान्, नामावास्याम्, हत्वा भ्रातृव्यममावास्यया यजेत, पिण्डपितृयज्ञेनैवामावास्यायां प्रीणाति[1] इति। असत्याममावास्यायां पिण्डपितृयज्ञं दर्शयति। तदनङ्गत्व उपपद्यते। तस्मादपि नाङ्गपिण्डपितृयज्ञ इति।

किं प्रयोजनं चिन्तायाः? यदि पौर्णमास्यामाधानं, ततोऽनन्तरायाममावास्यायां न क्रियते, यथा पूर्वपक्षः। यथा तर्हि सिद्धान्तस्तथा कर्तव्यः। इदमपरं प्रयोजनम्—कुण्डपायिनामयने—मासमग्निहोत्रं जुहोति[2], मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत[3] इति,

---

प्रतिषिद्धे च दर्शनात ॥२१॥

सूत्रार्थः—(च) और (प्रतिषिद्धे) अमावास्येष्टि के प्रतिषेध होने पर भी (दर्शनात्) पिण्डपितृयज्ञ के दर्शन=उपलब्धि से वह अमावास्यष्टि का अङ्ग नहीं है।

व्याख्या—इस से भी [पिण्डपितृयज्ञ अमावास्येष्टि का] अङ्ग नहीं है। अमावास्या में होने वाले कर्म के प्रतिषेध होने पर पिण्डपितृयज्ञ को दर्शाता है—पौर्णमासीमेव यजेत भ्रातृव्यवान्, नामावास्याम्, हत्वा भ्रातृव्यममावास्यया यजेत, पिण्डपितृयज्ञेनैवामावास्यायां प्रीणाति (=शत्रुवाला पौर्णमासी का यजन करे अमावास्या का नहीं करे, शत्रु को मारकर अमावास्या से यजन करे, पिण्डपितृयज्ञ से ही अमावास्या को तृप्त करता है)। [यह वचन] अमावास्या [में, होने वाले याग] के न होने पर पिण्डपितृयज्ञ को दर्शाता है। यह [दर्शन पिण्डपितृयज्ञ के आमावास्येष्टि के] अङ्ग न होने पर उपपन्न होता है। इसलिए भी पिण्डपितृयज्ञ [आमावास्येष्टि का] अङ्ग नहीं है।

इस चिन्ता (=विचार) का क्या प्रयोजन है? यदि पौर्णमासी में अग्न्याधान होवे तो अनन्तर आनेवाली अमावास्या में [पिण्डपितृयज्ञ] नहीं किया जाये, जैसा कि पूर्वपक्ष है। जैसा सिद्धान्त है उस प्रकार [अनन्तर अमावास्या में पिण्डपितृयज्ञ] करना चाहिये। दूसरा प्रयोजन यह है—कुण्डपायिनामयन [नाम के सत्र] मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत (=महिना भर अग्निहोत्र होम करता है, महिना भर दर्शपूर्णमास से यजन करता है) में जैसा पूर्वपक्ष है, तदनुसार [महिना भर दर्शेष्टि का अंग होने से उस के साथ] पिण्डपितृयज्ञ करना चाहिये। जैसा सिद्धान्त है उस प्रकार [दर्शेष्टि का अङ्ग न होने से पिण्डपितृयज्ञ] नहीं करना चाहिए। [इस विषय में श्लोक भी उद्धृत करते हैं—

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. द्र०—मासमग्निहोत्रं जुह्वति। कात्या० श्रौत २४।४।२४; आप० श्रौ० २३।१०।६ (अत्र 'जुहोति' पाठान्तरमपि)।

३. मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजन्ते। आप० श्रौत २३।१०।६॥

यथा पूर्वः पक्षस्तथा कर्तव्यः पिण्डपितृयज्ञः। यथा सिद्धान्तस्तथा न कर्तव्य इति। श्लोकमप्युदाहरन्ति—

आधानं पौर्णमास्यां चेद वृत्ते दर्शे करिष्यते।
अनङ्गं पितृयज्ञश्चेत् सत्रे च न करिष्यते[1]॥ इति ॥२१॥

पिण्डपितृयज्ञस्यानङ्गताधिकरणम् ॥८॥

—:०:—

[रशनाया यूपाङ्गताधिकरणम् ॥९॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाऽऽग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति[2] इति। तत्र संशयः--किं पश्वङ्गं रशना, उत् यूपाङ्गमिति ? किं प्राप्तम् ?

पश्वङ्गं रशना स्यात् तदागमे विधानात् ॥२२॥ (पू०)

आधान यदि पौर्णमासी में होवे तो दर्शेष्टि होने पर ही [पिण्डपितृयज्ञ] किया जायेगा और पिण्डपितृयज्ञ [दर्शेष्टि का] अङ्ग न होवे तो [कुण्डापायिनामयनरूप] सत्र में नहीं किया जायेगा।

विवरण—अनन्तरायाममावास्यायां न क्रियते—इस का भाव यह है कि अग्न्याधान का काल अमावास्या और पौर्णमासी कहा गया है। दर्शपौर्णमास्येष्टियों में पहले पूर्णमासेष्टि से क्रम आरम्भ होता है। तदनुसार अमावास्येष्टि में अग्न्याधान करने पर पौर्णमासी में पौर्णमासेष्टि होगी। परन्तु पौर्णमासी में आधान होने पर आगामिनी अमावास्या को दर्शेष्टि के न होने पर पिण्डपितृयज्ञ का दर्शेष्टि का अङ्ग होने से वह भी नहीं होगा और दर्शेष्टि का अङ्ग न होने पर दर्शेष्टि के अभाव में भी पिण्डपितृयज्ञ हो जायेगा ॥२१॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाऽऽग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति (=आश्विन ग्रह का ग्रहण करके तीन लड़ों वाली रस्सी से यूप को लपेट कर आग्नेय सवनीय पशु का उपाकरण=आलम्भन करता है)। इसमें संशय है—क्या रशना पशु का अङ्ग है अथवा यूप का अङ्ग है ? क्या प्राप्त होता है ?

पश्वङ्गं रशना स्यात् तदागमे विधानात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(रशना) 'त्रिवृता यूपं परिवीय' वचन से प्राप्त रशना (पश्वङ्गम्) पशु का अङ्ग (स्यात्) होवे। (तदागमे) आग्नेय सवनीय पशु की प्राप्ति में (विधानात्) विधान करने से।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. अनुपलब्धमूलम्। तुलनीयम्—शत० ४।२।४।१२; आप० श्रौत १२।१८।१२॥

पश्वङ्गम् । कुतः ? तदागमे विधानात् पश्वागमे हि विधीयते । पशुनाऽस्याः संबन्ध उत्पत्तिवाक्ये श्रूयते—परिव्याणं कृत्वोपाकरोति पशुं नान्यथा[1] इति । एवं श्रुतिर्भवति । कालवचने लक्षणा स्यात् । परिव्याणेन कालो लक्ष्येतेति ॥२२॥

यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात् ॥२३॥ (उ०)

ज्योतिष्टोमे प्रत्यक्षो हि यूपस्य संस्कारः । रशना हि या च यावतीं च द्रढिम्नो मात्रां यूपस्य संजनयति, द्रढिम्ना च प्रयोजनं यूपस्य । तस्माद्यूपस्यैव द्रढिम्ने रशना

व्याख्या—[रशना] पशु का अङ्ग है। किस हेतु से ? उस [पशु] के आगमन (=प्राप्ति) में विधान होने से। पशु के साथ इस [रशना] का सम्बन्ध उत्पत्ति वाक्य में सुना जाता है—परिव्याणं कृत्वोपाकरोति नान्यथा (=परिव्याण=रशना को यूप में लपेट कर पशु का उपाकरण करता है, अन्यथा नहीं)। ऐसा मानने पर श्रुति [समर्थ] होती है। काल के वचन में लक्षणा होवे—[यूप के] परिव्याण से [आग्नेय पशु के उपाकरण का] काल लक्षित होवे।

विवरण—इस भाष्य का भाव यह है कि पशु के आगम=सम्बन्ध से रशना का विधान है। यूप के साथ रशना का कोई दृष्ट कार्य नहीं है, पशु के साथ रशना का पशु के अपक्रमण (=भागने) से रोकने के लिये बांधना रूप दृष्ट कार्य है। अतः त्रिवृता यूपं परिवीय में 'यूपम्' द्वितीया सप्तम्यर्थ में है—यूप में त्रिवृत् रशना से पशु को बांधना प्रयोजन है। रशना से पशु को बांधना चोदक वचन से प्राप्त है। यहां प्रकृत वाक्य में केवल 'त्रिवृत्त्व' का विधान किया है। 'परिवीय' में रशना अर्थात: प्राप्त पशु के वेष्टन का अनुवाद किया है। अतः वाक्यार्थ होगा—यूप में रशना से जो पशु का बन्धन प्राप्त है उस में रशना त्रिवृत=त्रिगुणित=तीन लड़ीवाली होवे। यद्यपि चोदक वचन से पशु के अपक्रमण (भागने) से रोकने के लिये द्विगुणा रज्जु प्राप्त है, तथापि उसके साथ त्रिवृत् रशना का समुच्चय होवे। समुच्चय में दो रशना की व्यर्थता प्राप्त होती है, परन्तु जैसे रशना को यूपाङ्ग मानने पर भी द्विगुणा रशना के साथ त्रिवृत् रशना का समुच्चय होता है वैसे ही हमारे पक्ष में भी समुच्चय होगा। [यह आशय टुप् टीका और कुतुहलवृत्ति के अनुसार लिखा है] ॥२२॥

यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष 'रशना पशु का अङ्ग है' की निवृत्ति के लिये है। (यूपाङ्गम्) 'त्रिवृता यूपं परिवीय' में उक्त रशना यूप का अङ्ग है, (तत्संस्कारात्) यूप का संस्कारक होने से अर्थात् त्रिवृत् रशना के लपेटने से यूप संस्कृत होता है।

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में प्रत्यक्ष ही यूप का संस्कार है। जो रशना है वह जितनी है उतनी यूप की दृढ़ता की मात्रा का उत्पन्न करती है [अर्थात् रशना के लपेटने से यूप में दृढ़ता

---

१. अनुपलब्धमूलम् । अथवा कस्यचिद् वाक्यस्यार्थतोऽयमनुवादः स्यात् ।

स्यात्। द्वितीया च विभक्तिस्तत्प्राधान्य एव भवति। रशनायां च तृतीया। तृतीया च गुणत्वे तस्याः। तस्माद् यूपाङ्गम्। यत्तु–तदागमे विधानादित्युक्तम्, तत्परिहर्तव्यम्। उच्यते। तदागमे विधानं वाक्यात्, द्वितीया च विभक्तिः श्रुतिः प्रत्यक्षं च, वाक्यं बाधेयातामिति। यत्तु लक्षणेति। श्रुत्यसंभवे लक्षणाऽपि न्याय्यैव ॥२३॥

अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥२४॥ (उ०)

एवं च मन्त्रार्थवादोऽर्थवान् भविष्यति।

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥[1] इति।

उत्पन्न होती है, यही यूप का संस्कार है]। यूप की दृढ़ता से प्रयोजन है। इसलिये यूप की दृढ़ता के लिये ही रशना होवे। ['यूपम्' में] द्वितीया विभक्ति उसके प्राधान्य में ही होती है और रशना में तृतीया है। तृतीया विभक्ति उस [=रशना] की गौणता में है। इसलिये रशना यूप का अङ्ग है। (आक्षेप) और जो कहा—उस (=पशु) की प्राप्ति में [रशना] का विधान होने से [पश्वङ्ग रशना है] इसका परिहार करना चाहिये। (समाधान) पशु की प्राप्ति में रशना का विधान वाक्य से है [अर्थात् त्रिवृता यूपं परिवीयाऽऽग्नेयं पशुमुपाकरोति रूप जो वाक्य है उससे पशु की उपस्थिति होती है]। [यूपम् में] द्वितीया विभक्ति श्रुतिरूप है और प्रत्यक्ष है [वे] वाक्य [से प्राप्त पश्वङ्गता] को बाध लेंगी। और जो कहा कि [यूपाङ्गता में] लक्षणा (=पशु उपाकरण लक्षित काल में यूप का परिव्याण करे) होगी। श्रुत्यर्थ के असंभव होने पर लक्षणा भी न्याय्य है।

विवरण—तृतीया च गुणत्वे—शिष्येण सह गुरुरागतः आदि में तृतीया विभक्ति संबद्ध शिष्य में गौणता देखी जाती है।

अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(च) और (अर्थवादः) अर्थवाद वचन (तदर्थवत्) उस अर्थवाला होता है।

व्याख्या—और इस प्रकार मन्त्रार्थवाद भी अर्थवान् होवेगा।

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥

(=जैसे लोक में अच्छे वस्त्रों से युक्त युवा पुरुष सामने आता है। इसी प्रकार यह यूप रशना से वेष्टित हुआ कर्म में आया है। वही यूप इस कर्म में निष्पद्यमान हुआ प्रशस्य होता है। उस यूप को बुद्धिमान् विद्वान् यजमानादि गुणों की स्तुति करते हुए खड़ा करते हैं।

---

१. ऋ० ३।८।४॥ तै० ब्रा० ३।६।१॥

तस्माद् यूपाङ्गं रशनेति। किं प्रयोजनं चिन्तायाः ? अग्नौ श्रूयते—एकयूप एकादश पशवो नियोज्या इति। प्रतिपशु रशना कार्या यदि पूर्वः पक्षः। सिद्धान्ते द्वैरशन्यमेव। श्लोकमप्युदाहरन्ति—

पश्वङ्गं रशना चेद्यद्येकस्मिन् बहून् नियुञ्जीत।

प्रतिपशु रशना कार्या यूपे चेद् द्वैरशन्यं स्यात्।[1] इति ॥२४॥

रशनाया यूपाङ्गताधिकरणम् ॥ ९ ॥

—:०:—

कैसे यजमान ? स्वाध्यः=स्वतन्त्र बुद्धिवाले। स्वमन से देवों की प्राप्ति की कामना करते हुए [सायण तै० ब्रा० ३।६।१]। इसलिये यूप का अंग है रशना।

इस विचार का प्रयोजन क्या है ? अग्निचयन में सुना जाता है—एकयूप एकादश पशवो नियोज्याः (**=एक यूप में ग्यारह पशु बांधने चाहिये**)। **यदि पूर्व पक्ष (=पश्वङ्ग रशना) होवे तो प्रति पशु रशना करनी होगी [अर्थात् ग्यारह पशु होने पर ११ रशनाएं यूप में लपेटनी होंगी]। सिद्धान्त में द्वैरशन्य (=द्विरशना का भाव) ही होगा। [यहां प्राचीन आचार्य] श्लोक भी उद्धृत करते हैं—'रशना यदि पशु का अङ्ग होवे तो एक यूप में बहुत पशुओं को बांधे तो प्रति पशु रशना करनी होगी यूप में [रशना की अङ्गता होवे तो] दो रशनाएं ही होवें।'**

विवरण—सिद्धान्ते द्वैरशन्यमेव—इस का भाव यह है कि यूप निष्पत्ति के अनन्तर अग्निषोमीय पशु के समय (चतुर्थ दिन) यूप में एक त्रिवृत रशना का परिव्ययण (लपेटना) होता ही है। प्रकृत में आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाऽऽग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति वाक्य से सवनीय पशु के उपाकरण से पूर्व एक त्रिवृत रशना से परिव्याण और कहा है। इसी रशना के सम्बन्ध में इस अधिकरण में विचार है कि यह सवनीय पशु के समय विहित रशना यूप का अङ्ग है वा पशु का ? यदि पशु का अङ्ग होवे तो अग्निचयन में जहां एकादश सवनीय पशुओं का विधान है वहां ११ रशनाओं का परिव्ययण प्राप्त होगा। इस प्रकार पूर्व विहित रशना को मिलाकर १२ रशनाएं प्राप्त होती हैं। यूप का अङ्ग मानने पर पशु वृद्धि होने पर भी सवनीय पशु काल में एक रशना का ही परिव्याण होगा। इस प्रकार प्रथम रशना को मिला कर दो ही रशनाओं का यूप में परिव्याण होगा ॥२४॥

—:०:—

---

१. अनुलब्धमूलम्।

[स्वरोः पश्वङ्गत्वाधिकरणम् १० ॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः सोमाङ्गभूतः—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते**[1] इति। तत्र श्रूयते-**स्वरुणा स्वधितिना वा पशुमनक्ति**[2] इति। तत्र संदेहः-किं यूपाङ्ग स्वरुरुत पश्वङ्गमिति ? किं प्राप्तम् ? यूपाङ्गमिति ब्रूमः। कुतः ?

स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात् ॥ २५ ॥ (पू०)

एकदेशत्वात्। एकदेशः स्वरुर्यूपस्येति श्रूयते—**यूपस्य स्वरुं करोति**[3] इति। स्वरुमन्तं यूपं कुर्यादित्यर्थः। एवं स यूपो भवतीति। यथा चषालम् ॥२५॥

व्याख्या—अग्निष्टोम में सोमाङ्गभूत अग्निषोमीय पशु है—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते (=जो दीक्षित अग्नीषोम देवताक पशु का आलभन करता है)। वहां (=उस प्रकरण में) सुना जाता है—स्वरुणा स्वधितिना वा पशुमनक्ति (=स्वरु अथवा स्वधिति से पशु को अञ्जन करता है)। इस में सन्देह है—क्या स्वरु यूप का अङ्ग है अथवा पशु का अङ्ग है ? क्या प्राप्त होता है ? यूप का अङ्ग है ऐसा हम कहते हैं। किस हेतु से ?

विवरण—स्वरुणा स्वधितिना—यूप के छेदन काल में प्रथम गिरे हुए शकल=टुकड़े से भिन्न टुकड़ों में से एक टुकड़ा, जिस से अञ्जन क्रिया की जाती है तथा यूप को रस्सी से लपेटते समय उस में खोंसा जाता है। स्वधिति=परशु। पशुमनक्ति—यहां अञ्जन से अभिप्राय पशु के ललाट प्रदेश का स्पर्श करना है। द्र० कात्या० श्रौत ६।४।१० ताभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति घृतेनाक्ताविति।

स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(स्वरुः) स्वरु (चापि) भी यूप का अङ्ग है, (एकदेशत्वात्) यूप का एकदेश अवयव=भाग होने से। [यूप के बनाते समय जो टुकड़े निकलते हैं, उन्हीं में से एक 'स्वरु' होता है]।

व्याख्या—एकदेश होने से। स्वरु यूप का एक देश सुना जाता है—यूपस्य स्वरुं करोति (यूप के एकदेश का स्वरु बनाता है) [इस का अर्थ है—स्वरु वाला यूप बनावे]। ऐसा वह यूप होता है। जैसे चषाल [यूप का एक देश होता है]।

विवरण—यथा चषालम्—यूप के लिये वृक्ष का छेदन करके उसके अग्रभाग से चषाल का निर्माण किया जाता है। चषाल यूप के अग्र (ऊर्ध्व) भाग से कुछ बड़ा होता है। यह चार

---

१. तै० सं० ६।१।११॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—स्वधितिना पशुमनक्ति, नवा स्वधितिना स्वरुणैव। आप० श्रौत० ७।१४।११-१२॥

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यूपस्य स्वरुं कुर्यात्। मै० सं० ३।९।४॥

निष्क्रयश्च तदङ्गवत् ॥२६॥ (पू०)

यूपाङ्गमिव स्वरुं निष्क्रयवादो दर्शयति—अपश्यन् ह स्म वै पुरा ऋषयो ये यूपं प्रापयन्ति, संभज्य स्रुचं ते मन्यन्ते यज्ञवेशसाय वा इदं कर्मेति। ते प्रस्तरं स्रुचा निष्क्रयमपश्यन्, यूपस्य स्वरुम् अयज्ञवेशसाय[1] इति। निष्क्रयश्रवणात् तदङ्गता विज्ञायते। तस्माद् यूपाङ्गमिति ॥२६॥

अङ्गुल मोटा होता हैं। इसे अष्टाश्रि=आठ कोने वाला बनाया जाता है। बीच में से खोद कर पोला किया जाता है। इसे यूप के अग्र (ऊर्ध्व) भाग पर रखते हैं। यूप का अग्रभाग चषाल से दो तीन अङ्गुल बाहर निकला हुआ रहता है जैसे सिर पर चोटी होती है। द्र० कात्या० श्रौत ६।२।२७-२८॥

पशुयाग में जो यूप है वह आदित्य स्थानीय है। आदित्य मण्डल से बाहर जो बहिर्भूत प्रभामण्डल है (जो खग्रास सूर्यग्रहण के समय कङ्कण की आकृति में दिखाई देता है)। अष्टाश्रि आठ दिशाओं का उपलक्षक है। सूर्य प्रकाश दिशाओं अवान्तर दिशाओं में सर्वत्र व्याप्त होता है। यूप पर घृतादि को चुपड़ कर उसे कान्तिमान् किया जाता है। यूप में पशु बांधे जाते हैं। ये पशु हैं सूर्य मण्डल के ग्रह। पशु बांधने के लिये रशना रस्सी होती है। सूर्य भी अपनी रशना किरणों[2] से सब ग्रहों को बांधे हुए रखता है। अतः कोई ग्रह अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर पाता। यूप के उच्छ्रयण=(गढ्डे में खड़े करने) आदि के समय जो मन्त्र पढ़े जाते हैं वे भी यूप के आदित्य के प्रतीकरूप होने के निदर्शक हैं ॥२५॥

निष्क्रयश्च तदङ्गवत् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(निष्क्रयः) [मूल्य देकर] खरीदना (च) भी (तदङ्गवत्) उस [यूप] के अङ्ग के समान अर्थ का बोधक है।

विशेष—स्वरु को देकर यूप को खरीदने के विषय में प्रस्तुत श्रुति भाष्य-व्याख्या में देखें। कुतुहलवृत्तिकार के मत में 'तदङ्गवत्' में 'वति' प्रत्यय स्वार्थ में है।

व्याख्या—निष्क्रयवाद स्वरु को यूपाङ्ग के समान दर्शाता है—अपश्यन् ह वै पुरा ऋषयो ये यूपं प्रापयन्ति सम्भज्य स्वरुं ते मन्यन्ते यज्ञवेशसाय वा इदं कर्मेति (ऋषियों ने निश्चय पुरा काल में देखा था जो यूप को प्राप्त कराते हैं स्रुच् को नष्ट करके वे मानते हैं यज्ञवेशस=यज्ञ के विघात के लिये यह कर्म है) ते प्रस्तरं स्रुचा निष्क्रयमपश्यन् यूपस्य स्वरुम् अयज्ञवेशसाय (=उन्होंने प्रस्तर को स्रुव् का निष्क्रय देखा, स्वरु को यूप का यज्ञ के अविघात के लिये)। [यहां स्वरु का यूप के साथ] निष्क्रय का श्रवण होने से [स्वरु की यूप की अङ्गता] जानी जाती है। इसलिये स्वरु यूप का अङ्ग है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. 'रश्मिपाशौ रशनाभीशुरेव च' इति नामानुक्रमण्यां माधवः। ऋग्वेदानुक्रमणी (मद्रास सं०) पृष्ठ CXXXV, पं० ७।

पश्वङ्गं वाऽर्थकर्मत्वात् ॥२७॥ (उ०)

पश्वङ्गं वा। तस्य ह्यञ्जनार्थेन स्वरुणा प्रयोजनम्। तथा हि श्रूयते—स्वरुणा पशुमनक्ति' इति। तदञ्जनं पशोः, स्वरोरुत्पत्तिं प्रयोजयति। यदि तदर्थ एषः स्वरुस्ततो दृष्टं प्रयोजनम्। अथ यूपार्थः, अदृष्टं प्रयोजनं ततः कल्प्यम्। तस्मात् पश्वङ्गमिति ॥२७॥

भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात् ॥२८॥ (उ०)

विवरण—निष्क्रयवादः—निष्क्रय शब्द का अर्थ है—मूल्य देकर या किसी वस्तु के बदले में किसी वस्तु को प्राप्त करना। यज्ञवैशसाय=यज्ञ के विघात=नाश के लिये (द्र० तै० ब्रा० ३।६।१।४ सायणभाष्य)। भाष्यकार द्वारा उद्धृत 'अपश्यन् वै' वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ। अतः 'सम्भज्य स्रुचं ते' आदि का शब्दार्थ हम स्पष्ट नहीं कर पाये। कुतुहलवृत्तिकार ने देवा वै संस्थिते सोमे प्रस्रुचो प्रहरन् प्रयूपम्। ते प्रस्तरं स्रुचां निष्क्रीयणमपश्यन् स्वरुं यूपस्य। संस्थिते सोमे प्रस्तरं प्रहरति जुहोति स्वरुम्' (अनुपलब्ध मूल) वचन उद्धृत किया है। इस का भाव है—देवों ने सोम याग के पूर्ण होने पर स्रुचों का प्रहरण किया और यूप का। उन्होंने प्रस्तर को स्रुचों का निष्क्रय (विनिमय) देखा और स्वरु को यूप का। [इस लिये] सोमयाग के पूर्ण होने पर प्रस्तर को (आहवनीय में) छोड़े और स्वरु का होम करे।

पश्वङ्गं वाऽर्थकर्मत्वात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् स्वरु यूप का अङ्ग नहीं है (पश्वङ्गम्) पश्वङ्ग ही है। (अर्थकर्मत्वात्) अर्थ=प्रयोजन वाला कर्म होने से।

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने 'वा' शब्द को 'एव' अर्थ वाला माना है। भाष्य में भी 'एव' अर्थ ही उपयुक्त है।

व्याख्या—पश्वङ्ग ही है [स्वरु]। उस [पशु] का अञ्जन के लिये स्वरु से प्रयोजन है। जैसा कि सुना जाता है—स्वरुणा पशुमनक्ति (=स्वरु से पशु का अञ्जन करता है) वह पशु का अञ्जन स्वरु की उत्पत्ति को प्रयोजित करता है [अर्थात् पशु के अञ्जन के लिये स्वरु की आवश्यकता को व्यक्त करता है]। यदि यह स्वरु पशु के अञ्जन के लिये है तो उस से दृष्ट प्रयोजन सिद्ध होता है और यदि स्वरु यूप के लिये है तो उस से अदृष्ट प्रयोजन कल्पनीय होवे। इसलिये स्वरु पश्वङ्ग है ॥२७॥

भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(निष्क्रयवादः) निष्क्रय का कथन (भक्त्या) भक्ति से=गौणी वृत्ति से (स्यात्) होवे।

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १४०५ टि० २।

कया भक्त्या । एवमाह—यूपः किलाग्नौ प्रक्षेप्तव्यः । यत्स्वरुः प्रक्षिप्यते । तेन यूपः प्रक्षिप्यत इति । स एष निष्क्रय इव भवति । अनया भक्त्या स्तुतिरिति ।

किं भवति प्रयोजनम् । एकयूप एकादश पशवो, यदा नियुज्यन्ते, तदैकस्यैव[1] पशोः समञ्जनं पूर्वस्मिन् पक्षे । सर्वेषां[2] सिद्धान्ते । श्लोकश्च भवति—

स्वरुर्यूपाङ्गमिति चेदेकस्यैव समञ्जनम् ।
बहूनामेकयूपत्वे सर्वेषां तु समञ्जनम्[3] ॥ इति ॥२८॥

स्वरोः पश्वङ्गताधिकरणम् ॥ १० ॥

—:o:—

व्याख्या—किस भक्ति से ? ऐसा कहा है—यूप का अग्नि में प्रक्षेप करना चाहिये । जो स्वरु का प्रक्षेप किया जाता है उस से यूप का प्रक्षेप किया जाता है [ऐसा मान लिया जाता है] । यह (=यूप के स्थान में स्वरु का प्रक्षेप) निष्क्रय के समान ही होता है । इस भक्ति (=गौणी वृत्ति) से [यूप की] स्तुति है ।

[इस विचार का] क्या प्रयोजन है ? एक यूप में जब ११ पशु बाँधे जाते है तब एक ही पशु का समञ्जन होवे पूर्व पक्ष में [क्योंकि यूप का अङ्ग होने से स्वरु से एक ही पशु का समञ्जन करने से श्रुति का अर्थ उपपन्न हो जाता है] । सिद्धान्त पक्ष में [स्वरु के पशु का अङ्ग मानने पर एक यूप में नियुक्त] सभी पशुओं का समञ्जन होता है । यहां [पूर्वाचार्यों का] श्लोक है—'स्वरु यूप का अङ्ग होवे तो एक यूप में नियुक्त बहुत पशुओं में से एक ही पशु का समञ्जन होवे । [पश्वङ्ग होवे तो] सब का अञ्जन होवे ।

विवरण—पूना संस्करण में इस सूत्र के भाष्य में दो टिप्पणियां छपी हैं (द्र०—इसी पृष्ठ की टि १, २) । उन का अभिप्राय इस प्रकार है—

एकस्यैव पशोरिति—'स्वरु के यूपाङ्गत्वरूप पूर्वपक्ष में स्वरुणा पशुमनक्ति (=स्वरु से पशु का अञ्जन करता है) इस वाक्य में स्वरु के प्रतिपत्तिरूप कर्म के रूप में पश्वङ्ग का विधान करने से और पशु का उपादेय रूप से विवक्षित होने से एक पशु के अञ्जन से भी स्वरु

---

१. एकस्यैव पशोरिति—स्वरोर्यूपाङ्गत्वपूर्वपक्षे 'स्वरुणा पशुमनक्ति' इत्यस्मिन् वाक्ये स्वरुप्रतिपत्त्यर्थतया पश्वञ्जनविधानात्, पशोश्चोपादेयत्वेन विवक्षितसंख्यत्वाद् एकपश्वञ्जनेनापि स्वरुप्रतिपत्तिसिद्धेरिति भावः । इयं पूनासंस्करणे टिप्पणी ।

२. सर्वेषामिति—सिद्धान्ते च स्वरुकरणकाञ्जनस्य पशुसंस्कारकतया ग्रहैकत्वन्यायेन संस्कार्यस्य पशोरविवक्षितसंख्यत्वेन सर्वेषामञ्जनं सिध्यतीति भावः । इयं पूनासंस्करणे टि० ।

३. अनुपलब्धमूलम् । अत्र भाट्टदीपिका—'पार्थसारथिमते तु प्रयाजशेषाभिघारणन्यायेनाघारनियमस्य पशुसंस्कारार्थत्वोपपत्तेः पूर्वपक्षेऽपि सर्वेषामञ्जनप्रसंगात् प्रयोजनानुपपत्तिः, भाष्यविरोधोऽपि' ॥४।४।१०॥

[आघारादीनामङ्गताधिकरणम् ॥११॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ। तत्र श्रूयन्ते--आग्नेयाग्नीषोमीयोपांशुयाजैन्द्राग्नसांनाय्य-यागाः। तथा आघारावाज्यभागौ, प्रयाजानुयाजाः, पत्नीसंयाजाः, समिष्टयजुः, स्विष्टकृदिति। तत्र संदेह—किं सर्वे यागाः प्रधानभूता उत केचिद् गुणभूता इति? किं प्राप्तम्?

की प्रतिपत्ति सिद्ध ही है।' अन्यत्र प्रयुक्त द्रव्य का अन्यत्र स्थापन प्रतिपत्ति कर्म माना जाता है। तदनुसार एक पशु के अञ्जन में स्वरु के प्रयुक्त हो जाने से वह आहवनीय में प्रक्षेपणरूप प्रतिपत्ति कर्म के योग्य हो जाता है, स्वरु से सभी पशुओं के समञ्जन की आवश्यकता नहीं रहती। सर्वेषामिति,—'सिद्धान्त में स्वरु से क्रियमाण अञ्जन के पशु संस्कारक होने से ग्रहैकत्वन्याय से संस्कार्य (=संस्कार योग्य) पशुगत विभक्ति के अविक्षित होने से सब का अञ्जन सिद्ध होता है।' ग्रहैकत्व न्याय—ग्रहं सम्मार्ष्टि वचन से ग्रह पात्र के सम्मार्जन का विधान किया है। यहां ग्रह गत एकवचन विवक्षित है वा नहीं? इस पर विचार करते हुए लिखा है—'ग्रहम्' में एक वचन विवक्षित होने से एक ग्रह का ही सम्मार्जन होना चाहिये, इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहा है—सम्मार्जन रूप कर्म ग्रह का संस्कार कर्म है। यह संस्कार कर्म सभी ग्रहों का अपेक्षित है अतः 'ग्रहम्' में प्रयुक्त एकवचन विवक्षित नहीं है। इसी प्रकार 'स्वरुणा पशुमनक्ति' में अञ्जन के संस्कार कर्म होने से यहां भी एकवचन के विवक्षित न होने से सिद्धान्त पक्ष में सभी पशुओं का समञ्जन कार्य होगा।

भाट्ट-दीपिका में खण्डदेव ने लिखा है—'पार्थसारथिमिश्र के मत में तो प्रयाजशेषाभिघरण न्याय से आघार नियम का पशुसंस्कारार्थत्व उपपन्न होने से पूर्वपक्ष में भी सब पशुओं का अञ्जन प्राप्त होने से [अधिकरण के] प्रयोजन की उपपत्ति नहीं होती है।"

पार्थसारथि मिश्र ने यह मत कहां लिखा है, हमें ज्ञात नहीं है। उसकी शास्त्रदीपिका में यह मत निर्दिष्ट नहीं है। खण्डदेव ने भाट्ट-दीपिका के इसी (४।४।१०) अधिकरण में यह निर्देश किया है॥२८॥

—:o:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास याग हैं। वहां सुने जाते हैं—आग्नेय, अग्नीषोमीय, उपांशुयाज, ऐन्द्राग्न और सान्नाय्य याग। तथा आघार, आज्यभाग, प्रयाज, अनुयाज, पत्नीसंयाज, समिष्ट-यजुः और स्विष्टकृत् याग। यहां सन्देह होता है—क्या सभी याग प्रधानभूत हैं अथवा कुछ गुणभूत हैं? क्या प्राप्त होता है?

दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ॥२९॥ (पू०)

दर्शपूर्णमासयोर्यावत्य इज्यास्ताः सर्वाः प्रधानभूता इति। यजेत स्वर्गकाम[1] इत्यविशेषेण यागेभ्यः फलं श्रूयते। फलवच्च प्रधानम्। सर्वे चामी यागाः। तस्मात् सर्वे प्रधानभूता इति ॥२९॥

अपि वाऽङ्गानि कानिचिद् येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिः सामान्यो ह्यभिसंस्तवः ॥३०॥ (उ०)

अपि वा कानिचिदङ्गानि भवेयुः। कानि पुनस्तानि? येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिः। यथा—अभीशू वा एतौ यज्ञस्य यदाधारौ[2], चक्षुषी वा एते[3] यज्ञस्य यदाज्यभागौ[4]। यत्प्रयाजानुयाजाश्चेज्यन्ते वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते, वर्म वा यजमानस्य भ्रातृव्य-

---

दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(दर्शपूर्णमासयोः) दर्शपूर्णमास में जितनी (इज्याः) याग हैं वे सब (प्रधानानि) प्रधानभूत हैं (अविशेषात्) अविशेष=सामान्यरूप से सब में फल का श्रवण होने से।

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में जितने याग हैं वे सब प्रधानभूत हैं। यजेत स्वर्गकामः (=स्वर्ग की कामना वाला यजन करे) इस सामान्य वचन से सब यागों से फल सुना जाता है। फल वाला कर्म प्रधान होता है। ये [आघारादि] सभी याग हैं। इसलिये सभी प्रधानभूत हैं।

अपि वाऽङ्गानि कानिचित येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिः सामान्यो ह्यभिसंस्तवः ॥३०॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) ये पद पूर्व पक्ष 'सब याग प्रधानरूप हैं' की निवृत्ति के लिये हैं। (कानिचित्) कुछ याग (अङ्गानि) अङ्गभूत हैं। (येषु) जिन यागों में (अङ्गत्वेन) अङ्गरूप से (संस्तुतिः) स्तुति देखी जाती है। (सामान्यः) [लौकिक अङ्गों के समान] सामान्य (हि) निश्चय से (अभिसंस्तवः) स्तुति है।

व्याख्या—अथवा कुछ [याग] अङ्ग होवें। वे कौन से हैं? जिन में अङ्गरूप से स्तुति देखी जाती है। यथा अभीशू वा एतौ यज्ञस्य यदाघारौ (=ये अभीशू=लगाम हैं यज्ञ के जो आधार हैं), चक्षुषी वा एते यज्ञस्य यदाज्यभागौ (=ये आंखें हैं यज्ञ के जो

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्।

३. 'एतौ' इति भाष्येऽपपाठः।

४. तै० सं० २।६।२॥ द्र० किञ्चित् पाठान्तरेण शत० १।६।३।३८॥

स्याभिभूत्यै[1] इति। अभीशू[2] रथस्याङ्गम्, चक्षुषी चक्षष्मतः, वर्म वर्मवतः। सामान्यो ह्यभिसंस्तवो युक्तः। यदि चाङ्गानि तानि संस्तुतानि, ततः संस्तवोऽर्थवान् भवति। तस्मादङ्गसंस्तुतान्यङ्गानीति ॥३०॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

एवं च कृत्वाऽन्यार्थदर्शनमुपपन्नं भवति—**प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति**[3] इति। **न च प्रयाजान् यजति, न चानुयाजान् यजति**[4] इति च ॥३१॥

आज्यभाग हैं), यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते (=जो प्रायाजों और अनुयाजों का यजन किया जाता है, वह वर्म=कवच यज्ञ का किया जाता है), वर्म वा यजमानस्य भ्रातृव्यस्यभिभूत्यै (=अथवा यजमान का कवच होता है शत्रु के पराजय के लिये)। अभीशू (=लगामें) रथ का अङ्ग होती हैं, आखें आंखोंवाले का और कवच कवचधारी का। [अङ्ग] सामान्य से स्तुति युक्त है। यदि [आघार आदि] अङ्ग होवें तो ये संस्तुत होवें। उससे संस्तुति अर्थवान् होती है। इसलिये अङ्ग रूप से स्तुति किये गये [आघारादि] अङ्ग हैं।

विवरण—अभीशू वा एतौ—मुद्रित भाष्य-ग्रन्थ में यहां तथा आगे 'अभीषू' अपपाठ है। लगामवाची 'अभीशू' शब्द तालव्यशकारवान् ही वैदिक ग्रन्थों में सर्वत्र प्रयुक्त होता है। यथा—सुषारथिरश्वानिव यन्मनष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव (यजुः ३४।६) ॥३०॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(तथा) अङ्गभूत होने पर ही (अन्यार्थदर्शनम्) अन्य यागों के लिये दर्शन (च) भी उपपन्न होता है। अर्थात् आघार आज्यभाग प्रयाज अनुयाज के अङ्गभूत होने पर ही प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या नियम से इनका अन्य यागो में दर्शन उपलब्ध होता है। (वचन भाष्य में देखें)।

व्याख्या—ऐसा (=अङ्गरूप) मान कर ही अन्य यागों के लिये इन का दर्शन उपपन्न होता है—प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति (=प्रयाज प्रयाज में कृष्णल का होम करता है), न च प्रयाजान् यजति न चानुयाजान् (=न प्रयाजों का यजन करता है और न अनुयाजों का)।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। किञ्चिद् भेदेन तै० सं० २।६।१॥

२. मुद्रित 'अभीषू' इत्यपपाठः।

३. तै० सं० २।३।२।३॥

४. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—'न प्रयाजान् यजति नानुयाजान्'। मै० सं० १।१०।१५॥ 'न प्रयाजा इज्यन्ते नानुयाजाः'। काठक सं० ३६।९॥ तै० ब्रा० १।६।६।६॥

विवरण—दर्शपूर्णमास याग सभी इष्टियों की प्रकृति भूत हैं। यही याग सम्बन्धी सकल अङ्ग प्रधान भूत इतिकर्तव्यतारूप कर्म उपदिष्ट हैं। अन्य विकृति यागों में मुख्यतया प्रधान यागों का ही निर्देश किया गया है। वहां प्रधान यागों के अतिरिक्त सम्पूर्ण इतिकर्तव्यता (यह यह करे) प्रकृति याग से प्राप्त होकर विकृति यागों को पूर्ण बनाती है। यदि दर्शपूर्णमास में आघार आज्यभाग प्रयाज अनुयाज भी प्रधान भूत होवें तो जैसे विकृति यागों में स्वप्रधानभूत यागों का विशेष उपदेश होने से दर्शपूर्णमास के आग्नेय अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न आदि याग उपस्थित नहीं होते वैसे ही यदि आघारादि भी प्रधान याग होवें तो उनकी उपस्थिति विकृति यागों में न होवे, परन्तु विकृति यागों में इन की उपस्थिति देखी जाती है। इस से प्रधान याग नहीं हैं, अङ्गयाग हैं।

प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति—यह वचन तै० सं० २।३।२।३ में ब्रह्मवर्चस की कामना वाले के लिये विहित सौर्यकाम्येष्टि में पठित है। कृष्णल में कृष्ण शब्द से मत्वर्थ में पिच्छादि में पठित जटाघटाकालात् क्षेपे गणसूत्र (काशिका ५।२।१००) से 'ल' प्रत्यय होता है। कृष्णल गुञ्जाफल, जो लाल रंग का काले धब्बे से युक्त, जिसे लोक में 'रत्ती' कहते हैं, का वाचक है। यह सुवर्ण आदि के तोल के परिमाण में प्रयुक्त होता है। प्रकृत में रुक्म=सुवर्ण का निर्देश होने से १ रत्ती का सुवर्ण का दाना अभिप्रेत है। प्रकृत सौर्येष्टि में प्रति प्रयाज इसी कृष्णल की आहुति का निर्देश है। यदि दर्शपूर्णमास में प्रयाज याग अङ्गयाग होवें तो प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या के नियम से प्रकृत विकृतिरूप सौर्येष्टि में भी उपस्थित हो सकता है। प्रधान याग मानने पर प्रयाजों की प्राप्ति नहीं होगी। उक्त वाक्य में अतिदेश से प्राप्त प्रयाजों को उद्देश्य करके कृष्णल द्रव्य का विधान है। अन्यथा प्रयाजों का और कृष्णल द्रव्य दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद दोष होगा। **न च प्रयाजान् यजति न चानुयाजान्**—यह वाक्य चातुर्मास्येष्टि के तृतीय साकमेघपर्व में श्रुत है। प्रयाज और अनुयाज के अङ्गयाग होने पर ही अतिदेश से जो साकमेघ पर्व में इनकी प्राप्ति होती है उसका प्रतिषेध किया है। इन्हें प्रधान याग मानने पर अतिदेश से प्राप्ति ही नहीं होगी। अतः प्रतिषेध करना व्यर्थ होता हुआ इनके अङ्गत्व का बोधन करता है ॥३१॥

अविशिष्टं तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—अङ्गों के समान संस्तुतिरूप (कारणम्) कारण (तु) तो (अविशिष्टम्) अविशेष=समान है, (प्रधानेषु) प्रधान यागों में भी (गुणस्य) गुणरूप स्तुति के (विद्यमानत्वात्) विद्यमान होने से। अर्थात् प्रधान यागों की भी अङ्ग रूप से स्तुति देखी जाती है, इससे भी प्रधान नहीं होंगे।

अविशिष्टमेतत् कारणं संस्तवो नाम। आग्नेयादीनामप्यङ्गत्वेन संस्तुतिरस्ति–शिरो वा एतद् यज्ञस्य यदाग्नेयो हृदयमुपांशुयाग:, पादावग्नीषोमीय[1] इति। शिर: शिरस्वतोऽङ्गं, हृदयं हृदयवत:, पादौ पादवत इति सर्वस्यैवाङ्गत्वेन संस्तुतिरिति सर्वमेवाङ्गं प्राप्नोति। तत् प्रधानं न स्यात्। असति प्रधाने कस्याङ्गम्? तस्मान्न-तदङ्गमिति ॥३२॥

नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् ॥३३॥ (पू०)

अथ यदुक्तमन्यार्थदर्शनं, परार्थत्वान्न तत्साधकं भवति। परार्थं हि तद्वाक्यम्, न दृश्यमानस्य प्रयाजादे: प्रापणार्थम्। तस्मादन्यदस्य प्रमाणमन्वेष्टव्यं श्रुत्यन्तरं न्यायो वा। तस्मिन्नसति मृगतृष्णादर्शनमिव तद्भवति। संस्तुतिरप्यसति न्यायेऽसाधिकैव ॥३३॥

व्याख्या—यह संस्तुति नाम कारण सामान्य है। आग्नेयादि की भी अङ्गरूप से स्तुति है। शिरो वा एतद् यज्ञस्य यदाग्नेय:(=यह निश्चय ही शिर है यज्ञ का जो आग्नेय[याग] है), हृदयमुपांशुयाग: (=हृदय उपांशु याग है), पादावग्नीषोमीय: (=पैर अग्नीषोमीय याग हैं)। शिर शिर वाले अवयवी का अङ्ग है, हृदय हृदयवाले का और पैर पैरवाले का। [इस प्रकार पूर्णमास के] सभी यागों की अङ्गरूप से स्तुति होने से सब अङ्ग प्राप्त होते है। वह [आग्नेयादि] प्रधान न होवें। प्रधान के न होने पर किस का अङ्ग होवे? इसलिये यह (=आघारादि) अङ्ग नहीं है ॥३२॥

नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् ॥३३॥

सूत्रार्थ:—(अनुक्ते) अङ्गत्व बोधक वचन के न कहने पर (अन्यार्थदर्शनम्) अन्य प्रयाज और अनुयाज के लिये दर्शन (न) अङ्गत्व साधक नहीं है, (परार्थत्वात्) परार्थ होने अर्थात् प्रयाजादि के प्रधान होने पर भी उस की अन्य प्रयाजादि की प्राप्ति के लिये होने से।

व्याख्या—और जो यह कहा है कि [प्रयाजादि का] अन्यार्थ दर्शन [अङ्गत्व का बोधक है] वह परार्थ होने से उस (=अङ्गत्व) का साधक नहीं है। वह [प्रयाजादि] वाक्य परार्थ है [अर्थात् प्रकृतिगत प्रयाजादि से भिन्न प्रयाजादि की प्राप्ति के लिये है]। [दर्शपूर्णमास में] दृश्यमान [प्रयाजादि] के प्रापणार्थ नहीं है। इसलिये इस (=अङ्गत्वबोधन) के लिये अन्य प्रमाण श्रुति वा न्याय अन्वेष्टव्य है। उस के न होने पर मृगतृष्णा दर्शन के समान वह होता है। [अङ्गरूप से] संस्तुति भी न्याय के न होने पर असाधिका ही है ॥३३॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः श्रुतितो व्यपदेशाच्च तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वं, तत्संनिधावसंयुक्तं तदङ्गं स्याद् भागित्वात् कारणस्याश्रुतश्चान्यसंबन्धः ॥३४॥ (उ०)

पृथक्त्वे त्वभिधानयो ....अश्रुतश्चान्यसंबन्धः ॥३४॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् आघारादि और आग्नेयादि समप्रधान नहीं हैं। दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इस वाक्य में (श्रुतितः) श्रवण से (व्यपदेशात्) द्विवचन के निर्देश से (च) भी (अभिधानयोः) नामों के (पृथक्त्वे) पृथक् रूप में [दर्श और पूर्णमास रूप में] सिद्ध होने पर उनका (निवेशः) फल के साथ सम्बन्ध है। इस प्रकार (यत्फलवत्त्वम्) जो फलसम्बन्धरूप से सुना जाना है। (तत् पुनः मुख्यलक्षणम्) वह मुख्य का लक्षण है। [अर्थात् दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत श्रुति में दर्श और पूर्णमास नामक दो त्रिकों का फल के साथ सम्बन्ध होने से वे ही प्रधान हैं]। (तत् सन्निधौ) उन फलवान् दर्श और पूर्णमास की समीपता में समिधो यजति इत्यादि श्रूयमाण जो (असंयुक्तम्) फल से असंयुक्त है (तदङ्गम्) वह अङ्ग (स्यात्) होवे। (कारणस्य भागित्वात्) दर्शपूर्णमास के फल में इतिकर्तव्यता रूप कारण से फल में भागी होने से (च) और (अश्रुतेः) समिधो यजति आदि प्रयाजों के फल के श्रुत न होने से (अन्यसम्बन्धः) अन्य फलवान् दर्शपूर्णमास के साथ सम्बन्ध है।

विशेष—इस सूत्र का भाव यह है कि दर्शपूर्णमास में श्रूयमाण आग्नेयादि ३+३=६ याग तथा आघारादि याग समप्रधान नहीं हैं। दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत वाक्य में द्विवचन सामर्थ्य से दर्श और पूर्णमास का स्वर्गफल के साथ सम्बन्ध लक्षित होता है। पूर्व मीमांसा अ० २ पाद २ अधि० २ में निर्णय किया है कि य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते इत्यादि वाक्य में पौर्णमासी शब्द से पौर्णमासी में पूर्व विहित आग्नेय अग्नीषोमीय और उपांशुयाज तथा अमावास्या शब्द से अमावास्या में पूर्व विहित आग्नेय तथा ऐन्द्र दधिपयो सम्बन्धी तीन-तीन यागों का अनुवाद है। दर्शपूर्णमासाभ्याम् में दर्श से अमावास्या में विहित त्रिक का और पूर्णमास से पौर्णमासी में विहित त्रिक का निर्देश है। अतः ये दो त्रिक ही फलवान् हैं। इनकी सन्निधि में श्रूयमाण फलरहित समिधो यजति आदि अङ्ग याग हैं। प्रधान यागों को कथं भावयेत् कैसे फल को सिद्ध करें केन भावयेत् किस से सिद्ध करें रूप इतिकर्त्तव्यता की आवश्यकता होती हैं, उस आकांक्षा की पूर्ति समीप पठित फलरहित अंग यागों से हो जाती हैं। यदि दोनों आग्नेयादि त्रिकों और प्रयाजादि यागों को समप्रधान मानें तो इनकी कथं भावयेत् केन भावयेत् इत्यादि आकांक्षा की पूर्ति के लिये अश्रुत इतिकर्त्तव्यता की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः यही न्याय्य है कि आग्नेयादि दो त्रिक फलसम्बन्ध होने से प्रधान माने जायें और समीप में श्रुत फलरहित प्रयाजादि फलवान् के अङ्ग होवें।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यदुक्तं 'सर्वाणि समप्रधानानीति' नैतदेवम्। दर्शपूर्णमासशब्दवाच्यानि प्रधानानि कर्माणि। कुतः? फलसंयोगात्। दर्शपूर्णमासशब्दकेभ्यः फलं श्रूयते—**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत**' इति। कानि पुनर्दर्शपूर्णमासशब्दकानि? येषां वचने पौर्णमासीशब्दोऽमावास्याशब्दो वा, आग्नेयादीनि तानि। नन्वमावास्याशब्दकानां नैव फलं श्रूयते। उच्यते। पृथक्त्वे समुदाययोर्निवेश एतयोरभिधानयोः, पौर्णमासीति चामावास्येति च। त्रिष्वाग्नेयादिषु यः समुदायस्तत्र पौर्णमासीशब्दः, इतरेष्वमावास्याशब्दः। कथं पौर्णमासी, अमावास्येति च द्विशब्दः श्रूयते? द्व्यर्थवद्व्यपदेशाच्च। कथं तद्व्यपदेशः? द्विवचननिर्देशात्, दर्शपूर्णमासाभ्यामिति। एकार्थौ च दर्शामावास्याशब्दौ। कथम्? **दर्शो वा एतयोः पूर्वः, पूर्णमास उत्तरस्तयोरथ यत्पूर्णमासं पूर्वमारभते तदयथापूर्वं प्रक्रियते। पूर्णमासमारभमाणः सरस्वत्यै चरुं निर्वपेत्, सरस्वते द्वादशकपालम्। अमावस्या वै सरस्वती, पूर्णमासः सरस्वान्। उभावेतौ यथापूर्वं कल्पयित्वाऽऽरभत ऋद्ध्यै, ऋध्नोत्येवाथो मिथुनत्वाय**' इति।

व्याख्या—'तु' शब्द पूर्वपक्ष को हटाता है। जो कहा है—सब याग समप्रधान (=बराबर अर्थात् प्रधान) हैं, ऐसा नहीं है। दर्शपूर्णमास पदवाच्य प्रधान कर्म हैं। किस हेतु से? फल के साथ संयोग होने से। दर्शपूर्णमास शब्द [से कहे जाने] वाले यागों से फल सुना जाता है—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (=दर्शपूर्णमास से स्वर्गरूप फल की इच्छा वाला यजन करे)। दर्शपूर्णमास शब्द से कहे जाने वाले कौन से याग हैं? जिन के कथन में पौर्णमासी शब्द और अमावास्या शब्द [प्रयुक्त] हैं वे आग्नेयादि याग हैं। (आक्षेप) अमावास्या शब्द से कहे जाने वाले यागों से फल नहीं सुना जाता है। (समाधान) ['दर्शपूर्णमासाभ्यां' वचन में] पृथक् रूप में दो समुदायों का निवेश है इन पौर्णमासी और अमावास्या शब्दों से कहे जाने वाले यागों का। तीन आग्नेय आदि यागों का जो समुदाय है उसमें पौर्णमासी शब्द और अन्यों (=के समुदाय) में अमावास्या शब्द। पौर्णमासी और अमावास्या ये दो शब्द क्यों सुने जाते हैं? ['दर्शपूर्णमासाभ्याम्' वचन में] दो अर्थ वालों के समान कथन होने से। वह द्व्यर्थवद् वचन कैसे हैं? 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' ऐसा द्विवचन के निर्देश से। एक अर्थ वाले दो दर्श और पौर्णमास शब्द हैं। किस हेतु से? दर्शो वा एतयोः पूर्वः पूर्णमास उत्तरस्तयोरथ यत्पूर्णमासं पूर्वमारभते तद् अयथापूर्वं प्रक्रियते (=इन में दर्श पूर्व है और पूर्णमास उत्तर है। इन दोनों में से जो पूर्णमास को पूर्व आरम्भ करता है वह अयथापूर्व किया जाता है)। पूर्णमासमारभमाणः सरस्वत्यै चरुं निर्वपेत्, सरस्वते द्वादशकपालम् (=पूर्णमास को आरम्भ करने वाला सरस्वती के लिये चरु का निर्वाप करे और सरस्वान् के लिये द्वादश कपाल पुरोडाश का)। अमावास्या वै सरस्वती, पूर्णमासः सरस्वान्। उभावेतौ यथा-

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—अतिस्वल्पभेदेन मै० सं० १।४।१५; तथा स्वल्पीयानभिप्रायः तै० सं० ३।५।१।।

तत्र दर्शशब्देन प्रकृत्याऽमावास्याशब्देन ब्रुवन्नेकार्थतां दर्शयति। शक्यते च चन्द्रस्यादर्शनेनामावास्या दर्श इति लक्षयितुम्। यथा चक्षुषोरभावे सति चक्षुष्मानिति चक्षुर्भ्यां लक्ष्यते। एतस्माद् व्यपदेशाच्च श्रुतितश्च। लोके श्रवणादेकार्थतामेवाध्यवस्यामः।

तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वम्। यदन्यत् तत्संनिधौ श्रूयते तत्तदङ्गम्। कथम्? इतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य संनिधौ श्रूयमाणम्, इतिकर्तव्यताविशेषणत्वेन परिपूरणसमर्थं तदङ्गं भवितुमर्हति। अकल्प्यमाने वाक्यशेषे फलं कल्पयितव्यं स्यादिति। आह। ननु दर्शपूर्णमासफलमेवात्रानुषज्यते। उच्यते। शक्यमनुषक्तुं, किंतु दर्शपूर्णमासवाक्यं साकाङ्क्षमेव स्यात। अन्याऽस्येतिकर्तव्यताऽश्रुता कल्प्येत।

पूर्वं कल्पयित्वाऽऽरभत ऋद्ध्यै, ऋध्नोत्येवाथ मिथुनत्वाय (=अमावास्या सरस्वती है और पूर्णमास सरस्वान् है। इन दोनों को यथापूर्व=यथाक्रम करके ऋद्धि के लिये आरम्भ करता है, ऋद्धि को प्राप्त होता है दोनों के योग के लिये)। इस वचन में 'दर्श' शब्द से आरम्भ करके [उपसंहार में उस को] अमावास्या शब्द से कहता हुआ [दोनों की] एकार्थता को दर्शाता है। और चन्द्र के अदर्शन से अमावास्या दर्श शब्द से लक्षित की जा सकती है। जैसे आंखों का अभाव होने पर 'चक्षुओं वाला' आंखों से लक्षित होता है। इस व्यवहार से और श्रुति से। लोक में श्रवण होने से [दर्श और अमावास्या की हम] एकार्थता का ही निश्चय करते हैं।

विवरण—शक्यते च चन्द्रस्यादर्शनेन इत्यादि में भाष्यकार का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि लोक व्यवहार में चक्षु के अभाव में अन्धे पुरुष को प्रज्ञाचक्षु कहते हैं। उस में जैसे चक्षु शब्द से चक्षु का अभाव द्योतित होता है, ऐसे ही चन्द्र के अदर्शन में दर्श शब्द से अदर्शन लक्षित होता है। अमावास्या के लिये दर्श शब्द के व्यवहार का एक निमित्त अमावास्या में चन्द्रमा का कदाचित् दर्शन होना भी हो सकता है।

व्याख्या—वह मुख्य का लक्षण है जो फलवत्व है [अर्थात् फलयुक्त मुख्य कहा जाता है]। और जो उस (=फलवान् कर्म) के समीप में सुना जाता है वह उस का अङ्ग होता है। किस हेतु से? इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा वाले के समीप में श्रूयमाण, इतिकर्त्तव्यतारूप विशेषण से जो परिपूरण में समर्थ है। वह अङ्ग होने योग्य है, वाक्यशेष की कल्पना न करने पर फल की कल्पना करनी होगी [अर्थात् प्रधान यागों के शेषत्व=अङ्गत्व की कल्पना न करने पर आघारादि यागों के फल की कल्पना करनी पड़ेगी] (आक्षेप) दर्शपूर्णमास का जो फल है वही यहां (आघारादि में) अनुषक्त होता है। (समाधान) अनुषक्त किया जा सकता है, किन्तु [उस अवस्था में] दर्शपूर्णमास वाक्य साकाङ्क्ष ही होगा [अर्थात् दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत वाक्य की केन कथं स्वर्गं भावयेत् 'किस साधन से और कैसे स्वर्ग को प्राप्त करें' यह इतिकर्त्तव्यतारूप आकांक्षा बनी रहेगी। आकाङ्क्षा को मिटाने के लिये] अन्य

एषामपि प्रयाजादीनामन्या कल्प्येत । एतदितिकर्तव्यताऽवगम्यमानोत्सृज्येत । तेनाङ्गत्वं कारणभागीति । एषामन्येन फलेन संबन्धोऽश्रुतः । तस्मान्न सर्वाणि समप्रधानानि, आघारादीनि गुणकर्माणीति ॥३४॥

गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाङ्गेषूपपद्यन्ते ॥३५॥ (उ०)

नामविशेषसंयुक्ताश्च गुणविशेषा विधीयन्ते । यथा—चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावास्याम्[1] इति । सर्वेषु प्रधानेष्वस्मिन् समुदाये चतुर्होत्रा, अस्मिन् पञ्चहोत्रा, इति विभागाविज्ञानाच्चेदं नोपपद्येत । भवति चैवंलक्षणकं गुणविधानम् । तस्मादस्मत्पक्ष एवेति । अपि चाङ्गत्वेनाऽऽघारादीनां संस्तुतिरुपपन्ना भविष्यति ॥३५॥

तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाङ्गिसंबन्धः ॥३६॥ (पू०)

अश्रुत इतिकर्तव्यता की कल्पना करनी पड़ेगी। इन (=आघारादि याग) के प्रयाजादि अन्य इतिकर्त्तव्यता कल्पित की जायेगी। और [दर्शपूर्णमासों की] यह प्रतीयमान इतिकर्त्तव्यता छोड़नी पड़ेगी। इस हेतु से [आघारादि यागों का] अङ्गत्व कारणभागी है अर्थात् सकारण है। इन का अन्य फल के साथ सम्बन्ध श्रुत नहीं है। इस से सब कर्म समप्रधान नहीं हैं, आघारादि गुणकर्म (=अङ्ग कर्म) हैं ॥३४॥

गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाङ्गेषूपपद्यन्ते ॥३५॥

सूत्रार्थः—(च) और (गुणाः) गुणविशेष (नामसंयुक्ताः) पौर्णमासी और अमावास्या नामों से संयुक्त (विधीयन्ते) विधान किये जाते हैं। वे (अङ्गेषु) अङ्गों में (न) नहीं (उपपद्यन्ते) उपपन्न होते हैं। [गुणविधायक वचन भाष्य व्याख्या में देखें]।

व्याख्या—नाम विशेष से संयुक्त ही विशेषों का विधान किया जाता है। जैसे—चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावास्याम् (=चतुर्होतृ संज्ञक मन्त्र से पौर्णमासी [के हवि] का स्पर्श करे, पञ्चहोतृ संज्ञक मन्त्र से अमावास्या [के हवि] का)। सब यागों को प्रधान मानने पर इस समुदाय में चतुर्होतृ से, इसमें पञ्चहोतृ से [स्पर्श करे] यह विभाग का परिज्ञान न होने से यह अभिमर्शन उपपन्न नहीं होता। परन्तु होता है इस लक्षणवाला गुण का विधान। इस से हमारा पक्ष [सब समप्रधान नहीं है। आघारादि अङ्ग हैं] ही उपपन्न होता है। और भी आघारादि की अङ्गत्वरूप से संस्तुति भी उपपन्न हो जायेगी। चतुर्होतृमन्त्र और पञ्चहोतृमन्त्र तै० आ० ३।२।३ में देखें ॥३५॥

तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाङ्गिसंबन्धः ॥३६॥

सूत्रार्थः—[पूर्णपक्षी कहता है] आग्नेयादि यागों में भी (कारणश्रुतिः) अङ्गत्व

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—आप० श्रौत० ४।८।८—चतुर्होत्रा पौर्णमास्यां हवींष्यासन्नान्यभिमृशेत् प्रजाकामः, पञ्चहोत्राऽमावास्यायां स्वर्गकामः ॥

अथ यदुक्तम्—आग्नेयादीनामप्यङ्गत्वेन संस्तुतिरङ्गत्वं ख्यापयेदिति। तत्परिहर्तव्यम् ॥३६॥

उत्पत्तावभिसंबन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् ॥३७॥

नैष दोषः। प्रधानानामप्येषां सतामुत्पत्त्यपेक्षया शिरआदिस्तुतिर्भविष्यति। यथा—जायमानस्य हि पुरुषस्याग्रे शिरो जायते, मध्ये मध्यं, पश्चात्पादौ[1]। एवमाग्नेयोऽग्रतः; उपांशुयाजो मध्ये, अग्नीषोमीयः पश्चादिति। एतस्मात् सामान्यादेषा स्तुतिरिति ॥३७॥

प्रयोजिका स्तुति (तुल्या च) समान ही है। इससे आग्नेय आदि का भी (अङ्गाङ्गिसम्बन्धः) अङ्गाङ्गी सम्बन्ध क्यों नहीं है अर्थात् आग्नेयादि की भी शिरोवत् संस्तुति होने से वे भी अङ्ग ही हैं।

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने तुल्या च कारणश्रुत्तिरन्यैरङ्गाभिधानैः सूत्रपाठ मानकर अर्थ किया है—'आग्नेयादि यागों में भी (कारणश्रुतिः) अङ्गत्व प्रयोजिका हृदयादि स्तुति (अन्यैरङ्गाभिधानैः) अन्य आज्यभागादि विषय में चक्षु आदि स्तुतियों के (तुल्या) तुल्य है, इसलिये उनका भी अङ्गत्व क्यों न होवे ?

व्याख्या—और जो कहा है—'आग्नेयादि की भी अङ्गत्व रूप से संस्तुति [उनका] अङ्गत्व प्रसिद्ध करे' उस का परिहार करना चाहिये ॥३६॥

विवरण—भाष्य के पाठ से प्रतीत होता है कि भाष्यकार के समय इस सूत्र का पाठ कुछ अन्य रहा होगा ॥३६॥

उत्पत्तावभिसंबन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(उत्पत्तौ) उत्पत्ति में (अभिसंबन्धः) क्रमविशेष का सम्बन्ध है (तस्मात्) उसकी अपेक्षा से (अङ्गोपदेशः) आग्नेयादि के अङ्गत्व का कथन (स्यात्) होवे।

व्याख्या - यह दोष नहीं है। इन के प्रधान होते हुए भी उत्पत्ति की अपेक्षा से शिर आदि की स्तुति उपपन्न हो जायेगी। जैसे—जायमानस्य हि पुरुषस्याग्रे शिरो जायते मध्ये मध्यं पश्चात् पादौ (=उत्पन्न होते हुए पुरुष का पहले शिर उत्पन्न होता है, मध्य में मध्य भाग, अन्त में पैर)। इसी प्रकार [पौर्णमास याग में] आग्नेय पहले है, उपांशुयाज मध्य में और अग्नीषोमीय अन्त में। इस सामान्य से यह स्तुति है ॥३७॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३८॥

चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम्,[1] इति। इतरथा न चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो भवेयुः। न वाऽमावास्यायां त्रयोदशेति। तस्मादाग्नेयादीनि प्रधानानि, आघारादीन्यङ्गानीति सिद्धम् ॥३८॥ **आघारादीनामङ्गताधिकरणम् ॥११॥**

—:०:—

[सोमयागस्यैव प्राधान्याधिकरणम् ॥१२॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमः—**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**[2] इति। तत्र दीक्षणीयादयश्च यागा विद्यन्ते, सौत्ये चाहनि सोमयागः। तत्र संदेहः—किमत्र यागमात्रं प्रधानमुत सोमयाग इति? किं प्राप्तम्?

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३८॥

सूत्रार्थः—(तथा च) वैसा ही (अन्यार्थदर्शनम्) अन्य प्रयोजन वाला दर्शन है।

व्याख्या—चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम् (=चौदह आहुतियां पौर्णमासी में दी जाती हैं, तेरह अमावास्या में)। यदि आघारादि अङ्ग न होवें तो पौर्णमासी में चौदह आहुतियां न होवें और न अमावास्या में तेरह आहुतियां। इस लिये आग्नेयादि प्रधान हैं और आघारादि अङ्गयाग हैं यह सिद्ध होता है।

विवरण—चतुर्दशपौर्णमास्यामाहुतयः—यह वचन मी० २।२।८ के भाष्य में भी व्याख्यात है। इसकी व्याख्या मी० २।२।८ के भाष्य व्याख्या के विवरण (पृष्ठ ४६०) में देखें ॥३८॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम कहा है—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामना वाला यजन करे)। वहां दीक्षणीयादि याग हैं और सौत्य (=जिस दिन सोम का अभिषव किया जाता है) दिन सोमयाग है। वहाँ सन्देह होता है क्या यहां यागमात्र प्रधान है अथवा सोमयाग [प्रधान है]? क्या प्राप्त होता है?

---

१. अनुपलब्धमूलम्। संकर्षकाण्डे २।२।३० तमे सूत्रे इतिपदेन वाक्यमिदमुद्ध्रियते।
२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—आप० श्रौत १०।२।१ ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत।

ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥

ज्योतिष्टोमे तुल्यानि सर्वाणि भवेयुः। कुतः? अविशिष्टं हि कारणम्। यागात्फलं श्रूयते। सर्वे चामी यागाः। फलवच्च प्रधानम्। तस्माज्ज्योतिष्टोमे सर्वे यागाः प्रधानमिति ॥३९॥

गुणानां तूत्पत्तिवाक्येन सबन्धात् कारणश्रुतिस्तस्मात् सोमः प्रधानं स्यात् ॥४०॥

गुणानां तूत्पत्तिवाक्येन संबन्धो भवति। केषां गुणानाम्? ज्योतिषां स्तोमानाम्। कतमेनोत्पत्तिवाक्येन संबन्धो भवति? 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'[1] इति। ज्योतिष्टोमाद् यागात् स्वर्गः श्रूयते, न यागमात्रात्। यत्र च ज्योतींषि स्तोमाः स

ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(ज्योतिष्टोमे) ज्योतिष्टोम में श्रूयमाण दीक्षणीयादि याग और सोमयाग (तुल्यानि) एक जैसे हैं अर्थात् सभी प्रधान हैं। (कारणम्) यागरूपी कारण (अविशिष्टम्) समान (हि) ही है। अर्थात् याग से फल कहा गया है। ये सभी याग हैं, अतः फलवान् होने से प्रधान हैं।

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में [श्रूयमाण] सभी याग तुल्य होवें। क्योंकि [प्रधानता का] कारण समान है। याग से फल सुना जाता है। ये सभी [दीक्षणीयादि] याग हैं। और फल वाला प्रधान होता है। इसलिये ज्योतिष्टोम में सब याग प्रधान हैं ॥३९॥

गुणानां तूत्पत्तिवाक्येन ·······सोमः प्रधानं स्यात् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् सब प्रधान नहीं हैं। (गुणानाम्) ज्योतिरूप सोम गुणों का (उत्पत्तिवाक्येन) 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' रूप उत्पत्ति वाक्य से (सम्बन्धात्) सम्बन्ध होने से (कारणश्रुतिः) सोमयाग के प्रधान होने में कारण का श्रवण है। (तस्मात्) इसलिये (सोमः) सोमयाग (प्रधानम्) प्रधान (स्यात्) होवे।

व्याख्या—गुणों के उत्पत्ति वाक्य से सम्बन्ध होता है। किन गुणों का? ज्योतिरूप स्तोमों का। किस उत्पत्ति वाक्य से [ज्योतिरूप स्तोमों का] सम्बन्ध होता है? ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामना वाला यजन करे)। ज्योतिष्टोम याग से स्वर्ग सुना जाता है, केवल याग मात्र से नहीं। और जहां स्तोम ज्योतियां हैं वह

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौत १०।२।१॥

ज्योतिष्टोमः। कस्य ज्योतींषि स्तोमाः? सोमयागस्येति ब्रूमः। एवं ह्याम्नायते—कतमानि वा एतानि ज्योतींषि, य एतस्य स्तोमास्त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशैकविंशाः। एतानि वा ज्योतींषि। तान्येतस्य स्तोमा[1] इति। सोमयागस्य स्तोमा अङ्गम्। समभिव्याहारात्। ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति[2] इति। ते च स्तोमास्त्रिवृदादयः। कथम्? त्रिवृद्बहिष्पवमानं, पञ्चदशान्याज्यानि इत्येवमादिभिः श्रवणैः। तस्मात् त्रिवृदादिस्तोमकः सोमयागः। स ज्योतिष्टोम इति। यश्च ज्योतिष्टोमस्ततः फलम्। यतश्च फलं तदेव प्रधानमिति। कथं पुनस्त्रिवृदादयो ज्योतींषि? उच्यते। भवन्तु वा ज्योतींषि, मा भूवन्। ज्योतिःशब्देन तावदुक्तानि। वचनमात्रेणापि शब्दो भवति, विशेषतो लक्षणायाम्। अपि च द्योततेर्वा दीप्तिकर्मणो द्योतयतेर्वा ज्योतिःशब्दं लभन्ते। द्योत्यन्ते हि तैः शब्दैर्द्योतयन्तीति वा स्तुत्यम्। तस्मात् सोमयागो ज्योतिष्टोमः। स च प्रधानम्, गुणभूता दीक्षणीयादय इति ॥४०॥

ज्योतिष्टोम [कहाता] है। स्तोम किस की ज्योतियां हैं? सोमयाग की ऐसा हम कहते हैं। ऐसा पढ़ा है—कतमानि वा एतानि ज्योतींषि, य एतस्य स्तोमास्त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशैकविंशाः। एतानि वा ज्योतींषि तान्यस्य स्तोमाः (=इस की ये कौन सी ज्योतियां हैं? जो इसके त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश और एकविंश स्तोम हैं। ये ही ज्योतियां हैं वे ही इसके स्तोम हैं)। सोमयाग के स्तोम अङ्ग हैं समभिव्याहार (=कथन) होने से। ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वा उन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति (=ग्रह का ग्रहण करके अथवा चमस का उन्नयन करके स्तोत्र का पाठ करता है)। वे स्तोत्र=स्तोम त्रिवृत् आदि हैं। किस हेतु से? 'त्रिवृद् बहिष्पवमान पञ्चदश आज्यानि' इत्यादि श्रवण से। इसलिये त्रिवृत् आदि स्तोम वाला सोमयाग है। वह ज्योतिष्टोम है। और जो ज्योतिष्टोम है उससे फल कहा है और जिससे फल प्राप्त होता है वही प्रधान होता है। त्रिवृत् आदि ज्योतियां कैसे हैं? समाधान—[त्रिवृत् आदि] ज्योतियां होवें वा न होवें, ज्योति शब्द से ये कहे गये हैं। वचन मात्र से भी शब्द [का प्रयोग] होता है, विशेष करके लक्षणा में। और भी, दीप्ति अर्थ वाली द्युत धातु से अथवा द्योतयति णिजन्त से ज्योति शब्द को प्राप्त करते हैं [अर्थात् निष्पन्न करते हैं]। उन [त्रिवृत् आदि] शब्दों से द्योतित होते हैं अथवा [त्रिवृत् आदि शब्द] स्तुत्य को द्योतित करते हैं। इसलिये सोमयाग ज्योतिष्टोम है। और वह प्रधान है, दीक्षणीयादि याग गुणभूत हैं।

विवरण—ज्योतिःशब्दं लभन्ते—वैयाकरण द्युतेरिसन्नादेश्च जः इस उणादि सूत्र (२।११२) से द्युत धातु से इसन् प्रत्यय और आदि दकार को जकारादेश करके सिद्ध करते हैं। निरुक्तकार ने भी अथाप्यादिविपर्ययो भवति, ज्योतिः घनः बिन्दुः वाटचः (निरुक्त २।१) से द्युत धातु से ही ज्योति शब्द का निर्वचन किया है ॥४०॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तदाहुः कतमानि तानि ज्योतींषि। य एतस्य स्तोमा इति। त्रिवृत् पञ्चदशः सप्तदश एकविंश। एतानिवाव तानि ज्योतींषि। य एतस्य स्तोमाः। तै० ब्रा० १।५।११॥ २. अनुपलब्धमूलम्।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४१॥

शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद्दीक्षणीया[1] इत्येवमादि च लिङ्गं दृश्यते । तथा गुणाश्च ज्योतिष्टोमविकारे दीक्षणीयादयो दृश्यन्ते—चतुर्विंशतिमानं हिरण्यं दीक्षणीयायां दद्यात् । प्रायणीयायां द्वे चतुर्विंशतिमाने[2] इति । तुल्यत्वे न प्रवर्तयिष्यन्ते दीक्षणीयादयः । तस्मादपि सोमयागः प्रधानमिति ॥४१॥ ज्योतिष्टोमे दीक्षणीयादीनानङ्गताधिकरणम् ॥१२॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥
संपूर्णश्चतुर्थोऽध्यायः ॥

—:o:—

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४१॥

सूत्रार्थः—(च) और (तथा) अप्रधान अर्थ का बोधक (अन्यार्थदर्शन) अन्यार्थदर्शन अर्थात् लिङ्ग होता है । [वचन भाष्य व्याख्या में देखें] ।

व्याख्या—शिरोवा एतद् यज्ञस्य यद्दीक्षणीया (=निश्चय ही शिर है यज्ञ का जो दीक्षणीया है) इत्यादि लिङ्ग भी देखा जाता है । और ज्योतिष्टोम के विकार (=विकृति) में दीक्षणीयादि गुण भी देखे जाते हैं—चतुर्विंशतिमानं हिरण्यं दक्षिणीयायां दद्यात् प्रायणीयायां द्वे चतुर्विंशतिमाने (=२४ गुञ्जा=रत्ति परिमाण हिरण्य दीक्षणीया में देवे, प्रायणीया में दो चतुर्विंशति गुञ्जा परिमाण हिरण्य देवे) । [दीक्षणीयादि के] तुल्य (=सोमयाग के समान प्रधान) होने पर [सोम की विकृति में] दीक्षणीया आदि प्रवृत्त नहीं होंगी [अङ्गों का ही विकृतियों में प्रवर्तन होता है] । इससे भी सोमयाग प्रधान है ।

विवरण—भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन हमें उपलब्ध नहीं हुए । कुतुहलवृत्तिकार ने 'दूणाश' संज्ञक ज्योतिष्टोम के विकार में उक्त दक्षिणा देने का उल्लेख किया है । लाटचायन श्रौत ८।१०।१ तथा द्राह्यायण श्रौत २४।२।१ में सूत्र है—अतिदिष्टा दक्षिणा ब्राह्मणेन दूणाशस्य । इस पर द्राह्यायण श्रौत के भाष्यकार धन्वी ने लिखा है—दूणाश इति क्रतोनामधेयं शाखान्तरीयम् । लाटचायन श्रौत का व्याख्याकार अग्निस्वामी लिखता है—ऋतपेय उक्तः तदन्तरं पठितं सप्तदशोऽग्निष्टोमः, तस्य दीक्षणीयायामिष्टौ द्वादशमानं हिरण्यं ददाति । दोनों व्याख्याकारों के मतानुसार ताण्डच ब्राह्मण १८।३।१ में उक्त सप्तदशोऽग्निष्टोमः की शाखान्तरीय 'दूणाश' संज्ञा है । उसी में अगले वचन (ता० १८।३।२) में तस्य दीक्षणीयायामिष्टौ द्वादश-

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. अनुपलब्धमूलम् ।

मानं हिरण्यं ददाति आदि का विधान है। ताण्डच ब्राह्मण में दीक्षणीयेष्टि में 'द्वादशमान हिरण्य' प्रायणीया में 'चतुर्विंशतिमान हिरण्य' और आतिथ्या इष्टि में द्विचतुर्विंशतिमान हिरण्य' दक्षिणा का विधान है। कात्यायन श्रौत २२।८।२ में 'दूणाश' कर्म का 'बहुहिरण्य' नामान्तर भी लिखा है—द्वि नामोऽनन्तरो बहुहिरण्यो दूणाशश्च। इसके अनन्तर ६वीं कण्डिका के आरम्भ में ताण्डच ब्राह्मण के समान ही दक्षिणा का मान दिया है। बौधायन श्रौत १८।३७ में दुरश=दुराश नामक एकाह का विधान है, उसमें भी ताण्डच ब्राह्मण के समान ही दीक्षणीया में 'द्वादश मान, प्रायणीया में 'चतुर्विंशतिमान' और आतिथ्या में 'द्विचतुर्विंशतिमान' हिरण्य दक्षिणा कही है। अतः भाष्यकारोक्त दूणाश संज्ञक एकाह का दक्षिणामान किसी अन्य शाखा के अनुसार है अथवा भाष्य में पाठ भ्रंश हुआ है, यह मानना होगा।

इति महामहोपाध्यायानां चिन्नस्वामिशास्त्रिणामपरनामधेयानां
वेङ्कट सुब्रह्मण्यशास्त्रिणामन्तेवासिना
युधिष्ठिर मीमांसकेन
विरचितायां
मीमांसाशाबरभाष्यस्य आर्षमत-विमर्शिन्यां हिन्दीव्याख्यायां
चतुर्थाध्यायः पूर्तिमगात् ॥

—:o:—

पञ्चमेऽध्याये प्रथमः पादः

[श्रौतकर्मनियमाधिकरणम् ॥१॥]

चतुर्थेऽध्याये प्रयोजकाप्रयोजकलक्षणं वृत्तम् तन्न प्रस्मर्तव्यम् । इहेदानीं क्रमनियमलक्षणमुच्यते । तच्छ्रुत्यर्थपाठप्रवृत्तिकाण्डमुख्यैर्वक्ष्यते, श्रुत्यादीनां च बलाबलम् ।

आदितस्तु श्रुतिक्रमश्चिन्त्यते । किं यथाश्रुति पदार्थानां क्रम आस्थेय उतानियमेनेति ? किं प्राप्तम् ? एकत्वात् कर्तुरनेकत्वाच्च पदार्थानामवश्यंभाविनि क्रमे लाघवात् प्रयोगप्राशुभावाच्चानियम इत्येवं प्राप्ते, ब्रूमः—

श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात् ॥१॥ (उ०)

श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वादिति । श्रुतिः—श्रवणमक्षराणाम्, तन्निमित्तं यस्य क्रमस्य स साधुः क्रमः । श्रुतिप्रमाणका हि वैदिका अर्थाः, नैषामन्यत् प्रमाणमस्तीत्युक्तम् । किमिहोदाहरणम् ? सत्रे दीक्षाक्रमे—ये यजमानास्त ऋत्विजः[1] इत्युक्त्वा

व्याख्या—चतुर्थ अध्याय में प्रयोजक और अप्रयोजक का लक्षण कहा है । उसे नहीं भूलना चाहिये । यहां अब क्रम और नियम का लक्षण कहा जाता है । वह श्रुति अर्थ पाठ प्रवृत्ति काण्ड और मुख्य [इन छः प्रमाणों के] द्वारा कहेंगे और श्रुत्यादि का बलाबल भी ।

आरम्भ में श्रुतिक्रम का विचार करते हैं । क्या पदार्थों का क्रम यथाश्रुति स्वीकार करना चाहिये अथवा अनियम से ? क्या प्राप्त होता है । कर्ता के एक होने से और पदार्थों के अनेक होने से क्रम के अवश्य भावी होने पर लाघव [रूप कारण] से और प्रयोग के शीघ्रता से होने के लिये अनियम स्वीकार करना चाहिये, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं ।

श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(श्रुतिलक्षणम्) श्रुति=शब्दों का श्रवण है लक्षण जिसका, ऐसा (आनुपूर्व्यम्) कर्मों का आनुपूर्व्य=क्रम जानना चाहिये । (तत्प्रमाणत्वात्) श्रुति के प्रमाण होने से ।

व्याख्या—श्रुति लक्षण आनुपूर्व्य [मानना चाहिये] उस के प्रमाण होने से । श्रुति=अक्षरों का श्रवण । वह निमित्त है जिस क्रम का, वह क्रम साधु है । श्रुति प्रमाण है जिन में ऐसे ही वैदिक अर्थ हैं, उन का अन्य प्रमाण नहीं है ऐसा कह चुके हैं । यहां क्या उदाहरण है ?

---

१. अनुपलब्धमूलम् । मी० ३।७।३६।। सूत्रभाष्ये 'ये ऋत्विजस्ते यजमानाः' पाठ है ।

तेषां दीक्षाक्रमं विधत्ते—अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति, तत उद्गातारं, ततो होतारम। ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वार्ऽधिनो दीक्षयति—ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारमुद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः। ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति—आग्नीध्रं ब्रह्मणः, प्रतिहर्तारमुद्गातुः, अच्छावाकं होतुः। ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा पादिनो दीक्षयति—पोतारं ब्रह्मणः, सुब्रह्मण्यमुद्गातुः, ग्रावस्तुतं होतुः। ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति, ब्रह्मचारी वाऽऽचार्यप्रेषितः[1] इति।

सत्र में दीक्षा के क्रम में 'जो यजमान हैं वे ही ऋत्विक् हैं',[2] ऐसा कह कर उनके दीक्षा क्रम का विधान करते हैं—'अध्वर्यु गृहपति (=यजमान) को दीक्षित करके ब्रह्मा को दीक्षित करता है, तत्पश्चात् उद्गाता को, तत्पश्चात् होता को। तदनन्तर उस (=अध्वर्यु) को प्रतिप्रस्थाता दीक्षित करके अर्धियों (=अर्ध दक्षिणा के भागी ऋत्विजों) को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के ब्राह्मणाच्छंसी को, उद्गाता के प्रस्तोता को, होता के मैत्रावरुण को। तत्पश्चात् उस (=प्रतिप्रस्थाता) को नेष्टा दीक्षित करके तृतीयियों (=तीसरे भाग दक्षिणावालों) को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के आग्नीध्र को, उद्गाता के प्रतिहर्त्ता को, और होता के अच्छावाक को। तदनन्तर उस (=नेष्टा) को उन्नेता दीक्षित करके पादियों (=चतुर्थ भाग दक्षिणा वालों को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के पोता को, उद्गाता के सुब्रह्मण्य को, होता के ग्रावस्तुत् को। तत्पश्चात् उस (=उन्नेता) को अन्य ब्राह्मण दीक्षित करता है अथवा आचार्य-प्रेषित ब्रह्मचारी।

विवरण—नैवामन्यत् प्रमाणमस्ति इत्युक्तम्—धर्म में प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है यह प्रथमाध्याय के प्रथमपाद के सूत्र ४ अधि० ४ में कह चुके हैं। सत्रे दीक्षाक्रमे—सत्र नामक सोमयाग न्यूनातिन्यून बारह दिन का होता है और उस से अधिक कई वर्षों तक का। (इन के विषय में श्रौतसूत्रों में देखें)। सत्र यागों में न्यूनातिन्यून १७ ब्राह्मण परिवार मिल कर इस कर्म को करते हैं। इनमें वस्तुतः सभी यजमान हैं, परन्तु कार्य की निष्पत्ति के लिये १६ व्यक्ति ऋत्विजों का कार्य करते हैं। सभी के यजमान होने से इस में दक्षिणा का प्रसंग ही प्राप्त नहीं होता। उपर्युक्त वाक्यों में जो अर्धिनः तृतीयिनः पादिनः शब्दों का व्यवहार किया है, वह सामान्य सोमयाग की दृष्टि से है। सोमयाग में १ यजमान और १६ ऋत्विक् होते हैं। ब्रह्मा अध्वर्यु उद्गाता और होता ये चार प्रधान ऋत्विक् हैं। इनके तीन तीन सहयोगी ऋत्विक् होते हैं। कर्म की न्यूनाधिकता से दक्षिणा में न्यूनाधिकता कही गयी है। दक्षिण की न्यूनाधिकता को बताने के लिये हम ऋत्विग्गणों के नामों का और उदाहरणार्थ १००० एक सहस्र रुपयों

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० शत० १२।१।१।१-१०।; गोपथ पू० ४।१।१-६॥

२. यहां से पूर्व ४ अध्याय तक भाष्य में उद्धृत वचनों को व्याख्या में पढ़ कर उनका भाषार्थ किया है। परन्तु यहां से भाष्यव्याख्या में उद्धृत वचनों का निर्देश न कर के उनका भाषार्थ ही लिखेंगे। उद्धृत वचन मूल भाष्य में देखें।

अनियमे न क्रमः कर्तव्यो यथा पूर्वः पक्षः। यथा तर्हि सिद्धान्तः, एष एव क्रमः कर्तव्य इति। तत्राऽऽह—अन्याय्यं श्रुतिवचनमिति। उच्यते। किमेष न साधुः? न न साधुरिति ब्रूमः। न्याय्यं तर्हि? न ब्रूमो न साधुः क्रम इति। किं तर्हि? उक्तस्य पुनर्वचनमन्याय्यमिति। उच्यते। साधोर्वचनं बहुशोऽप्युच्यमानं न्याय्यमेव। असाधोस्तु सकृदप्यन्याय्यम्। आह—सकृद्वचनेन ज्ञातस्य पुनर्वचने न प्रयोजनमस्तीति। उच्यते, भवत्यस्मरणमपि प्रयोजनमित्युक्तम्। वृत्तिकारेण तत्कार्यमिति चेत्, सूत्रकारस्याप्यविशेषो वृत्तिकारेण।

की सम्पूर्ण दक्षिणा चारों गणों के हिस्से में २५०-२५० रु० आती है। उन २५० रुपयों की प्रत्येक गण के ऋत्विजों में बंटवारे का निर्देश भी करते हैं—

दक्षिणा	अध्वर्युग	होतृगण	उद्गातृगण	ब्रह्मगण
पूर्ण १२० रु०	अध्वर्यु	होता	उद्गाता	ब्रह्मा
अर्धभाग ६० रु०	प्रतिप्रस्थाता	मैत्रावरुण	प्रस्तोता	ब्राह्मणाच्छंसी
तीसरा भाग ४० रु०	नेष्टा	अच्छावाक	प्रतिहर्ता	अग्नीत् (आग्नीध्र)
चतुर्थभाग ३० रु०	उन्नेता	ग्रावस्तुत्	सुब्रह्मण्य	पोता

व्याख्या—नियम न होने पर क्रम कर्त्तव्य नहीं है जैसा कि पूर्वपक्ष है। और जैसा सिद्धान्त है यही क्रम कर्तव्य है। (आक्षेप) श्रुतिवचन अन्याय है। (समाधान) क्या यह [श्रुति वचन] साधु नहीं है? (आक्षेप) 'साधु नहीं है' ऐसा नहीं कहते। तो न्याय्य है? साधु नहीं है ऐसा नहीं कहते, तो क्या कहते हो? कहे हुए का पुनर्वचन अन्याय्य है। (समाधान) साधु का कथन बहुशः कहना भी न्याय्य है और असाधु का एक बार कथन भी अन्याय्य है। (आक्षेप) एक बार कहने से ज्ञात के पुनः कथन में प्रयोजन नहीं है। (समाधान) [एक बार कहे हुए का] अस्मरण भी हो जाता है [इसलिये] प्रयोजन कहा है। यह कार्य वृत्तिकार को करना चाहिये, ऐसा कहो तो सूत्रकार का भी वृत्तिकार से अविशेष (=भेद का अभाव) है।

विवरण—सूत्रकारस्याप्यविशेषो वृत्तिकारेण—इसका तात्पर्य यह है कि वृत्तिकार जो कुछ कहता है उसका मूल सूत्र में ही होता है। वैयाकरणों का कथन है—सूत्रेष्वेव तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके=सूत्र में ही वह सब है जो वृत्ति वा वार्तिक में कहा है। अथवा जैसे व्याकरण में लक्षण (=सूत्र विशेष से कार्य सामान्य का कथन) और प्रपञ्च (=सामान्य लक्षण से विहित अर्थ में सूत्रान्तरों से विधान) दोनों प्रकार से प्रवृत्ति होती है। उसी प्रकार से सभी सूत्र ग्रन्थों में सामान्य प्रवृत्ति समझनी चाहिये। इसी दृष्टि से महाभाष्य ६।३-१४ में कहा है—तं वै खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं केवलः प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति। अर्थात् निश्चय से वे ही विधियां अच्छे प्रकार से सुपरिगृहीत होती हैं जिन का लक्षण और प्रपञ्च होता है। केवल लक्षण और केवल प्रपञ्च उस प्रकार (=अच्छे प्रकार) से साधक नहीं होता॥१॥

अथवा—अर्थान्तरमेवेदम्। तत्र ह्यन्य एव संशयो विचारो निर्णयश्च। श्रुतिप्रमाणको धर्मः, अन्यप्रमाणक इति संशयः। प्रत्यक्षादीनामधिगम्य निमित्तत्वान्न तत्प्रमाणकः, अतोन्द्रियत्वाच्चोदनालक्षण इति विचारः। चोदनालक्षण एवेति निर्णयः। इह तु सिद्धे तत्प्रामाण्ये व्यवहारक्रमस्य[1] साधुत्वावधारणम्।

अथवा—श्रुतिक्रमविचारोऽयम्। किं पदार्थाः कर्तव्या इति विधानं किंवा क्रमो विधीयत इति? अनेकार्थविधानानुपपत्तेः क्रमोऽनुवादो, दीक्षादीनां पदार्थानां विधिः। अवदानवाक्येष्विव[2] पदार्थविधानं श्रुत्या, क्रमविधानं वाक्येन। तस्मान्न क्रमो विधीयत इति पूर्वः पक्षः।

नन्ववदानवाक्येषु क्रमो विधीयते। सत्यं विधीयते पाठेन, न श्रुत्या। य ऋत्विजस्ते यजमानाः[3] इति तु दीक्षायाः प्राप्तत्वात् क्रमविधानार्था श्रुतिरिति सिद्धान्तः। तस्मादपुनरुक्तमिति ॥१॥ **क्रमनियमाधिकरणं वर्णकत्रयसहितम् ॥१॥**

—:o:—

अथवा—यह अर्थान्तर ही है। वहां अन्य ही संशय विचार और निर्णय है। धर्म श्रुति प्रमाण वाला है अथवा अन्य प्रमाण वाला यह संशय है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अधिगम्य (=जो इन्द्रियों से जाना जाये) निमित्त वाला होने से प्रत्यक्षादि प्रमाण वाला [धर्म] नहीं है। और अतीन्द्रिय होने से चोदना लक्षण (=श्रुति वचन से जानने योग्य) धर्म है यह विचार है। चोदना लक्षण ही धर्म है यह निर्णय है। यहां तो उसके प्रामाण्य के सिद्ध होने पर व्यवहार के क्रम साधुत्व का अवधारण (=नियमन) है ॥१॥

अथवा—श्रुति क्रम का यह विचार है। क्या पदार्थ कर्तव्य हैं, यह विधान है अथवा क्या क्रम का विधान किया जाता हैं? अनेक अर्थों के विधान की उपपत्ति न होने से क्रम अनुवाद है, दीक्षादि पदार्थों की विधि है। अवदान वाक्यों के समान पदार्थ का विधान श्रुति से है, क्रम का विधान वाक्य से। इसलिये क्रम का विधान नहीं है, यह पूर्व पक्ष है।

(आक्षेप) अवदान वाक्यों में क्रम का विधान किया जाता है। (समाधान) सत्य है, पाठ से विधान किया जाता है, श्रुति से नहीं। 'जो ऋत्विक् हैं वे यजमान हैं' से तो [ऋत्विजों के यजमान होने से] दीक्षा के प्राप्त होने से क्रम के विधान के लिये श्रुति है, यह सिद्धान्त है। इस लिये यह पुनरुक्त नहीं है।

---

१. 'व्यवहारः क्रमस्य' इति पूनामुद्रिते पाठः।

२. अवदानवाक्येष्विति—'हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसः' (तै० सं० ६।३।१०॥ इत्यदिष्वित्यर्थः।

३. अनुपलब्धमूलम्।

[आर्थक्रमनियमाधिकरणम् ॥२॥]

किमेष एवोत्सर्गः, सर्वत्र श्रुतिवशेनैव भवितुमर्हतीति ? उक्तं हि, 'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः'[1] इति प्राप्ते ब्रूमः—

अर्थाच्च ॥२॥ (उ०)

अर्थाच्च—सामर्थ्याच्च क्रमो विधीयत इति। गुणभूतो हि पदार्थानां क्रमो भवति। यश्च यस्य निर्वर्त्यमानस्योपकरोति स तस्य गुणभूतः। यस्मिंश्चाऽऽश्रीयमाणे पदार्थ एव न संपद्यते, न स गुणभूतः। विनाऽपि तेन न वैगुण्यम्। एवं प्रत्यक्षः क्रमस्य गुणभावो यत्र, तत्रार्थेन स एवाऽऽश्रयितव्यः। यथा 'जाते वरं ददाति। जातमञ्जलिना गृह्णाति। जातमभिप्राणिति'[2] इति। अर्थात्पूर्वमभिप्राणितव्यम्, ततोऽञ्जलिना ग्रही-

---

विवरण—अवदानवाक्येष्विव—यहां 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया, अथ वक्षसः' (तै० सं० ६।३।१०) इत्यादि अवदान क्रमविधायक वाक्य अभिप्रेत हैं। दीक्षायाः प्राप्तत्वात्-इस का भाव यह है कि सत्र में सभी ऋत्विक् यजमान होते हैं। अग्निष्टोम में यजमान की दीक्षा का विधान होने से सत्र में सभी यजमानों की दीक्षा प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस अति-देश से प्राप्त है। केवल क्रम का विधान श्रुति से होता है ॥१॥

—:०:—

व्याख्या—क्या यही उत्सर्ग (=सामान्य) नियम है—सर्वत्र श्रुति से ही क्रम का नियम होना योग्य है ? कहा भी है—चोदना लक्षण वाला अर्थ धर्म होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते है—

अर्थाच्च ॥२॥

सूत्रार्थः—(अर्थात्) अर्थ=सामर्थ्य से (च) भी क्रम का विधान होता है ॥१॥

व्याख्या—अर्थ से भी। सामर्थ्य से भी क्रम का विधान किया जाता है। पदार्थों का क्रम [पदार्थ की अपेक्षा] गुणभूत (=गौण) ही होता है, और जो जिस निर्वर्त्यमान (=सिद्ध किये जाते हुए) का उपकार करता है, वह उस का गुणभूत होता है। जिस के आश्रय करने पर पदार्थ ही संपन्न न होवे वह गुणभूत नहीं होता है। उस के विना भी वैगुण्य नहीं होता है। इस प्रकार जहां क्रम का गुणभाव प्रत्यक्ष है, वहां अर्थ=सामर्थ्य से उसी का आश्रयण करना चाहिये। जैसे—'[अग्नि के] उत्पन्न होने पर वर देता है'। 'उत्पन्न हुए [अग्नि] को अञ्जलि से ग्रहण

---

१. मी० १।१।२॥

२. अनुपलब्धमूलमुक्तक्रमेण। द्र०—'जाते यजमानो वरं ददाति, जातं यजमानोऽभि-प्राणिति···; जातमञ्जलिनाभिगृह्य···। आप० श्रौत ५।११।४,६,७॥ जाते वरं ददाति, जातम-भिप्राणिति, अथैनं हस्ताभ्यां परिगृह्णाति। भार० श्रौत ५।६।३,४,५॥

तव्यः, ततो वरो देय इति। तथा, विमोकः[1] पूर्वमाम्नातः, पश्चात्तद्योगः[2]। अर्थाद्विपरीतः कार्यः। याज्यानुवाक्ये तु विपर्ययेणाऽऽम्नाते[3] विपर्ययेण कर्तव्ये। नात्र पाठक्रमोऽनुष्ठीयते। यतो देवतोपलक्षणार्थाऽनुवाक्या, प्रदानार्था याज्या **अग्निहोत्रं जुहोति**[4] इति पूर्वमाम्नातम्, **ओदनं पचति**[5] इति पश्चात्। असंभवात् पूर्वमोदनः पक्तव्यः। प्रैषप्रैषार्थौ तु विपर्ययेणाऽऽम्नातौ, तौ च विपर्ययेण कर्तव्यौ ॥२॥ **क्रमस्य क्वचिदार्थिकत्वाधिकरणम् ॥२॥**

—:o:—

करता है।' 'उत्पन्न हुए [अग्नि] को अभिप्राणित करता है (=गोबर के चूर्ण से फूंक देकर बढ़ाता है)'। यहां सामर्थ्य से [अरणिमन्थन से उत्पन्न हुई अग्नि को] पहले अभिप्राणित करना चाहिये तदनन्तर उसे अञ्जलि से ग्रहण करना चाहिये, तत्पश्चात् वर देना चाहिये। इसी प्रकार [अग्नि का] विमोक पूर्व पढ़ा है, पश्चात् उस का योग। सामर्थ्य से विपरीत करना चाहिये। याज्या और अनुवाक्या विपरीत भाव से पठित हैं उन्हें विपरीत करना चाहिये। यहां (=याज्या अनुवाक्या में) पाठ का क्रम अनुष्ठित नहीं किया जाता है। यतः देवता को उपलक्षित करने के लिये अनुवाक्या [ऋक् होती है] और [देवता को आहुति के] प्रदान के लिये याज्या। 'अग्निहोत्र होम करता है' यह पूर्व आम्नात है और 'ओदन को पकाता है' यह पीछे पढ़ा है। असम्भव होने से पहले ओदन पकाना चाहिये। प्रैष और प्रैषार्थ विपर्यय से पठित हैं, उन्हें विपर्यय से करना चाहिये।

विवरण—जाते वरं ददाति—जिस क्रम से भाष्यकार ने वचन पढ़े हैं वे हमें उपलब्ध नहीं हुए। आपस्तम्ब और भारद्वाज श्रौत का पाठक्रम भाष्य की टिप्पणी में दिया है। **विमोकः पूर्वमाम्नातः, पश्चात् तद्योगः**—इमं स्तनमूर्जस्वन्तम् इत्यादि मन्त्र से आज्य से पूर्ण स्रुच् से जो होम करना होता है, वह अग्नि का 'विमोक' (=अग्नि को कर्म से मुक्त करना) कर्म कहाता है और **अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन** इस मन्त्र से घृत से अग्नि में होम करना है वह अग्नि का 'योग' कर्म कहाता है। भाष्यकार ने विमोक का पूर्व आम्नान और अग्नियोग का पश्चात् आम्नान कहा है। तै० सं० में ऐसा विपर्यय से निर्देश नहीं है। वहां ५।४।१०।१

1. विमोक इति—'इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापामित्याज्यस्य पूर्णां स्रुचं जुहोत्येष वा अग्नेर्विमोकः (तै० सं० ५।५।१०।७)' इत्येनेन विहितोऽग्निविमोक इत्यर्थः।

2. तद्योग इति—अग्नियोग इत्यर्थः। स च 'अग्निं युनज्मि शवसा घृतेनेति जुहोति, अग्निमेवैतेन युनक्ति' (द्र० तै० सं० ५।४।१०।१) इत्यनेन विहितः। तै० संहितायां तूक्तपाठयोर्नैव वैपरीत्येन निर्देशः।

3. याज्यानुवाक्ययोर्विपर्ययेणाम्नानमनुसन्धेयम्।

4. तै० सं० १।५।९।१॥

5. अनुपलब्धमूलम्।

[क्रमस्य क्वचिदनियमाधिकरणम् ॥३॥]

अनियमोऽन्यत्र ॥३॥ (उ०)

अस्मिन्विषये क्रमस्य नियमो नास्ति । यथा दर्शपूर्णमासयोर्याजमानानां प्रयाजानुमन्त्रणादीनां नानाशाखान्तरसमाम्नातानां, वसन्तमृतूनां प्रीणामि[1] इत्येवमादीनाम्, एको मम[2] इत्येवमादीनां च ॥३॥ क्रमश्च क्वचिदनियामकताधिकरणम् ॥३॥

—:०:—

में अग्नि का योग कहा है और ५।५।१०।७ में अग्नि का विमोक यथाक्रम ही निर्दिष्ट है । आप० श्रौत में भी १७।२३।१ में अग्नियोग और १७।२३।१० में अग्निविमोक का निर्देश है । माध्यन्दिन संहिता में अग्निविमोक का मन्त्र १७।८७ में और अग्नियोग का मन्त्र १८।५१ में विपरीत भाव से पठित उपलब्ध होता है । अतिरात्र संज्ञक कर्म में अग्नियोग और अग्निविमोक के विषय में कई मत हैं । बौधायनश्रौत २२।११ में बौधायन के मत में प्रतिदिन अग्नियोग और अग्निविमोक कहा है । शालीकि के मत में अग्नियोग प्रतिदिन और अन्त में विमोक दर्शाया है । है । औपमन्यव के मत में आदि में ही अग्नियोग और अन्त में ही अग्निविमोक बताया है । कात्या० श्रौत १८।६।१५-१७ भी द्रष्टव्य है । यहां मीमांसा अ० ११ पाद ३, अग्नियोगाधिकरण ७ (सूत्र १८-२१, कहीं सूत्र संख्या में भेद भी है) द्रष्टव्य है । याज्यानुवाक्ये तु—यहां प्रथम याज्या और पश्चात् अनुवाक्या के पाठ का जो निर्देश है वह मूलपाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ । मै० सं० ४।१०-१४ पांच प्रपाठकों में याज्यानुवाक्या पठित हैं । परन्तु वहां प्रथम अनुवाक्या और पश्चात् याज्या का पाठ है । देवतोपलक्षणार्था—प्राय: अनुवाक्या में पूर्वार्ध में देवता का निर्देश होता है और याज्या में उत्तरार्ध में । अग्निहोत्रं······ओदनं पचति पश्चात्—भाष्यकारोक्त क्रम वाला उल्लेख हमें नहीं मिला । इसी प्रकार प्रैष-प्रैषार्थ का विपर्यय से समाम्नान भी ज्ञात नहीं हो सका ॥२॥

—:०:—

अनियमोऽन्यत्र ॥३॥

सूत्रार्थः—(अन्यत्र) अर्थ=सामर्थ्य से क्रम निर्धारण से अन्यत्र (अनियमः) क्रम का नियम नहीं है ।

व्याख्या—इस विषय में क्रम का नियम नहीं है । जैसे दर्शपूर्णमास में प्रयाजों के याजमान (=यजमान सम्बन्धी) अनुमन्त्रण मन्त्र, जो नाना शाखाओं में समाम्नात है—वसन्तमृतूनां प्रीणामि इत्यादि का और एको मम इत्यादि का ।

१. तै० सं० १।६।२।३॥ २. शत० १।५।४।१२॥

विवरण—वसन्तमृतूनां प्रीणामि इत्यादि—यह प्रथम प्रयाज का अनुमन्त्रण मन्त्र है। इसी प्रकार द्वितीय का—ग्रीष्ममृतूनां……। तृतीय का—वर्षा ऋतूनां……। चतुर्थ का—शरद् ऋतूनां……। पञ्चम का—हेमन्तशिशिरावृतूनां……। एको मम—प्रथम प्रयाज के अनुमन्त्रण मन्त्र का पूरा पाठ है—एको ममैका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। द्वितीय द्वौ मम द्वे तस्य……। तृतीय प्रयाज का—त्रयो मम तिस्रस्तस्य……। चतुर्थ प्रयाज का—चत्वारो मम चतस्रस्तस्य……। पञ्चम प्रयाज का—पञ्च मम न तस्य किञ्चन……।

पांच प्रयाजों के वसन्तमृतूनां प्रीणामि आदि पांच अनुमन्त्रण मन्त्र तै० सं० १।६।२ में पठित हैं और एको ममैका तस्य इत्यादि पांच अनुमन्त्रण मन्त्र शतपथ १।५।४ में निर्दिष्ट हैं। कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा है कि 'शाखान्तरीय प्रयाजानुमन्त्रण मन्त्रों के अदृष्टार्थ होने से इन का समुच्चय बारहवें अध्याय में कहेंगे।' हमें यह समुच्चय १२वें अध्याय के शाबरभाष्य में उपलब्ध नहीं हुआ। कुतुहलवृत्ति में इस पाठ को ( ) कोष्ठक में छाप कर टिप्पणी दी है—'अ पुस्तके स्खलितोऽयंपाठः'। भाट्टदीपिकाकार ने लिखा है—कि 'तन्त्ररत्नादि में [शाखान्तरीय अनुमन्त्रण मन्त्रों का] अदृष्टार्थ होने से जो समुच्चय का कथन किया है, उस की हमने अनुमन्त्रण लक्षण की अनुत्पत्ति होने से उपेक्षा की है'। शाबरभाष्य की बृहती व्याख्या की ऋजुविमला टीका में लिखा है—'शाखान्तरीय उपसंह्रियमाण में पाठ से भी क्रम नियम नहीं है। अतः यह प्रत्युदाहरण मात्र है।'

जैमिनीयन्यायमालाविस्तर में लिखा है—'वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद्-हेमन्त मन्त्रों के क्रम से तैत्तिरीय शाखा में पठित होने पर भी शाखान्तर में व्यत्यय (=व्युत्क्रम) से पाठ दिखाई पड़ने से यहां नियत क्रम नहीं है। यह लेख पूर्व निर्दिष्ट सभी मतों से विलक्षण है। किस शाखा में वसन्तादि ऋतुमन्त्रों का व्यत्यास से निदर्शन मिलता है, यह ग्रंथकार ने नहीं लिखा।

सर्वशाखाप्रत्ययैकं कर्म (२।४।८-३२) अधिकरण के अनुसार शाखान्तरीय कर्मादि का उपसंहार किया जा सकता है और बिना उपसंहार किये स्वशाखाधीत कर्म द्वारा भी याग की पूर्णता मानी जाती है। अतः तैत्तिरीय शाखाधीत वसन्तम् आदि अनुमन्त्रणमन्त्रों के साथ शाखान्तराधीत एको ममैका तस्य का प्रयोग आवश्यक नहीं हैं। तै० सं० के जो अनुयायी शाखान्तराधीत अनुमन्त्रण मन्त्र पढ़ते हैं वे भी क्रमशः ही पढ़ते हैं। अतः यहां क्रम अपेक्षित नहीं हैं इतने मात्र में ही भाष्यकार का अभिप्राय जानना चाहिये। अथवा अनियम का अन्य उदाहरण देना चाहिये।

प्रकृत में वसन्तमृतूनां प्रीणामि आदि अनुमन्त्रण मन्त्र तो युक्त हैं, परन्तु एको मम एका तस्य इत्यादि से अपने लिये एक दो तीन चार पांच पुत्रों की कामना करना और यजमान के साथ द्वेष करने वाले के लिये एक दो तीन चार पुत्रियों की तथा पांचवें प्रयाज में न तस्य किंचन की प्रार्थना करना वैदिक तथा याज्ञिकभावना के विपरीत है। वैदिक मन्तव्य

[पाठक्रमनियमाधिकरणम् ॥४॥]

दर्शपूर्णमासयोराम्नातं—**समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, वर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति**[1] इति । तत्र संशयः—किमनियतेनैव क्रमेणैषामनुष्ठानमुत यः पाठक्रमः स एव नियम्येतेति ? किं प्राप्तम् ? नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादनियम इत्येवं प्राप्ते, ब्रूमः—

क्रमेण वा नियम्येत क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ॥४॥ (उ०)

क्रमेणैव नियम्येतैकस्मिन् क्रताविति । कुतः ? तद्गुणत्वात् । तद्गुणत्वं हि गम्यते पदार्थानाम् । यथा—स्नायादनुलिम्पेत्, भुञ्जीतेति च क्रमेणानुष्ठानमवगम्यते

के अनुसार पुत्र और पुत्री में भेदभाव=पुत्र के प्रति उत्कृष्ट भावना और पुत्री के प्रति हीन भावना को कहीं अवकाश नहीं है । इसी दृष्टि से यास्क मुनि ने निरुक्त ३।४ अङ्गादङ्गात् सम्भवसि मन्त्र और अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति मानव श्लोक उद्धृत किया है । पुत्र और पुत्री में अवैदिक भेद भावना का प्रादुर्भाव बहुत उत्तर काल में हुआ था । इस भेद भाव की दुःखद परिणति उत्तर काल में 'सद्यः उत्पन्न पुत्री की हत्या' में हुआ । यज्ञ की मुख्य भावना सात्त्विक सुखद संगतिकरण है, न कि तामसिक दुःखद और विसंगतिकरण । इस दृष्टि से ब्राह्मण श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों में जितने भी आभिचारिक याग निर्दिष्ट हैं, वे सब श्रौत्तरकालिक अधर्मरूप हैं । इस विषय में मी० भाग १, पृष्ठ १६ का विवरण देखें ॥३॥

—:०:—

व्याख्या—दर्शपूर्ण मास में पढ़ा है—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, वर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति । इन में संशय है—क्या अनियत क्रम से ही इन का अनुष्ठान करना चाहिये अथवा जो पाठ का क्रम है वह ही नियमित होता है ? क्या प्राप्त होता है ? नियमकारी शास्त्र के अभाव से अनियत है ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

क्रमेण वा नियम्येत क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(क्रत्वेकत्वे) एक क्रतु के होने पर (क्रमेण) पाठ क्रम से (वा) ही [अनुष्ठान क्रम] (नियम्येत) नियमित होवे । (तद्गुणत्वात्) अनुष्ठान के प्रति क्रम के अङ्ग होने से अर्थात् पदार्थों के प्रति पाठक्रम का गुणत्व=गौण होने से

व्याख्या—क्रम से ही नियमन होवे एक क्रतु में । किस हेतु से ? उस (=क्रम) का गुणत्व जाना जाता है पदार्थों के प्रति । जैसे—स्नान करे, [चन्दनादि का] लेप करे, भोजन करे । यहां वाक्य से पदार्थों का क्रम से अनुष्ठान जाना जाता है । और जैसे अदृष्टार्थ कर्मों

---

१. तै० सं० २।६।१॥

वाक्यात् पदार्थानाम् । यथा चादृष्टार्थेषपदिश्यमानेषु कश्चिद् ब्रूयात्—देवाय धूपो देयः, पुष्पाण्यवकरितव्यानि, चन्दनेनानुलेप्तव्यः, उपहारोऽस्मा उपहर्तव्यः, एवं कृते देवस्तुष्यतीति । तमन्यः प्रतिब्रूते—नैतदेवं, न प्रथमं धूपो दातव्यः, प्रथमं पुष्पाण्यवकरितव्यानीति । एवं मन्यते, धूपदानस्य प्राथम्यमनेनोक्तमिति । तस्माद्वाचनिक एषामेष क्रम इति ॥४॥

अशाब्द इति चेत् स्याद् वाक्यशब्दत्वात् ॥५॥ (पू०)

के उपदिश्यमान होने पर कोई कहे—देव के लिये धूप देना चाहिये, पुष्प बिखेरने (=चढ़ाने) चाहियें, चन्दन से अनुलेपन करना चाहिये, उस (=देव) के लिये उपहार देना चाहिये, ऐसा करने पर देव संतुष्ट होता है। उस को कोई कहता है—ऐसा नहीं, पहले धूप नहीं देना चाहिये, पहले पुष्प चढ़ाने चाहियें। प्रतिवचन कहने वाला इस प्रकार मानता है कि इस ने 'धूपदान का प्राथम्य कहा है'। इसलिये इन का यह क्रम वाचनिक है अर्थात् जिस क्रम से वचन पढ़े गये हैं वही अनुष्ठान का क्रम है।

विवरण—जहां पाठक्रम और अर्थक्रम में विरोध होता है, वहां पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम बलवान् होता है। जहां पाठक्रम में किसी प्रकार की अनुपपत्ति दिखायी नहीं पड़ती वहां पाठक्रम से कर्मों का अनुष्ठान होता है। भाष्यकार ने लौकिक उदाहरणों से भी यही दर्शाया है।

अशाब्द इति चेत् स्याद् वाक्यशब्दत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(इति चेत्) यदि आप समिधो यजति आदि के क्रम को स्वीकार करते हैं तो वह (अशाब्दः) शब्द से अनुक्त (स्यात्) होवे। (वाक्यशब्दत्वात्) वाक्य के शब्दरूप होने से। इसका भाव यह है कि समिधो यजति आदि में कोई ऐसा शब्द नहीं है जो इन के क्रम का बोध करावे। वाक्य के पद समूहरूप होने से पदार्थ से भिन्न वाक्यार्थ नहीं होता। यह तद्भूतानाम् (मी० १।१।२५) में कह चुके हैं।

विशेष—यह सूत्रार्थ भाष्य के अनुसार किया है, परन्तु यहां भाष्यकार ने अपनी सार्वत्रिक शैली का परित्याग करके व्याख्या की है। अन्यत्र जहां कहीं भी इति चेत् पद विशिष्ट सूत्र है वहां सर्वत्र भाष्यकार ने इति चेत् पदान्त भाग को पूर्वपक्ष का और उत्तर भाग को समाधान पक्ष का मानकर दो विभागों में विभक्त करके व्याख्या की है। यहां भाष्यकार ने सम्पूर्ण सूत्र को ही पूर्वपक्ष का मान कर व्याख्या की है (आगे देखें)।

कुतुहलवृत्तिकार ने 'अशाब्द इति चेत्' अंश को आशंकारूप में उपस्थित करके 'स्याद् वाक्यशब्दत्वात्' की समाधान रूप से व्याख्या की है। इस का सम्बन्ध अगले सूत्र के साथ भी होने से कुतुहलवृत्ति की व्याख्या अगले सूत्र के भाष्य की व्याख्या के अन्त में लिखेंगे।

इति चेत्पश्यसि, अथैवं गम्यमानेऽशाब्द एव क्रमः। कथम्? पदार्थपूर्वको वाक्यार्थः। पदेभ्यश्च पदार्था एवावगम्यन्ते न क्रमः! स्यादेतदेवम्, यदि पदानां समूहस्य श्रवणं प्रत्यायकमर्थस्य स्यात्। न तु समुदायः प्रत्यायक इत्युक्तम्, तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः[1] इत्यत्र। तस्मात् क्रमस्य वाचकशब्दाभावाद् व्यामोह एष क्रमोऽवगम्यते। एवं चापूर्वासत्तिरनुग्रहीष्यते। इतरथा साऽपि विप्रकृष्येत घटीयन्त्र इव। दर्शयिष्यति च—हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसः[2] इति। यदि नियामकः पाठक्रमस्ततो न विधातव्यमेतत्। नियामके हि पाठक्रमे पाठक्रमादेव प्राप्नुयात्॥५॥

अर्थकृते वाऽनुमानं स्यात् क्रत्वेकत्वे परार्थत्वात् स्वेन त्वर्थेन संबन्धस्तस्मात् स्वशब्दमुच्येत॥६॥

व्याख्या—[समिधो यजति आदि में क्रम से कर्म करना चाहिये] ऐसा यदि आप मानते हैं तो ऐसा स्वीकार करने पर क्रम अशाब्द ही है। किस हेतु से? शब्दपूर्वक वाक्यार्थ होता है। पदों से पदार्थ ही जाने जाते हैं, क्रम नहीं जाना जाता है। यह होवे, यदि पदों के समूह का श्रवण अर्थ का बोधन कराने वाला होवे। [शब्दों का] समुदाय [वाक्य] बोधक नहीं है यह तद्भूतानां कियार्थेन समान्नायः (मी० १।१।२५) में कह चुके हैं। इसलिये क्रम के वाचक शब्द के अभाव से यह क्रमज्ञान व्यामोह है, ऐसा जाना जाता है। इस प्रकार अपूर्व आसत्ति (=समीप में स्थित होना) अनुगृहीत होगी। अन्यथा वह (अपूर्व आसत्ति) भी विप्रकृष्ट (दूरस्थ) हो जायेगी घटीयन्त्र के समान। और यह(=शब्द से क्रम का ज्ञान होता है, ऐसा) दिखावेंगे—'हृदय का पहले अवदान करता है, अनन्तर जिह्वा का, अनन्तर वक्षः का'। यदि पाठक्रम ही नियामक होवे तो ['अथ' शब्द से] यह विधान योग्य न होवे। पाठक्रम के नियामक होने पर [हृदयस्यावद्यति जिह्वाया वक्षसः ऐसा] पढ़ने से ही क्रम प्राप्त हो जावे।

विवरण—अपूर्वासत्तिरनुग्रहीष्यते—पांचों प्रयाजों में क्रम को स्वीकार न करने पर किन्हीं की भी एक दूसरे से जो अपूर्व समीपता प्राप्त होती है वह अनुगृहीत होगी। विप्रकृष्येत घटीयन्त्र इव—कुछ समय पूर्व तक (कहीं कहीं अब भी है) खेतों में पानी देने के लिये कुओं पर घटी-यन्त्र का प्रयोग होता था, जिसे पंजाब में रहट[3] कहते हैं। इन में मालारूप में मिट्टी की छोटी-छोटी घड़िया अथवा लोहे के छोटे-छोटे डोल होते थे। जिसको एक बड़े चक्र पर चढ़ा कर घुमाया जाता था। घूमने से एक के बाद दूसरी घटी से पानी खाली होता जाता था। इस प्रकार इस घटी यन्त्र में क्रमिक दूरी बराबर रहती थी।

अर्थकृते वानुमानं स्यात्.........स्वशब्दमुच्येत॥६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष 'क्रम अशाब्द है' की निवृत्ति के लिये है। (क्रत्वे-

---

१. मी० १।१।२५। २. तै० सं० ६।३।१०। ३. मारवाड़ में 'ढीमड़ा'।

एकस्मिन् क्रतावेकत्वात् कर्तुरनेकस्मिन् पदार्थेऽर्थकृतत्वात् क्रमस्य। तत्रैष एव क्रमो नियम्येतानुमानेन। कुतः? परार्थत्वाद् वेदस्य। परार्थो हि वेदो यद्यदनेन शक्यते कर्तुं तस्मै तस्मै प्रयोजनायैष समाम्नायते। शक्यते चानेन पदार्थो विधातुम्, शक्यते च क्रियाकाले प्रतिपत्तुम्। तस्माद् वेदः पदार्थांश्च विधातुमुपादेयः, क्रियाकाले च प्रतिपत्तुम्। न गम्यते विशेषः, विधातुमयं समाम्नायते न प्रतिपत्तुमिति। अगम्यमाने विशेष उभयार्थमुपादीयत इति गम्यते। प्रतिपत्तुं चानेन क्रमेण शक्यते नान्येन। अत एव च कृत्वा पाठक्रमापचारे विनष्ट इत्युच्यते। इतरथा हि यद्यस्य प्रयोजनम्, तस्मिन्निर्वर्तमान एव किं नष्टं स्यात्? अदृष्टं कल्प्येत तच्चान्याय्यं दृष्टे सति। तस्मात् स्वशब्दः क्रमः। य एव पदार्थानां वाचकः शब्दः स एव क्रमस्यापि ॥६॥

कत्वे) क्रतु=कर्म के एक होने पर अनेक पदार्थों में (अर्थकृते) अर्थकृत क्रम में अनुमान होवे, वेद के (परार्थत्वात्) परार्थ होने से अर्थात् जो कुछ वेद से किया जा सकता है उस सब के लिये वेद के होने से उसका (स्वेन) अपने (तु) ही (अर्थेन) अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है (तस्मात्) इसलिये पदार्थ विधान और क्रियाकाल में कर्म की प्रतिपत्ति (स्वशब्दम्) स्वशब्द से (उच्येत) कही जाये अर्थात् कहता है। इस प्रकार क्रम अशाब्द नहीं है स्वशब्द-बोधित है।

व्याख्या—एक क्रतु में कर्ता के एक होने से अनेक पदार्थों में क्रम के अर्थकृत होने से [क्रम अशाब्द नहीं है]। वहीं पर ही यह क्रम अनुमान से नियमित होवे। किस हेतु से? वेद के परार्थ होने से। वेद परार्थ है इसलिये इससे जो किया जा सकता है उस-उस प्रयोजन के लिये यह पढ़ा जाता है। इससे पदार्थ का विधान किया जा सकता है और क्रियाकाल में [क्रम] भी जाना जा सकता है। यह विशेष नहीं जाना जाता है कि यह विधान के लिये पड़ा जाता है [क्रम के] परिज्ञान के लिये नहीं [पढ़ा जाता है]। विशेष अर्थ गम्यमान न होने पर दोनों कार्यों के लिये इसका ग्रहण किया जाता है, ऐसा जाना जाता है। और इसी क्रम से जाना जा सकता है, अन्य से नहीं। और इसी लिये [ऐसा स्वीकार] करके क्रमपाठ का अपचार (=उलटापन) होने पर [कर्म] विनष्ट हो गया ऐसा कहा जाता है। अन्यथा यदि इसका [क्रम-प्रतिपत्ति] प्रयोजन न होवे तो [कर्म के आगे पीछे] सम्पन्न होने पर क्या नष्ट होवे [अर्थात् आगे पीछे करके सम्पूर्ण कर्म तो हो ही गया फिर कर्म का नाश कैसे कहा जाये]। यदि कहो कि पाठक्रम से] अदृष्ट कल्पित होवे, वह [अदृष्ट कल्पना] अन्याय्य है [क्रमरूपी] दृष्ट के होने पर। इसलिये क्रम स्व-शब्द वाला है। जो शब्द ही पदार्थों का वाचक है, वही शब्द क्रम का वाचक भी है ॥६॥

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने पञ्चम और षष्ठ सूत्र की जो व्याख्या की है, उसका संक्षेप इस प्रकार है—

"लोक में वक्ता के विवक्षानुसार कथमपि क्रम का ज्ञान सम्भव होने पर भी वेद में शब्द

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥७॥

एवं चान्यार्थं दर्शयति—**व्यत्यस्तमृतव्या उपदधाति**[1]। **व्यत्यस्तं षोडशिनं शंसति**[2]। **आश्विनो दशमो गृह्यते, तं तृतीयं जुहोति**[3] इति। यद्यनियमेनोपधानं शंसनं च, व्यत्यस्तवचनमनर्थकं स्यात्। न हि कथंचिदव्यत्यास इति। तथा आश्विनस्य

से ही क्रम की अवगति होनी चाहिये। समिधो यजति इत्यादि वाक्यों में क्रमवाचक शब्द के न होने से कैसे क्रम का परिज्ञान होगा? ऐसी आशंका करके सूत्रकार परिहार करते हैं—

अशाब्द इति चेत् स्याद् वाक्यशब्दत्वात् ॥५॥

क्रमवाचक शब्द से रहित समिदादि वाक्य में क्रम का ज्ञान कैसे होगा ऐसा यदि कहते हो तो सुनो—समिदादि पदार्थों का शब्द से ही क्रम का ज्ञान होता है। कैसे? वाक्य-शब्द से। क्रम के समिदादि वाक्यगम्य शब्द वाला होने से। यद्यपि समिदादि वाक्यों में क्रमवाचक पद नहीं है तथापि लोक में **स्नायात् अनुलिम्पेत** भुञ्जीत इत्यादि वाक्यों से क्रम का नियम जाना जाता है अर्थात् उनमें क्रमवाचकता अपूर्वशक्ति का सद्भाव स्वीकार किया जाता है। वैसे ही वेद में भी वाक्यों में विशिष्ट समुदायशक्ति होती है। यह पूर्व मीमांसा १।१।२५ में कहा है।

अथवा वाक्यों में समुदायशक्ति न होवे तो भी क्रम का शब्दबोधकत्व है ही—

अर्थकृतो वानुमानं स्यात् क्त्वेकत्वे.......स्वशब्दमुच्येत ॥६॥

प्रयोगवेला में पहले पदार्थ स्मरण अपेक्षित है। उसे वेदवाक्य से ही सम्पादित करना चाहिये। स्मरण किया हुआ वाक्य पदार्थ की स्मृति को उत्पन्न करता है। प्रथम पठित वाक्य ही प्रथम स्मरण किया जाता है। उसके अनन्तर उत्तरवाक्य स्मरण किया जाता है। इस प्रकार पाठक्रम से अनुष्ठान क्रम भी अर्थकृत हैं अर्थात् अर्थप्राप्त है। (शेषांश प्राय: समान है) ॥६॥"

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥७॥

सूत्रार्थः—(तथा) ऐसा (=पाठक्रम को शाब्दिक) मानकर (च) ही (अन्यार्थदर्शनम्) अन्य अर्थ का दर्शन उपपन्न होता है,

व्याख्या—इस प्रकार अन्य अर्थ को दर्शाता है—'**ऋतव्या संज्ञक इष्टकाओं का विरुद्ध क्रम से उपधान (=चयन) करता है**', '**षोडशी शास्त्र का उलटे क्रम से शंसन करता है,**' '**आश्विन ग्रह दसवां गृहीत किया जाता है, उस को तीसरे स्थान पर होम करता है**'। यदि [इष्टकाओं का] उपधान और [षोडशी का] शंसन अनियम से होवे तो 'व्यत्यस्त' का वचन अनर्थक होवे। [अनियम होने पर] किसी प्रकार व्यत्यास नहीं होवे। इसी प्रकार आश्विन

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्।
३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—मै० सं० ४।६।१॥

तृतीयस्य होमानुवादो नावकल्प्येत, यदि पाठक्रमेणानियम इति। तथा **अभिचरता प्रतिलोमं होतव्यम्— प्राणानेवास्य प्रतीचः प्रतियौति** इति क्वचित्प्रतिलोमं विदधदनुलोमं दर्शयति। तदुपपद्यते यदि पाठक्रमेण प्रयोगः। इतरथा, सर्वमनुलोमं स्यात्, प्रतिलोमदर्शनं नोपपद्येत। तथा चतुर्थोत्तमयोः प्रतिसमानयति[1] इत्युक्ते सति, अतिहायेडो बर्हिः प्रति समानयति[2] इत्युच्यते। तेन बर्हिषश्चतुर्थतां दर्शयति। सा पाठक्रमे नियामकेऽवकेल्पते ॥७॥ **क्रमस्य क्वचित् पाठानुसारिताधिकरणम् ॥४॥ पाठक्रम न्यायः ॥**

—:o:—

ग्रह का तीसरे स्थान पर होम का अनुवाद भी उपपन्न नहीं होवे यदि पाठ क्रम से अनियम होवे। तथा 'अभिचार कर्म करते हुए को प्रतिलोम होम करना चाहिये। इस के प्राणों को ही अपसरित (=दूर) करता है' इस [वाक्य] से कहीं प्रतिलोम [होम] विधान करता हुआ अनुलोम [होम] को दर्शाता है। वह तभी उपपन्न होता है यदि पाठक्रम से प्रयोग होवे। अन्यथा (=पाठक्रम के अभाव में) सब अनुलोम होवे, प्रतिलोम का दर्शन उपपन्न न होवे। तथा चतुर्थ और उत्तम (=पञ्चम) के प्रति समानयन करता है' ऐसा कहने पर इडा का अतिहाय=त्याग=होम करके बर्हि [संज्ञक प्रयाज] के प्रति समानयन करता है' ऐसा कहा जाता है। इस से बर्हि [संज्ञक प्रयाज] की चतुर्थता दर्शाता है। वह [चतुर्थता] पाठक्रम के नियामक होने पर उपपन्न होती है।

विवरण—व्यत्यस्तमृतव्या उपदधाति—ऋतुमान् (=ऋतु शब्द है जिस मन्त्र में वह) उपधान मन्त्र है जिन इष्टकाओं का वे ऋतव्या कहाती हैं। यहां तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्ठकासु लुक् च मतोः (अष्टा० ४।४।१२५) से ऋतुमान् शब्द से यत् प्रत्यय और मतुप् का लुक होता है। अग्नि चयन में ऋतव्या इष्टकाओं के उपधान का विधान है—ऋतव्या उपदधाति (अनुपलब्ध) प्रकृत् सूत्र में भाष्यकार उदाहृत वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ अतः किस ऋतु में ऋतव्या इष्टकाओं का व्यत्यास से उपधान का विधान किया है यह अज्ञात है। व्यत्यस्तं षोडशिनं शंसति-षोडशी शस्त्र का विधान सोमयाग की षोडशी संज्ञक संस्था में तृतीयसवन के अन्त में है। भाष्यकार द्वारा उद्धृत यह वचन भी हमें उपलब्ध नहीं हुआ अतः षोडशी शस्त्र के व्यत्यास का विधान किस याग में है यह हमें ज्ञात नहीं है। आश्विनो दशमो गृह्यते—अग्निष्टोम में अश्विदेवताक ग्रह में सोम का ग्रहण दशम स्थान पर होता है और इस का होमकाल में तृतीय स्थान पर होता है (द्र०-मी० २।२।१६ का भाष्यव्याख्या-विवरण, भाग १, पृष्ठ ४८१)। अभिचरता प्रतिलोमं होतव्यम्—यह वचन भी हमें उपलब्ध नहीं हुआ। सुबोधिनी वृत्ति में 'राष्ट्रभृद्धोम' में इस का उल्लेख किया है। राष्ट्रभृद्होम अग्निचयनादि में उपदिष्ट है (द्र०

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्।

[प्रवृत्तिक्रमनियमाधिकरणम् ।।५।।]

वाजपेये सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते' इति श्रूयते। तेषु पशुषु चोदक-प्राप्ताः प्रोक्षणादयो धर्माः। तत्र प्रथमः पदार्थो यतः कुतश्चिदारब्धव्यः। द्वितीयादिष भवति संशय किं तत एव द्वितीयोऽपि पदार्थ आरब्धव्य उत द्वितीयादिष्वनियम इति? किं तावत् प्राप्तम्? नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादनियम इति। एवं प्राप्ते ब्रूम—

कात्या० १८।५।१६; आप० श्रौत १७।१६।१२)। भाष्यकार से उत्तरवर्ती मीमांसा के व्याख्याकारों ने उपर्युक्त उद्धरणों का अपने ग्रन्थों में उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण विचारणीय है।

चतुर्थोत्तमयोः प्रति समानयति—प्रकृतियाग (दर्शपूर्णमास) में पांच प्रयाज याग हैं समिधो यजति तनूनपातं यजति इडो यजति बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजति (तै० सं० २।६।१।१)। इनमें बर्हि प्रयाज चतुर्थ है और स्वाहाकार उत्तम (=अन्तिम)। उपभृत् स्रुक् में ८ स्रुव आज्य गृहीत होता है। वह प्रयाज और अनुयाज संज्ञक कर्मों के लिये होता है—अष्टावुपभृति, यदुप-भृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत् (तै० ब्रा० ३।३।५)। जुहू में जो चतुर्गृहीत आज्य होता है वह प्रयाजों के लिये होता है—यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत् (तै० ब्रा० ३।३।५)। इस प्रकार जुहूस्थ चतुर्गृहीत आज्य से समित् तनूनपात् (पक्ष में नाराशंस) और इड् संज्ञक तीन प्रयाजों को करके चतुर्थ पञ्चम प्रयाज के लिये उपभृत् में निहित आज्य में से आधा जुहू में ग्रहण करना होता है। त्रीनिष्ट्वाऽर्धमौपभृतस्य जुह्वामानीयोत्तराविष्ट्वा···(आप० श्रौत २।१७।६)। जुहू में पूर्व गृहीत आज्य का शेष अंश रहता हैं उसी में उपभृत् से आधा आज्य (=४ स्रुव) जुहू में ग्रहण किया जाता है। इसे ही याज्ञिकी परिभाषा में समानयन कहते हैं (विशेष द्र० भाष्यव्याख्या-विवरण ४।१।४० के आदि में, पृष्ठ १२३७)।।७।

—:०:—

व्याख्या—वाजपेय में 'प्रजापति देवता वाले सत्रह पशुओं का आलभन करता है' ऐसा सुना जाता है। उन में चोदक (=अतिदेश) से प्रोक्षणादि धर्म प्राप्त होते हैं। उन [सत्रह पशुओं में] प्रथम पदार्थ जिस किसी भी पशु से आरम्भ किया जा सकता है। द्वितीय आदि [पदार्थों] में संशय होता है—क्या उसी पशु से द्वितीय पदार्थ भी आरम्भ करना चाहिये अथवा द्वितीय आदि पदार्थों में अनियम है? क्या प्राप्त होता है? नियमकारी शास्त्र के न होने से अनियम जानना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—चोदकप्राप्ताः प्रोक्षणादयो धर्माः—संहिताओं के अनुसार अग्नीषोमीय पशुयाग सब पशुयागों की प्रकृति है। वहीं सभी पशु-धर्म समाम्नात हैं। (श्रौतसूत्रकारों ने पशु-बन्ध नामक याग में समस्त पशु-धर्मों का विधान किया है) वहीं से चोदक प्राप्त पशुधर्म सप्त-

प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ॥८॥ (उ०)

यतः पूर्व आरब्धस्तत एव द्वितीयादयोऽपि पदार्था आरब्धव्या इति। कुत एतत् ? तदुपक्रमात्। सर्वे हि पदार्थाः प्रधानकालान्न विप्रकृष्टव्याः। प्रधानं हि चिकीर्षितम्। कृतं वा तेषां निमित्तम्। सहवचनं हि भवति—पदार्थैः सह प्रधानं कर्तव्यमिति। बहुपदार्थसमाम्नानात्त्ववश्यंभावी विप्रकर्षः। तथाऽपि तु यावद्भिर्नाव्य-वहितः शक्यः पदार्थः कर्तुं तावद्भिर्व्यवधानमवश्यं कर्त्तव्यम्, ततोऽभ्यधिकेन न व्यव-धातव्यमिति। यदि द्वितीयं पदार्थमन्यत आरभेत, ततोऽधिकैरपि व्यवदध्यात्। तथा प्रयोगवचनं बाधेत। ननु तथा सति कश्चिदल्पैर्व्यवहितो भविष्यति। उच्यते। अनुमतानां व्यवधायकानां त्यागे न कश्चिदभ्यधिको गुणो भवतीति। तस्माद्यतः पूर्व-पदार्थ आरब्धस्तत एवोत्तर आरम्भणीय इति ॥८॥

दश प्राजापत्य पशुओं में भी प्राप्त होता है। वे पशु धर्म हैं—कुश से पशु का उपस्पर्शन, यूप में पशु का नियोजन, जल से प्रोक्षण, हृदयादि प्रोक्षण, ललाटादि समञ्जन, घृत से अक्त (=सने हुए) स्वरु सहित असि से ललाट स्पर्श आदि (द्र० कात्या० श्रौत अ० ६ कं० ४-५)।

प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(तुल्यकालानाम्) एक काल में प्राप्त (गुणानाम्) उपाकरणादि गुणों= संस्कारों का (प्रवृत्या) प्रथम प्रवृत्ति क्रम से क्रम नियमित होता है। (तदुपक्रमात्) उसी से प्रथम पदार्थ का आरम्भ करने से।

व्याख्या—जहां से अर्थात् जिस पशु से प्रथम पदार्थ आरम्भ किया है उसी से द्वितीय आदि पदार्थों को आरम्भ करना चाहिये। किस हेतु से ? उस से उपक्रम (=आरम्भ) करने से। सभी पदार्थ प्रधान काल से विप्रकृष्ट (=कालकृत दूर) नहीं करने चाहिये। प्रधान कर्म ही चिकीर्षित (=जिसे करना चाहते हैं) है अथवा [प्रधान] उन का निमित्त है। सहवचन भी होता है- 'पदार्थों के साथ प्रधान को करना चाहिये'। बहुत पदार्थों के समाम्नान (=पाठ) से विप्रकर्ष (=दूरता) तो अवश्यंभावी है, फिर भी जितने पदार्थों से अवश्य व्यवहित किया जा सकता है, उतने से व्यवधान अवश्य करना होगा, उन से अधिक से व्यवधान नहीं करना चाहिये। यदि द्वितीय पदार्थ को अन्य [पशु] से आरम्भ करें तो [अवश्य व्यवधायकों से] अधिकों से व्यवधान होवे। ऐसा करने पर प्रयोगवचन बाधित होवे। (आक्षेप) वैसा (=द्वितीयादि पदार्थ को अन्य से आरम्भ) करने पर कोई पशु अल्प से व्यवहित होगा। (समाधान) अनुमत (=अवश्यंभावी रूप से स्वीकृत) व्यवधायकों के त्याग में कोई अधिक गुण नहीं होता। इसलिये जिस पशु से पूर्व पदार्थ आरम्भ किया है, उसी से उत्तर पदार्थ भी आरम्भ करना चाहिये।

सर्वमिति चेत् ॥९॥ (पू०)

इति चेत्पश्यसि, प्रधानाविप्रकर्षेण प्रयोगवचनानुग्रह इति । सर्वं तर्हि गुणकाण्डमेकस्मिन्नपवर्जयितव्यम् । यथा सौर्यादिषु ॥६॥

विवरण—यावद्भिर्नाव्यहितः—'नाव्यवहितः' में दो 'नञ्' है । दो नञों का प्रयोग अवश्यंभाविता को प्रकट करता है । यथा—नाक—कं=सुखम्, नास्ति कं सुखं यस्मिन्=अकम्, न अकं नाकम्—यत्र सुखमेव अर्थात् जहां सुख अवश्यंभावी है । वैयाकरणों के यहां भी एक परिभाषा है—येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचनप्रामाण्यादित्येकेन व्यवधानमाश्रीयते—जिस से व्यवधान अवश्यंभावी है उस से व्यवहित होने पर भी वचनप्रामाण्य से एक से व्यवधान स्वीकार किया जाता हैं । इस नियम के अनुसार अचीकरत् आदि में अभ्यास से अव्यवहित उत्तर लघु अक्षर(अकार)के न होने पर भी एक 'क्'आदि का व्यवधान स्वीकार करके अभ्यास को सन्वद्भाव =इकार होता है । अजजागरत् में जागृ=जागर् स्थित लघु अकार और अभ्यास में जिसे (='ज' को) सन्वद्भाव करना है उस में ज् आ ग् तीन वर्णों का व्यवधान होने से सन्वद्भाव नहीं होता है (द्र० काशिका ७।४।६३) । यहां प्रकृत में भी जिस पशु से प्रथम पदार्थ का अनुष्ठान किया है उसी से द्वितीय का अनुष्ठान करने पर प्रतिपशु जिन ५-७ संस्कारों को करना आवश्यक है उनका नियत व्यवधान होना अवश्यंभावी है । अतः उतना व्यवधान तो 'पदार्थैः सह प्रधानं कर्त्तव्यम्' वचन से स्वीकार्य होगा । यदि द्वितीयादि पदार्थ का अनुष्ठान् अन्य पशु से करें तो किसी में व्यवधान कम होगा तो किसी में अधिक होगा । प्रयोगवचनं बाधसे—'पदार्थैः सह प्रधानं कर्त्तव्यम्' वचन ॥८॥

सर्वमिति चेत् ॥६॥

सूत्रार्थः—(सर्वम्) सम्पूर्ण गुणकाण्ड=सब पदार्थ एक पशु में करके द्वितीयादि में करने चाहियें (इति चेत्) ऐसा कहते हो तो ।

व्याख्या=यदि ऐसा समझते हो कि प्रधान के साथ समीपता से प्रयोगवचन का अनुग्रह होता है तो सारा गुणकाण्ड (=सभी पदार्थ) एक पशु में करने चाहिये [तत्पश्चात् द्वितीयादि पशु में] । जैसे सौर्यादि इष्टियों में करते हैं ।

विशेष—अपवर्जयितव्यम्—सामान्यतया अपवर्जन का अर्थ होता है—छोड़ना । परन्तु यहां वृजी वर्जने—वर्जयितव्यम्=छोड़ना चाहिये । उसका प्रतिषेध यहां अप से जाना जाता है । यथा गच्छति=जाता है । अपगच्छति=लौटता है । अतः यहां अपवर्जयितव्यम् का सामान्य अर्थ हैं—करना चाहिये । यथा सौर्यादिषु—इसकी विशेष विवेचना आगे ११ वें सूत्र में देखें ॥६॥

नाकृतत्वात् ॥१०॥ (उ०)

नैतदेवम् । सहप्रयोग एव हि नानुष्ठितः स्यात् ॥१०॥

क्रत्वन्तरवदिति चेत् ॥११॥ (पू०)

अथ यदुक्तं, यथा क्रत्वन्तरेषु सौर्यादिष्विति । तत्परिहर्तव्यम् ॥११॥

नासमवायात् ॥१२॥ (उ०)

न तेषामर्थात् क्रमः प्राप्नोति, यो नियम्येत । अङ्गाश्रयो हि नियमो भवितुमर्हति । अनङ्गसमाश्रितस्य स्वयमङ्गता कल्प्येत ॥१२॥ **क्रमस्य क्वचित् प्रथमप्रवृत्त्यनुसारिताधिकरणम् ॥५॥ प्रावर्तिकक्रमन्यायः ॥**

—:०:—

नाकृतत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है अर्थात् सौर्यादि इष्टियों के समान सम्पूर्ण गुणकाण्ड एक पशु में करके दूसरे में करना चाहिये । ऐसा करने से सहप्रयोग वचन के (अकृतत्वात्) अनुष्ठित न होने से । अथवा (अकृतत्वात्) अविहित होने से ॥

व्याख्या—ऐसा नहीं है । [ऐसा करने पर] सहप्रयोगवचन (=प्रधान को अङ्गों के साथ करना चाहिये) अनुष्ठित नहीं होवे ।

क्रत्वन्तरवदिति चेत ॥११॥

सूत्रार्थः—(क्रत्वन्तरवत) सौर्यादि अन्य क्रतुओं के समान सब गुणकाण्ड एक पशु में करके द्वितीयादि में करना चाहिये (इति चेत्) ऐसा कहते हो तो ।

व्याख्या—और जो कहा—"जैसे क्रत्वन्तर सौर्यादि में सारा गुणकाण्ड करके [अन्य क्रतु में पुनः आवृत्ति की जाती है, वैसे यहां भी होवे]' इसका परिहार करना चाहिये ।

विवरण—सौर्यादिषु—शास्त्र में अनेक काम्येष्टियां कहीं हैं । उन में सौर्येष्टि में जो इतिकर्तव्यता है, उसे पूरा यथावत् करके ऐन्द्राग्नेष्टि में पुनः किया जाता है ।

नासमवायात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(न) यह पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् सौर्यादि इष्टियों के समान यहां एक पशु में सम्पूर्ण गुणकाण्ड करके द्वितीयादि में करना चाहिये, यह नहीं है (असमवायात्) सौर्यादि इष्टियों का परस्पर समवाय=साहित्य=सहभाव न होने से । यहां 'सप्तदश प्राजापत्यान् आलभते' से सप्तदश पशुओं में सहभाव जाना जाता है ॥

व्याख्या—उन (=सौर्यादि इष्टियों) का अर्थ सामर्थ्य से क्रम प्राप्त नहीं होता है जिसका नियमन किया जाये । नियन अङ्गाश्रित ही हो सकता है । अनङ्गरूप से जाने गये की स्वयं अङ्गता कल्पित होवे ।

[स्थानक्रमनियमाधिकरणम् ॥६॥]

एकविंशेनातिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्, त्रिणवेनौजस्कामं, त्रयस्त्रिंशेन प्रतिष्ठाकामम्[1] इत्येवमादि श्रूयते। तत्राऽऽगमेन संख्यापूरणमिति वक्ष्यते[2]। तत्राऽऽगमे

विवरण—सौर्यादि स्वतन्त्ररूप से पढ़ी गयी इष्टियों का परस्पर समवाय=संबन्ध न होने से सौर्येष्टि की इतिकर्तव्यता को ग्रहण करती हुई ऐन्द्राग्नेष्टि निरपेक्ष नहीं होती। तथा ऐन्द्राग्नेष्टि की जो इतिकर्त्तव्यता है वह सौर्येष्टि का अङ्ग नहीं है और सौर्येष्टि की इतिकर्त्तव्यता ऐन्द्राग्नेष्टि का अङ्ग नहीं है। अतः उन में अङ्गाङ्गी भाव न होने से वहां क्रम नियामक नहीं हैं। यहां सप्तदश पशुयागों की जो अङ्गरूप इतिकर्तव्यता प्राप्त होती है उन में क्रम का नियमन होता है। **अनङ्गसमाश्रितस्य**—जिस सौर्येष्टि के अङ्गों का ऐन्द्राग्नेष्टि में अङ्गरूप अवगत नहीं होता है उनकी निष्प्रमाण अङ्गता की कल्पना करनी होगी।

विशेष—यज्ञों में अनेक पदार्थों की प्राप्ति होने पर उनकी निष्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। उनके भेद हैं—पदार्थानुसमय और काण्डानुसमय। इस अधिकरण में इन्हीं पर विचार किया है। इन का स्पष्टीकरण इस प्रकार से समझें—

तुल्य प्रधानों के सहानुष्ठान करने पर उनके जो सर्वसाधारण अङ्ग हैं, उन में एक पदार्थ सब में प्रथम अनुष्ठान करके अनन्तर द्वितीय आदि पदार्थों का क्रमशः अनुष्ठान करना चाहिये। यह पदार्थानुसमय कहाता है। जैसे प्रकृत सप्तदश प्राजापत्य पशुओं का विचार किया गया है। इसी प्रकार पौर्णमास में आग्नेय अग्नीषोमीय यागों के लिये किये जाने वाले अङ्गकर्म निर्वाप आदि में भी होता है। **चतुरो मुष्टीन् निर्वपति** वाक्य से विहित चार मुट्ठियों से साध्य निर्वाप एक कर्म है। इस लिये प्रथम चार मुट्ठी व्रीहि वा यव का अग्नि के लिये निर्वाप करके अग्नीषोम के लिये निर्वाप होता है और उत्तर पदार्थ भी इसी क्रम से किये जाते हैं। क्रत्वन्तरों में एक के पश्चात् द्वितीय के करने में प्रति क्रतु सब अङ्गभूत पदार्थों को करके पुनः क्रत्वन्तर के लिये उसके अङ्गभूत पदार्थों को पुनः किया जाता है। यह काण्डानुसमय है। यथा—**संस्थाप्य पौर्णमासीं वैमृधमनुनिर्वपति** (मी० ४।३।३२) द्वारा पौर्णमासेष्टि के अनन्तर विहित वैमृधेष्टि के क्रत्वन्तर होने से दोनों में निर्वापादि समस्त पदार्थ काण्डानुसमय से पृथक्-पृथक् किये जाते हैं। इस विषय में कात्या० श्रौत १।४।१०-१३ तथा इनकी विद्याधरीय वृत्ति देखें।

—:o:—

व्याख्या—'एकविंश स्तोत्र वाले अतिरात्र से प्रजा की कामना वाले को यजन करावे, त्रिणव (२७) स्तोत्र वाले से ओज की कामना वाले को, त्रयस्त्रिंश स्तोत्र वाले से प्रतिष्ठा की कामना वाले को' इत्यादि सुना जाता है। इस विषय में आगम से संख्या की पूर्ति कहेंगे।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. मी० अ० १० पा० ५ अ० ८ सू० २७-३३ इत्यत्रेति शेषः।

क्रियमाणे किमनियतक्रमाः सर्वा ऋच आगमयितव्या उत काण्डक्रमेणेति ? किं प्राप्तम् ? अनियमेनेति । कुतः ? अतिरात्रे त्रिणवादिशब्दार्थेनैताः प्राप्नुवन्ति । तत्रैतासां प्राप्नुवतीनां पाठक्रमो नास्तीति । एवं प्राप्त उच्यते—

स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥१३॥ (उ०)

यदासां समाम्नाये स्थानं, तेनैता अत्र नियम्यन्ते । याः पूर्वं समाम्नातास्ताः पूर्वमेव प्रयोक्तव्याः । आनुपूर्व्यस्य हि दृष्टमेतत् प्रयोजनं यदुत्तरस्फुरणम्, तदपि चिकीर्षितमेवेति । त्रिणवादिशब्दैरतिरात्रे यौगपद्येनाऽऽसां प्राप्तेः पाठक्रमस्याविषय इत्यधिकरणान्तरमिति भवति मतिः ॥१३॥

समाम्नायपाठक्रमादेवात्र नियम इति पुनरुक्तता गम्यत इत्यन्यथा वर्ण्यते—

साद्यस्क्रे श्रूयते—**सह पशूनालभत**[1] इति । तत्रैषोऽर्थः समधिमतः—सवनीयकाले त्रयाणामालम्भ इति । अथात्र पाठक्रमात्किमग्नीषोमीयः पूर्वमालब्धव्य उत

वहां आगम करने पर क्या अनियत क्रमवाली सब ऋचाएं आगमित की जायें अथवा काण्डक्रम से [आगमित की जायें] ? क्या प्राप्त होता है ? अनियम से । किस हेतु से ? अतिरात्र में त्रिणव आदि शब्दार्थ से ये प्राप्त होती हैं । वहां इन प्राप्त होती हुई [ऋचाओं] का पाठक्रम नहीं है । इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—आगमेन संख्यापूरणं वक्ष्यते—आगम से संख्या की पूर्ति करने का विधान (मी० अ० १० पा० ५ अ० ८, सूत्र २७–३३) पर देखें ।

स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(स्थानात्) जो इनके पाठ का स्थान है उससे अर्थात् काण्डक्रम से ऋचाओं का आगम करना चाहिये । (उत्पत्तिसंयोगात्) उत्पत्ति के साथ संबन्ध होने से ।

व्याख्या—जो इन ऋचाओं का समाम्नाय में स्थान है उसी से यहां नियमित होती हैं । जो ऋचाएं पूर्व पठित हैं उनका पूर्व प्रयोग करना चाहिये । आनुपूर्व्य पाठ का यह दृष्ट प्रयोजन है, जो उत्तर ऋचा का स्फुरण (=स्मृत) होना । वह भी प्रयोजन इष्ट ही है । त्रिणवादि शब्दों से अतिरात्र में यौगपद्य से (=एक साथ) प्राप्त होने से यह पाठक्रम का विषय नहीं है इसलिये अधिकरणान्तर [है ऐसी] मति होती है ।

समाम्नाय पाठक्रम (द्र० ५।१।१ सूत्र) से ही यहां नियम है, इस से पुनरुक्तता प्रतीत होती है इसलिये अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं—

व्याख्या—साद्यस्क्र नामक क्रतु में सुना जाता है—'पशुओं का साथ आलम्भन करते हैं' । इस विषय में यह अर्थ जाना गया—सवनीय काल में तीनों पशुओं का आलम्भ होता है ।

---

१. आप० श्रौत० २२।३।१०॥

स्थानक्रमात्पूर्वं सवनीय इति ? किं प्राप्तम् ? पूर्वमग्नीषोमीय इति । कुतः ? पाठक्रमात् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥१३॥ (उ०)

सवनीयः पूर्वं स्थानात् । यदि पूर्वमग्नीषोमीयः स्यात्, सवनीयस्थानं व्याहन्येत—**'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय'** इति । नन्वितरत्रापि पाठक्रमो बाध्येत ।

यहां [विचारणीय है कि] क्या पाठक्रम से अग्नीषोमीय का पूर्व आलम्भन किया जाये अथवा स्थानक्रम से सवनीय का ? क्या प्राप्त होता है ? पूर्व अग्नीषोमीय [आलब्धव्य है] । किस हेतु से ? पाठक्रम से । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—साद्यस्के श्रूयते—अग्निष्टोम का विकारभूत साद्यस्क नाम का क्रतु है (द्र० आप० श्रौत २२।२।६) । उन में अग्निष्टोम से प्राप्त अग्नीषोमीय पशु, सवनीय पशु और अनूबन्ध्या का आलम्भन प्राप्त है । **सवनीयकाले त्रयाणामालम्भः**—आप० श्रौत २२।३।१० में कहा है—**सवनीयकाले सह पशूनालभतेऽग्नीषोमीयं सवनीयमनुबन्ध्यां च** । अग्निष्टोम में अग्नीषोमीय पशु का आलभन चतुर्थ दिन (सुत्या से पूर्व दिन) विहित है । सवनीयपशु का **"आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाऽऽग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति** (द्र० आप० श्रौत १२।१८।१२) वचन से सुत्या के दिन आश्विनग्रह के अनन्तर है । अनूबन्ध्या का काल तृतीय सवन है । **पाठक्रमात्**—अग्नीषोमीय का आलम्भन चतुर्थ दिन विहित होने से पाठक्रम से सह आलम्भन में उसकी पूर्व प्राप्ति होती है ।

स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(स्थानात्) स्थान से और (उत्पत्तिसंयोगात्) आश्विन ग्रह के ग्रहण के अनन्तर सवनीय पशु की उत्पत्ति=विधान का काल के साथ संयोग होने से सवनीय का प्रथम आलम्भन होता है ।

विशेष—'स्थान' शब्द का अर्थ है—**क्लृप्तप्रक्रमपदार्थोपस्थितिः स्थानम्** अर्थात् जिन पदार्थों का क्रम क्लृप्त=नियत हैं उसकी उपस्थिति होने से । इस दृष्टि से आश्विन ग्रह के ग्रहण के अनन्तर त्रिवृत रशना से यूप का परिव्याण करके आग्नेय सवनीय पशु की उपस्थिति होती है । अथवा आप० श्रौत २२।३।१० में **सवनीयकाले सह पशूनालभते** वचन से सवनीय काल रूप स्थान=स्थिति का निर्देश होने से । कुतुहलवृत्तिकार ने स्थान शब्द को कालवाची माना है ।

व्याख्या—सवनीय पशु पूर्व [आलब्धव्य है] स्थान से । यदि पूर्व अग्नीषोमीय [आलब्धव्य] होवे तो सवनीय का स्थान व्याहत (=नष्ट) हो जाये—'आश्विन ग्रह का ग्रहण करके त्रिवृत रशना से यूप का परिव्याण करके' [ऐसा कहा है, वह व्याहत हो जावे] ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तु० कार्या—शत० ४।२।१२॥ आप० श्रौत १२।१८।१२.।

बाध्यताम् । तस्य हि प्रतिषेधार्थः सहशब्दः समाम्नातः । अप्रतिषिद्धं चाऽऽश्विनग्रह-स्थानम् । तन्न बाधितव्यम् ॥१३॥ **क्रमस्य क्वचित् स्थानानुसारिताधिकरणम् ॥६॥**

—:o:—

[मुख्यक्रमनियमाधिकरणम् ॥७॥]

सारस्वतौ भवतः। एतद्वै दैव्यं मिथुनम्[1] इति श्रूयते। तत्र संदेहः। किं स्त्री-देवत्यस्य प्रथमं धर्मा उत पुंदेवत्यस्येति ? नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादनियम इति प्राप्ते, ब्रूमः—

(आक्षेप) इतरत्र (=सवनीय का पूर्व आलम्भन करने पर भी) पाठक्रम बाधित होगा [प्रकृति में उसका पूर्व आलम्भन कहा है]। (समाधान) [अग्नीषोमीय का पाठक्रम] बाधित होवे। उसके प्रतिषेध के लिये 'सह' शब्द का पाठ है और आश्विनग्रहरूप स्थान तो अप्रतिषिद्ध है। इसलिये उसको नहीं बाधना चाहिये।

विवरण—सवनीयस्थानं बाध्येत—आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाऽऽग्नेयं सवनीयमुपाकरोति वचन में 'क्त्वा' प्रत्यय से बोधित आश्विन ग्रह की पूर्वकालता और सवनीयपशु के उपाकरण की उत्तरकालता विदित होती हैं। यदि सवनीयपशु से पूर्व अग्नी-षोमीय का आलम्भन होवे तो आश्विनग्रह और सवनीयपशु की जो पूर्वोत्तरकालता विदित होती है वह नष्ट हो जाये। यदि यह कहा जाये कि क्त्वा केवल आश्विनग्रह के ग्रहण की पूर्वकालतामात्र को कहता है, आनन्तर्य को नहीं कहता उस अवस्था में आश्विनग्रह के ग्रहण के अनन्तर अग्नीषोमीय पशु का आलम्भ होने पर भी सवनीय में भी आश्विनग्रह ग्रहण की पूर्वकालता घटित हो ही जाती है। इसका समाधान यह है कि 'सह पशून् आलभते' वचन से अग्नीषोमीय का जो स्थान (सुत्या से पूर्व दिन) था वह तो चालित=चलायमान हो गया। इस प्रकार अग्नीषोमीय स्वस्थान से भ्रष्ट है। आश्विनग्रह के ग्रहण के अनन्तर सवनीय-पशु की उपस्थिति होती है। ऐसी अवस्था में स्वकालभ्रष्ट अग्नीषोमीय के कारण सवनीय के काल को चालित (भ्रष्ट) नहीं करना चाहिये, अपितु उस को अनुगृहीत करना चाहिये। इस प्रकार प्रथम सवनीय पशु का आलम्भन होगा तदनन्तर अग्नीषोमीय का तत्पश्चात् अनूबन्ध्या का।

—:o:—

व्याख्या—'सरस्वान् और सरस्वती देवता वाले याग होते हैं। यह निश्चय ही दिव्य मिथुन (=जोड़ा) हैं' ऐसा सुना जाता है। उस में सन्देह होता है—क्या स्त्री-देवता (=सरस्वती) के प्रथम [निर्वापादि] धर्म होवें अथवा पुमान् देवता (=सरस्वान्) के ? नियमकारी शास्त्र के न होने से अनियम प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. तै० सं० २।४।६।१॥

मुख्यक्रमेण वाऽङ्गानां तदर्थत्वात् ।।१४।। (उ०)

मुख्यक्रमेण वा नियमः स्यादिति । स्त्रीदेवत्यस्य हि पूर्वं याज्यानुवाक्ययोः समाम्नानम् । **प्र णो देवी सरस्वती**[1] इति । तस्मात् स्त्रीदेवत्यस्य पूर्वं प्रदानेन भवितव्यम् । तस्मात् स्त्रीदेवत्यस्य पूर्वं धर्माः कार्याः । तथा हि प्रधानकालता भवत्यङ्गानाम् । इतरथा, यैः पदार्थैर्व्यवधानं सामर्थ्यादनुज्ञातं तेभ्योऽधिकैरपि व्यवधानं स्यात् ।।१४।। **अङ्गक्रमस्य मुख्यक्रमानुसारिताधिकरणम् ।।७।।**

—:०:—

विवरण—चित्रेष्टि में 'सारस्वतौ भवतः' से यागद्वय श्रुत हैं । 'सारस्वतौ' में सरस्वान् देवता अस्य=सारस्वतः, सरस्वती देवता अस्य=सारस्वतः । इन दोनों का सारस्वतश्च सारस्वतश्च सारस्वतौ इस प्रकार सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (अष्टा० १।२।६४) के नियम से एकशेष होता है । यहां सरस्वान् और सरस्वती देवता वाले दो यागों का विधान है । यह 'एतद्वै दैव्यं मिथुनं यत् सरस्वांश्च सरस्वती'[2] इस वाक्यशेष से जाना जाता है । धर्माः-निर्वापादि अर्थात् पहले सरस्वती देवताक हवि का निर्वाप किया जाये अथवा सरस्वान् देवताक हवि का ।

मुख्यक्रमेण वाऽङ्गानां तदर्थत्वात् ।।१४।।

सूत्रार्थः—(मुख्यक्रमेण) मुख्य=याग के क्रम से (वा) ही निर्वापादि धर्म होवें । (अङ्गानाम्) निर्वापादि अङ्गों के (तदर्थत्वात्) याग के लिये होने से ।

विशेष—मुख्यक्रमेण—मुखे भवः मुख्य—आरम्भ में होने वाला कर्म । याज्यानुवाक्या में प्रथम सरस्वती देवता वाली याज्यानुवाक्या पढ़ी गयी हैं (द्र०—भाष्य-व्याख्या के विवरण में) । कुतुहलवृत्तिकार ने सूत्र में 'वा' के स्थान में 'च' पढ़ा है । तदनुसार अर्थ होगा—मुख्य के क्रम से भी धर्मों का नियंत्रण होता है । अङ्गों के तदर्थ होने से ।

व्याख्या—मुख्य के क्रम से ही नियम होवे । स्त्रीदेवता वाले याग की ही पहले याज्या और अनुवाक्या का पाठ है । प्र णो देवी सरवती । इसलिये स्त्रीदेवत्य हवि का पूर्व प्रदान होना चाहिये । इस हेतु से स्त्रीदेवत्य हवि के धर्म पूर्व करने चाहियें । ऐसा करने से ही अङ्गों की प्रधानकालता उपपन्न होती है । अन्यथा (=अनियम मानने पर) जिन पदार्थों से [अवश्यंभावी] व्यवधान सामर्थ्य से अनुज्ञात है उन से अधिकों से भी व्यवधान होवे ।

---

१ द्र०—तै० सं० ३।१।११।। अत्रैव चित्रादियागानां याज्यानुवाक्याः पठिताः सन्ति । अत्र केवलं प्र णो देवी आ नो दिव इति प्रतीकरूपेणैव याज्यानुवाक्ये पठिते । सकलपाठस्त्वनयोः तै० सं० १।८।२२ स्थले द्रष्टव्यः । सरस्वद्देवताया याज्यानुवाक्या इहैव तै० सं० ३।१।११ पीपियांसं सरस्वतः, ये ते सरस्व इत्यादी सकलपाठेन उपलभ्येते ।

२. यह पाठ कुतुहलवृत्तिकार ने इस सूत्र में लिखा है । परन्तु तै० सं० २.४.६.१ में 'एतद्वै दैव्यं मिथुनम्' इतना ही पाठ मिलता है ।

[पाठक्रमस्य मुख्यक्रमापेक्षया बलीयस्त्वाधिकरणम् ।।८।।]

दर्शपूर्णमासयोः पूर्वमौषधधर्माः समाम्नाताः, तत आज्यस्य । तत्र संदेहः—किमग्नीषोमीयधर्माणां मुख्यक्रमेण पूर्वमाज्यस्य धर्माः कर्तव्या उत यथापाठमिति ? मुख्यक्रमानुग्रहेणाऽऽज्यस्य पूर्वमिति प्राप्ते ब्रूमः—

प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वाद् यथाक्रमं प्रतीयेत ।।१५।। (उ०)

विवरण—प्र णो देवी सरस्वती यह सरस्वतीदेवताक याग की अनुवाक्या है और आ नो दिवः यह याज्या है । इसके पश्चात् सरस्वान्देवताक याग की पीपियांसं सरस्वत् यह अनुवाक्या और ये ते सरस्व यह याज्या पठित है (द्र० तै० सं० ३।१।११) । प्रधानकालताभवत्यङ्गानाम् —सरस्वतीदेवताक और सरस्वान्देवताक यागों के हविर्निर्वाप आदि धर्म यथा क्रम से किये जायेंगे तो सब अङ्गों का याग के साथ समान काल का व्यवधान होगा । अनियम से करने पर किसी धर्म का किसी याग के साथ न्यून और अधिक काल का व्यवधान होगा ।।१४।।

—:०:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में पहले औषध के धर्म समाम्नात हैं, तदनन्तर आज्य के । उन में सन्देह होता है—क्या अग्नीषोमीय के धर्मों को मुख्य क्रम से पहले आज्य के धर्म करने चाहियें अथवा यथापाठ करने चाहियें । मुख्य क्रम के अनुरोध से आज्य के धर्म पहले करने चाहियें ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—दर्शपूर्णमासयोः—यह पूरे प्रकरण (दोनों यागों) का निर्देशक है । यहां विचार पौर्णमास याग के सम्बन्ध में है । पौर्णमास याग में आग्नेय, उपांशुयाज और अग्नीषोमीय ये क्रमशः तीन प्रधान याग हैं । इन में प्रथम तृतीय का द्रव्य पुरोडाश है, उपांशुयाज का द्रव्य आज्य है । पौर्णमास याग के प्रकरण में पहले पुरोडाश के निमित्तभूत व्रीहि आदि औषध के धर्म निर्वाप, कण्डन (छिलका उतारना), पेषण (यजु अ० १।६-२०) आदि धर्म के मन्त्र पढ़े हैं । तदनन्तर यजु० १।३०-३१ में आज्य (उद्वासन-अग्नि पर से आज्य को उतारना), अवेक्षण, (देखना) उत्पवन, ग्रहण आदि धर्म कहे हैं । अतः यहां सन्देह होता है कि पहले प्रथम और तृतीय याग के औषध धर्म करें अथवा मुख्य=याग क्रम से प्रथम आग्नेय के औषध धर्म तदनन्तर उपांशुयाज के आज्य धर्म और तत्पश्चात् अग्नीषोमीय के औषध धर्म । यहां मुख्य विचार अग्नीषोमीय याग के औषध धर्म और उपांशुयाज के आज्य धर्मों के क्रम के सम्बन्ध में है ।

प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वाद् यथाक्रमं प्रतीयेत ।।१५।।

सूत्रार्थः—(प्रकृतौ) प्रकृति=पूर्णमास में (तु) तो (स्वशब्दत्वात्) स्व-शब्द=स्वाध्याय=मन्त्रपाठ के द्वारा विधान होने से (यथाक्रमम्) जैसा संहिता में मन्त्रपाठ है उसी क्रम को (प्रतीयेत) जाने ।

प्रकृतौ यथापाठं प्रतीयेत । स्वशब्दो हि तेषां पाठक्रमः । सोऽन्यथा क्रियमाण वाधितः स्यात् । सहत्वस्य पुनरुपसंग्राहकः प्रयोगवचनः स्वक्रमेण पदार्थं संनिकृष्यमाणे न वाधितो भविष्यति । अपि च पाठक्रमे स्वशब्दः स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति । मुख्यक्रमे प्रयोगवचनैकवाक्यता सूक्ष्मा ।।१५।। **अङ्गेषु मुख्यक्रमापेक्षया पाठस्य बलवत्ताऽधिकरणम् ।।८।।**

—:o:—

[ब्राह्मणपाठापेक्षया मन्त्रपाठस्य बलीयस्त्वाधिकरणम् ।।९।।]

दर्शपूर्णमासयोराग्नेयस्य पूर्वं मन्त्रपाठः, उत्तरो ब्राह्मणस्य । तत्र संदेहः— कतमः पाठो वलीयानिति ? **उच्यते**—अनियमः । नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्येवं प्राप्ते, ब्रूमः—

व्याख्या—प्रकृति में यथापाठ क्रम जाने । उनका पाठ क्रम स्वशब्द वाला ही है । वह (स्वशब्द) अन्यथा करने पर बाधित होवे । और सहत्व का उपसंग्राहक जो प्रयोगवचन है, वह स्वक्रम से पदार्थ के समीप लाने में बाधित नहीं होगा । और भी, पाठ स्वशब्द स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (=वेद का अध्ययन करना चाहिये) है । (अर्थात् सूत्र में स्वशब्द से स्वाध्याय = वेद अभिप्रेत है) । मुख्यक्रम (=अग्नीषोमीय औषधधर्म से पूर्व उपांशुयाज के आज्यधर्म करने) में प्रयोगवचन से एक वाक्यता सूक्ष्मा है ।

विवरण—**सूक्ष्मा**—इसका भाव यह है कि मुख्यक्रम=प्रधान यागों के क्रम में प्रयोगवचन से प्राप्त एक वाक्यता सूक्ष्म अर्थात् क्षुद्र है क्योंकि उस में अश्रुत क्रम की कल्पना करनी होती है । स्वशब्द से बोधित क्रम की अपेक्षा होने से वह हीन है ।।१५।।

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में आग्नेयसम्बन्धी मन्त्रपाठ[1] पूर्व है, ब्राह्मण में उत्तर [अर्थात् ब्राह्मण में अग्नीषोमीय सम्बन्धी पाठ पूर्व है और आग्नेय सम्बन्धी उत्तर है] । इस में सन्देह होता है—कौनसा पाठ बलवान् है ? इस विषय में कहते हैं अनियम [जानना चाहिये] नियमकारी शास्त्र के अभाव होने से । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—**आग्नेयस्य पूर्वं मन्त्रपाठः**—तैत्तिरीय ब्राह्मण के हौत्रकाण्ड में ३।५।७ में आग्नेय याग के **अग्निमूर्धा दिवः** अनुवाक्या और **भुवो यज्ञस्य** याज्या पढ़ने के अनन्तर जिस का उपांशुयाज 'प्राजापत्य देवता वाला' होता है (द्र० तै०सं० सायणभाष्य २।६।२ में कल्पपाठ) उस की **प्रजापते न त्वद्** अनुवाक्या और **स वेद पुत्रः पितरं** याज्या के अनन्तर अग्नीषोमीय

---

१. यहां केवल मन्त्र पाठ और ब्राह्मण पाठ=याग विधायक वाक्य मन्त्र अभिप्रत हैं । संहिता वा ब्राह्मण ग्रन्थ अभिप्रत नहीं हैं । तै० सं० में मन्त्र पाठ के साथ ब्राह्मण पाठ सम्मिलित है और तै० ब्राह्मण में ब्राह्मण के साथ मन्त्र पाठ भी मिश्रित है । विशेष देखो विवरण में ।

मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात् प्रयोगरूपसामर्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशः सः ॥१६॥ (उ०)

मन्त्रपाठो बलीयान् । कुतः ? प्रयोगरूपसामर्थ्यात् । प्रयोगाय मन्त्रस्य रूपसामर्थ्यम् । तदस्य सामर्थ्यं, येन मन्त्रः प्रयज्यते । तस्य च प्रयुज्यमानस्य क्रमो दृष्टाय भवति । ननु व ब्राह्मणपाठस्यापि तदेव प्रयोजनम् । उच्यते । उत्पत्तिदेशः सः । अपरमपि तस्य प्रयोजनं कर्मोत्पत्त्यर्थं भविष्यति ॥१६॥ **ब्राह्मणपाठान्मन्त्रपाठस्य बलीयस्त्वाधिकरणम् ॥६॥**

—:०:—

देवता की अग्नीषोमा सवेदसा अनुवाक्या और अग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम् याज्या पढ़ी है। उत्तरो ब्राह्मणस्य—तै० सं० २।५।२।३ के ब्राह्मण भाग में अग्नीषोमीय का उत्पत्ति वाक्य पढ़ा है—ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छन् । तदनन्तर तै० सं० २।६।३ में आग्नेय का उत्पत्तिवाक्य यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावस्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति निर्दिष्ट है।

मन्त्रस्तु विरोधे स्यात्······उत्पत्तिदेशः सः ॥१६॥

सूत्रार्थः—(विरोधे) मन्त्रपाठ और ब्राह्मणपाठ के विरोध में (प्रयोगरूपसामर्थ्यात्) प्रयोग के लिये मन्त्र का रूपसामर्थ्य होने से (मन्त्रः) मन्त्रपाठ (तु) ही बलवान् (स्यात्) होवे (तस्मात्) इसलिये (सः) वह ब्राह्मणपाठ (उत्पत्तिदेशः) यागों के उत्पत्ति स्थानमात्र हैं।

विशेष—प्रयोगरूपसामर्थ्यात्—प्रयोग के लिये मन्त्र का रूपसामर्थ्य यही है कि मन्त्र क्रियमाण कर्म को कहता है। गोपथ ब्रा० उ० २।६ में कहा है—एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धम्, यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वा अभिवदति । अर्थात् यज्ञ का यही समृद्धपना है जो रूपसमृद्धता है [वह रूपसमृद्धता है] जो क्रियमाण कर्म को ऋचा वा यजु कहता है। इस से स्पष्ट है कि जिन विनियोगों में मन्त्र क्रियमाण कर्म को नहीं कहते, वे विनियोग वास्तविक विनियोग नहीं हैं। पदैकदेश वा वर्ण अक्षर की समानता को लेकर किया गया विनियोग अयज्ञीय=अयथार्थ =अप्रमाण है।[1]

व्याख्या—मन्त्रपाठ बलवान् है। किस हेतु से ? प्रयोगरूप सामर्थ्य से। प्रयोग के लिये मन्त्र का रूप सामर्थ्य है वह इसका सामर्थ्य है जिससे मन्त्र [कर्म में] प्रयुक्त होता है। उस प्रयुज्यमान मन्त्र का क्रम दृष्ट प्रयोजन के लिये होता है। (आक्षेप) ब्राह्मण पाठ का भी वही प्रयोजन होवे। (समाधान) उत्पत्तिदेश है वह । उसका अन्य प्रयोजन कर्म की उत्पत्ति के लिये होगा।

---

१. द्र० 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' अन्तर्गत 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८८-९०।

[औपदेशिकमुख्यक्रमापेक्षयाऽऽतिदेशिकपाठक्रमस्य बलवत्त्वाधिकरणम् ॥१०॥]

अस्त्यध्वरकल्पा[1] नामेष्टिः—**आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्, सरस्वत्या-ज्यभागा स्यात्, बार्हस्पत्यश्चरुः**[2] इति। तत्र संदेहः—किमाग्नेयविकारस्य बार्हस्पत्यस्य पूर्वं धर्माः कार्याः चोदको बलवत्तरः प्रयोगवचनात्, उतोपांशुयाजविकारस्य, प्रयोग-वचनो बलवत्तरश्चोदकादिति ? किं प्राप्तम् ?

विवरण—मन्त्रस्य रूपसामर्थ्यम्—सूत्रार्थ के नीचे 'विशेष' शीर्षक देखें। **येन मन्त्रः प्रयुज्यते**—किसी कर्म में मन्त्र के प्रयोग का सामर्थ्य यही होता है कि वह क्रियमाण कर्म को कहता है। **अपरमपि प्रयोजनम्**—इस का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणपाठ का कर्म की उत्पत्ति का बोधन कराना भी हो सकता है, अतः उस का क्रम-बोधन कराना प्रयोजन नहीं है ॥१६॥

—:०:—

व्याख्या—'अध्वरकल्पा' नाम की इष्टि है—'अग्नि और विष्णु देवता वाले एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वाप करे, सरस्वतीदेवता आज्यभागवाली होवे, बृहस्पतिदेवता वाला चरु होवे'। इस में सन्देह है—क्या आग्नेय के विकाररूप बार्हस्पत्य के धर्म पहले करें, चोदक बलवत्तर है प्रयोगवचन से [यह मान कर], अथवा उपांशुयाज के विकार [सरस्वती देवता वाले आज्यभाग के धर्म पहले करें] प्रयोगवचन बलवत्तर है चोदकवचन से [यह मान कर] ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अस्त्यध्वरकल्पा नामेष्टिः—'अध्वरकल्पा' शब्द में ईषद् असमाप्ति अर्थ में अष्टा० ५।३।६७ से 'कल्पप्' प्रत्यय होता है। अर्थ होगा—अध्वर=सोमयाग से कुछ न्यून इष्टि। इस इष्टि का वर्णन तै० सं० २।२।६।३-७; मै० सं० २।१।७; का० सं० १०।१; बौधायन श्रौत १३।१६; मानव श्रौत ५।१।६।३०-३७ आदि में मिलता है। उसके अनुसार यह इष्टि उस व्यक्ति के लिये विहित है जिस के भ्रातृव्य (=शत्रु) ने सोमयाग कर लिया है और स्वयं सोम याग नहीं कर सका। वह भ्रातृव्य के द्वारा इन्द्रिय=वीर्य का नाश न होवे, इस के लिये अध्वरकल्पा इष्टि करे। इस इष्टि का विधान इस प्रकार किया है—

"महारात्र[3] में उठ कर पक्षियों द्वारा चहचहाने (=शब्द करने) से पूर्व [सोमयाग के] प्रातःसवन के काल में आग्नावैष्णव अष्टाकपाल का निर्वाप करे, सरस्वती देवता के लिये आज्य और बृहस्पति देवता के लिये चरु का। माध्यन्दिनसवन में आग्नावैष्णव एकादश

---

१ द्र०—तै० सं० २।२।६।३-७; मै० सं० २।१।७; का० सं० १०।१; बौधा० श्रौत १३।१६; मानव श्रौत० ५।१।६।३०-३७॥ सर्वत्र किंचिद् भेदेन पाठो दृश्यते।

२. अयं पाठोऽध्वरकल्पायामिष्टौ माध्यन्दिनसवने दृश्यते (द्र० टि० निर्दिष्टिस्थानानि, कुतूहलवृत्तिकारेण तु अभिचरतो या इष्टय बौधा० श्रौतसूत्रे १३।१५ उक्तास्तासां निर्देशः कृतः। तै० सं० आदिष्वपि प्रायेण सर्वत्र पूर्वोक्तस्थानेष्वेव इमा इष्टयः स्वल्पभेदेन पठ्यन्ते।

३. महारात्र का अर्थ मी० ५।१।२५ के पूर्वपक्ष के भाष्य-विवरण में देखें।

तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात् ॥१७॥ (पू०)

विकृतावस्यां यथाप्रधानं स्यात्। तद्वचनात्। तेषां साक्षाद्वचनक्रमो विकृतौ। तेन संनिहितानामङ्गानामुपसंहारकः प्रयोगवचनो हि प्रत्यक्षः। तद्धर्माणां चाऽनुमानिकः। चोदकेन हि स प्राप्तः। तस्मात् प्रत्यक्षः प्रयोगवचनो वलवत्तरः। तेन चोदक आनुमानिको वाध्यते ॥१७॥

विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद् यथाप्रकृति ॥१८॥ (उ०)

कपाल का निर्वाप करे, सरस्वती के लिये आज्य और बृहस्पति के लिये चरु का। तृतीयसवन में आग्नावैष्णव द्वादशकपाल का निर्वाप करे, सरस्वती के लिये आज्य और बृहस्पति के लिये चरु का। [मैत्रावरुणी] वशा के काल में मैत्रावरुण एककपाल का निर्वाप करे।"

यहां तीनों सवनों में क्रमशः अग्नि-विष्णु देवता के लिये अष्टाकपाल एकादशकपाल और द्वादशकपाल के निर्वाप का निर्देश है। भाष्यकार ने आग्नावैष्णव एकादशकपाल के निर्वाप का ही उल्लेख किया है। यह निर्देश किस ग्रन्थ से किया है, हमें ज्ञात नहीं। उपर्युक्त विवरण के अनुसार तो अध्वरकल्पेष्टि के यह माध्यन्दिनसवन का हो सकता है। कुतुहलवृत्तिकार ने अभिचारेष्टि का **आग्नावैष्णवमेकादशकपालन्निर्वपेद् अभिचरन् सरस्वत्याज्यभागा स्याद् बार्हस्पत्यश्चरुः** वचन उद्धृत किया है। यह वचन बौधा० श्रौत १३।१५ में मिलता है।

आग्नेयविकारस्य बार्हस्पत्यस्य—बार्हस्पत्य चरु एकदेवताक होने से यह प्रकृतिगत आग्नेय का विकार है=**एकदेवता आग्नेयविकाराः** (आप० श्रौत परिभाषा खण्ड ३, सूत्र ४०)। **चोदकः**—**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** आतिदेशिकवचन। **प्रयोगवचनात्**—'इसके अनन्तर यह कर्म, इसके अनन्तर यह कर्म' इस प्रकार इतिकर्त्तव्यतारूप कर्मों का उपसंहारक वचन॥

तद्वचनाद् विकृतौ यथाप्रधानम् स्यात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(विकृतौ) विकृति याग में (यथाप्रधानम्) जैसे प्रधानयागों का उल्लेख किया है, तदनुसार धर्म (स्यात्) होवें, (तद्वचनात्) उनका साक्षात् वचन=पाठ होने से।

व्याख्या—विकृति अवस्था में यथाप्रधान धर्म होवे। उन के वचन से। उन का साक्षात् वचनक्रम विकृति में होवे। उन सन्निहित अङ्गों का उपसंहारक प्रयोग वचन प्रत्यक्ष है। उनके धर्मों का [उपसंहारकवचन] आनुमानिक है। वह चोदक=अतिदेश से प्राप्त है। इसलिये प्रत्यक्षरूप से पठित प्रयोगवचन बलवत्तर है। उस के द्वारा आनुमानिक चोदकवचन बाधा जाता है ॥१७॥

विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वायाद् यथाप्रकृति ॥१८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (विप्रतिपत्तौ) बार्हस्पत्य चरु में पुरोडाश धर्मों और सारस्वत में आज्यधर्मों के कर्मों में विप्रतिपत्ति=सन्देह होने पर (प्रकृत्यन्वयात्) प्रकृति में विद्यमान=उपदिष्ट क्रम का ही विकृति में अन्वय=अनुप्राप्ति होने से (यथाप्रकृति) प्रकृत्यनुसार पहले बार्हस्पत्य के धर्म, तदनन्तर आज्य के धर्म होवें।

मुख्याङ्गक्रमविप्रतिपत्तौ वा यथा प्रकृतौ तथैव विकृतौ भवितुमर्हतीति । कुतः ? प्रकृत्यन्वयात् । यादृशाः प्रकृतौ धर्मास्तादृशा एव विकृतौ भवितुमर्हन्तीति मुख्यक्रमेण क्रियमाणा न प्रकृतिवत्कृताः स्युः । चोदको हि प्रयोगवचनाद्बलवत्तरः । स ह्युत्पादयति प्रापयति च । प्रापितानभिसमीक्ष्य प्रयोगवचन उपसंहरति । स प्राप्तेषूत्पन्नः प्राप्तिनिमित्तक उत्तरकालः पूर्वप्राप्तं न बाधितुमर्हति चोदकं प्रत्यक्षोऽपि सन्, बहिरङ्गत्वात् । यथाप्राप्तानेवोपसंहरिष्यति । तस्मात्पूर्वं बार्हस्पत्यस्य धर्माः, तत आज्यस्येति ॥१८॥ **प्रयोगवचनाच्चोदकवचनस्य बलवत्त्वाधिकरणम् ॥१०॥**

—:०:—

व्याख्या—**अथवा विप्रतिप्रत्ति (=संशय) होने पर जैसा प्रकृति में [धर्मोपदेश है] वैसा ही विकृति में भी होना योग्य है। किस हेतु से ? प्रकृति से अन्वय होने से। जैसे प्रकृति में धर्म हैं वैसे ही विकृति में होने योग्य हैं। मुख्यक्रम से क्रियमाण धर्म प्रकृतिवत् किये हुए न होवें। चोदकवचन प्रयोगवचन से बलवत्तर है। वह (=चोदकवचन) [विकृतियागों में अविहित धर्मों को] उत्पन्न करता है और प्राप्त कराता है। [चोदकवचन से] प्राप्त कराये गये धर्मों की समीक्षा करके प्रयोगवचन उन का उपसंहार करता है। वह (प्रयोगवचन) प्राप्त हुओं में उत्पन्न हुआ प्राप्तिनिमित्तक होने से उत्तरकालवाला पूर्व प्राप्त चोदकवचन को प्रत्यक्ष होता हुआ भी बहिरङ्ग होने से नहीं बाध सकता। यथाप्राप्त धर्मों का ही [प्रयोगवचन] उपसंहार करेगा। इसलिये पहले बार्हस्पत्य के धर्म पश्चात् आज्य के धर्म होने चाहियें।**

विवरण—**प्रकृत्यन्वयात्**—'प्रकृतिमनु=पश्चात् अयात् प्रापणात्' अर्थात् प्रकृति के अनुसार प्राप्त होने से। **चोदको हि······बलवत्तरः**—विकृतियागों में प्रायः प्रधान यागों के द्रव्य और देवता का ही निर्देश किया जाता है। सामान्य अङ्गों का उपदेश विकृति यागों में न होने से **केन भावयेत् कथंभावयेत्** (किस से कर्म सिद्ध करें और कैसे करें) ऐसी आकांक्षा होने पर **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** (=प्रकृति के समान=प्रकृति में पठित अङ्गों की तरह ही विकृति करनी चाहिये) इस चोदकवचन से विकृति यागों में अविहित अङ्गों को उत्पन्न करता है और प्राप्त कराता है। इसलिये वह बलवान् है। **प्रत्यक्षोऽपि सन् बहिरङ्गः**—प्रयोगवचन के प्राप्तिनिमित्तक होने से वह उत्तरकाल वाला होने से बहिरङ्ग है। अर्थात् जब तक चोदकवचन से अङ्गों की प्राप्ति न होगी तब तक प्रयोगवचन उनका संग्रह कैसे करेगा ? वैयाकरणों के यहां एक न्याय है—**असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे**=अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों के एक साथ प्राप्त होने पर अन्तरङ्ग के प्रति बहिरङ्ग असिद्ध=अकृतकार्यकारी होता है अर्थात पहले अन्तरङ्ग कार्य होता है पश्चात् बहिरङ्ग ॥१६॥

—:०:—

[साकमेधेऽनीकवत्यादीनां सद्यस्कालताधिकरणम् ॥११॥]

चातुर्मास्येषु साकमेधस्तृतीयं पर्व। तस्यावयवाः—**अग्नयेऽनीकवते प्रातरष्टाकपालो, मरुद्भ्यः सांतपनेभ्यो मध्यंदिने चरुः, मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्**[1] इति। तत्र संदेहः—किमेता द्व्यहकाला इष्टय उत सद्यस्काला इति ? किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—चातुर्मास्यसंज्ञक यागों में साकमेध नाम का तृतीय पर्व (याग) है। उस के अवयव हैं—'अनीकवान् अग्नि के लिये प्रातः अष्टाकपाल, सान्तपन मरुतों के लिये मध्यन्दिन में चरु, गृहमेधी मरुतों के लिये सब गौवों के दूध में सायंकाल ओदन।' इसमें सन्देह होता है—क्या ये इष्टियां दो दिन साध्य हैं अथवा सद्यस्काला (=एक दिन साध्य) ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरणः—चातुर्मास्येषु-चतुर्षु मासेषु भवानि चातुर्मास्यानि अर्थात् चार मास के आन्तर्य से होने वाले याग। इन के चार पर्व हैं वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय। इन का पर्वरूप पूर्णिमा में ही अनुष्ठान होने से इन्हें पर्व कहा जाता है। अथवा पर्व शब्द जोड़ का वाचक है जैसे अङ्गुली के पर्व। चार चार मास में होने से ये चार चार मास के ऋतु रूपी काल को एक दूसरे से जोड़ने वाले होते हैं। वैश्वदेव पर्व फाल्गुन पूर्णिमा वा चैत्री पूर्णिमा में किया जाता है। वरुणप्रघास आषाढ की अथवा श्रावण की पूर्णिमा में होता है। साकमेध पर्व कार्तिक अथवा मार्गशीर्ष के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को होता है, पूर्णिमा के दिन क्रीडी मरुतों के लिये सप्तकपाल पुरोडाश आदि किये जाते हैं। शुनासीरीय पर्व साकमेध पर्व के पश्चात् दो चार दिनों में, १ मास व्यतीत होने पर अथवा फाल्गुनी पूर्णिमा को किया जाता है।

यद्यपि साकमेध पर्व दो दिन साध्य है, पुनरपि यहां प्रकृत अनीकवती आदि इष्टियों के विषय में 'दो दिन साध्य हैं अथवा एक दिन साध्य' यह विचार किया है। ये इष्टियां एक दिन साध्य हैं यह सिद्धान्त इस अधिकरण में प्रतिपादित किया है। द्वितीय दिन क्रीडी मरुतों अथवा स्वतवान् मरुतों के लिये इष्टि, महाहवियों के आठ याग, महापितृयज्ञ त्र्यम्बक हवियों के याग होते हैं। साकमेध पर्व कार्तिक वा मार्गशीर्ष के शुक्लपक्ष की चतुर्दशी और पूर्णिमा के दिन किया जाता है।

इन चातुर्मास्य यागों का चार चार मास की ग्रीष्म वर्षा और शरत् संज्ञक तीन ऋतुओं के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के ऋतु-चक्र में लगभग १ मास का अन्तर होता है। इसीलिये इन के विधान में भी 'फाल्गुनी वा चैत्री पूर्णिमा' आदि का सर्वत्र भेद से उल्लेख किया है। ऋतुसन्धियों में प्रायः रोग भी उत्पन्न होते है अतः ऋतुसन्धि में किये जाने वाले इन यज्ञों को भैषज्य यज्ञ भी कहते हैं— **अथो भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते।** गोपथ उत्तरभाग १।१९॥

---

१. मै० सं० १।१०।१॥ अत्र केवलम् 'सायमोदनः' इत्येव पाठभेदः।

विकृति प्रकृतिधर्मत्वात् तत्काला स्याद् यथाशिष्टम् ॥१९॥ (पू०)

विकृतिस्तत्काला भवितुमर्हतीति । यथाशिष्टम् । यथा प्रकृतिरुक्ता, तथा विकृतिः स्यात् । प्रकृतिधर्मा हि सा । तस्माद् या विकृतिः सा द्व्यहकाला भवितुमर्हतीति ॥१९॥

अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत तत्र विधेरनुमानात् प्रकृतिधर्मलोपः स्यात् ॥२०॥ (उ०)

अह्नः कालेषु ये पदार्था उच्यन्ते, प्रातर्मध्यंदिने सायमिति, क्रमेण त एकस्मिन्नहनीति प्रतीयन्ते । यथा देवदत्तः प्रातरपूपं भक्षयति, मध्यंदिने विविधमन्नमश्नाति, अपराह्णे मोदकान्भक्षयतीति । एकस्मिन्नहनीति गम्यते । तस्मात्सद्यस्काला एवंजातीयका विकृतयः । द्वैयहकाल्यं हि चोदकप्राप्तमानुमानिकं प्रत्यक्षरूपया सद्यस्कालतया बाध्येत ॥२०॥

विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात् तत्काला स्याद् यथाशिष्टम् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(विकृतिः) विकृतिरूप साकमेध पर्व में श्रुत इष्टि (प्रकृतिधर्मत्वात्) प्रकृति की धर्म वाली होने से (तत्काला) उस काल वाली अर्थात् दो दिन साध्य (स्यात्) होवे (यथाशिष्टम्) जैसे कि प्रकृति दो साध्य कही गयी है ।

व्याख्या—विकृति उस काल वाली होनी योग्य है, यथाशिष्ट=जैसे प्रकृति [दो दिन साध्य] कही गयी है उसी प्रकार विकृति होवे । वह (=विकृति) प्रकृतिधर्म वाली ही है । इसलिये जो विकृति है वह दो दिन काल वाली होनी योग्य है ॥१९॥

अपि वा क्रमकालसंयुक्ता......—प्रकृतिधर्मलोपः स्यात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये हैं अर्थात् अनीकवती आदि इष्टियां दो दिन साध्य नहीं हैं । ये इष्टियां (क्रमकालसंयुक्ताः) दिन के क्रम और काल प्रातः मध्यन्दिन और सायं से संयुक्त पढ़ी गयी हैं । अतः (सद्यः) एक दिन में कृत्स्न अङ्गसहित (क्रियेत) की जायें । (तत्र) वहां (विधेः) प्रातः मध्यन्दिन और सायं समस्त अङ्ग सहित अनुष्ठान का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से । (अनुमानात्) आनुमानिक चोदक से प्राप्त (प्रकृतिधर्मलोपः) प्रकृति के द्व्यहकाल साध्यरूप धर्म का लोप (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—दिन के विशेष काल प्रातः मध्यन्दिन और सायं में जो पदार्थ कहे हैं वे क्रम से एक दिन में ही प्रतीत होते हैं । जैसे देवदत्त प्रातः अपूप (=मालपुआ) खाता है, दोपहर विविध अन्नों का भक्षण करता है और अपराह्ण (तीसरे पहर) लड्डू खाता है, ऐसा कहने पर एक दिन में ही [सब पदार्थ खाता है] ऐसा जाना जाता है । इसलिये इस प्रकार की विकृतियां सद्यस्काल (=एक दिन) साध्य हैं । दो दिन रूप काल चोदक (=प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या) से प्राप्त आनुमानिक होने से प्रत्यक्षरूप सद्यस्कालता से बाधा जाता है ।

कालोत्कर्ष इति चेत् ॥२१॥ (पू०)

इति चेत्पश्यसि— प्रातः साङ्गं श्रूयते, तथा मध्यंदिने सायं चेति। उत्कर्षो भविष्यति। यथैतेषु कालेषु साङ्गम्। न च द्व्यहकालताया बाधः। एकस्याह्नः प्रातरनीकवन्तमुपक्रंस्यते। द्वितीयस्य प्रातर्यक्ष्यते। एवं सांतपनीया पूर्वेद्युर्मध्यंदिन उपक्रंस्यते। अपरेद्युर्मध्यंदिने यक्ष्यते। तथा, गृहमेधीये सायमुपक्रमणं पूर्वेद्युः, सायं यागोऽपरेद्युरिति। ननु वाक्यादेकमहर्गम्यत इत्युक्तम्। उच्यते। पदार्थसामर्थ्यजनितो हि वाक्यार्थो भवति। न चात्र पदार्थसामर्थ्यमस्ति, येनैकमहर्गम्येत ॥२१॥

विवरण—दर्शपूर्णमास प्रकृति में द्व्यहकालता है। कुछ आरम्भिक कार्य पूर्णिमा या अमावास्या को होता है और शेष साङ्ग प्रधान याग प्रतिपद् के दिन होता है। **य इष्ट्या पशुना सोमेन वा यजेत स पौर्णमास्याममावास्यायां वा यजेत** (तु० करो आप० श्रौत १०।२।८; काठक सं० ८।१ अन्त में) वचन से विकृति यागों की सद्यस्कालता प्राप्त है। यहां **द्व्यहं साकमेधैर्यजेत** (आप० श्रौत ८।६।१) वचन से साकमेध की दो दिन साध्यता कही है। साकमेध पर्व में अनीकवती आदि तीन इष्टियां क्रीडी मरुतों वा स्वतवान् मरुतों के लिये इष्टि, महाहवियां, पिण्डपितृयज्ञ और त्र्यम्बक हवियों का विधान है। ये सब याग दो दिन में करने होते हैं। पूर्वपक्ष के अनुसार यदि अनीकवान् अग्नि आदि के लिये क्रियमाण इष्टियां दो दिन साध्य होवें अन्य इष्टियां भी दो दिन साध्य होवें तो साकमेध पर्व चतुर्दिन साध्य होवे जब कि साकमेध को दो दिन साध्य कहा है ॥२०॥

कालोत्कर्ष इति चेत् ॥२१।

सूत्रार्थः—(कालोत्कर्षः) काल का उत्कर्ष होवे अर्थात् प्रातः की जाने वाली अनीकवती इष्टि का प्रथम दिन प्रातःकाल आरम्भ होवे और दूसरे दिन प्रातः याग होवे। इसी प्रकार सान्तपनीय और गृहमेधीय का प्रथम मध्यन्दिन तथा सायं आरम्भ और द्वितीय दिन याग होवे (इति चेत्) ऐसा यदि समझते हो तो।

व्याख्या—यदि ऐसा समझते हो कि प्रातः साङ्ग सुना जाता है तथा मध्यन्दिन और सायं [साङ्ग सुना जाता है] तो [काल का] उत्कर्ष हो जायेगा। जैसे इन कालों में साङ्गता [कही है उससे] दो दिन साध्यता का बाध नहीं होता है। एक दिन के प्रातःकाल में अनीकवान् याग का आरम्भ करेंगे और द्वितीय दिन के प्रातः यजन करेंगे। इसी प्रकार सान्तपनीया इष्टि का पूर्व दिन में मध्यन्दिन काल में आरम्भ करेंगे और दूसरे दिन मध्यन्दिन में याग करेंगे। इसी प्रकार गृहमेधीय याग में पहले दिन सायं काल में आरम्भ और दूसरे दिन सायं यजन करेंगे। (आक्षेप) वाक्य से एक दिन जाना जाता है यह कहा है। (समाधान) पदार्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ वाक्यार्थ होता है। यहां कोई ऐसा पदार्थ-सामर्थ्य नहीं है जिस से 'एक दिन' जाना जाये ॥२१॥

न तत्संबन्धात् ॥२२॥ (उ०)

नैतदेवम् । कस्मात् ? तत्संबन्धात् । एककालसंबद्धानि प्रधानान्यङ्गैः सह श्रूयन्ते । कथम् ? साङ्गं हि प्रधानं प्रातःकाले श्रूयते तथा मध्यंदिने सायं च । नाङ्गानि प्रातःकालादिषु । तत्रान्यकालेष्वङ्गेष्वन्यकालेषु च प्रधानेषु न साङ्गं तेषु कालेषु कृतं स्यात् । तस्मात्सद्यस्काला एवैता विकृतय इति । अपि च द्व्यहं साकमेधैः[1] इति श्रूयते । तत्सद्यस्कालासूपपद्यते ॥२२॥ **विकृतौ क्वचित् प्रकृतिधर्मानतिदेशताधिकरणम् ॥११॥ साकमेधीयन्यायः ॥**

—:०:—

विवरण—साङ्गं हि प्रधानम्—आपस्तम्ब परिभाषा २।३९ में कहा है—**सहाङ्गं प्रधानम्** । इस का भाव है जहां **सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः** आदि में केवल प्रधान कर्म का उपदेश है । वहां उन्हें दर्शपौर्णमासादि से अतिदेश द्वारा प्रापित अङ्गों के साथ करना चाहिये । अतः यहां भी प्रातः आदि काल में साङ्गकर्मों का विधान जाना जाता है ।

न तत्संबन्धात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है कि एक दिन याग आरम्भ होवे और दूसरे दिन पूर्ण होवे । (तत्संबन्धात्) प्रधान का अङ्गों के एक काल के साथ संबन्ध होने से ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है । किस हेतु से ? उस के साथ संबन्ध होने से । एक काल से सम्बद्ध प्रधान अङ्गों के साथ सुने जाते हैं । कैसे ? साङ्ग प्रधान प्रातःकाल सुना जाता है, उसी प्रकार [साङ्ग प्रधान] मध्यन्दिन और सायं काल में । अङ्ग प्रातःकाल आदि में श्रुत नहीं हैं । ऐसी अवस्था में अन्यकाल में अङ्गों के होने पर और अन्य काल में प्रधान के होने पर उन समयों में साङ्ग प्रधान किया हुआ न होवे । इसलिये ये विकृतियां सद्यःकाला ही हैं । और भी साकमेधीय यागों से दो दिन में यजन करें । ऐसा सुना जाता है । यह श्रवण [इन विकृति यागों के] सद्यःकाल में ही उपपन्न होता है ।

विवरण—नाङ्गानि प्रातःकालादिषु—इसका का भाव यह है कि यहां प्रधान यागों का प्रातः आदि काल कहा है । अङ्गों के प्रातः काल का विधान नहीं है क्योंकि अङ्गों की प्राप्ति तो **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या** इस अतिदेश से होती है । अतः साङ्ग प्रधान ही प्रातः मध्यन्दिन और सायं काल में श्रुत हैं ऐसा जाना जाता है । शेष २० वें सूत्र के भाष्य-विवरण में देखें ॥२२॥

—:०:—

---

१. द्र०—द्व्यहं साकमेधैर्यजेत । आप० श्रौत० ८।९।१॥

[तदाद्युत्कर्षतदन्तापकर्षाधिकरणम् ॥१२॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**आग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति**'[1] इत्युत्कर्षः । तथाऽग्नीषोमीये पशौ **तिष्ठन्तं पशुं प्रयजन्ति**'[2] इत्यपकर्षः । तत्र संदेहः—किमुत्कर्षेऽनुयाजमात्रमुत्कृष्यते, अपकर्षे च प्रयाजमात्रम्, उतोत्कर्षेऽनुयाजादि, अपकर्षे व प्रयाजान्तमिति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—'आग्निमारुत [शस्त्र] से ऊर्ध्व (=अनन्तर) अनुयाजों से यजन करता है' [इस में अनुयाजों का] उत्कर्ष कहा है। तथा अग्नीषोमीय पशु में 'खड़े पशु काल में प्रयाज करता है' [इस में प्रयाजों का] अपकर्ष कहा है। इस में सन्देह होता है क्या उत्कर्ष में अनुयाजमात्र का उत्कर्ष होवे और अपकर्ष में प्रयाजमात्र का अथवा उत्कर्ष में अनुयाजादि (=अनुयाज से लेकर अन्त तक सब कर्मों का उत्कर्ष होवे) और अपकर्ष में प्रयाजान्त का (=प्रयाज से पूर्व जितने कर्म कहे हैं, प्रयाज पर्यन्त उन सब का अपकर्ष होवे) ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—आग्निमारुतादूर्ध्वम्—आग्निमारुत शस्त्र तृतीयसवन में विहित है। **अङ्गैस्तृतीय सवने** इस वचन के अनुसार सवनीय पशु के हृदयादि अङ्गों से होम तृतीयसवन में विहित है। यह कर्म इडाभक्षणान्त करके छोड़ दिया जाता है। इस (पशुयाग) के अनुयाजादि आग्निमारुत शस्त्र के अनन्तर किये जाते हैं। इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशु चतुर्थदिन (सुत्या से पूर्व दिन) होता है, तत्सम्बन्धी हवि के आसादन के उत्तर काल में प्रकृति से प्राप्त प्रयाज आदि को पशु के आलम्भन से पूर्व करने का विधान किया है।

अग्निषोमीय पशुयाग दर्शेष्टि (=अमावास्येष्टि) की विकृति माना जाता है—**अग्नीषोमीयस्य च पशोः** (आप० परि० ३।३२)। वह अग्नीषोमीय पशु सवनीय पशु की प्रकृति कहा गया है, और सवनीय पशु एकादश पशुयाग की प्रकृति होता है, एकादश पशुयाग पशुगण यागों का (द्र० आप० परि० ३।३३-३५)। इस प्रकार साक्षात् वा परम्परा से दर्शेष्टि पशुयागों की प्रकृति है ज्योतिष्टोम में सवनीय पशुयाग के प्रकरण में अनुयाजों का उत्कर्ष और अग्निषोमीय पशु में प्रयाजों का अपकर्ष कहा है। प्रकृतिभूत दर्शेष्टि में प्रधान याग के अनन्तर इडाभक्षण के पश्चात् अनुयाज कहे गये हैं और प्रयाज प्रधान याग से पूर्व उपदिष्ट हैं।

अनुयाज आदि शब्दों का अर्थ—अनुयाज शब्द का अर्थ है—अनु=प्रधान याग के पश्चात् कहे गये याग। इसी प्रकार प्रयाज का अर्थ है—प्र=प्राक्=पूर्व कहे गये याग। उत्कर्ष शब्द का अर्थ है—स्वनियत स्थान से प्रच्यावित कर्म का निर्दिष्ट पदार्थ के उत्=ऊर्ध्व कर्ष=खींचना अर्थात् निर्दिष्ट पदार्थ के अनन्तर समावेश करना। इसी प्रकार अप-

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्।

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद् यथोक्तमुत्कर्षे स्यात् ॥२३॥ (पू०)

यावदुक्तमुत्कर्षापकर्षयोः स्यात् । कुतः ? अङ्गानां मुख्यकालत्वात् । एवमन्येषां प्रधानकालता भविष्यतीति । तत्र सहत्वस्य प्रापकः प्रयोगवचनोऽनुग्रहीष्यते ॥२३॥

तदादि वाऽभिसंबन्धात् तदन्तमपकर्षे स्यात् ॥२४॥ (उ०)

तदादि उत्कर्षे, तदन्तमपकर्षे गम्येत । कुतः ? अभिसंवन्धात् । यदनुयाजानां

कर्ष शब्द का अर्थ है– स्वस्थान से हटाये गये कर्म का निर्दिष्ट पदार्थ के अप = पूर्व कर्ष = खींचना = पूर्व समावेश करना ।

पशुयाग की प्रकृति में अनुयाज का स्थान प्रधान याग के अनन्तर इडाभक्षण के पश्चात् है । उस का सवनीय पशुयाग में पशु के प्रधान याग के अनन्तर स्थान से हटाकर अग्निमारुत शस्त्र से उर्ध्व विधान किया है । इसी प्रकार प्रधान याग से पूर्व विहित प्रयाजों को अग्नीषोमीय पशुयाग के प्रधान याग से पूर्व स्थान से हटाकर पशु के आलम्भन से पूर्व विधान किया है ॥

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद् यथोक्तमुत्कर्षे स्यात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(अङ्गानाम्) अङ्गों के (मुख्यकालत्वात्) प्रधानयाग के काल वाले होने से (उत्कर्षे) अनुयाजों के उत्कर्ष होने पर (यथोक्तम्) जैसा कहा है [वैसा अर्थात् जितना कहा है उतने का उत्कर्ष] (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—उत्कर्ष और अपकर्ष में यावदुक्त (= जितना कहा है उतना) होवे । किस हेतु से ? अङ्गों के मुख्यकाल वाला होने से । इस प्रकार अन्य (= जिन का उत्कर्ष अपकर्ष कहा है उन से भिन्न) अङ्गों की मुख्यकालता होवेगी । ऐसी स्थिति में सहत्व प्रापक प्रयोग-वचन अनुगृहीत होगा ।

विवरण—अङ्गानां मुख्यकालत्वात्—आप० परि० २।३९ के सहाङ्गं प्रधानम् नियम से जो प्रधान का काल होता है वही उसके अङ्गों का भी होता है । तभी अङ्गों और प्रधान का सहभाव होता है ।

तदादि वाऽभिसंबन्धात् तदन्तमपकर्षे स्यात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है । [अनुयाजों के उत्कर्ष में] (तदादि) अनुयाज आदि में है जिन अङ्गों के उन सब का उत्कर्ष होता है (अभिसम्बन्धात्) अनुयाजों के साथ उन का सम्बन्ध होने से । (अपकर्षे) प्रयाजों के अपकर्ष में (तदन्तम्) वे प्रयाज जिन अङ्गों के अन्त में हैं उन सब का अपकर्ष (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—उत्कर्ष में तदादि (= अनुयाज जिन के आरम्भ में है वह अङ्गजात) और

परस्तात् समाम्नायते, तत्प्रधानादनन्तरं प्रयोगवचनेन प्राप्तं बाधित्वा पाठसामर्थ्यादनुयाजेभ्यः परस्तात् क्रियते। तथा यस्ततः परः, स ततः परस्तात्। एवमेक उत्कृष्यमाणः सर्वं गुणकाण्डमुत्कर्षति। तथाऽपकृष्यमाणोऽपकर्षतीति ॥२४॥ **अनुयाजाद्युत्कर्ष-प्रयाजान्तापकर्षाधिकरणम् ॥१२॥ तदादितदन्तन्यायः ॥**

—:o:—

[पौरोडाशिकानां प्रोक्षणादीनां सौमिकपदार्थपूर्वभावित्वाधिकरणम् ॥१३॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते प्रातरनुवाककाले प्रतिप्रस्थातः सवनीयान्निर्वपस्व[1] इति

अपकर्ष में तदन्त (=प्रयाज जिन के अन्त में है वह अङ्गजात) जाना जाता है। किस हेतु से? अभिसम्बन्ध होने से। जो अङ्ग अनुयाजों के परे पठित हैं, वे प्रयोगवचन से प्रधान के अनन्तर प्राप्त होते हैं उस को बाध कर पाठ-सामर्थ्य से अनुयाजों के अनन्तर किया जाता है। तथा जो उस से परे है उस को उस से परे। इस प्रकार एक उत्कृष्ट होता हुआ पूरे गुणकाण्ड को उत्कर्षित करता है। तथा एक अपकृष्ट होता हुआ [पूरे गुणकाण्ड को] अपकर्षित करता है।

विवरण—यदनुयाजानां······पाठसामर्थ्यात्—इस का भाव यह है कि सहाङ्गं प्रधानम् (आप० श्रौत० परि० २।३९) नियम से सभी अङ्ग प्रधानयाग के सहत्व की आकाङ्क्षा रखते है, परन्तु अनेक अङ्गों का प्रधान के साथ एक काल में अव्यवहित पूर्वता या अव्यवहित परता सम्भव नहीं है। अतः प्रयोगवचन से सहभाव को प्राप्त हुए अङ्गों की पाठसामर्थ्य से पौर्वापर्य की व्यवस्था होती है। इस प्रकार प्रधानयाग के अनन्तर पठित अनुयाजों के उत्कर्ष होने पर अनुयाजों के पश्चात् पठित अङ्ग प्रधान के अनन्तर प्राप्त होते हैं। उस आनन्तर्य को पाठ-सामर्थ्य से बाधा जाता है। अर्थात् अनुयाज के अनन्तर पठित अङ्ग का पाठसामर्थ्य से अनुयाजों से आनन्तर्य गम्यमान होता है अतः वह अनुयाजों के साथ ही उत्कर्षित होता है। उस के अनन्तर पठित का भी पाठसामर्थ्य से उस के अनन्तर उत्कर्ष होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण गुणसमूह जिन का परस्पर आनन्तर्य पाठसामर्थ्य से जाना जाता है, का उत्कर्ष होता है। **तथाऽपकृष्यमाणोऽपकर्षति**—इसी प्रकार प्रयाजों के अपकर्ष होने से उससे अव्यवहित पूर्व अङ्ग का पूर्व पाठसामर्थ्य से अपकर्ष होता है, अतः उस से पूर्व अङ्ग का भी पूर्व पाठसामर्थ्य से अपकर्ष होता है। इस प्रकार प्रयाजों का अपकर्ष होने से उससे पूर्व पूर्व पठित सभी गुणों का अपकर्ष होता है ॥२४॥

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में प्रातरनुवाक के काल में सुना जाता है—'हे प्रतिप्रस्थातः! सवनीय का निर्वाप कर' ऐसा प्रैष देता है। यह सवनीयों का निर्वाप काल है। और बहिष्पव-

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

प्रेष्यतीति सवनीयानां निर्वापकालः। अस्ति च **बहिष्पवमाने स्तुते अग्नीदग्नीन् विहर, बर्हिस्तृणोहि, पुरोडाशानलंकुरु**"[2] इति। तत्र संदेहः। किं प्रातरनुवाककाले सवनीयान् निरूप्य प्रचरणीहोमादयः सौमिकाः पदार्था उत पौरोडाशिकाः प्रागलंकरणादिति? किं प्राप्तम्? अनियमः। नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्येवं प्राप्ते, ब्रूमः—

मान स्तोत्र के पश्चात् प्रैष है—'हे अग्नीत्! अग्नियों का विहरण करो, बर्हि (=दर्भ) का आस्तरण करो, पुरोडाशों को अलङ्कृत करो'। इस में सन्देह होता है—प्रातरनुवाक काल में सवनीय पुरोडाशों का निर्वाप करके प्रचरणी होमादि सौमिक पदार्थ करने चाहियें अथवा अलंकरण से प्राक् पौरोडाशिक सब कार्य कर के सौमिक पदार्थ करने चाहियें? क्या प्राप्त होता है? अनियम, नियमकारी शास्त्र के न होने से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—प्रातरनुवाककाले—अग्निष्टोम में पांचवें सुत्या के दिन अपररात्र=अर्धरात्रि के व्यतीत होने के पीछे, चार घण्टा (१० घड़ी) सूर्योदय में शेष रहने पर (लगभग २ बजे) ऋत्विजों को जगाया जाता है (कात्या० श्रौत ९।१।१)। इसे ही आपस्तम्ब श्रौत १२।१।१ में महारात्र कहा है (महारात्र=रात्रि का तृतीय भाग, रुद्रदत्त)। पक्षियों के शब्द करने से पूर्व **देवेभ्यः प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहि** ऐसा प्रैष होता को दिया जाता है। इस काल में होता से पठचमान ऋक्समूह 'प्रातरनुवाक' कहाता है। **प्रतिप्रस्थातः सवनीयान्—**प्रातरनुवाक के पाठ काल में प्रतिप्रस्थाता को सवनीय हवियों के निर्वाप के लिये प्रैष दिया जाता है (कात्यायन के मत में अग्नीत्=आग्नीध्र सवनीय हवियों का निर्वाप करता है। द्र० का०श्रौ० ९।१।१५)। सवनीय हवियां हैं हरिवान् इन्द्र के लिये धाना (=भुंजे हुए जौ=धानी), पूषण्वान् इन्द्र के लिये करम्भ (=जल वा आज्यादि से संपृक्त सत्तु। आप० श्रौत० १२।४।१३ रुद्रदत्त) भारती सरस्वती के लिये परिवाप (=लाजा=खीलें), इन्द्र के लिये पुरोडाश, मित्रावरुण के लिये पयस्या (=खीर) द्र० आप० श्रौत० १२।४।६॥ **बहिष्पवमाने स्तुते—**सुत्या के दिन ध्रुव ग्रह के धारा से ग्रहण के अनन्तर बहिष्पवमान स्तोत्र का काल है। इस पवमान स्तोत्र का पाठ हविर्धान मण्डप से बाहर होता है। अतः इसकी बहिष्पवमान संज्ञा है। (यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृष्ठ ६९)। बहिष्पवमान स्तोत्र के पीछे अध्वर्यु अग्नीत् नामक ऋत्विक् को अग्नियों के विहरण बर्हि के स्तरण और पुरोडाश के अलंकरण का प्रैष देता है। **अग्नीन् विहर—**आग्नीध्रीय अग्नि से अंगारों को धिष्ण्यसंज्ञक स्थान में ले जाना, यहां अग्निविहरण है (द्र० कात्या० श्रौत० ९।७।४)। **पुरोडाशान् अलंकुरु—**उद्वासित=कपालों पर से उतारे हुए पुरोडाशों का **देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु**' मन्त्र से घृत से अभिघारण करना अलंकरण कहाता है। यह कर्म आग्नीध्रकर्तृक है।

सवनीयान् निरूप्य—सवनीय हवियों के निर्वाप के अनन्तर प्रचरणीहोमादि सौमिक पदार्थ करें अथवा हविनिर्वाप और पुरोडाशालंकरण के मध्यवर्ती प्रोक्षण अवघात आदि उद्वासनान्त पदार्थ हैं, उन्हें प्रतिप्रस्थाता के द्वारा निर्वाप के अनन्तर अध्वर्यु करे यह संशय है।

---

१. तै० सं० ६।३।१।१-२॥ तु० आप० श्रौत १२।१७।१९॥ २. तै० सं० ६।३।३।१॥

प्रवृत्त्या कृतकालानाम् ॥२५॥ (उ०)

प्रवृत्त्या कृतकालानाम्। ज्ञातकालानां पदार्थानां प्रवृत्त्या नियमः स्यात्। प्रयुज्यमानमेव हि पूर्वपदार्थमभिनियच्छति। स तस्य परस्तात् समाम्नातः परस्तात् कर्तव्यः। सौमिकस्य तु पदार्थस्य प्रचरणीहोमस्य वचनात् क्रमो बाधितः। अलंकरणं च बहिष्पवमानस्य परस्तात् समाम्नातम्। तस्मात् तस्य पूर्वः पदार्थो निर्वपणादीनामन्तः। तत उत्तरे सौमिकाः पदार्थाः कर्तव्या इति ॥२५॥

प्रचरणी होमादयः—आप० श्रौत० १२।५।१ में लिखा है—प्रातरनुवाक की अन्तिम ऋचा **अभूदुषा रुशत्पशु** के पाठकाल में [चतुर्गृहीत आज्य का] प्रचरणी से होम करता है **शृणोत्वग्निः समिधा हवं** मन्त्र से (का० श्रौ० ६।३।१)। प्रचरणी नाम पालाशी जुहू का है (का० श्रौ० ६।२।१६ विद्याधरीय टीका), विकङ्कत काष्ठ निर्मित जुहू सदृश पात्र प्रचरणी (द्र० श्रौत-पदार्थ निर्वचन में आग्निष्टोमिक पदार्थ संख्या १२६)। आदि पद से बहिष्पवमान पर्यन्त सोमाभिषव ग्रह-ग्रहण आदि।

प्रवृत्त्या कृतकालानाम् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(कृतकालानाम्) निर्वाप के अनन्तर कृत=विज्ञात है काल जिन प्रोक्षण पदार्थों का, उन में (प्रवृत्त्या) प्रवृत्ति से=प्रथम उपस्थिति से नियम होवे।

व्याख्या—**प्रवृत्ति से कृतकाल पदार्थों का नियम होवे। ज्ञात है काल जिन का उन पदार्थों का प्रवृत्ति से नियम होवे। प्रयुज्यमान पदार्थ ही निश्चय से पूर्वपदार्थ को नियमित करता है, वह उससे परे पठित है इसलिये उसे पीछे करना चाहिये। सौमिक प्रचरणीहोम पदार्थ का वचन से क्रम बाधित किया है अर्थात् क्रम को रोका है। और अलंकरण बहिष्पवमान के पीछे पठित है। इसलिये उस अलंकरण से पूर्व पदार्थ (=उद्वासन) निर्वापादि का अन्त होवे [अर्थात् निर्वाप के पश्चात् प्रोक्षण से लेकर हवि उद्वासनान्त कर्म पहले होवें पीछे [प्रचरणी होमादि] सौमिक पदार्थ करने चाहियें।**

विवरण—प्रयुज्यमानमेव—'सवनीयान् निर्वपस्व' से प्रयुज्यमान निर्वाप कर्म। वह अपने से उत्तर पूर्व=प्रथम पठित पदार्थ को नियमित करता है। **प्रचरणीहोमस्य वचनात् क्रमो बाधितः**। प्रचरणीहोम प्रातरनुवाक की **अभूदुषा** ऋचा के उच्चारण समकाल सवनीय हवियों के निर्वाप के अनन्तर है। उस का किस वचन से क्रम बाधित होता है यह भाष्यकार ने व्यक्त नहीं किया। कुतुहलवृत्तिकार ने भाष्यकार का अभिमत इस प्रकार स्पष्ट किया है—'प्रतिगर पक्ष में अध्वर्यु के प्रतिगर में व्यापृत होने से अध्वर्यु प्रचरणीहोमादि सौमिक पदार्थ नहीं कर सकता है, अतः वे बाधित हैं।

प्रतिगर-पदार्थ—जब होता शस्त्र का पाठ करता है तब अध्वर्यु होता के आगे उसकी ओर मुंह कर के खड़ा होकर—**आहावेशों३सामो दैव** आदि पदों का उच्चारण करता है।

शब्दविप्रतिषेधाच्च ॥२६॥ (उ०)

शब्दश्च विप्रतिषिध्यते। अलंकुर्वित्युक्तः प्रोक्षणादीन् प्रतिपद्येत। अस्मत्पक्षे तु, अलंकुर्वित्युक्तेऽलंकरणमेव प्रतिपत्स्यते। तत्रालंकरणे प्राप्तकाले प्राप्तकालवचनो लोडन्तोऽनुग्रहीष्यते। तस्मादत्र प्रावृत्तिकः क्रम इति ॥२६॥ **प्रवृत्त्या प्रोक्षणादीनां सौमिकपूर्वभाविताधिकरणम् ॥१३॥**

—:०:—

इस को प्रतिगर कहते हैं। यह शस्त्र पाठ के समय होता को उत्साहित करने के लिये होता है। जैसे कवि सम्मेलनों में कवि के द्वारा कविता पाठ करते समय समीप बैठे व्यक्ति कवि को उत्साहित करने के लिये विविध शब्दों का उच्चारण करते हैं (इसे 'दाद' देना कहते हैं)।

भट्ट कुमारिल ने अनेक पक्ष उपस्थापित करके भाष्यकार के मत का खण्डन किया है। उसी के अनुसार कुतहलवृत्तिकार ने लिखा है—यह भाष्य अयुक्त है। प्रतिगर पक्ष में अध्वर्यु के उस (=प्रतिगर) में व्यापृत होने से **इतरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात्** (मी० ३।८।२१) [=अन्य कर्म को अन्य करे जो उन में जिस से विशेष होवे) इस न्याय से अध्वर्यु पुरुष प्रतिप्रस्थाता के निर्वाप में कर्तृत्व होने से निर्वाप के द्वारा उसको उत्तरवर्ती प्रोक्षण की उपस्थिति के सम्भव होने से पूर्व पक्ष का उद्घाटन प्रसङ्ग (=उपस्थिति) न होने से।

शब्दविप्रतिषेधाच्च ॥२६॥

सूत्रार्थः—(शब्दविप्रतिषेधात्) 'पुरोडाशान् अलंकुरु' इस शब्द के विरोध से (च) भी सवनीय हवियां प्रोक्षणादि कर्म निर्वाप के अनन्तर प्रचरणीहोम से पूर्व होवें।

व्याख्या—शब्द भी विप्रतिषिद्ध होता है। 'अलंकुरु' ऐसा कहा हुआ प्रोक्षणादि को जानेगा। हमारे मत में तो 'अलंकुरु' ऐसा कहने पर अलंकरण ही जाना जायेगा। वहां अलङ्करण की प्राप्तकालता में प्राप्तकालवचन लोडन्त शब्द अनुगृहीत होगा। इसलिये यहां प्रावृत्तिक ही क्रम है।

विवरण—शब्दश्च इत्यादि भाष्य का भाव यह है कि अलंकरण के काल में प्रोक्षणादि के किये जाने पर 'अलंकुरु' शब्द विरुद्ध होवे। 'प्रोक्षणादि कुरु' ऐसा ही प्रैष पढ़ा जाये। 'प्रोक्षणादि कुरु' ऐसा प्रैष तो पढ़ा नहीं है। अतः 'अलं कुरु' प्रैष के होने पर प्रोक्षणादि किये जाये तो शब्द का विरोध होगा। **प्रोक्षणादीन् प्रतिपद्यते**—प्रोक्षणादि की प्रतीति=ज्ञान मात्र होगा, अग्नीत् प्रोक्षणादि को करेगा नहीं। क्योंकि प्रोक्षणादि के अग्नीत् कर्तृत्व में प्रमाण नहीं है। अतः वह अध्वर्यु से किये जा रहे प्रोक्षणादि की प्रतीक्षा करेगा। अलंकरण अग्नीत् कर्तृक है, **प्राप्तकालवचनो लोडन्त**—अष्टा० ३।३।१६३ से प्राप्तकालता में लोट् कहा है।

[यूपमात्रापकर्षाधिकरणम् ॥१४॥]

अस्ति दर्शपूर्णमासप्रकृतिके पशावग्नीषोमीये वैकृतं यूपकर्म। तत्प्रतिकृष्यते—दीक्षासु यूप छिनत्ति[1] इति। तत्प्रतिकृष्यमाणमर्वाचीनान्यप्यग्नीषोमप्रणयनादीनि प्रतिकर्षति उत नेति संशये प्रतिकर्षति संबन्धादिति। तथा प्राप्ते ब्रूमः—

असंयोगात्तु वैकृत तदेव प्रतिकृष्येत ॥२७॥ (उ०)

भट्ट कुमारिल ने भाष्यकार द्वारा माने गये 'प्राप्तकाल में लोडन्त' को अयुक्त कहा है। उनका कहना है—'अलङ्करण काल में प्राप्तकालता को कहनेवाला लोट् अनुगृहीत होगा'। यह कहना अयुक्त है। प्रैष में लोट् है ऐसा पूर्व [सूत्रभाष्य में] कहा है, प्राप्तकालता में नहीं है। यहां प्रैषसामर्थ्य से जो प्राप्तकालता जानी जाती है, वह प्रोक्षणादि के किये हुए न होने पर बाधित होवे।'

—:o:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास प्रकृति वाले अग्नीषोमीय में विकृति में होने वाला यूपकर्म है। उसे [स्वस्थान से पूर्व] खींचा जाता है—'दीक्षा में यूप का छेदन करता है।' वह यूपच्छेदन प्रतिकृष्यमाण होता हुआ उससे पूर्व के अग्नीषोमीय प्रणयनादि का भी प्रतिकर्षण करता है वा नहीं? इस संशय में प्रकर्षण करता है सम्बन्ध होने से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरणः—दर्शपूर्णमासप्रकृते पशौ—आपस्तम्ब परिभाषा में कहा है—दर्शपूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः, अग्नीषोमीयस्य च पशोः (३।३१-३२) इस से अग्निषोमीय की प्रकृति दर्शपूर्णमास है। वैकृतं यूपकर्म—इस का तात्पर्य है—यूपकर्म अग्नीषोमीय पशु जो दर्शपूर्णमास की विकृति है उसी का विशिष्ट कर्म है अर्थात यह प्रकृति से प्राप्त नहीं है। अग्नीषोमीय पशु सवनीयपशु की प्रकृति है (द्र० आप० परि० ३।३३)। यह संहिता और ब्राह्मण के अनुसार है। श्रौतसूत्रकारों ने अग्नीषोमीय पशु प्रकरण में उपदिष्ट समस्त कर्म निरूढ पशु में पढ़ दिये हैं। अतः श्रौतसूत्रों के अनुसार निरूढ़ पशु अग्नीषोमीय की प्रकृति है। अग्नीषोमीयस्य च पशोः (आप० परि० ३।३२) सूत्र की व्याख्या में हरदत्त लिखता है—दर्शपूर्णमासौ प्रकृतिरितिः शेषः। अग्नीषोमीयो निरूढस्य। निरूढोऽन्येषां पशूनां वायव्यादीनाम्। इदमर्थमेव श्रुतावग्नीषोमीये विहितानां धर्माणां निरूढे सूत्रकारेण निबन्धनम्।

असंयुक्तात् तु वैकृतं तदेव प्रकृष्यते ॥२७॥

सूत्रार्थः—(असंयुक्तात्) सौमिककर्म से असंयुक्त होने से (तु) तो (वैकृतम्) अग्नी-

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—दीक्षासु यूपच्छेदनम्। कात्या० श्रौत ७।१।२८॥ दीक्षासु यूपं कारयति। आप० श्रौत० १०।४।१४॥

विकृतावभ्यधिकं यत्, तत्प्रतिकृष्यमाणं ततोऽर्वाचीनान्यप्यग्नीषोमप्रणयनादीनि न प्रतिक्रष्टुमर्हति। कथम्? असंयोगात्। पाशुकं यूपकर्म। ततः प्राचीनं सौमिकम्। न तयोः परस्परेण संबन्धः। न सौमिकः पदार्थः पाशुकस्योपकारकः पशोर्वा। यदि हि तयोरुपकारकः स्यात् ततस्तस्योपकुर्वतः क्रमोऽप्यस्य साहाय्यं कुर्वन् गुणभूतः स्यात्, न त्वेतदस्ति। तस्मान्नैषां परस्परेण क्रमे नियमः। अतो यूपमात्रं प्रतिकृष्यते। अपि च, यूपमात्रं प्रतिकृष्य कृतार्थे शब्दे सौमिकानां स्वक्रमवाधो न भविष्यतीति ॥२७॥

वैकृतयूपकर्ममात्रापकर्षाधिकरणम् ॥१४॥

—:०:—

षोमीय पशु रूप विकृति का जो यूपकर्म (तदेव) वही (प्रकृष्यते) अपकृष्ट होता है अर्थात् दीक्षा के दिन किया जाता है।

व्याख्या—**विकृति में जो अधिक है यह प्रतिकृष्यमाण (=पूर्व खींचा जाता हुआ) उससे पूर्व के अग्नीषोम के प्रणयन आदि को नहीं खींच सकता। किस हेतु से? असंयोग होने से। यूपकर्म पशुसम्बन्धी है, उससे पूर्व किया जाने वाला पदार्थ सोमसम्बन्धी है। उन (पाशुक-कर्म और सौमिककर्म) का परस्पर सम्बन्ध नहीं है। सौमिकपदार्थ न पाशुककर्म का उपकारक है और ना ही पशु का। यदि [सौमिकपदार्थ] उन का उपकारक होवे तो उपकार करते हुए उस [सौमिकपदार्थ] का क्रम भी साहाय्य करता हुआ गुणभूत होवे। यह नहीं हैं। इसलिये इन का परस्पर (=एक दूसरे के आगे पीछे होने) से क्रम में नियम नहीं है। इसलिये यूपमात्र का प्रतिकर्ष होता है। और भी, यूपमात्र का प्रतिकर्षण करके शब्द के कृतार्थ होने पर सौमिकों का अपने क्रम की बाधा नहीं होगी।**

विवरण—भट्ट कुमारिल के अनुसार इस भाष्य का तात्पर्य यह है कि "अग्निषोम के प्रणयन के अनन्तर पठित यूप के छेदनादि कर्म 'दीक्षासु यूपं छिनत्ति' वचन के सामर्थ्य से अपकृष्यमाण होते हुए सौमिक प्रणयनादि कर्म का अपकर्षण नहीं करते। किस हेतु से? भिन्न प्रयोगवचनों से परिगृहीत होने से अर्थात् अग्निप्रणयन आदि सौमिक प्रयोगवचन से परिगृहीत हैं और यूप का छेदन पाशुक प्रयोगवचन से परिगृहीत है। अभिन्न (=एक) प्रयोगवचन से परिगृहीत पदार्थों में क्रम की आकाङ्क्षा होती है। और क्रम से पूर्व पदार्थ उत्तर पदार्थ को उपस्थापित करता है। इसी कारण जो पूर्व पदार्थ अपकृष्ट होता है यह अन्यों का भी अपकर्ष करता है। यहां यूप कर्म का सौमिक कर्म का अङ्ग न होने से उस का अपकर्ष होने पर सौमिक पदार्थ का अपकर्ष नहीं होता है" (द्र० इसी सूत्र की टुप् टीका) ॥२७॥

—:०:—

[दाक्षिणाग्निकहोमानपकर्षाधिकरणम् ॥१५॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'आग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति' इति । अनुयाजा उत्कृष्यमाणा दाक्षिणाग्निकौ होमावुत्कर्षन्ति, नेति संशयः । संबन्धाद् उत्कर्षन्ति इति प्राप्ते, उच्यते—

प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेद् असंयोगात् ॥२८॥ (उ०)

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—'आग्निमारुत शस्त्र के पश्चात् अनुयाजों से यजन करता है। अनुयाज उत्कृष्यमाण (=आगे खींचे हुए) दक्षिणाग्नि में होने वाले दो होमों का उत्कर्ष करते हैं वा नहीं? यह संशय है। सम्बन्ध होने से उत्कर्षण करते हैं ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—**आग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति**—अग्निष्टोम के तृतीयसवन में आग्निमारुत अन्तिम शस्त्र है। **अङ्गैस्तृतीय सवने**—वचन के अनुसार सवनीय पशु के अङ्गों से याग तृतीयसवन में माध्यन्दिनवत् आर्भव पवमान स्तोत्र के अनन्तर होता है (द्र० यज्ञतत्त्व प्रकाश, पृष्ठ ७६, तथा कात्या० श्रौत १०।५।५-७)। यह कर्म इडाभक्षणान्त होता है। इस के अनन्तर क्रियमाण अनुयाज आदि शेष पाशुककर्म आग्निमारुत शस्त्र के अनन्तर होता है। **दाक्षिणाग्निकौ होमौ**—पशुयाग की प्रकृति दर्शपूर्णमास में अनुयाजों के अनन्तर दक्षिणाग्नि में पिष्टलेप और फलीकरण होम विहित हैं—**दक्षिणाग्नाविध्मप्रव्रश्चनान्यभ्याधाय पिष्टलेपफलीकरणहोमौ जुहोति** (आप० श्रौत ३।६।१२) तथा आप० श्रौत ३।१०।१ द्रष्टव्य हैं। चोदकवचन से यहाँ भी प्राप्त होते हैं। यतः प्रकृति में दाक्षिणाग्निक होम अनुयाज के अनन्तर होते हैं, अतः यहां अनुयाजों का उत्कर्ष होने पर दाक्षिणाग्निक होमों का भी उत्कर्ष होवे वा नहीं, यह यहां संशय है।

विशेष—आग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति **वचन पूर्व मी० ४।३। अधि १४, सूत्र ३६, पृष्ठ १३५९ तथा मी० ४।४। अधि० ४, सूत्र ६, पृष्ठ १३८३ में भी उद्धृत है। वहां हम इस प्रकरण को स्पष्ट नहीं कर सके। यह हमने पृष्ठ १३६० के विवरण में स्पष्ट लिखा है। उस का स्पष्टीकरण यहां के विवरण के अनुसार जानें।**

प्रासंगि ं च नोत्कर्षेद् असंयोगात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(प्रासङ्गिकम्) प्रसङ्ग से प्राप्त दक्षिणाग्नि में विहित होम का (च) भी (असंयोगात्) संयोग न होने से (न) नहीं (उत्कर्षेत्) उत्कर्ष होवे।

विशेष—(पूर्व सूत्र में यूपच्छेदन के अपकर्ष के साथ सौमिक पदार्थों का संयोगाभाव से अपकर्ष न होवे, यह कहा है। यहां अनुयाजों के उत्कर्ष के साथ दक्षिणाग्नि में विहित पिष्टलेप फलीकरण होमों का संयोगाभाव से उत्कर्ष न होवे। इन दोनों (अपकर्ष और उत्कर्ष) का सम्बन्ध दर्शाने के लिये सूत्र में 'च' शब्द का पाठ है। शेष सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिये भाष्य व्याख्या देखें।

नैतावुत्कृष्टुमर्हन्ति ये[1] तयोः स्वे अनुयाजाः संवद्धाः,ते न प्रयुक्ताः,परकीयैस्तेषामर्थो निर्वर्तित इति। पदार्थानां च क्रमो भवति न पदार्थप्रयोजनानाम्। यौगपद्येन हि पदार्था उपकुर्वन्तीति वक्ष्यामः। पदार्थानां चोत्पत्तिः क्रमवती। पृथक्शब्दत्वादुत्पत्तेः, न पदार्थप्रयोजनस्य, युगपत् प्रयोगवचनेनाभिहितत्वात्। अतोऽनुयाजोत्पत्तेरुत्कर्षिकाया अभावाद् दाक्षिणाग्निकौ होमौ नोत्कृष्येयातामिति। अपि चानुयाजमात्रमुत्कृष्य कृतार्थे शब्दे दाक्षिणाग्निकयोर्होमयोः स्वक्रमबाधो न भविष्यतीति ॥२८॥

दाक्षिणाग्निकहोमानपकर्षाधिकरणम् ॥१५॥

—:०:—

व्याख्या—ये (=दाक्षिणाग्निक होम) उत्कर्ष को प्राप्त होने योग्य नहीं हैं। जो उन [सवनीय हवियों और पशुपुरोडाश] के अनुयाज संबद्ध हैं, वे प्रयुक्त नहीं हैं, अन्यों से उनका प्रयोजन सिद्ध हो गया। पदार्थों का क्रम होता है पदार्थ के प्रयोजनों का क्रम नहीं होता। युगपद्भाव से ही पदार्थ उपकार करते हैं यह आगे कहेंगे। पदार्थों की उत्पत्ति क्रमवाली हैं। पृथक् शब्दों से उत्पत्ति होने से, पदार्थों के प्रयोजनों का क्रम नहीं है, एक साथ प्रयोगवचन से अभिहित (=कथित) होने से। इसलिये अनुयाजों की उत्पत्ति के उत्कर्ष के अभाव से दाक्षिणाग्निक होम उत्कर्षित न होवें। और भी अनुयाजमात्र के उत्कर्ष में शब्द के कृतार्थ हो जाने पर दाक्षिणाग्निक होम के स्वक्रम की बाधा न होगी।

विवरण—ये तयोः स्वे अनुयाजाः संबद्धाः—पशुयाग, सवनीय हवियां और पशुपुरोडाश दर्शपूर्णमास की विकृतियां होने से इनमें आतिदेशिक चोदकवाक्य से अङ्गों की प्राप्ति होती है। **ये तयोः स्वे अनुयाजाः सम्बद्धाः ते न प्रयुक्ताः**—सवनीय हवियों और पशुपुरोडाश के जो अपने अनुयाज हैं वे प्रयुक्त नहीं हुए। उन का परकीय (=पशुयाग के) अनुयाजों से ही कार्य सिद्ध हो गया। [अर्थात् अनेक प्रधानों के प्रसंग में एक के अङ्गों से कार्य निष्पति कही गई है। **पदार्थानां च क्रमो भवति—प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'** यह आतिदेशिक चोदकवचन एक साथ सब पदार्थों को प्राप्त करता है। एक साथ सब पदार्थों का अनुष्ठान नहीं हो सकता, इसलिये क्रम की प्राप्ति होती है। पदार्थ के प्रयोजनों में क्रम नहीं होता। **यौगपद्येन हि पदार्था उपकुर्वन्तीति वक्ष्यामः**—इस का भाव यह है कि पशुयाग भागशः तीनों सवनों में होता है। प्रातःसवन में वपाहोम, माध्यन्दिन में पशु-पुरोडाश और तृतीयसवन में पश्वङ्गों से याग। उसी के मध्य सवनीय हवियां विहित हैं—**अनुसवनं पुरोडाशाः निरूप्यन्ते**। सवनीय हवियों में पाशुक प्रयाज अनुयाजादि से ही उपकार सिद्ध हो जाता है,इसलिये सवनीय हवियों में इनका पृथग् अनुष्ठान नहीं होता। यह आगे १२वें अध्याय में कहेंगे। परन्तु पाशुक तन्त्र में पेषण फलीकरण आदि के अभाव के कारण जो अविद्यमान

---

१. 'येन तयोस्त्वनुयाजाः सम्बद्धास्तेन प्रयुक्ताः' इति पूनापाठः।

[हविरभिवासनान्तस्यामावास्यायां पूर्वेद्युरनपकर्षाधिकरणम् ॥१६॥]

दर्शपूर्णमासयोर्वेदिर्हविरभिवासनोत्तरकाले समाम्नाता । साऽमावास्यायां प्रतिकृष्यते—**पूर्वेद्युरमावास्यायां वेदिं करोति**[1] इति । सा त्वपकृष्यमाणा ततोऽर्वाचीनान् पदार्थानपकर्षति नेति संशयः । उच्यते—संबन्धात् प्रतिकर्षतीत्येवं प्राप्ते, ब्रूमः—

पिष्टलेप और फलीकरण होम हैं, उन्हें तो सवनीय हवियों के लिये करना ही होगा । दर्शपूर्णमास में पेषण के कारण अनुनिष्पन्न दृषद् उपल में चिपके हुए लेपों का और फलीकरण के कारण निष्पन्न अतिसूक्ष्म तण्डुल कणों का होम विहित है, उन्हें तो करना ही होगा । यद्यपि प्रकृति में ये होम अनुयाजों के पश्चात् विहित हैं, परन्तु अनुयाजों का उत्कर्ष हो जाने पर भी प्रकृति में पुरोडाश शेष के लिये उन्हें करना ही होगा क्योंकि पिष्टलेप फलीकरण होम अनुयाजों के लिये नहीं कहे गये हैं उनका तो आनन्तर्यमात्र विहित है । अतः अनुयाजों के उत्कर्ष हो जाने पर इन के उत्कर्ष न होने पर भी कुछ विगुणता नहीं होती (द्र० कुतुहलवृत्ति) ॥२८॥

—:o:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में वेदिकरण हवि के अभिवासन (=हवि को साङ्गार भस्म से ढकना) के उत्तर काल में पठित है वह (=वेदिकरण) अमावास्या में प्रतिकृष्ट होता है अर्थात् पूर्व किया जाता है—पहले दिन अमावास्या में वेदि करता है' वचन से । यह वेदिकरण अपकृष्ट होता हुआ उससे पूर्व के पदार्थों का अपकर्षण करता है वा नहीं, यह संशय है । इस विषय में कहा जाता है—[वेदिकरण का अभिवासनादि के साथ] सम्बन्ध होने से [वेदिकरण पूर्व कर्मों का] अपकर्षण करता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—दर्शपूर्णमासयोः—यद्यपि यहां दोनों यागों का सामान्य रूप से निर्देश किया है तथापि **वेदि हविरभिवासनोत्तरकाले समाम्नाता** कथन पौर्णमासेष्टि सम्बन्धी है । ये कर्म प्रतिपद् के दिन होते हैं । दर्शेष्टि में वेदिकरण पहले दिन समाम्नात है, यह आगे कहेंगे और उसी के विषय में संशय का निर्देश किया जायेगा । **हविरभिवासनोत्तरकालम्** पुरोडाश के पाक के लिये कपालों पर उन्हें रखने के पीछे अङ्गार सहित भस्म से ढंकना अभिवासन कहाता है—**पुरोडाशं साङ्गार भस्मनाभिवासयति** । इस के अनन्तर आदित्य संज्ञक देवों के लिये पात्रीस्थ धोदन के जल को विहार के उत्तर में पश्चिम से पूर्व की ओर तीन रेखाओं में छोड़ना कर्म विहित है—**पात्रीनिर्णेजनमाप्त्येभ्यो निनयति** । यह पात्रीनिर्णेजन पर्यन्त कर्म हविश्रपण कहाता है । **सम्बन्धात् प्रतिकर्षति**—तदादितदन्तन्याय (मी० ५।१। अधि० १२। सूत्र २४) से किसी पदार्थ के अपकर्ष में तदन्त का अपकर्ष होता है । इस लिये वेदिकरण से पूर्व के कर्मों का वेदिकरण के साथ संम्बन्ध होने से अमावास्येष्टि में अपकर्ष प्राप्त होता है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—वेदं कृत्वा वेदिं करोति पूर्वेद्युरमावास्यायाम् । मान श्रौत १।१।३।२॥

तथाऽपूर्वम् ।।२९।। (उ०)

तथाऽपूर्वम् । अप्रकृतिपूर्विकायाममावास्यायां वेदिकरणं पूर्वेद्युराम्नातम् । उभयोरपि श्वोभूते हविरभिवासनम् । अभिवासनं कृत्वाऽमावास्यायां वेदिः कर्तव्येति न श्रुत्यादीनामन्यतमं कारणमस्ति । तस्मान्नाभिवासनान्ताः प्रतिकृष्टव्या इति । अभिवासने चापकृष्यमाणे हवींषि भस्मी भवेयुः ।।२९।। **पुरोडाशाभिवासनान्तस्यदर्शेऽनपकर्षाधिकरणम् ।।१६।।**

—:o:—

[सांतपनीयोत्कर्षेऽप्यग्निहोत्रानुत्कर्षाधिकरणम् ।।१७।।]

चातुर्मास्येषु साकमेधावयवः सांतपनीया नामेष्टिः—मरुद्भ्यः **सांतपनेभ्यो**

तथाऽपूर्वम् ।।२९।।

सूत्रार्थः—(तथा) जैसे पूर्व अधिकरण में प्रासङ्गिक अनुयाजों के उत्कर्ष होने पर उस से असंबद्ध दाक्षिणाग्निक होमों का उत्कर्ष नहीं होता, वैसे ही (अपूर्वम्) दर्शेष्टि में अपूर्व विहित वेदिकरण से हवि अभिवासनादि का अपकर्ष नहीं होता ।

व्याख्या—**उसी प्रकार अपूर्व [का अपकर्ष नहीं होता है] । जिस की कोई पूर्व प्रकृति नहीं है ऐसी अमावास्येष्टि में वेदिकरण पहले दिन पठित है । दोनों (=दर्शेष्टि और अमवास्येष्टि) में ही अगले (=प्रतिपद् के) दिन हवि का अभिवासन होता है । अभिवासन करके अमावास्या में वेदि करनी चाहिये इस में श्रुति आदि कोई कारण (=प्रमाण) नहीं है । इस लिये [अमावास्येष्टि में] अभिवासान्त कर्म का अपकर्ष नहीं करना चाहिये । और अभिवासन के अपकर्ष करने पर हवियां भस्म ही हो जायें ।**

विवरण—**अप्रकृति पूर्विकायाममावास्यायाम्**—दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि दोनों प्रकृतिभूत हैं । इन की कोई अन्य प्रकृति नहीं है जिस से इन में कर्मों का अतिदेश होवे । तदादि तदन्त न्याय (मी० ५।१। अधि० १२, सू० २४) की प्रवृत्ति वहां होती है जहां कोई कर्म अतिदेश= चोदकवचन से प्राप्त होता है । अतः उक्त न्याय की यहां प्राप्ति ही नहीं है । **हवींषि भस्मी भवेयुः**—यदि अमावास्येष्टि में वेदिकरण से पूर्व हवियों के अभिवासन का भी अपकर्ष करें तो हवियां जल जायेंगी । क्योंकि पुरोडाशों का उद्वासन तो अगले दिन ही होगा (वेदिकरण के अनन्तर अनेक कर्म करने के पश्चात् पुरोडाशों का उद्वासन विहित है) । तब तक हवि जल कर राख हो जायेंगी । हवियों के अभाव में कर्म भी नहीं होगा ।।२९।।

—:o:—

व्याख्या—चातुर्मास्य यागों में साकमेधपर्व की अवयवभूत सान्तपनीया इष्टि है—

माध्यंदिने चरुं निर्वपति[1] इति । सा दैवान्मानुषाद्वा प्रतिवन्धादुत्कृष्यमाणाऽग्निहोत्र-मुत्कर्षेन्नवेति संशये उच्यते—

सांतपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्र सवनवद् वैगुण्यात् ॥३०॥ (पू०)

सांतपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद् वैगुण्यात् । यदि नोत्कर्षेदग्निहोत्रमनग्निहोत्रकाल उद्धृतेऽग्नावग्निहोत्रं विगुणं स्यात् । तस्मादुत्क्रष्टव्यं, सवनवत् । यथा प्रातःसवनं दैवान्मानुषाद्वा प्रतिवन्धादुत्कृष्यमाणं माध्यंदिनं सवनमुत्कर्षतीति । एवमत्रापि द्रष्टव्यम् ॥३०॥

'सान्तपन मरुतों के लिये माध्यन्दिन में चरु का निर्वाप करता है' । वह दैव अथवा मानुष प्रतिबन्ध (=रुकावट) से उत्कृष्ट होती हुई अग्निहोत्र को उत्कर्षित करे वा नहीं इस संशय में कहते हैं—

सान्तपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद् वैगुण्यात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(सान्तपनीया) दैव वा मानुष अपराध से स्वकाल से उत्कृष्ट हुई सान्तपनीयेष्टि (तु) तो (अग्निहोत्रम्) सायं अग्निहोत्र को (उत्कर्षेत्) उत्कृष्ट करे=आगे ले जावे । (सवनवत्) जैसे प्रातःसवन किसी कारण से स्वकाल में सम्पन्न न होने पर अन्य सवनों को उत्कृष्ट करता है तद्वत् । (वैगुण्यात्) अग्निहोत्र के उत्कर्ष न होने पर सान्तपनीयेष्टि के लिये उद्धृत अग्नि में अग्निहोत्र के करने से अग्निहोत्र के विगुण=गुण रहित होने से ।

व्याख्या—**सान्तपनीया तो अग्निहोत्र को उत्कृष्ट करे सवन के समान विगुण होने से । यदि [सान्तपनीया] अग्निहोत्र का उत्कर्ष न करे तो अनग्निहोत्र के काल में उद्धृत अग्नि में अग्निहोत्र गुणरहित होवे । इसलिये उत्कर्ष करना चाहिये सवन के समान । जैसे प्रातःसवन दैव वा मानुष प्रतिबन्ध से उत्कृष्ट होता हुआ माध्यन्दिन-सवन का उत्कर्ष करता है । उसी प्रकार यहां जानना चाहिये ।**

विवरण— अनग्निहोत्रकाल उद्धृतेऽग्नौ—सान्तपनीयेष्टि के लिये स्वकाल में अग्नि का उद्धरण करने के पश्चात् यदि किसी कारण सान्तपनीयेष्टि अग्निहोत्र से पूर्व समाप्त नहीं होती है, उस अवस्था में यदि सायं अग्निहोत्र के काल में अग्निहोत्र किया जाये तो अग्निहोत्र के लिये मध्य में पुनः अग्नि का उद्धरण तो होगा नहीं, सान्तपनीयेष्टि के लिये उद्धृत अग्नि में ही अग्निहोत्र करना होगा । उस अवस्था में अग्निहोत्र विगुण (=स्वप्रयोजनार्थ अग्न्युद्धरण के अभाव से गुण रहित) होगा ।

---

१. मै० सं० १।१०।१॥

अव्यवायाच्च ॥३१॥ (पू०)

एवं सांतपनीयमग्निहोत्रेण न व्यवहितं भविष्यतीति। तत्र क्रमोऽनुग्रहीष्यते। क्रमभेदे च दोषः श्रूयते—**अप वा एतद्यज्ञस्य छिद्यते, यदन्यस्य तन्त्रे विततेऽन्यस्य तन्त्रं प्रतायते**[1] इति ॥३१॥

असंबन्धात्तु नोत्कर्षेत् ॥३२॥ (उ०)

नाग्निहोत्रस्य सांतपनीयाऽङ्गं, न सांतपनीयाया वाऽग्निहोत्रम्। तेन नासावग्निहोत्रस्य पुरस्तात् कर्तव्या। अतो नाग्निहोत्रमुत्कृष्टव्यम् ॥३२॥

प्रापणाच्च निमित्तस्य ॥३३॥ (उ०)

प्राप्तं चाग्निहोत्रस्य निमित्तम्। **सायं जुहोति, प्रातर्जुहोति, उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, प्रथमास्तमिते जुहोति, संधौ जुहोति, नक्षत्राणि दृष्ट्वा जुहोति**[2]

अव्यवायाच्च ॥३१॥

सूत्रार्थः – (अव्यवायात्) इस प्रकार सान्तपनीया के उत्कर्ष होने पर मध्य में किये जाने वाले अग्निहोत्र से व्यवधान के न होने से (च) भी अग्निहोत्र का उत्कर्ष ही करना चाहिये।

व्याख्या—इस प्रकार (=उत्कर्ष होने पर) सान्तपनीयेष्टि अग्निहोत्र से व्यवहित नहीं होगी। उस अवस्था में क्रम अनुगृहीत होगा। क्रम के भेद में दोष सुना जाता है - 'यह यज्ञ का अपच्छेदन होता है जो अन्य के तन्त्र चलते हुए अन्य का तन्त्र किया जाता है ॥३१॥

असम्बन्धात् तु नोत्कर्षेत् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (असम्बन्धात्) सान्तपनीया और अग्नि होत्र का परस्पर सम्बन्ध न होने से (नोत्कर्षेत्) अग्निहोत्र उत्कृष्ट नहीं होवे।

व्याख्या—अग्निहोत्र का सान्तपनीयेष्टि अङ्ग नहीं है और नाही सान्तपनीयेष्टि का अग्निहोत्र अङ्ग है। इस कारण उसे (सान्तपनीयेष्टि को) अग्निहोत्र से पहले नहीं करना चाहिये। इसलिये अग्निहोत्र का उत्कर्ष नहीं करना चाहिये ॥३२॥

प्रापणाच्च निमित्तस्य ॥३३॥

सूत्रार्थः—(निमित्तस्य) अग्निहोत्र के निमित्त के (प्रापणात्) प्राप्त होने से (च) भी अग्निहोत्र का उत्कर्ष नहीं करना चाहिये।

व्याख्या—अग्निहोत्र का निमित्त प्राप्त है—'सायं होम करता है, प्रातः होम करता है, सूर्य के उदय होने पर होम करता है, सूर्य के उदय होने से पूर्व होम करता है, प्रथम सूर्य के

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. विविधविधिवाक्यानां समाहारः।

इति । तन्नातिक्रमितव्यम् । तस्मादपि नोत्कर्षः । यदुक्तं वैगुण्यमिति ? उत्कर्षेऽपि वैगुण्यं, कालान्यत्वात् । अङ्गप्राप्तेर्जघन्यः कालविधिर्बाध्यतामिति चेन्न, कालस्य निमित्तत्वात् । तदपायेऽश्रुतमेव सर्वं क्रियेत तन्निमित्तत्वं चानुपादेयत्वेन श्रवणात् । सप्तमी ह्याधारादिष्वसंभवान्निमित्तसप्तमी द्रष्टव्या ॥३३॥

अथ यदुक्तं सवनवदुत्क्रष्टव्यमिति । तदुच्यते—

अस्तमित होने पर होम करता है, सन्धि में होम करता है, नक्षत्रों को देखकर होम करता है'। इन [प्राप्त निमित्तों] का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये । इसलिये भी [अग्निहोत्र का उत्कर्ष नहीं करना चाहिये] और जो कहा है [कि अग्निहोत्र का उत्कर्ष न करने पर सान्तपनीया इष्टि के लिये उद्धृत अग्नि में करना होगा उस से] वैगुण्य होगा । उत्कर्ष करने पर भी वैगुण्य होता है [विहित काल से] भिन्न काल होने से । यदि कहो कि 'अङ्ग प्राप्ति से जघन्य (=हीन) कालविधि को बाधना चाहिये' तो यह उचित नहीं है काल के निमित्त होने से । उस (=कालरूप निमित्त) के अपाय (=नष्ट) होने पर सब कुछ अश्रुत ही किया जायेगा, उस (=काल) के निमित्तत्व के अनुपादेयरूप श्रवण होने से। [उदिते जुहोति आदि में श्रूयमाण] सप्तमी आधार आदि अर्थों में असम्भव होती हुई निमित्त सप्तमी जानी जाती है ॥३३॥

विवरण—उदिते जुहोति—इत्यादि वाक्यों में यद्यपि प्रातः और सायं अग्निहोत्र के कई काल कहे हैं परन्तु ये सम्प्रत्ति शाखा भेद से व्यवस्थित हैं (द्र० मी० २।४।९ का भाष्य)। वस्तुतः शाखाभेद से व्यवस्था मानने की अपेक्षा संकल्प भेद से व्यवस्था मानना अधिक युक्त है। इस दृष्टि से किसी भी शाखा का अध्येता यदि उदित होम का, अनुदित होम का अथवा सन्धि-काल में होम का संकल्प लेता है तो उसे यावज्जीवन उस संकल्प का पालन करना चाहिये। न्यायसूत्र २।१।५९ तथा उस के भाष्य में स्पष्ट कहा है कि 'जो स्वीकार किये गये हवनकाल को तोड़ता है उस से अन्यत्र पूर्व वा पश्चात् होम करता है उस में स्वीकृत काल के भेद में दोष कहा जाता है—**श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति**(=काला कुत्ता उसकी आहुति को खाता है जो सूर्य के उदय होने पर होम करता है) आदि। यह विधि के नाश में निन्दार्थ वाद है।" यहां शाखाभेद का आश्रयण न कर के संकल्पित कालभेद में दोष दर्शाया है। इतना ही नहीं मी० २।४ के **सर्वशाखाप्रत्ययैककर्म** नामक द्वितीय अधिकरण के अनुसार सभी शाखाओं में उक्त कर्म के एक होने से किसी भी शाखा के अनुसार कर्म करने पर कर्म की पूर्त्ति मानी जाती है। अतः इस अधिकरण का हार्द भी विधियों का शाखाभेद से अनुष्ठान भी अपेक्षा सामान्य रूप से कर्मानुष्ठान में प्रवृत्तिपरक है ॥३३॥

व्याख्या—और जो यह कहा है कि 'सवन के समान उत्कर्ष करना चाहिये' उसके विषय में कहते हैं—

संबन्धात्सवनोत्कर्षः ॥३४॥ (उ०)

संवद्धं हि सवनं सवनेन । एकक्रतुसंवन्धात्तदुत्कृष्यते ॥३४॥

—:०:—

[उक्थ्योत्कर्षे षोडश्युत्कर्षाधिकरणम् ॥१८॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते, षोडशिनं प्रकृत्य **तं पराञ्चमुक्थ्येभ्यो गृह्णाति**[1] इति। यदा दैवान्मानुषाद्वा प्रतिवन्धादुक्थ्यान्युत्कृष्यन्ते, किं तदा षोडश्युत्क्रष्टव्यो नेति भवति संशयः। किं प्राप्तम्? नोत्क्रष्टव्यः। कुतः? एवं स्तोत्रं स्वस्मिन् काले षोडशिनः कृतं भविष्यतीति। **समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति**[2] इति। तस्मादनुत्कर्ष इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः ॥३४॥

सूत्रार्थः—(सवनोत्कर्षः) प्रातःसवन में किसी बाधा के कारण देर से समाप्त होने पर उत्तर सवन का उत्कर्ष (सम्बन्धात्) एक ऋतु के सम्बन्ध होने के कारण होता है।

व्याख्या—सवन सवन से संबद्ध है। एक ऋतु के सम्बन्ध से उसका उत्कर्ष किया जाता है।

विवरण—संवद्धं सवनं सवनेन—प्रातःसवन माध्यन्दिन सवन तृतीय-सवन ये अपने नामों से ही परस्पर संवद्ध प्रतीत होते हैं। **एकक्रतुसम्बन्धात्**—तीनों सवनों वा एक अग्निष्टोम आदि ऋतु के साथ सम्बन्ध होने से एक प्रयोगवचन (=इस कर्म के अनन्तर यह कर्म, इस के अनन्तर यह कर्म रूप) से परिगृहीत हैं अतः सवनों में तो उत्कर्ष हो सकता है, परन्तु सान्तपनीयेष्टि और सायं अग्निहोत्र भिन्न भिन्न प्रयोगवचन से परिगृहीत होने से अग्निहोत्र का उत्सर्ग नहीं होगा। उसे नियत समय में करके ही सान्तपनीयेष्टि करनी चाहिये ॥३४॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में षोडशी [ग्रह] के प्रकरण में सुना जाता है—उस का उक्थ्यों [ग्रहों] से पीछे ग्रहण (=यजन) करता है' जब दैव वा मानुष प्रतिबन्ध से उक्थ्य उत्कर्षित होते हैं तब क्या षोडशी का उत्कर्ष करना चाहिये वा नहीं, ऐसा संशय होता है। क्या प्राप्त होता है? उत्कर्ष नहीं करना चाहिये। किस हेतु से। इस प्रकार षोडशी का स्तोत्र अपने काल में सम्पन्न होगा—'समयाध्युषित सूर्य के काल में षोडशी स्तोत्र को आरम्भ करता है'। इसलिये षोडशी का उत्कर्ष नहीं होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तै० सं० ६।६।११।६॥ मानव श्रौत २।५।३।७॥

षोडशी चोक्थ्यसंयोगात् ॥३५॥ (उ०)

षोडशी चोत्क्रष्टव्यः । कस्मात् ? उक्थ्यसंयोगात् । उक्थ्यसंयोगो हि षोडशिनो भवति—**तं पराञ्चमुक्थ्येभ्यो गृह्णाति** इति । तस्मादुत्क्रष्टव्यः षोडशी । यदुक्तं, षोडशिनः स्तोत्रकालेन अवर्जनं भविष्यतीति । उच्यते । स्तोत्रक्रममनुरुध्य-

---

विवरण—ज्योतिष्टोमे श्रूयते—ज्योतिष्टोम सामान्य रूप से सोमयाग का वाचक है । इस की सात संस्थाएं हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और अप्तोर्याम । **षोडशिनं प्रकृत्य**—उक्त संस्थाओं में से तृतीया षोडशी संस्था है । षोडशी संज्ञक कोई याग नहीं है । षोडशी स्तोत्र और शस्त्र का नाम है । स्तोत्र और शस्त्र का षोडशी नाम का कारण यह है कि उक्थ्य संस्था में १५ स्तोत्र और शस्त्र हैं । इस में एक स्तोत्र शस्त्र और बढ़ता है । इस लिये षोडश संख्या के योग से इस स्तोत्र शस्त्र को षोडशी कहते हैं । और इस षोडशी स्तोत्र शस्त्र के योग से ग्रह का नाम भी षोडशी है (द्र० तै० सं० ६।६।११।१) । **तं पराञ्चमुक्थेभ्यो गृह्णाति**—षोडशी ग्रह में सोम का ग्रहण समस्त धाराग्रहों (सोमरस को कपड़े से छानते हुए जो धारा गिरती है, उस से गृह्यमाण ग्रह धाराग्रह कहाते हैं) के अनन्तर होता है । षोडशी ग्रह का ग्रहण प्रातःसवन में हो चुका है, अतः तृतीयसवन में पठचमान उक्त वचन में 'गृह्णाति' का केवल ग्रहणमात्र अर्थ नहीं है, अपितु इस से याग लक्षित होता है । जैसे **सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः** (मी० ४।३। अधि० ९ । सूत्र २० में उद्धृत) में **निर्वपेत्** शब्द केवल हवि के निर्वाप को न कह कर यज्यर्थ को कहता है उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये । **समयाध्युषिते सूर्ये**—समया शब्द मध्य अर्थ का वाचक है (द्र० अमर ३।४।१४) । सूर्य का मध्य या अधि उषित=बाहर हो डूबा न हो । तात्पर्य है—सूर्यमण्डल के अर्धभाग के डूबने=छिपने=अस्त होने पर और आधा बाहर रहने पर । 'समयाध्युषिते' के अर्थ में तै० सं० ६।६।११।७ में **'समयाविषिते'** शब्द का प्रयोग मिलता है । हिर० श्रौत ३।४।११ में **समयार्धे** तथा भार० श्रौत० ५।८।१० में **'समयाध्वे'** और आप० ५।१४।१० में **'अर्धाध्वे'** पाठ मिलता है ।

षोडशी चोक्थ्यसंयोगात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(षोडशी) षोडशी ग्रहण (च) भी (उक्थ्यसंयोगात्) उक्थ्यों के साथ संयोग होने से उत्कर्षित होवे ।

व्याख्या—षोडशी भी उत्कर्ष योग्य है । किस हेतु से ? उक्थ्य के संयोग से । उक्थ्य का षोडशी के साथ संयोग होता है—'उस षोडशी का उक्थ्यों के पीछे ग्रहण (=यजन) करता है' । इसलिये षोडशी उत्कर्ष योग्य है । (आक्षेप) जो कहा है—[उत्कर्ष न करने पर] षोडशी के स्तोत्रकाल का उल्लङ्घन नहीं होगा । (समाधान) स्तोत्र के क्रम का अनुरोध करते हुए [षोडशी] का प्रधान-क्रम विरुद्ध होवे । इसलिये स्तोत्र क्रम का अनुरोध नहीं करना

मानस्य प्रधानक्रमो विरुध्येत । तस्मान्न स्तोत्रक्रमोऽनुरोद्धव्यः । उभयं न शक्यमनुग्रहीतुम् । ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति इति[1] श्रूयते । तस्मादुत्क्रष्टव्यः षोडशीति ॥३५॥ **उक्थ्यानुरोधेन षोडश्युत्कर्षाधिकरणम् ॥१८॥**

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये पञ्चमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

—:o:—

चाहिये । दोनों (=प्रधानक्रम तथा स्तोत्रक्रम) का अनुग्रह नहीं किया जा सकता । 'ग्रह का ग्रहण करके और चमसों का उन्नयन करके स्तोत्र को आरम्भ करता है' । इसलिये षोडशी उत्कष्टव्य है ।

विवरण—स्तोत्रक्रममनुरुध्यमानस्य—स्तोत्र शब्द से यहां स्तोत्रकाल का अभिप्राय है । यदि स्तोत्र के काल समयाध्युषित का अनुरोध स्वीकार करें तो प्रधानक्रम='उक्थ्य यागों के पश्चात् षोडशी से याग करे' की बाधा होती है । ग्रह याग का साक्षादुपकारक होने से अन्तरङ्ग है और स्तोत्र याग का साक्षात् उपकारक न होने से बहिरङ्ग है । अतः इन दोनों में प्रधान =याग का क्रम अन्तरङ्ग होने से अनुग्रह योग्य है । यदि कोई यह कहे कि समयाध्युषित काल में षोडशी स्तोत्र का प्रयोग करले और याग उक्थ्य यागों के पश्चात् किया जाये । इस से दोनों अनुगृहीत हो जायेंगे । इस के लिये कहा है—**ग्रहं वा गृहीत्वा...... स्तोत्रमुपाकरोति** । इससे यह बताया है कि स्तोत्र का काल ग्रहयाग और चमसोन्नयन के पश्चात् ही है । अतः स्तोत्रमात्र समयाध्युषित काल में नहीं किया जा सकता । उस का भी याग के साथ ही उत्कर्ष होगा ।

—:o:—

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

पञ्चमेऽध्याये द्वितीयः पादः

[अनेकप्रधानेषु संनिपातिनां पदार्थानुसमयाधिकरणम् ॥१॥]

वाजपेये सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते[1] इति श्रूयते । अग्नीषोमीये च पशौ पशुधर्माः समाम्नाताश्चोदकेन प्राप्ताः । तेषु संशयः—किमेकस्याऽऽदित आरभ्य धर्मान् सर्वान् कृत्वा द्वितीयस्य पुनरादित उपक्रमितव्याः, अथ प्रथमस्तावत् सर्वेषां कर्तव्यस्ततो द्वितीय इति । किं प्राप्तम् ?

सनिपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥१॥ (पू०)

एकैकस्य सर्वेऽपवर्जयितव्या इति । कुतः ? प्रधानासत्तेरनुग्रहाय । इतरथा प्रधानासत्तिर्विप्रकृष्येत । यथा वहुष्वश्वेषु प्रतिगृहीतेषु ये पुरोडाशास्तेषु नैकजातीयानुसमयः । एवमिहापीति ॥१॥

व्याख्या—वाजपेय में 'सप्तदश पशुओं का आलभन करता है' ऐसा सुना जाता है। अग्नीषोमीय पशु के प्रकरण में पशु धर्म समाम्नात हैं। वे चोदकवचन से प्राप्त होते हैं। उन [पशुधर्मों] में संशय है—क्या एक पशु के आरम्भ से लेकर सब धर्मों को करके द्वितीय पशु के फिर आरम्भ से उपक्रमित करने चाहियें अथवा पहले प्रथम धर्म सब का करना चाहिये तत्पश्चात् द्वितीय धर्म [इसी प्रकार क्रमशः सब धर्म सब पशुओं में] करने चाहियें। क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अग्नीषोमीये च पशौ पशुधर्माः—इस विषय में मी० ५।१। अधि० ५, सूत्र ८ के भाष्य का विवरण (पृष्ठ १४३८) तथा अधि० १४ सू० २७ के भाष्य का विवरण (पृष्ठ१४६३) देख। किमेकस्यादितः—इस विषय में मी० ५।१। अधि० ५, पृष्ठ १४३८ से १४४२ तक देखें।

सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(प्रधानानाम्) प्रधानभूत प्राजापत्य पशुओं के (सन्निपाते) सह प्रयोग में (एकैकस्य) एक-एक के (गुणानाम्) उपाकरणादि धर्मों का (सर्वकर्म) सम्पूर्ण कर्म [का अनुष्ठान] (स्यात्) होवे।

व्याख्या—एक-एक पशु के सब धर्म करने चाहिये। किस हेतु से ? प्रधान की [उपाकरण आदि धर्मों की] आसत्ति (=नैरन्तर्य वा समीपता) के अनुग्रह के लिये। अन्यथा प्रधान की समीपता विप्रकृष्ट होवे। जैसे बहुत अश्वों के प्रतिग्रह में जो [प्रायश्चित्तरूप] पुरोडाश कहे हैं, उन में एकजातीय अर्थात् एक जैसे पदार्थों के करने का अनुसमय (=नियम) नहीं है, उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये।

---

१. तै० ब्रा० १।३।४॥

सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥२॥ (उ०)

एकजातीयानुसमयः कर्तव्यः । किमेवं भविष्यति ? सहत्वमनुग्रहीष्यते । तत्सहत्वं श्रूयते—'वैश्वदेवीं कृत्वा पशुभिश्चरन्ति'[1] इति । एकस्मिन् काले पशूनां प्रचारः । नन्वेवं सति पूर्वस्य पदार्थस्योत्तरः पदार्थः पश्वन्तरव्यापारेण व्यवधीयते । नैष दोषः । एवमपि कृतमेवाऽऽनुपूर्व्यम् । योऽसौ पश्वन्तरे व्यापारः स एवासौ, न पदार्थान्तरम् । पदार्थान्तरेण व्यवधानं भवति ॥२॥

विवरण—**अपवर्जयितव्याः**—इस प्रयोग के विषय में पूर्व पृष्ठ १४४० पर मी० ५।१।८ के भाष्य का विवरण देखें। **प्रधानासत्तेरनुग्रहाय**—सप्तदश प्राजापत्य पशुओं में सभी पशु प्रधानभूत हैं। अतः प्रत्येक पशु के साथ उसके धर्मों की समीपता होनी चाहिये। **बहुष्वश्वेषु प्रतिगृहीतेषु**—द्र०—यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत् (तै० सं० २।३।१२।१)। **ये पुरोडाशास्तेषु नैकजातीयानुसमयः**—यह चतुष्कपाल पुरोडाशवाली वारुणेष्टि प्रति अश्व-प्रतिग्रह की अलग अलग की जाती है। वहां ऐसा नहीं होता कि सभी अश्वों के लिये पहले हवि का निर्वाप करे फिर सब के लिये कण्डन, फलीकरण, पेषणादि धर्म करें। यह भाष्य से अवगम्यमान अर्थ है। सोमनाथकृत शास्त्रदीपिका की ५।२।१ की मयूखमालिका टीका में लिखा है—वारुण चतुष्कपाल पुरोडाशों के निर्वाप आदि में पदार्थानुसमय और श्रपणादि में काण्डानुसमय होता है।

सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' पद पूर्वपक्ष भी निवृत्ति के लिये है (एकजातीयम्) समानजातीय उपाकरण आदि कर्म (सर्वेषाम्) सब पशुओं में एक एक करके होवे (कृतानुपूर्व्यत्वात्) आनुपूर्व्य के कृत=निष्पन्न होने से। अर्थात् क्रमशः क्रम के सिद्ध होने से।

व्याख्या—एकजातीय धर्मों में अनुसमय (=पदार्थानुसमय) करना चाहिये। ऐसा करने से क्या होगा ? सहत्व अनुगृहीत होगा। वह सहत्व सुना जाता है—'वैश्वदेवी को करके पशुओं से प्रचरण (=यजन) करता है'। इसमें एक काल में पशुओं का प्रचार [विहित है]। (आक्षेप) ऐसा होने पर [प्रथम पशु में किये गये] पूर्व पदार्थ का उत्तर पदार्थ पश्वन्तरों में किये गये व्यापार से व्यवहित होता है। (समाधान) यह दोष नहीं है। इस प्रकार (=सभी पशुओं में क्रमशः एक-एक पदार्थ के करने में) भी आनुपूर्व्य तो किया ही गया है। [क्योंकि जो यह पश्वन्तर में [उपाकरणादि] कर्म किया गया है वह वही है [जो प्रथम पशु में किया था], भिन्न पदार्थ नहीं है। व्यवधान पदार्थान्तर से होता है।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । कुतुहलवृत्तिकारादिभिः 'प्राजापत्यैश्चरन्ति' इत्येवं पाठ उद्धृतः ।

अथ यदुक्तं, वहुषु पुरोडाशेषु नैकजातीयानुसमय इति । तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—

कारणादभ्यावृत्तिः ॥३॥ (उ०)

युक्तं तत्र, यत्कारणादभ्यावृत्तिः। एकजातीयानुसमये हि क्रियमाणे सहस्रस्याधिश्रयणे कृते प्रथमः शुष्येत्। तस्य च प्रथनं न शक्येत कर्तुम् ॥३॥ **वाजपेयपशूनां सर्वेषामेकदोपाकरणादिधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥१॥ पदार्थानुसमयन्यायः ॥**

—:०:—

विवरण—प्रकृति अग्नीषोमीय पशु में 'पूर्वपदार्थ को करके उत्तरपदार्थ करना चाहिये' इतना ही जाना गया था, न कि पूर्वपदार्थ के अनन्तर तत्काल करना चाहिये। प्रकृति में तो एक पशु के होने से आनन्तर्य स्वतः प्राप्त हो गया था। यहां पशुभिश्चरन्ति' में सहभाव में तृतीया होने से अनेक पशुओं में कर्म का अभ्यास अवश्यंभावी है। इस पक्ष में भी एक पदार्थ के सब पशुओं में करने के पश्चात् पाठसामर्थ्य से क्रमशः द्वितीय तृतीय पदार्थ उपस्थापित होते हैं (द्र० टुप् टीका)।

व्याख्या—जो यह कहा कि बहुत पुरोडाशों में एकजातीय का अनुसमय नहीं होता है। उस का परिहार करना चाहिये। इस विषय में कहते हैं—

कारणादभ्यावृत्तिः ॥३॥

सूत्रार्थः—बहुत अश्वों के प्रतिग्रह में जो पुरोडाश कहे हैं उन में (कारणात्) कारण= हेतु होने से (अभ्यावृत्तिः) पौनःपुन्य होता है अर्थात् प्रत्येक पुरोडाश के सम्पूर्ण कर्म करके दूसरे पुरोडाश में पुनः किये जाते हैं।

विशेष—बहुत अश्वों के प्रतिग्रह में कहे गये पुरोडाशों में अभ्यावृत्ति का कारण भाष्य में देखें।

व्याख्या—वहां [एकजातीय का अनुसमय न होना] **युक्त है। वह अभ्यावृत्ति कारण से होती है। एकजातीय के अनुसमय करने पर सहस्र [पुरोडाशों के अधिश्रयण किये जाने पर [जब तक अगले प्रथन कर्म की बारी आयेगी वह] सूख जायेगा, उस का प्रथन नहीं किया जा सकेगा।**

विवरणः—यहां जो सहस्राश्व प्रतिग्रहेष्टि में पुरोडाशों में पदार्थानुसमय न करने का जो कारण दिया है वह उतनी अश्वप्रतिग्रहेष्टि में जानना चाहिये जितनी में पुरोडाश का सूखना सम्भव होवे। सहस्र संख्या उपलक्षणमात्र है। जहां दो चार ही पुरोडाश होते हैं, यथा दर्शपूर्णमासादि में, वहां विरोध न होने से पदार्थानुसमय ही स्वीकार किया जाता है। भट्ट कुमारिल ने भाष्य के दृष्टान्त और उस के परिहार का खण्डन किया है। उसके लिये इस सूत्र भी टुप्-टीका देखें ॥३॥

—०—

[प्रधानविरोधे संनिपातिनां काण्डानुसमयाधिकरणम् ॥२॥]

अथवाऽधिकरणान्तरम्—

कारणादभ्यावृत्तिः ॥३॥ (उ०)

अनेकसहस्राश्वप्रतिग्रहे तन्त्रानुष्ठानमिति पूर्वः पक्षः । काण्डानसमयोऽभ्युपेतव्य इति सिद्धान्तः ॥३॥ सहस्राश्वप्रतिग्रहकाले एकैकस्यैकदा सर्वधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥२॥ काण्डानुसमयन्यायः ॥

—:०:—

[मुष्टिकपालादिषु चतुर्मुष्टिनिर्वापादिनाऽनुसमयाधिकरणम् ॥३॥

मुष्टयादिषु संशयः—किं मुष्टिनाऽनुसमय उत चतुर्भिर्मुष्टिभिरिति ? किं प्राप्तम्?

व्याख्या—अथवा भिन्न अधिकरण है—

कारणादभ्यावृत्तिः ॥३॥

सूत्रार्थः—पूर्ववत् ।

व्याख्या—अनेक सहस्र अश्व के प्रतिग्रह में तन्त्र (पदार्थों के अनुसमय) से अनुष्ठान करना चाहिये यह पूर्वपक्ष है । यहां काण्डानुसमय (=प्रत्येक अश्व-प्रतिग्रहेष्टि के सम्पूर्ण कर्म करना चाहिये, ऐसा) स्वीकार करना चाहिये । यह सिद्धान्त है ।

विवरण—पदार्थानुसमय और काण्डानुसमय के लिये पूर्व पृष्ठ १४२४ 'विशेष' शीर्षक टिप्पणी देखें ॥३॥

—:०:—

व्याख्या—[चतुरो मुष्टीन् निर्वपति='चार मुट्ठी निर्वाप करता है' इत्यादि में उक्त] मुष्टि आदि में संशय है—क्या मुष्टि से अनुसमय होवे अथवा चार मुष्टियों से अनुसमय होवे ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—चतुरो मुष्टीन् निर्वपति का तात्पर्य है—पूर्णमासेष्टि में गार्हपत्य के पश्चिम में अन्न से भरी गाडी से अथवा घड़े से अथवा कपड़े वा चर्म की थैली (द्र० शत० १।१।२।४-७) से आग्नेय और अग्नीषोमीय याग के पुरोडाश के लिये ततद् देवता का निर्देश करके चार मुट्ठी व्रीहि वा यव लेकर सपवित्र (=पवित्र संज्ञक दो दर्भ तृण जिस में रखे हुए हैं, ऐसी) अग्निहोत्रहवणी में डाल कर शूर्प में प्रक्षेप करना । किं मुष्टिना ऽनुसमय उत चतुर्भिर्मुष्टिभिः—पौर्णमास में आग्नेय और अग्नीषोमीय दो पुरोडाश हैं । इन की हवि के निर्वाप में संशय है

मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु चैकेन ॥४॥ (पू०)

मुष्टिनेति । कुतः ? एकमुष्टिनिर्वापो ह्येकः पदार्थो न चतुर्मुष्टिनिर्वापः । कथम् ? एकस्मिन् मुष्टौ निरुप्ते यतीभावः[1] पर्यवस्यति[2]। न शक्यं वदितुं न किंचिन्निरुप्तमिति । न च निरुप्ते निर्वापो न कृतः स्यात् । न च मुष्टिमात्रेण निरुप्तेन न प्रयोजनम् । न ह्येकस्मिन्ननिरुप्ते चत्वारः संभवन्ति । मुष्टिसमानाधिकरणो हि चतुःशब्दः । तस्मान्मुष्टिनाऽनुसमयः कार्यः । एवं **कपालान्युपदधाति** इति । तथा, **मध्यादवद्यति, पूर्वार्धादवद्यति** । तथा, अङ्क्ते, अभ्यङ्क्ते, वपति, पावयतीति ॥४॥

—पहले अग्नये जुष्टं निर्वपामि मन्त्र बोलकर अग्नि के लिये प्रथम मुष्टि का निर्वाप करके अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं निर्वपामि मन्त्र बोलकर अग्निषोम के लिये प्रथम मुष्टि का निर्वाप किया जाय । इसी प्रकार द्वितीय तृतीय चतुर्थ मुष्टि का क्रमशः निर्वाप किया जाये[3] अथवा अग्नि के लिये चार मुट्ठी हवि लेकर अग्नीषोम देवता के लिये हवि ग्रहण करे । निर्वाप पद वाच्य एक मुष्टि से हविग्रहण है अथवा चार मुष्टि से हविग्रहण एक निर्वाप है ? यह संशय है ।

मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु चैकेन ॥४॥

सूत्रार्थः—(मुष्टि ° नेषु) मुष्टि कपाल अवदान अञ्जन अभ्यञ्जन वपन और पावन कर्मों में (च) भी (एकेन) एक से कर्म होता है ।

विशेष—इन के विधि वाक्य और व्याख्या भाष्य तथा विवरण में देखें ।

व्याख्या—[एक] मुष्टि से [अनुसमय प्राप्त होता है] किस हेतु से ? एक मुष्टि-निर्वाप एक पदार्थ है । चार मुष्टि निर्वाप एक पदार्थ नहीं है। कैसे ? एक मुष्टि निर्वाप हो जाने पर [निर्वापरूप] यत्न पूर्ण हो जाता है । यह नहीं कह सकते कि कुछ निर्वाप नहीं किया है । निर्वाप कर लेने पर निर्वाप नहीं किया ऐसा नहीं होगा । मुष्टि मात्र निर्वाप से प्रयोजन नहीं है, यह भी नहीं है । एक मुष्टि का निर्वाप विना किये चार संख्या संभव नहीं होती । चतुर् (=चार) शब्द मुष्टि का समानाधिकरण है । इसलिये मुष्टि से अनुसमय करना चाहिये । इसी प्रकार 'कपालों का [अङ्गारों पर] उपधान (=स्थापन) करता है । तथा 'मध्य से अवदान करता है, पूर्वार्ध से अवदान करता है' । तथा अञ्जन करता है, अभ्यञ्जन करता है, वपन (=छेदन) करता है, पवित्र करता है ।

---

१. 'निर्वपतिभाव' इति पाठान्तरम् । निर्वापयत्न इत्यर्थः । 'यतीभाव' इत्येव भट्ट-कुमारिलानुमतः पाठः, टुप्टीकायां तथा दर्शनात् ।

२. पर्यवसितो भवतीति पा० ।

३. सिद्धान्त पक्ष (=चार मुष्टि से हविग्रहण एक निर्वाप) में तीन मुष्टियों का ग्रहण समन्त्रक होता है और चतुर्थ मुष्टि का विना मन्त्र के ।

विवरण—सूत्रस्थ मुष्टि आदि विषय के विधि वाक्य तथा उन की व्याख्या निम्न प्रकार जानें—

मुष्टि - इस का विधि वाक्य है—**चतुरो मुष्टीन् निर्वपति**(भाष्य २।३।१२ में उद्धृत)। इस की व्याख्या ऊपर भाष्य और विवरण में देखें (पृष्ठ १४७८-१४७९)।

कपाल—इस का विधि वाक्य है—**कपालान्युपदधाति** (=अङ्गारों पर कपालों को रखता है)। आग्नेय पुरोडाश के श्रपण के लिये आठ कपाल हैं और अग्नीषोमीय पुरोडाश के लिये ग्यारह। इन कपालों के रखने की प्रक्रिया श्रौत सूत्रों में देखें। यहां पूर्ववत् सन्देह होता है कि क्या आग्नेय पुरोडाश के एक कपाल का उपधान करके अग्नीषोमीय के एक कपाल का उपधान करें अथवा आग्नेय के आठों कपालों का उपधान करके अग्नीषोमीय के ११ कपालों का उपधान करें।

अवदान—याग में दी जाने वाली आहुति के लिये चार अवदान (=भाग) ग्रहण करने होते हैं—**चतुरवत्तं जुहोति**। पुरोडाश की आहुति के लिय चार अवदान इस प्रकार होते हैं—जुहू में एक स्रुव घृत से उपस्तरण, उस के पश्चात् **द्विर्हविषोऽवद्यति** (=हवियों से दो अवदान)। इन में एक अवदान **मध्यादवद्यति** (=पुरोडाश के मध्य भाग से अवदान करता है) नियम से पुरोडाश के मध्य से और दूसरा **उत्तरार्धादवद्यति** (=उत्तरार्ध से अवदान करता है) से पुरोडाश के उत्तर भाग से किया जाता है। अन्त में एक स्रुव घृत से जुहूस्थ पुरोडाश के भागों पर अभिघारण किया जाता है। यहां सामान्य रूप से चारों अवदानों के सम्बन्ध में पूर्ववत् संशय उपस्थापित किया जा सकता है, परन्तु भाष्यकार ने पुरोडाश के मध्य और उत्तरार्ध के दो अवदान विषयक वाक्य दे कर उन्हीं में संशय माना है। तदनुसार आग्नेय पुरोडाश के मध्य भाग से एक अवदान करके अग्नीषोमीय पुरोडाश के मध्यभाग से अवदान करके पुनः आग्नेय के उत्तरार्ध से अवदान करके अग्नीषोमीय के उत्तरार्ध से अवदान करें अथवा आग्नेय के दोनों अवदानों को करके अग्नीषोमीय के दोनों अवदान करें, यह संशय है। वस्तुतः हवि का अवदान करके उसे जुहू में रख कर आहुति दी जाती है। जुहू एक है। अतः यहां दोनों पुरोडाशों का एक-एक अवदान करके तदन्तर पुनः दूसरा अवदान करके जुहू में रखना सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों पुराडाशों की पृथक् पृथक् आहुति दी जाती है। इस लिये यहां केवल शाब्दिक विचार मात्र जानना चाहिये। इस विषय में कुतुहलवृत्तिकार का लेख षष्ठ सूत्र के भाष्य विवरण के अन्त में देखें।

अञ्जन, अभ्यञ्जन, वपन, पावन, ये चार कर्म सोमयाग में यजमान को दीक्षित करने के समय करने होते हैं। सूत्र में कर्मों का क्रम से निर्देश नहीं है। हम तैत्तिरीय संहिता और आपस्तम्ब श्रौत के अनुसार क्रमशः वर्णन करते हैं—

सर्वाणि त्वेककार्यत्वादेषां तद्गुणत्वात् ॥५॥ (उ०)

सर्वाणि[1] तु परिसमाप्यानुसमेयान्नैकमुष्टिनिर्वापः पदार्थः । चतुःसंख्यत्वा-

---

वपन—केशश्मश्रू वपते (तै०सं० ६।१।१।२) केशश्मश्रू वापयते (आप० श्रौत १०।५।६) इस विधिवाक्य से बाहुमूल, मूंछ और शिर के बालों का क्रमशः वपन अथवा मूंछ, बाहुमूल और शिर के बालों का क्रमशः वपन (तै० सं० ६।१।१।२-३) । [इस के अनन्तर स्नान उसके पश्चात् क्षौम वस्त्र का धारण होता है] ।

अभ्यञ्जन—नवनीतेनाभ्यङ्क्ते (तै० सं० ६।१।१।५) त्रिरभ्यङ्क्ते (आप० श्रौत १०।६।१२) यह नवनीत (मक्खन से) तीन बार अभ्यञ्जन (=मलना) मुख से नख पर्यन्त अनुलोम होता है ।

अञ्जन—शलाका से आंख में अञ्जन लगाना—**यदङ्क्ते** (तै० सं० ६।१।१।५) **त्रैककुदेनाञ्जनेनाङ्क्ते** (आप० श्रौत १०।७।२) तै० सं० के अनुसार पांच बार अञ्जन लगाने का उल्लेख है । आप० श्रौत १०।७।१।३–४ के अनुसार दो बार दाहिनी आंख में एक बार बायीं आंख में अथवा दो बार दाहिनी में तीन बार बायीं में अथवा दोनों में तीन तीन बार ।

पावन—**यद्दर्भपिञ्जूलैः पावयति, एकविंशत्या पावयति** (तै० सं० ६।१।१।७-८) । आप० श्रौत १०।७।७ के अनुसार **सात सात** दर्भ के तीन भागों में विभक्त (७×३=२१) इक्कीस तृणों से दो बार नाभि से ऊपर एक बार नीचे किया जाता है ।

सत्र में उक्त अञ्जनादि '**ये यजमानास्ते ऋत्विजः**' नियम से सभी यजमानों को दीक्षा के समय 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस चोदकवचन से प्राप्त होते हैं । उस समय सन्देह होता है कि इन कर्मों को एक एक बार सब में करके पुनः क्रमशः दूसरी तीसरी बार करना चाहिये अथवा एक एक में कर्म पूरा करना चाहिये । इस संशय में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष उपस्थापित किया है—प्रत्येक में प्रत्येक कर्म एक-एक बार कर के पुनः इसी क्रम से दूसरे तीसरे में कर्म करना चाहिये ॥४॥

सर्वाणि त्वेककार्यत्वादेतेषां तद्गुणत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है । (सर्वाणि) निर्वपन उपधान अवदान अञ्जन अभ्यञ्जन वपन पावनरूप कार्य एक में सब समाप्त कर के दूसरे में करने चाहियें (एषाम्) इन के (एककार्यत्वात्) एक कार्य होने से । मुष्टि और चतुर् आदि संख्याओं के (तद्गुणत्वात्) निर्वपन आदि क्रियाओं के प्रति गुण=अङ्ग होने से । अर्थात् एक-एक मुट्ठी कर के **चार बार** ग्रहण से एक निर्वाप कर्म होता है । ऐसे ही अन्यत्र जानना चाहिये ।

व्याख्या—सब (=चार मुट्ठी) को समाप्त करके अनुसमय करे एक मुष्टि निर्वाप पदार्थ नहीं है, निर्वाप के चार संख्या वाला [अर्थात् चार मुट्ठी अवयव वाला] होने से । फिर

---

१. सर्वाणि तु समाप्य० पाठान्तरम् ।

न्निर्वापस्य । कथं चतुःसंख्यता? चतुःशब्दस्य निर्वपतिना संबन्धात् । एवं सह कर्मणाऽनेकगुणविधानं न्याय्यम् । इतरथा मुष्टिसंबन्धे सति वाक्यभेदः प्रसज्येत । अनिर्वापाङ्गं च स्यात् । तथोपधानादिष्वपि—अष्टाकपालम्, एकादशकपालं निर्वपतीति निर्देशात् । द्विरवद्यति, त्रिरभ्यङ्क्ते, एकविंशत्या पावयतीति संख्यादीनां क्रियागुणत्वं भवति । तस्मात् समुदायेनानुसमय इति ॥५॥ **मुष्टिकपालादीनां समुदायानुसमयाधिकरणम् ॥३॥**

—:०:—

[दर्शपूर्णमासयोरवदानादिप्रदानान्तेनानुसमयाधिकरणम् ॥४॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—द्विर्हविषोऽवद्यति[1] इति । तत्र संशयः—किमवदानेनानुसमय उतावदानेन प्रदानान्तेनेति? किं प्राप्तम्? अवदानेनेति ब्रूमः । कुतः? पृथक्पदार्थत्वात् । पृथक्पदार्थो ह्यवदानम्, यतीभावस्य पर्यवसानात्, अवद्यतिवचनात् एवं प्राप्ते ब्रूमः—

चतुःसंख्याता (=चतुःसंख्या और मुष्टि) कैसे है? 'चतुः' शब्द का 'निर्वपति' क्रिया के साथ संबन्ध होने से । इसी प्रकार [अर्थात् निर्वाप के चार मुट्ठी वाला स्वीकार करने से] कर्म के साथ अनेक गुणों का विधान न्याय्य है । अन्यथा [निर्वाप की विधि न मानने पर] मुष्टि के साथ सम्बन्ध होने पर वाक्य भेद होवे [अर्थात् चतुरो निर्वपति और मुष्टीन् निर्वपति दो वाक्य होवें] । और [संख्या] निर्वाप का अंग भी न होवे । इसी प्रकार उपधानादि में भी 'अष्टाकपालम् एकादशकपालं निर्वपति' का निर्देश होने से । द्विरवद्यति, त्रिरवद्यति, त्रिरभ्यङ्क्ते, एकविंशत्या पावयति में भी संख्यादि का क्रिया के प्रति गुणत्व होता है । इसलिये समुदाय से अनुसमय जानना चाहिये ।

—:०:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—'हवि का दो बार अवदान करता है' । उस में संशय है—क्या अवदान से अनुसमय है अथवा अवदान से लेकर प्रदानान्त [कर्म से अनुसमय है]? क्या प्राप्त होता है? अवदान से अनुसमय है ऐसा हम कहते हैं । किस हेतु से? [अवदान के] पृथक् (=स्वतन्त्र) पदार्थ होने से । अवदान पृथक् (=स्वतन्त्र) पदार्थ है, यतीभाव=प्रयत्न की समाप्ति से, 'अवद्यति' वचन से । ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

विवरण—किमवदानेनानु समयः·····प्रदानान्तेन—पूर्णमास में आग्नेय और अग्नीषोमीय दो पुरोडाश हैं । इन में आग्नेय पुरोडाश से दो अवदान करके अग्नीषोमीय पुरोडाश से दो अवदान करें अथवा आग्नेय पुरोडाश से दो अवदान कर के उसे अग्नि के लिये प्रदान कर के अग्नी-

---

१. अनुपलब्धमूलम् । भाग ३, पृष्ठ ९१९, टि० १ द्रष्टव्या ।

संयुक्ते तु प्रक्रमात् तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ॥६॥ (उ०)

संयुक्ते तु प्रक्रमात् तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात्। नावदानं पृथक् पदार्थः। प्रदानस्य स उपक्रमः। इतरथाऽवद्यतेरदृष्टार्थता स्यात्। संख्याविशेषविधनार्थं च पुनर्वचनम्। तस्मात् पदार्थावयवोऽवदानम्। न चावयवसहत्वं प्रयोगवचनेनोच्यते। तस्मात् प्रदानान्तेनानुसमय इति ॥६॥ **अवदानस्य प्रदानान्तानुसमयाधिकरणम् ॥४॥**

—:०:—

षोमीय पुरोडाश से दो अवदान कर के उसका प्रदान करें। इस प्रकार अवदान से प्रदानान्त का अनुसमय जानना चाहिये। **यतीभावस्य पर्यवसानात्**—अवदान के लिये जो प्रयत्न आरम्भ किया जाता है वह अवदान कर लेने पर पूर्ण हो जाता है। **अवद्यति वचनात्**—इस का भाव है—द्विर्हविषोऽवद्यति में अवदान मात्र क्रिया का निर्देश है ॥५॥

संयुक्ते तु प्रक्रमात् तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ॥६॥

सूत्रार्थः—'तु' एव अर्थ में है। (संयुक्ते) संयुक्त कर्म में (तु) ही (प्रक्रमात्) प्रक्रम =आरम्भ होने से (तत्) वह (अङ्गम्) अङ्ग (स्यात्) होवे। (इतरस्य) इतर=दूसरे के (तदर्थत्वात्) उस के लिये होने से।

विशेष—भाष्यानुसारी इस सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण भाष्य और उसके विवरण से जानें। कुतुहलवृत्तिकारकृत सूत्रार्थ भाष्यविवरण के अन्त में देखें।

व्याख्या—**संयुक्त में ही आरम्भ होने से वह अङ्ग होवे, इतर के उसके लिये होने से। अवदान पृथक् पदार्थ नहीं है वह प्रदान का आरम्भ है। अन्यथा 'अवद्यति' की अदृष्टार्थता होवे। संख्याविशेष विधान के लिये पुनः कथन है। इसलिये अवदान [संयुक्त] पदार्थ का अवयव है। अवयव का सहत्व (=सहायीभाव) प्रयोगवचन से नहीं कहा जाता है। इसलिये प्रदानान्तकर्म से अनुसमय जानना चाहिये।**

विवरण—भाष्य का तात्पर्य है—यहां **चतुरवत्तं जुहोति** (=चार अवदान वाले हवि द्रव्य का होम करता है) में अवदान और प्रदान दोनों का संयुक्त प्रक्रम (=आरम्भ) है। इसलिये अवदान प्रदान का अङ्ग है। अवदान के प्रदान के लिये होने से अवदान स्वतन्त्र कर्म नहीं है। **इतरथाऽवद्यतेरदृष्टार्थता स्यात्**—यदि अवदान स्वतन्त्र पदार्थ होवे तो दृष्टफल न होने अवदान क्रिया अदृष्टार्थ होवे। प्रदानान्त एक कर्म मानने पर 'अवद्यति' वचन दृष्टार्थ होता है। **संख्याविशेषविधानार्थं तु वचनम्**—**चतुरवत्तं जुहोति** से चार अवदान युक्त द्रव्य का होम होता है। घृताहुति में चार अवदान स्रुव से चार बार घृत के जुहू में लेने से उपपन्न होता है। अन्य पुरोडाशादि हवियों में एक स्रुव घृत के जुहू में उपस्तरण, पश्चात् हवि से दो अवदान, पुनः एक स्रुव से हवि पर अभिघारण से चतुरवत्तता सम्पन्न होती है। चतुरवत्त

[यूपगणेऽञ्जनादिपरिव्याणान्तेनानुसमयाधिकरणम् ॥५॥]

ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीयपशौ यूपस्याञ्जनाद्याः पदार्थाः श्रूयन्ते । तेषु यूपकादशिन्यां प्राप्तेषु संशयः—किमञ्जनादीनामेकैकेनानुसमय उताञ्जनादिना परिव्याणान्तेनेति ? किं प्राप्तम् ?

हवि का होम होता है । यह सामान्य रूप से कहा गया है । अतः **द्विर्हविषोऽवद्यति** में 'अवद्यति' का पुनः कथन द्वित्व संख्या के विधान के लिये है । यह विधायक नहीं है । अनुवाद है—**अवदानमनूद्यपुरोडाशादिहविषो द्व्यवदानं विधीयते ।**

कुतुहलवृत्तिकार का सूत्रार्थ—संयुक्त में इतर **'उपस्तृणाति द्विर्हविषो अवद्यति अभिघारयति** का प्रक्रम होने से वह अवदान होम का अङ्ग होवे । अर्थात् चतुरवत्तरूप संस्कार सहित होम में अवदान के आद्य अवयवरूप से विधान करने से तथा अवदान के प्रदान के लिये होने से ।

प्रकृत सूत्र में कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा है—पूर्वाधिकरण में द्व्यवदान (मध्यादवद्यति, पूर्वार्धादवद्यति) को एक पदार्थ कहा है और यहाँ 'अवदान स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है' ऐसा कहा है । यह विरोध होता है । उत्तर—पूर्वाधिकरण में 'एकैक अवदान पदार्थ नहीं है' इतना ही कहा है और यहां द्व्यवदान पदार्थ नहीं है ऐसा कहा है । इससे दोष नहीं है । वस्तुतः पूर्वाधिकरण सूत्र में अवदान पद इडावदान परक जानना चाहिये । तदनुसार—**'दक्षिणार्धात् प्रथममिडामवद्यति संभेदात् द्वितीयम्'** (=पुरोडाश के दक्षिणार्ध से प्रथम इडा का अवदान करे और संभेद से दूसरा अवदान करे) यहाँ एकैक अवदान पदार्थ है, यह पूर्वपक्ष जानना चाहिये और **'सर्वेभ्यो हविर्भ्यो द्वि द्विरिडामवद्यति'** (=सब हवियों से इडा का दो-दो वार अवदान करता है) में विहित द्व्यवदान एक पदार्थ है ऐसा सिद्धान्त जानना चाहिये । **दक्षिणार्धात्** इत्यादि देशविधानार्थ है ॥६॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु में [यूप का घृत से] अञ्जन आदि पदार्थ सुने जाते हैं । यूपैकादशिनी में प्राप्त उन पदार्थों में संशय होता है—क्या अञ्जन आदि एक-एक पदार्थ से अनुसमय होता है अथवा अञ्जन से लेकर [यूप के] परिव्याणान्त पदार्थ से ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अग्निषोमीय पशु की विकृति रूप 'पश्वेकादशिनी' (=ग्यारह पशु जिसमें है) का विधान अनेक यागों में उपलब्ध होता है । पश्वेकादशिनी में दो पक्ष है—एक यूप में ग्यारह पशुओं का नियोजन अथवा ग्यारह पशुओं के नियोजन के लिये ग्यारह यूप स्थापित करना । यह यूपैकादशिनी कहाती है । इस में पदार्थानुसमय किया जाये अथवा यूपाञ्जन से लेकर परिव्याण (=यूप में रस्सी लपेटना) कर्म पर्यन्त पदार्थ-समूह से अनुसमय होवे ऐसा संशय होता है ।

वचनात् तु परिव्याणान्तमञ्जनादि स्यात् ॥७॥ (उ०)

परिव्याणान्तमञ्जनादि स्यात् । कुतः ? वचनात् । वचनमिदं भवति—**अञ्जनादि यजमानो यूपं नावसृजेदापरिव्याणाद्**[1] इति । न च शक्यं बहुष्वञ्जनादिनाऽनुसमयः कर्तुं, न चानवस्रष्टुम् । तस्मात् परिव्याणान्तेनानुसमयः ॥७॥

कारणाद् वाऽनवसर्गः स्याद् यथा पात्रवृद्धिः ॥८॥ (पू०)

सहत्वस्य प्रापकः प्रयोगवचनोऽनुग्रहीष्यत इति पदार्थेनानुसमयः । अनवसर्गश्च प्रकृतावर्थात् कृतः । साहाय्यं यजमानेनाध्वर्योः । एवं दृष्टार्थताऽनवसर्गस्य ।

वचनात् तु परिव्याणान्तमञ्जनादि स्यात् ॥७॥

सूत्रार्थः—यूपैकादशिनी में (वचनात्) वचन सामर्थ्य से (अञ्जनादि) यूप का अञ्जन जिस के आदि में है ऐसा (परिव्याणान्तम्) रशना का परिव्याण=लपेटना कर्म पर्यन्त अनुसमय (तु) ही (स्यात्) होवे । [वचन भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—**परिव्याण अन्त में है जिसके और अञ्जन आरम्भ में है जिसके [अर्थात् अञ्जन से परिव्याण पर्यन्त] कर्म होवे। किस हेतु से ? वचन से। यह वचन होता है—'अञ्जन से लेकर परिव्याण पर्यन्त यजमान यूप को न छोड़े'। [इस से] बहुत यूपों में अञ्जनादि पदार्थ से अनुसमय करना और [यूप का] न छोड़ना, [दोनों कर्म] करना सम्भव नहीं है। इस कारण परिव्याणान्त कर्म से अनुसमय होता है।**

कारणाद् वाऽनवसर्गः स्याद् यथा पात्रवृद्धिः ॥८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व स्थापति काण्डानुसमय की निवृत्ति के लिये है। (अनवसर्गः) प्रकृति अग्नीषोमीय पशु में यजमान के द्वारा परिव्याण पर्यन्त अनवसर्ग=यूप को न छोड़ना (कारणात्) अञ्जनकार्य में अध्वर्यु की सहायतारूप कारण से (स्यात्) होवे। (यथा जैसे पृषदाज्य से अनुयाजों के यजन के लिये पृषदाज्य =घृतमिश्रित आज्य रखने के लिये (पात्रवृद्धि,) पात्र की वृद्धि होती है।

विशेष—प्रयाजों और अनुयाजों के लिये जो आज्य होता है, वह उपभृत् संज्ञक स्रुक् में रखा जाता है—**'अष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्'** । घृतयुक्त उपभृत में पृषदाज्य नहीं रखा जा सकता इसलिये पृषदाज्यधानी संज्ञक अन्य पात्र की वृद्धि होती है।

व्याख्या—**सहत्व का प्रापक जो प्रयोगवचन है वह अनुगृहीत होगा । इसलिये [यूपैकादशिनी में] पदार्थानुसमय [युक्त है] । प्रकृति (=अग्नीषोमीय पशु) में [यजमान द्वारा यूप का] अपरित्याग अर्थ(=प्रयोजन) कृत है। [वह अर्थ है] यजमान के द्वारा अध्वर्यु**

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र० आप० श्रौत ७।१०।५ **अञ्जनादि यूपं यजमानो नोत्सृजत्यापरिव्ययणात् ।**

इतरथाऽदृष्टार्थता स्यात् । न चार्थात् कृतं चोदकः प्रापयति । तस्माद् यूपान्तरेणो-च्छ्रयितव्येन कारणेनावसृजेत् । यथा—पृषदाज्येनानुयाजान् यजति[1] इत्यर्थात् तस्य धारणार्थं पात्रं भिद्यते ॥८॥

न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात् पात्रविवृद्धिः ॥९॥ (उ०)

न वैतत् पदार्थेनानुसमय इति । परिव्याणान्तेन पदार्थकाण्डेनानुसमयः स्यात् । शब्दकृतं हि प्रकृतावनवसर्जनम् । शक्नोति हि ऋतेऽपि यजमानादध्वर्युर्यूपमुच्छ्र-

---

की सहायता करना। इस प्रकार [यजमान द्वारा यूप के] अपरित्याग की दृष्टार्थता है। अन्यथा [अनवसर्ग] अदृष्टार्थ होवे। अर्थ से प्राप्त को चोदकवचन प्राप्त नहीं कराता है। इसलिये अन्य यूप के उच्छ्रयण (=खड़ा करना) योग्य कारण से [यजमान पूर्व यूप का] अवसर्जन (=परित्याग) करे। जैसे 'पृषदाज्य से अनुयाजों का यजन करता है' [से विधीयमान कर्म में] उस (=पृषदाज्य) के धारण (=रखने) के लिये प्रयोजनवश पात्र का भेद होता है अर्थात् अन्य पात्र की वृद्धि की जाती है।

विवरण—साहय्यं यजमानेनाध्वर्योः—अध्वर्यु के द्वारा यूप का घृत से अञ्जन करते समय विना दूसरे व्यक्ति के यूप के धारण किये अञ्जनादि कर्म नहीं किये जा सकते। अतः प्रकृति में अञ्जन से लेकर परिव्याण पर्यन्त यजमान का यूप का परित्याग न करना अध्वर्यु की सहायता रूप प्रयोजन से है। **धारणार्थं पात्रं भिद्यते** की व्याख्या सूत्रार्थ के नीचे 'विशेष' में देखें।

न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात् पात्रविवृद्धि ॥९॥

सूत्रार्थः——(न वा) 'न वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् पदार्थानु-समय नहीं है। (शब्दकृतत्वात्) प्रकृति=अग्नीषोमीय पशु में अञ्जनादि परिव्याणान्त कर्म के शब्दकृत 'नावसृजेत्' विधि वचन से विहित होने के कारण पदार्थकाण्ड से अनुसमय होता है। (इतरत्) प्रयोगवचन तो (न्यायमात्रम्) अनुमानगम्य मात्र है (पात्रविवृद्धिः) पृषदाज्य से अनुयाजों के यजन में पात्र की वृद्धि (अर्थात्) प्रयोजनसामर्थ्य से होती है। [सूत्र ८ के सूत्रार्थ के नीचे 'विशेष' देखें।

व्याख्या—यह नहीं है कि पदार्थानुसमय है। [अञ्जन से लेकर] परिव्याण पर्यन्त पदार्थ समूह से अनुसमय होवे। प्रकृति में [यजमान का यूप को] न छोड़ना शब्दकृत ही है [अर्थात् यजमानो यूपं नावसृजेत् वचन से विहित है]। यजमान के विना भी अध्वर्यु यूप को खड़ा कर सकता है। सौकर्य (=सुगमता) के लिये [यजमान का अनवसर्जन] होवे ऐसा कहो

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० तै० सं० ६।३।११।६॥

यितुम् । सौकर्यमितिचेत् ? विधिशब्दो बाध्येत । दृष्टार्थता एवं हि नियम्येत, भोजने प्राङ्मुखतेव । अतोऽसंभवात् पदार्थकाण्डेनानुसमयः । प्रयोगवचनस्य च न्यायमात्रत्वम् चोदकस्ततो वलीयान् । पात्रविवृद्धिरत्वर्थात् **कर्तव्या ॥९॥ अञ्जनादेः परिव्याणान्तानुसमयाधिकरणम् ॥५॥**

—:o:—

[एकदेवताकपशुगणे दैवतावदानादिनाऽनुसमयाधिकरणम् ॥६॥]

वाजपेये प्राजापत्याः पशवः । तेषु संदेहः—किमेकैकस्य पशोर्दैवतान्यवदाय

तो [नावसृजेत्] विधि शब्द बाधित होवे [अर्थात् सौकर्यार्थ अनवसर्जन मानने पर विधान की आवश्यकता नहीं होगी, उसे अनुवादमात्र मानना होगा] । दृष्टार्थता इस प्रकार नियमित होवे, भोजन में प्राङ्मुखता के समान । इसलिये असम्भव होने से [अञ्जनादि परिव्याणान्त] पदार्थ समूह से अनुसमय होता है । प्रयोगवचन की न्यायमात्रता है । उससे चोदकवचन बलवान् है । पात्र की वृद्धि तो प्रयोजन से करनी चाहिये ।

विवरण—विधिशब्दो बाध्येत—'नावसृजेत्' में विधायक लिङ्विभक्ति बाधित होगी । **दृष्टार्थता एवं नियम्येत**—अनवसर्ग (=यूप को न छोड़ना) अर्थ की दृष्टार्थता भी विधि शब्द की बाधा में नियमित होगी अर्थात् साहाय्य के लिये यजमान के अतिरिक्त अन्य भी यूप को थाम सकता है फिर 'यजमान यूप को न छोड़े' कहने से यजमान इस कार्य में नियमित होगा । तब नियमापूर्व की कल्पना करनी होगी । जैसे धान से तुष अनेक प्रकार से हटाया जा सकता है फिर भी **व्रीहीन् अवहन्ति** में अवहनन क्रिया व्रीहि के तुषों के हटाने के लिये दृष्टार्थ होती हुई भी **अवहननेनैव तुषविमोकं कुर्यात्** (=अवहनन से ही तुषों को हटावे) रूप नियमादृष्ट की कल्पना की जाती है, वैसे ही सहायकरणरूप दृष्टार्थता में भी नियमापूर्व की कल्पना करनी होगी । **भोजने प्राङ्मुखतेव**—नियमापूर्व की कल्पना में भाष्यकार उदाहरण देते हैं—**प्राङ्मुखतेव** । भोजन किसी भी दिशा में मुख करके किया जा सकता है, फिर भी शास्त्र कहता है—**प्राङ्मुखो भुञ्जीत**=पूर्व की ओर मुख करके खावें । यहाँ प्राङ्मुखता के विधान से नियमापूर्व की कल्पना की जाती है, प्राङ्मुख बैठ कर भोजन करने से कुछ अपूर्व उत्पन्न होता है । **प्रयोगवचनस्य न्यायमात्रत्वम्**—यहां न्याय शब्द में कर्म में घञ् प्रत्यय है—**नीयन्ते प्राप्यन्ते ये ते पदार्थाः** । यह प्रयोगवचनता (=इस के अनन्तर यह कर्म, इसके अनन्तर यह कर्म) विविध कर्मों के विधान से अनुमानगम्य है । पात्रवृद्धि की अर्थता सूत्र ८ के सूत्रार्थ के नीचे 'विशेष' में देखें ।

—:o:—

व्याख्या—वाजपेय याग में [सत्रह] प्राजापत्य पशु हैं । उन में सन्देह होता है—क्या एक एक पशु के दैवत (= देवता संबन्धी) अवदानों का अवदान करके पश्चात् सौविष्टकृत

ततः सौविष्टकृतानि, तत ऐडानि ? अथ दैवतैर्दैवतानामनुसमयः, सौविष्टकृतैः सौविष्टकृतानाम्, एडैरैडानामिति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

(=स्विष्टकृत् संबन्धी) [अवदानों का अवदान करके] पश्चात् ऐड (=इडा सम्बन्धी) [अवदानों का अवदान किया जाये] अथवा देवता सम्बन्धी अवदानों से देवता सम्बन्धी अवदानों का अनुसमय, स्विष्टकृत सम्बन्धी अवदानों से स्विष्टकृत् सम्बन्धी अवदानों का अनुसमय और इडा सम्बन्धी अवदानों से इडा सम्बन्धी अवदानों का अनुसमय किया जाये ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—प्राजापत्य पशुगण की प्रकृति अग्नीषोमीय पशु है । अग्नीषोमीय पशु की प्रकृति दर्शेष्टि की सान्नाय्य हवि अन्तर्गत पयोहवि है ।[1] सान्नाय्य हवि दो हैं दधि और पयः । इन दोनों की देवता एक है इन्द्र या महेन्द्र । सान्नाय हवि के एक देवताक होने से दोनों से एक साथ अवदान करके एक साथ आहुति दी जाती है । उसके अनन्तर स्विष्टकृत् सम्बन्धी अवदान करके उस का होम करके इडा सम्बन्धी अवदान किया जाता है । अग्नीषोमीय पशु में भी यही धर्म चोदक से प्राप्त होता है । परन्तु यहाँ दैवत अवदान करके उन का होम न करके सौविष्टकृत अवदान किये जाते हैं उनका भी होम न करके ऐड अवदान किये जाते है तत्पश्चात् क्रमशः दैवतावदानों की आहुति देकर सौविष्टकृतावदानों की आहुति दी जाती है (द्र० उत्तर सूत्र का भाष्य) ।

पशुयाग के दैवत, सौविष्टकृत और ऐड अवदानों का विवरण आप० श्रौत ७।२२।६ में इस प्रकार दिया है—हृदय, जिह्वा, वक्ष (=छाती) यकृत् (=जिगर) दो वृक्य (=वृक्क =गुर्दे), बायीं बाहु, दोनों पार्श्व, दाहिनी श्रोणि (कूल्हा), गुदा का तृतीय भाग, ये दैवत **अवदान** हैं । दाहिनी बाहु, बायां कूल्हा,गुदा का तृतीय भाग, ये **सौविष्टकृत अवदान** हैं । क्लोमा (=यकृत् सदृश माँस), प्लीहा (=तिल्ली), परीतत् (=छोटी आंत), अध्यूध्नी (=स्तन का ऊपरी भाग का मांस), मेद (=हृदय और गुर्दे की पतली झिल्ली), जाघनी (=पूंछ) ये **ऐड अवदान** हैं ।

सप्तदश प्राजापत्य पशुओं में अग्नीषोमीय प्रकृति से यही धर्म चोदक से प्राप्त होते हैं । अतः यहाँ सन्देह का स्वरूप यह है—एक (=प्रथम) पशु के दैवत अवदान करके स्विष्ट-कृतसम्बन्धी अवदान करके इडा सम्बन्धी अवदान करके द्वितीय पशु के भी इसी क्रम से अवदान करके तृतीय चतुर्थादि पशुओं के अवदान किये जायें अथवा सत्रह पशुओं के इकट्ठे दैवत अवदान करके सत्रह पशुओं के ही सौविष्टकृत अवदान करके सत्रह पशुओं के ही ऐड अवदान किये जायें? प्रथम पक्ष में दैव सौविष्टकृत और ऐड तीन अवदानों का काण्डानुसमय है और द्वितीय पक्ष में सभी दैवत अवदान, सभी सौविष्टकृत अवदान और सभी ऐड अवदान रूप पदार्थानुसमय है ।

---

१. पशोः पयोविकारत्वे कुम्भ्यादिदर्शनं हेतुः । द्र०—आप० परि ३।३९ का कपर्दी स्वामी का भाष्य ।

पशुगणे तस्य तस्यापवर्जयेत् पश्वेकत्वात् ॥१०॥ (पू०)

एकैकस्य कृत्स्नान्यवदाय ततो होतव्यम् । प्रकृतौ वचनादेतत् कृतं, प्राजापत्येष्वपि चोदकेनैव प्राप्नोति ॥१०॥

दैवतैर्वैककर्म्यात् ॥११॥ (उ०)

यज्ञ का एक नाम है अध्वर। अध्वर का अर्थ है—**ध्वरतिर्हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः।** (निरु १।८) अर्थात् ध्वृ (ध्वर्) हिंसार्थक धातु है, उसका प्रतिषेध अर्थात् हिंसा का अभाव। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि हिंसारहित यज्ञकर्म में पशुयाग के माध्यम से जो हिंसा का नंगा नाच किसी काल में आरम्भ हुआ था, उसके कारण ही वेदनिन्दक चार्वाक बौद्ध और जैन सम्प्रदाय प्रवृत्त हुए। शुद्ध सात्त्विक संगतिकरणरूप यज्ञों ने साक्षात् बूचड़खाने का रूप धारण कर लिया। जिन ब्राह्मणों के लिये मद्य और मांस सर्वथा वर्जित था, वे यजमान और ऋत्विक् यज्ञशेष के नाम पर मांस भक्षण करने लगे। यज्ञों में पशुवध का आरम्भ कब और कैसे हुआ तथा पुराकाल में पशुवध से रहित पशुयाग किस प्रकार सम्पन्न होते थे इसके लिये पाठक मीमांसाभाष्य-व्याख्या के प्रथम भाग के आरम्भ में छापा गया **'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा'** निबन्ध देखें। वैष्णवमतानुयायी साक्षात् पशु के स्थान में पिष्टपशु बना कर उस से पशुयाग करते हैं। यह भी कल्पनामात्र है। वस्तुतः पुराकाल में पशुयागों में पर्यग्निकरण के पश्चात् पशु का उत्सर्ग किया जाता था। शेष कर्म आज्याहुति अथवा पुरोडाशादि से समाप्त किया जाता था। यह विषय भी उक्त निबन्ध में विस्तार से लिखा गया है।

पशुगणे तस्य तस्यापवर्जयेत् पश्वेकत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(पशुगणे) पशुसमुदाय में (तस्य तस्य) उस उस पशु के दैवत सौविष्टकृत और ऐड अवदानों को (अपवर्जयेत्) समाप्त करे अर्थात् तीनों का समूहरूप से करे (पश्वेकत्वात्) प्राजापत्य पशुओं में प्रत्येक के एक (=स्वतन्त्र) पशु होने से।

व्याख्या—**एक एक पशु के कृत्स्न अवदान करके पश्चात् [उन का] होम करना चाहिये। प्रकृति (=अग्नीषोमीय पशु) में वचन से यह किया था, प्राजापत्य पशुओं में भी चोदक से ही प्राप्त होता है ॥१०॥**

दैवतैर्वैककर्म्यात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (दैवतैः) दैवत अवदानों से [दैवत अवदानों का, सौविष्टकृत अवदानों से सौविष्टकृत अवदानों का और ऐड अवदानों से ऐड अवदानों का अनुसमय करना चाहिये] (ऐककर्म्यात्) प्राजापत्य पशुयाग के एक कर्म होने से।

नैतदेवम् । दैवतैर्दैवतानां, सौविष्टकृतैः सौविष्टकृतानाम्, ऐडैरैडानामिति । कस्मात् ? ऐककर्म्यात् एवं सहकृतं भवति । यच्च वचनात् प्रकृतौ कृत्स्नावदानमिति ? **दैवतान्यवदाय न तावत्येव होतव्यम्, सौविष्टकृतान्यवदेयानि । सौविष्टकृतान्यवदाय न तावत्येव होतव्यम्, ऐडान्यवदेयानि**[1] इति प्रकृतौ श्रूयते । तदिह दैवतैर्दैवतानामनुसमयं कुर्वन्नैव प्राकृतं धर्मं बाधेत । दैवतान्यवदाय नैव जुहोति, सौविष्टकृतान्यवद्यतीति । अथ सौविष्टकृतान्यवदाय नैव जुहोति, ऐडान्यवद्यतीति । तस्मात् पदार्थमात्रेणानुसमय इति ॥११॥

विशेष—सूत्र में 'दैवतैः' पद सौविष्टकृत और ऐड सभी का उपलक्षक है । अत एव हमने सूत्रार्थ में उपलक्षित पदों का भी [ ] कोष्ठक में निर्देश कर दिया है । प्राजापत्य पशु का ऐककर्म्य आगे भाष्य के विवरण में देखें ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है [कि प्रत्येक पशु में सब अवदानों को करके द्वितीय आदि के सब अवदान किये जायें] । दैवत अवदानों से दैवत अवदानों का, सौविष्टकृत अवदानों से सौविष्टकृत अवदानों का और ऐड अवदानों से ऐड अवदानों का अनुसमय करना चाहिये [अर्थात् सभी पशुओं में दैवत अनुदान करके सभी में सौविष्टकृत अवदान किये जायें और तत्पश्चात् सभी पशुओं में ऐड अवदान किये जायें] । किस हेतु से ? [१७ प्राजापत्य पशुओं का] एक कर्म होने से । इस प्रकार सहप्रयोग सिद्ध होता है । और जो कहा कि वचन से प्रकृति में कृत्स्न अवदान किये गये । 'दैवत अवदान करके उसी समय [उन का] होम नहीं करना चाहिये, सौविष्टकृत अवदान करने चाहियें । सौविष्टकृत अवदान करके उसी समय होम नहीं करना चाहिये ऐड अवदान करने चाहियें' यह प्रकृति में सुना जाता है । वह (=प्रकृति में उक्त) यहां (=१७ पशुओं में) दैवत अवदानों से दैवत अवदानों का अनुसमय करते हुए प्राकृत धर्म बाधित नहीं होता । दैवत अवदान करके उनका होम नहीं करता है, सौविष्टकृत अवदान करता है । अनन्तर सौविष्टकृत अवदान करके उन का होम नहीं करता है, ऐड अवदान करता है । इसलिये पदार्थमात्र से अनुसमय जानना चाहिये ।

विवरण—**ऐककर्म्यात्**—पूर्व मी० ५।२। अधि १ (पृष्ठ १४७६) में एक वचन उद्धृत किया है—**वैश्वदेवीं कृत्वा पशुभिश्चरन्ति** । इस वचन से सप्तदश पशु के अङ्गों के एक साथ होम का निर्देश होने से सप्तदश पशुयाग एक कर्म है । **सहकृतं भवति**—एक कर्म होने से ही सह प्रयोग सिद्ध होता है । **वचनात् प्रकृतौ कृत्स्नावदानम्**—प्रकृति में दैवत सौविष्टकृत और ऐड सभी का कृत्स्न अवदान जिस वचन से कहा गया है वह स्वयं भाष्यकार ने उद्धृत किया है—**दैवतान्यवाय इत्यादि नैव प्राकृतं धर्मं बाधेत**—प्राकृत धर्म यही है कि 'दैवत अवदानों के पश्चात् सौविष्टकृत अवदान करे और तत्पश्चात ऐड अवदान करे ।' यह धर्म सभी पशुओं में

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् ॥१२॥ (उ०)

एवं मनोतामन्त्रस्तन्त्रं भविष्यति । इतरथा पर्यायेणैव स्यात् । तस्माद् दैवतैर्दैवतानां, सौविष्टकृतैः सौविष्टकृतानाम्, ऐडैरैडानामिति ॥१२॥ **दैवताद्यवदानेषु पदार्थानुसमयाधिकरणम् ॥६॥**

—:०:—

[नानबीजेषु कृष्णाजिनास्तरणादि—तण्डुलप्रक्षालननिनयनान्तेनानुसमयाधिकरणम् ॥७॥]

अस्ति राजसूये नानाबीजेष्टिः—**अग्नये गृहपतयेऽसितानामष्टाकपालं** निवपेत्, **सोमाय वनस्पतये श्यामाकं चरुम्**[1] इत्येवमादि । अस्ति तु तत्र प्राकृतोऽवहन्तिः ।

एक साथ दैवत् अवदानों के पश्चात् सौविष्टकृत अवदान करने पर भी बाधित नहीं होता, क्योंकि दैवत के पश्चात् सौविष्टकृत तत्पश्चात् ऐड अवदान का प्रकृत्युक्त क्रम उपपन्न हो ही जाता है ॥११॥

मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थः—अवदानों के पदार्थानुसमय स्वीकार करने पर (मन्त्रस्य) 'मनोता' संज्ञक मन्त्र की (अर्थवत्त्वात्) अर्थवान् होने से (च) भी [अवदानों में पदार्थानुसमय मानना चाहिये] ।

व्याख्या—इस प्रकार (=अवदानों के पदार्थानुसमय पक्ष में] मनोता मन्त्र तन्त्र (=एक वार प्रयुक्त) होगा । अन्यथा [अवदानों के काण्डानुसमय पक्ष में प्रतिवार दैवत अवदानों के पश्चात्] पर्याय से ही [प्रयुक्त] होवे । इसलिये दैवत अवदानों के साथ दैवत अवदानों का, सौविष्टकृत अवदानों के साथ सौविष्टकृत अवदानों का और ऐड अवदानों का ऐड अवदानों के साथ [पदार्थानुसमय जानना चाहिये] ।

विवरण—**मनोतामन्त्रः**—इससे **त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता** (ऋ० ६।१।१; तै० ब्रा० ३।६।१०) इत्यादि सूक्त लक्षित होता है । सायण ने तै० ब्रा० ३।६।१० के आरम्भ में श्रौत वचन उद्धृत किया है—**यदाजानाति मनोतायै हविषोऽवदीयमानस्यानुब्रूहीति तदा मैत्रावरुणो मनोता मन्वाह स त्वं ह्यग्ने प्रथमः** ।

—:०:—

व्याख्या—राजसूय में नाना बीजों वाली इष्टि है—'गृहपति अग्नि के लिये असित (=काले) [व्रीहियों का] अष्टाकपाल का निर्वाप करे', 'वनस्पति सोम के लिये श्यामाक

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

तत्र संदेहः—किं तत्रैकमुलखलं पर्यायेण, उत यौगपद्येन बहूनीति ? कुतः संशयः? यदि कृष्णाजिनाधस्तरणादयः पृथक्पदार्थास्ततो भेदः। अथ कृष्णाजिनास्तरणादिस्तण्डुल-निर्वृत्त्यन्त एकः पदार्थस्ततस्तन्त्रमिति। किं तावत् प्राप्तम् ?

नानाबीजेष्वेकमुलूखलं विभवात् ॥१३॥ (उ०)

(=सामा=सावां) के चरु का निर्वाप करे]। वहां (=इस इष्टि में) प्राकृत (=प्रकृति से प्राप्त) अवहन्ति (=अवहनन क्रिया है)। उस में सन्देह है—क्या वहां एक ऊखल पर्याय से [होवे] अथवा युगपत् बहुत [ऊखल होवें] ? यह संशय किस हेतु से होता है ? कृष्णाजिन का [ऊखल के] नीचे बिछाना आदि पृथक् पदार्थ है तो [ऊखल का] भेद प्राप्त होता है। और यदि कृष्णाजिन का अधस्तरण आदि वाला और तण्डुल की निवृत्यन्त वाला एक पदार्थ है तो उससे [ऊखल का] तन्त्रत्व=एकत्व प्राप्त होता है। तो क्या प्राप्त होता है ?

विशेष—भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन हमें नहीं मिले। कुतूहलवृत्तिकार ने नाना बीजेष्टि के निम्न वचन उद्धृत किये हैं—

अग्नये गृहपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति कृष्णानां व्रीहीणाम्, सोमाय वनस्पतये श्यामाकं चरुम्, सवित्रे सत्यप्रसवाय पुरोडाशं द्वादशकपालमाशूनां व्रीहीणाम्, रुद्राय पशुपतये गावीधुकं चरुम्, बृहस्पतये वाचस्पतये नैवारं चरुम्, इन्द्राय ज्यैष्ठयाय पुरोडाशमेकादशकपाल महाव्रीहीणाम्, मित्राय सत्याय यवानां चरुम्, वरुणाय धर्मपतये यवमयं चरुम्। (द्र० तै० सं० १।८।१०,१; तत्र, मित्राय सत्यायाऽऽम्बानां चरुम्' पाठः)।

इन वाक्यों में कृष्णव्रीहि, श्यामाक (=सामा=सावां), आशु (=व्रीहि, गवीधुक[1], नीवार, महाव्रीहि और यव के पुरोडाश वा चरु का उल्लेख है। आपस्तम्ब श्रौत में राजसूय के प्रकरण में १८।२०।१० में नानाबीजेष्टि का वर्णन है।

आग्रयणेष्टि में भी नाना बीजों की हवियों का उल्लेख मिलता है (द्र० आप० श्रौत ६।२९।६)। यहां उलूखलमुसल के विषय में 'एकमुलूखलं मुसलं वा प्रतिबीजम्'(६।२९।११२)की व्याख्या में व्याख्याकारों ने जो विभिन्न मत लिखे हैं उन्हें प्रकृत अधिकरण के अन्त में लिखेंगे।

नानाबीजेष्वेकमुलूखलं विभवात्॥ १३॥

सूत्रार्थः—(नानाबीजेषु) अनेक बीजों वाली इष्टि में (विभवात्) पर्याय से अवहनन में समर्थ होने से (एकम्) एक (उलूखलम्) उलूखल होवे।

---

१. इस का अर्थ तै० सं० १।८।७।। में भट्टभास्कर ने 'तृणतण्डुल' किया है और सायण ने 'आरण्यधान्यविशेष'। इसके 'गवेधुक' और 'गवेध' नाम भी है। कोषकारों ने स्पष्ट अर्थ नहीं किया। यथा—मकरा अन्न, कोद्रव अन्न (कोदों), सांवा अन्न।

एकमिति । कुतः ? पर्यायेण विभवात् । एकस्योपादानेन सिद्धेर्द्वितीयस्योपादानमनर्थकं स्यात् । तस्मात् तन्त्रमिति ॥१३॥

विवृद्धिर्वा नियमानुपूर्व्यस्य तदर्थत्वात् ॥१४॥ (पू०)

विवृद्धिरुलूखलानां स्यात् । नियतं ह्यानुपूर्व्यं पाठकृतं सहत्वे सत्युपपद्यते । पदार्थानां चानुसमयः । पृथक् पदार्थाश्चाधस्तरणादयः, यतीभावस्य पर्यवसानात् । अधस्तरणादेश्च पदैरभिधानात् । तस्माद् विवृद्धिरिति ॥१४॥

विशेष—कुतूहलवृत्तिकार के मत में सूत्र में 'उलूखल' शब्द कृष्णाजिन और मुसल का उपलक्षक है। उलूखल को कृष्णाजिन पर रख कर उसमें हविद्रव्य व्रीहि आदि डाल कर मूसल से कूटा जाता है। अतः ऊखल के एक होने पर कृष्णाजिन और मूसल का एकत्व स्वतः सिद्ध है। उपलक्षण मानने की आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या—एक [उलूखल] प्राप्त होता है। **किस हेतु से ? पर्याय से [नाना बीजों के अवहनन में] समर्थ होने से। एक [उलूखल] के ग्रहण से ही कार्य सिद्ध होने पर अन्य का ग्रहण अनर्थक होवे। इसलिये उलूखल तन्त्र [एक] है।**

विवृद्धिर्वा नियमानुपूर्व्यस्य तदर्थत्वात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उपस्थापित पक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् 'नानाबीजेष्टि में उलूखल एक होवे' यह ठीक नहीं है। (विवद्धिः) उलूखल की बीजों के अनुसार वृद्धि अर्थात् भेद होवे। (नियमानुपूर्व्यस्य) पाठकृत नियत आनुपूर्व्य के (तदर्थत्वात्) उस-उस कर्म के लिये होने से।

विशेष—इसका भाव यह है कि **कृष्णाजिनमास्तृणाति उलूखलमधिवर्तयति** आदि वचनों का पाठकृत नियत आनुपूर्वी उस-उस कर्म के पृथक्त्व बोधन के लिये है। जब ये पृथक् पदार्थ हैं तो प्रत्येक हवि द्रव्य के लिये कृष्णाजिन ऊखल मूसल आदि की वृद्धि करनी होगी।

कुतूहलवृत्तिकार ने इस सूत्र में **'नियमादानुपूर्व्यस्य'** पाठ मानकर 'अनुष्ठानक्रम का द्वितीय पाद के आरम्भ में नियमन करने से (तदर्थत्वात्) **कृष्णाजिनमास्तृणाति उलूखलमधिवर्तयति** इत्यादि से उनके पृथक् ही अभिधेय होने से अर्थात् विधिभेद से पृथक् पदार्थ होने से इनकी वृद्धि होवे' ऐसा व्याख्यान किया है।

व्याख्या—**उलूखलों की वृद्धि होवे। नियत पाठ कृत आनुपूर्व्य सहत्व के होने पर ही उपपन्न होता है। पदार्थों का अनुसमय है। [कृष्णाजिन का] अधस्तरण आदि पृथक् पदार्थ हैं, प्रत्येक में यतीभाव (=प्रयत्नों) के समाप्त (=पूर्ण) होने से और अधस्तरणादि पदों से उन का कथन होने से। इसलिये विवृद्धि होवे।**

एकं वाऽऽतण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थत्वात् ॥१५॥ (उ०)

एकं वोलूखलं पर्यायेण स्यात् । एको ह्यधस्तरणादिस्तण्डुलपर्यन्तः पदार्थः । स्तरणादिर्हन्तेरुपक्रमः फलीकरणान्तश्च तस्यैव शेषः । यतो हन्तिस्तण्डुलनिष्पत्त्यर्थः । एवं स्तरणादीनां हन्तेश्च नादृष्टार्थता भविष्यति । तस्मात् तन्त्रमिति ॥१५॥ **नाना-बीजेष्टौ उलूखलादीनां तन्त्रताधिकरणम् ॥७॥**

—:०:—

एकं वाऽऽतण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थत्वात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' पद पूर्व सूत्र में उपस्थापित वृद्धि पक्ष की निवृत्ति के लिए है। (एकम्) एक उलूखल ही पर्याय से होवे (आतण्डुलभावात्) तण्डुलनिष्पत्तिपर्यन्त (हन्तेः) 'व्रीहिन् अवहन्ति' में हनन क्रिया के (तदर्थत्वात्) तण्डुलनिष्पत्त्यर्थ होने से।

व्याख्या—एक ही ऊखल पर्याय से होवे। [कृष्णाजिन का] अधस्तरण आदि में जिस के हैं, वह तण्डुल [निष्पत्ति] पर्यन्त एक पदार्थ है। हनन क्रिया का [कृष्णाजिन के अधः] स्तरण से उपक्रम और फलीकरणरूप अन्त उसी का शेष है। क्योंकि हनन क्रिया तण्डुल निष्पत्त्यर्थ है। इस प्रकार स्तरणादि और हनन किया की अदृष्टार्थता नहीं होगी। इसलिये उलूखल तन्त्र है।

विवरण—एको ह्यधस्तरणादितण्डुलपर्यन्तः पदार्थः—इसका भाव यह है कि दर्शपौर्णमास में **कृष्णाजिनमधस्तात् स्तृणाति, तस्मिन्नुलूखलमधिवर्तयति, तस्मिन् हविरावपति, मुसलमादाय व्रीहीन् अवहन्ति (यावद् वैतुष्यम्) शूर्पेण त्रिःफली करोति** आदि वचनों से कृष्णाजिन का अधस्तरण, उस पर उलूखल का रखना, उसमें हवि=व्रीहि डालना, मूसल लेकर व्रीहि को कूटना (जब तक तुष रहित न हो जावे), उन्हें सूप में डाल कर सूप से तीन बार फलीकरण=तुषों को पृथक् करना आदि क्रियाएं कही हैं इनका उद्देश्य तडुण्ल-निष्पति (धान से छिलके दूर करना) है अतः यह सारा एक कर्म है। इसके एक कर्म होने से नाना बीजों के होने पर भी एक ही ऊखल से पर्याय से तुषविमोक कार्य हो जायेगा। इसलिये प्रतिबीज ऊखल की वृद्धि नहीं होती है।

विशेष—आग्रयणेष्टि के अन्तर्गत नानाबीजेष्टि के प्रकरण में आपस्तम्ब श्रौत ६।२९। १२ में कहा है—"**एकमुलूखलं मुसलं प्रतिबीजं वा।** इस सूत्र के धूर्तस्वामी कृत भाष्य की वृत्ति में रामाग्निचित् ने लिखा है—"प्रधान की समीपता की सिद्धि के लिये और प्रयोग को शीघ्र पूर्ण करने के लिये न्याय प्राप्त साधनान्तरों के उपादानार्थ **प्रतिबीजं वा** कहा है"। इसी सूत्र की वृत्ति में रुद्रदत्त ने लिखा है —"यहां ऊखल मूसल मात्र का निर्देश होने से इन दो की ही नानात्व का विकल्प है। इसलिये शूर्पादि एक-एक होते हैं। शूर्प और कृष्णाजिन एक होवे

[अग्नीषोमीये पशौ प्रयाजानुयाजानां पात्रभेदाधिकरणम् ।।८।।]

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः । तत्र श्रूयते—**पृषदाज्येनानुयाजान् यजति'** इति । तत्र संदेहः— किं प्रयाजानुयाजानामेकं पात्रमाज्यस्य पृषदाज्यस्य च धारणार्थमुत भिद्यते ? किं प्राप्तम् ? एकमिति । कुतः ? प्रकृतावेकं, प्रकृतिवदिहाप्येकेन भवितव्यम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

विकारे त्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थभेदात् स्यात् ।।१६।। (उ०)

ऐसा सत्याषाढ का मत है । यह 'विभूमान् पदार्थों के प्रदर्शन मात्र के लिये है' यह अन्यों का मत है—'शूर्प और उलूखल तीन-तीन (इस इष्टि में तीन बीज होने से) दृषद् दो' यह भारद्वाज का मत है (भार० श्रौत ६।१६।७-८) । इस प्रकार श्रौतसूत्रकारों ने यहां मीमांसक मत के विरुद्ध उखल आदि पदार्थों की यावद् बीज विवृद्धिमानी है । अन्यत्र भी अनेक प्रसंगों में मीमांसकों के न्यायसिद्ध मत की श्रौतसूत्रों अथवा याज्ञिकों द्वारा अवहेलना देखी जाती है । ऐसा ही एक प्रसंग आग्नेयं चतुर्धाकरोति वचन विहित चतुर्धाकरण के विषय में भी है । मीमांसक अग्नीषोमीय पुरोडाश का चतुर्धाकरण नहीं मानते, परन्तु याज्ञिक लोग अग्नीषोमीय का भी चतुर्धाकरण करते हैं । इस पर विशेष विचार मी० ३।१।३७, भाग २ पृष्ठ ७०६ के 'विशेष' के अन्तर्गत देखें ।।

—:०:—

व्याख्या – ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु है । वहां सुना जाता है—'पृषदाज्य से अनुयाजों का यजन करता है' । उसमें सन्देह है—क्या प्रयाज और अनुयाज के लिये एक पात्र आज्य और पृषदाज्य के धारण के लिये होवे अथवा भिन्न-भिन्न होवे ? क्या प्राप्त होता है ? एक पात्र । किस हेतु से ? प्रकृति में एक है, प्रकृति के समान यहां भी एक होना चाहिये । इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं –

विवरण—प्रकृतावेकम्—दर्शपौर्णमास में प्रयाज और अनुयाज के लिये उपभृत् संज्ञक एक पात्र है—**अष्टावुपभृति गृह्णाति यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्** (तै० ब्रा० ३।३।५) उपभृत् में आठ स्रुव घृत का ग्रहण करता है वह प्रयाज और अनुयाज के लिये हैं ।

विकारे त्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थभेदात् स्यात् ।।१६।।

सूत्रार्थः—(विकारे) अग्नीषोमीय पशुरूप विकृति में (तु) तो (अनुयाजानाम्) अनुयाजों के लिये (अर्थभेदात्) प्रयोजन भेद से (पात्रभेदः) पात्र की भिन्नता (स्यात्) होवे ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र० तै० सं ६।३।११।६।।

पात्रभेदः स्यात् । कुतः ? अर्थभेदात् । शुद्धस्य प्रयाजा अर्थः, पृषतोऽप्यनुयाजः। पृषति गृह्यमाणे प्रयाजानां वैगुण्यं, शुद्धेऽनुयाजानाम् । न चैकस्मिन् पात्रे विविक्तं शक्यं कर्तुम् । मर्यादायामपि क्रियमाणायां प्रदीयमानं संसृज्येत । अपि चाऽऽकारभेदादुपभृत उपभृत्त्वं विहन्येत । पाणिमात्रपुष्करा हि सा, एकपुष्करा च । अथोच्येत, पृषदाज्यमप्याज्यमेवेति न मिश्रत्वं दोषायेति । नैतदेवम् । प्रकृतावुत्पवनावेक्षणयोः प्रयोजनमेतत्, यदाज्यस्यापरेण द्रव्येणासंसर्गः । एवं चेदनुपपन्नं, यत्प्रयाजाः पृषदाज्येनेज्येरन्निति । अपि च, एवं सत्यवश्यं हविषः काचिन्मात्राऽपनीयते । न च शक्यं प्रयाजकार्येऽवसितेऽनुयाजार्थं ग्रहीतुम् । प्रकृतावेककालं ग्रहणम् । इहाप्येककालमेव कर्तव्यम् । तस्मात् पात्रभेद इति ॥१६॥ **अग्नीषोमीयपशौ प्रयाजानुयाजयोः पात्रभेदाधिकरणम् ॥८॥**

व्याख्या—पात्रभेद होवे । किस हेतु से ? अर्थ भेद से । शुद्ध [घृत] का प्रयाज याग प्रयोजन है और पृषत् (=पृषदाज्य=दधिमिश्रित) आज्य का अनयाज याग प्रयोजन है । [एक ही उपभृत् में प्रयाजार्थ घृत के साथ] पृषदाज्य के ग्रहण करने पर प्रयाज यागों का वैगुण्य होगा [अर्थात् दोनों के मिल जाने से प्रयाज याग शुद्ध घृत से न हो सकेंगे] । शुद्ध के ग्रहण करने पर अनुयाजों का वैगुण्य होगा । एक पात्र में [दोनों को] पृथक्-पृथक् नहीं कर सकते । [उपभृत् पात्र के मध्य में] मर्यादा (=दोनों की भिन्नता के लिये अवरोध) करने पर भी [याग के लिये दीयमान (=ग्रहण किया जाता हुआ) मिल जायेगा । और भी [मध्य में मर्यादा करने पर] आकार का भेद हो जाने से उपभृत् का उपभृत्त्व नष्ट हो जायेगा । वह हथेली के बराबर गड्ढे वाली और एक गड्ढे वाली होती है । बीच में मर्यादा करने पर हथेली के बराबर गड्ढे वाली और एक गड्ढे वाली नहीं होगी] । यदि कहो कि पृषदाज्य भी आज्य ही है इसलिये मिश्रत्व (=मिलना) दोष के लिये नहीं होगा । ऐसा नहीं है । प्रकृति में उत्पवन और अवेक्षण का प्रयोजन यह है—आज्य का अपर द्रव्य से असंसर्ग (=संसर्ग का अभाव) होना है । यदि ऐसा होवे=मिल जावें, तो यह उपपन्न नहीं होगा जो प्रयाज पृषदाज्य से यजन किये जायें । और भी, ऐसा होने पर अवश्य ही हवि की कुछ मात्रा न्यून हो जावे । और प्रयाजों का यजन पूर्ण हो जाने पर अनुयाजों के लिये [पृषदाज्य का] ग्रहण करना भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रकृति में [प्रयाज और अनुयाजों के लिये] एक काल वाला ग्रहण है । इसलिये यहां भी एक काल में ही ग्रहण करना चाहिये । इसलिये [अनुयाजों के लिये] पात्रभेद होता है ।

विवरण—पृषदाज्यमप्याज्यमेव—आज्य में दही मिलाया जाता है । अतः मिश्रित की जाने वाली वस्तु की अपेक्षा जिससे मिश्रण किया जाता है उसकी प्रधानता होती है । जैसे दूध में पानी मिलाने पर दूधपना बना ही रहता है । इस लिये दधिमिश्रित आज्य भी आज्य

[नारिष्ठहोमानामुपहोमपूर्वताधिकरणम् ॥६॥]

नक्षत्रेष्टि.[1] श्रूयते—'अग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद्'[2] इति। सोऽत्र जुहोति—'अग्नये स्वाहा, कृत्तिकाभ्यः स्वाहा'[3] इत्येवमादिहोमाः समाम्नाताः। सन्ति तु प्रकृतौ नारिष्ठहोमाः। तत्र संदेहः—किं नारिष्ठहोमाः पूर्वमुतोपहोमा इति संशये उच्यते—

ही है। **उत्पवनावेक्षणयोः प्रयोजनम्**—प्रकृति में '**सवितुस्त्वा**' **इत्याज्यमुत्पुनाति** (कात्या० श्रौत २।७।७) के अनुसार दो पवित्र संज्ञक कुशा के तृणों से आज्य के उत्पवन का, तथा **आज्यमवेक्षते तेजोऽसीति यजमानो वा** (कात्य० श्रौत २।७।८) से अध्वर्यु अथवा यजमान द्वारा आज्य का अवेक्षण (=देखना) विहित है। इनका प्रयोजन भाष्यकार ने 'अन्य द्रव्य से असंसर्ग' अर्थात् घृत में यदि कोई तिनका या अन्य द्रव्य पड़ा हो तो उसे दूर करना रूप दृष्ट प्रयोजन बताया है। याज्ञिक लोग इनका अदृष्ट प्रयोजन मानते हैं। **अवश्यं हविषः काचिन्मात्रा ऽपनीयेत**—प्रयाजयाग के लिये उपभृत् में चतुर्गृहीत आज्य में अनुयाजार्थ पृषदाज्य का संसर्ग हो जावे तो होमकाल में जुहू में जितना अंश दधि का आ जायेगा उतना प्रयाज की आज्यरूप हवि न्यून हो जायेगी। **प्रकृतावेककालं ग्रहणम्**—आज्यस्थाली से चार स्रुवा घी ध्रुवा संज्ञक स्रुक् में ग्रहण के साथ ही प्रयाज और अनुयाजों के लिये इकट्ठा आठ स्रुवा घी उपभृत् में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार प्रयाज और अनुयाजों के लिये एक काल में आठ स्रुवा घी को उपभृत् में ग्रहण करते हैं उसी प्रकार विकृति में भी प्रयाज के लिये घृत और अनुयाज के लिये पृषदाज्य का गुण समकाल में होना चाहिये। ।१६॥

—:०:—

व्याख्या—नक्षत्रेष्टि सुनी जाती है—'अग्निकृत्तिकाओं के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करें'। वह यहां होम करता है—अग्नि के लिये स्वाहा, कृत्तिकाओं के लिये स्वाहा' इत्यादि होम पठित हैं। प्रकृति में नारिष्ठ होम हैं। वहां सन्देह है—क्या नारिष्ठ होम पहले हों अथवा उपहोम? इस सन्देह में कहते हैं—

विवरण—**नक्षत्रेष्टिः**—यह तै० ब्रा० ३।१।४ में तथा बौध० श्रौत २८।३ में पठित है। **प्रकृतौ नारिष्ठहोमाः**—दर्शपूर्णमास में **नारिष्ठहोमान् जुहोति** (द्र० आप० श्रौत २।२०।६)[4]। इन होमों के मन्त्र भी इसी सूत्र में तथा अगले सूत्र में पठित हैं। **उत उपहोमाः**—यहां उपहोम से नक्षत्रेष्टि के **अग्नये स्वाहा** इत्यादि होम कहे गये हैं।

---

१. अग्नौ नक्षत्रेष्टयामिति पा०।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र० स्वल्प भेदेन तै० ब्रा० ३।१।४।१॥

३. तै० ब्रा० ३।१।४।१॥

४. धूर्तस्वामी-भाष्य सहित मैसूर मुद्रित आप० श्रौत २।१९।६ में यह प्रकरण है।

प्रकृते पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषाम्नानम् ॥१७॥ (उ०)

प्राकृतं पूर्वं वैकृतमन्ते स्यादिति। कुतः? चोदितस्य परिपूर्णस्य शेष आम्नायते। यथा जातस्य पुत्रस्य क्रीडनकम् ॥१७॥

प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषाम्नानम् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(प्रकृतेः) प्राकृत नारिष्ठ होमों के (पूर्वोक्तत्वात्) प्रथम पठित होने से (अपूर्वम्) अपूर्व=उत्तरपठित (अन्ते) अन्त में (स्यात्) होवे। (अचोदितस्य) अनुत्पन्न वैकृत कर्म के (शेषाम्नानम्) शेष=अङ्गभाव का पाठ संभव (नहि) नहीं है।

विशेष—सूत्र में 'प्रकृतेः' निर्देश **ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति** (निरु० २।५) के अनुसार विना तद्धित प्रयोग के भी ताद्धित अर्थ से युक्त है। अतः अर्थ होगा 'प्राकृतानाम्' प्रकृति में पठित नारिष्ठहोमों के।

इस सूत्र का भाव यह है कि दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत पठित नारिष्ठ होम तो प्रकृति के उत्पत्ति वाक्य **दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्** के साथ कथं भावाकाङ्क्षा द्वारा संवद्ध हैं। पूर्ण प्रकृति के विधान के अनन्तर ही **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** चोदकवचन से ये धर्म नक्षत्रेष्टि में उपस्थित होते हैं। जिस समय प्रकृति का उपदेश हुआ है उस समय नक्षत्रेष्टि उत्पन्न ही नहीं थी, उस का उपदेश नहीं था। अतः पश्चात् उपदिष्ट नक्षत्रेष्टि के उपहोम प्रकृति=दर्शपूर्णमास के अङ्ग नहीं हो सकते। इसलिये प्राकृत नारिष्ठ होम के पश्चात् नक्षत्रेष्टि विहित होम होंगे।

व्याख्या—**प्राकृत (=प्रकृति में पठित नारिष्ठ होम) पहले होवें और वैकृत (=विकृति=नक्षत्रेष्टि में पठित उपहोम [नारिष्ठ होमों के] अन्त में होवें। किस हेतु से परिपूर्ण (=निराकाङ्क्ष) चोदित (=उक्त=कथित) का शेष पढ़ा जाता है। यथा उत्पन्न हुए बालक का खिलौना।**

विवरण—चोदितस्य परिपूर्णस्य शेषः—इस का भाव यह है कि जो वैकृतकर्म कथं भावाकाङ्क्षा होने पर पूर्व प्राकृत उपकारों से निराकाङ्क्ष हो गया है वह उत्तर काल में अपूव (=वैकृत) अङ्ग से सम्बद्ध होता है। इसलिये जिस क्रम से प्राकृत कर्म ज्ञात हैं। उसी क्रम से करने के पश्चात् वैकृत कर्म करना चाहिये (द्र० टुप् टीका)। **जातस्य पुत्रस्य क्रीडनकम्**—इस दृष्टान्त का प्रयोजन यह है कि जैसे प्रकृति यागान्तर्गत समस्त कर्म एक में समुच्चित हैं वैसे ही गर्भाधान से लेकर बालक के प्रसव होने तक एक स्थिति है अतः बाह्य क्रीडनक आदि वस्तु उत्पन्न हुए बालक के लिये होती है उसी प्रकार वैकृत कर्म की प्राप्ति भी प्राकृत कर्मों के अनन्तर होगी।

मुख्यानन्तर्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रुतित्वादशब्दत्वात् प्राकृतानां व्यवायः स्यात् ॥१८॥ (पक्षान्तर)

आत्रेयो मन्यते स्म, मुख्यानन्तर्यं वैकृतस्य, पश्चात्तु प्राकृतं प्रयुज्येत । प्रधानानन्तरं वैकृतस्य पाठः प्रत्यक्षः । तस्मात् पूर्वमुपहोमास्ततो नारिष्ठहोमा इति । प्राकृतानां व्यवायः स्यात् । यतस्ते न श्रूयन्ते ॥१८॥

अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥१९॥ (उ०)

मुख्यानन्तर्यमात्रेय······व्यवायः स्यात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(आत्रेय) आत्रेय आचार्य मानते हैं कि वैकृत उपहोमों का (मुख्यानन्तर्यम्) मुख्य=प्रधान कर्म से आनन्तर्य होना चाहिये । (तेन) नक्षत्रेष्टि के मुख्य कर्म=अष्टाकपाल पुरोडाश याग और उपहोम दोनों की (तुल्यश्रुतित्वात्) तुल्य श्रुति=समानरूप से उपदेश होने से तथा (अशब्दत्वाद्) प्राकृत नारिष्ठ होम के प्रत्यक्ष पाठ न होने अर्थात् नारिष्ठ होमों की प्राप्ति तो चोदक वचन से होती है । अतः यदि उपहोमों से पूर्व नारिष्ठ होम करें तो विकृति में साक्षात् पठित मुख्य होम और उपहोमों के मध्य (प्राकृतानाम्) प्राकृत नारिष्ठ होमों का (व्यवायः) व्यवधान (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—आत्रेय मानते है कि वैकृत (=उप होम) का मुख्य से आनन्तर्य होवे और पश्चात् प्राकृत (=नारिष्ठ होम) प्रयुक्त होवे । प्रधान के अनन्तर वैकृत [उपहोम] का पाठ प्रत्यक्ष है । इसलिये पहले उपहोम, तत्पश्चात् नारिष्ठ होम होवें । प्राकृतों (=नारिष्ठ होमों का व्यवाय होवे । यतः वे [प्रत्यक्ष] नहीं सुने जाते हैं ॥१८॥

अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(बादरायणः) बादरायण आचार्य मानते हैं कि उपहोम (अन्ते) प्राकृत कर्म =नारिष्ठ होम के अन्त में (तु) ही होवें । (तेषाम्) नारिष्ठ होमों के (प्रधानशब्दत्वात्) प्रधान शब्द वाले होने से । [स्पष्टीकरण विशेष में देखें] ।

विशेष—प्रधानशब्दत्वात् का भाव यह है कि **अग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्** इस प्रधान कर्म को **किं, केन, कथं कर्त्तव्यम्** रूप आकाङ्क्षा होती है । इस की पूर्ति समीप पठित **अग्नये स्वाहा** आदि से नहीं होती है । अतः वह प्रकृति से अङ्ग कपाल को ग्रहण करता है । इस प्रकार प्राकृत कर्मों का प्रधान के साथ अन्वय वैकृत उपहोमों से पूर्व ही हो जाता है । प्रधान का प्रकृत अङ्गों से अन्वय होने के पश्चात् वैकृत कर्मों का प्रधान के साथ अन्वय होता हैं । इस प्रकार नक्षत्रेष्टि के प्रधान शब्द से नारिष्ठ होमों के परिगृहीत होने से उनका प्रधान शब्दत्व है ।

बादरायणस्त्वाचार्यो मन्यते स्म—अन्ते वैकृतानां प्रयोग इति । कुतः ? प्रधानशब्दगृहीतत्वात् प्राकृतानामङ्गानाम् । प्रधानशब्दगृहीतानि हि प्राकृतान्यङ्गानि । तस्माच्च प्रधानशब्दात् परमेतत्, **सोऽत्र जुहोति, अग्नये स्वाहा कृत्तिकाभ्यः स्वाहा** इत्येवमादि । तस्मात प्रत्यक्षादेव क्रमान्नारिष्ठहोमेभ्यः पराञ्च उपहोमा इति ॥१९॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२०॥ (उ०)

अन्यार्थोऽपि चैतमर्थं दर्शयति— **अध्वरस्य पूर्वमथाग्नेरुपप्रैत्येतत् कर्म, यदग्निकर्म**[1] इति । पश्चात् समाम्नातस्य पश्चात् प्रयोगं दर्शयति ॥२०॥ **नारिष्ठहोमस्योपहोमपूर्वताधिकरणम् ॥९॥**

—:o:—

व्याख्या—बादरायण आचार्य तो मानता है—अन्त में वैकृतों का प्रयोग होवे । किस हेतु से ? प्राकृत अङ्गों के प्रधान शब्द से गृहीत होने से । प्रधानशब्द से गृहीत ही प्राकृत अङ्ग हैं । इस से प्रधान शब्द से परे यह है—सोऽत्र जुहोति अग्नये स्वाहा कृत्तिकाभ्यः स्वाहा इत्यादि । इस कारण प्रत्यक्ष क्रम से ही नारिष्ठ होमों से परे उपहोम होते हैं ।

विवरण—प्रधानशब्दगृहीतत्वात् अङ्गानाम् तथा प्रधानशब्दात् परमेतत् सोऽत्र जुहोति—इन वाक्यों का स्पष्टीकरण सूत्रार्थ के नीचे विशेष के अन्तर्गत व्याख्या के अनुसार समझें ॥१९॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(अन्यार्थदर्शनम्) अन्य अर्थ का दर्शन (च) भी (तथा) इसी प्रकार उपपन्न होता है ।

विशेष—'दर्शन' शब्द में कर्त्ता में ल्युट् मानने पर अर्थ होगा—'अन्य अर्थ भी इसी प्रकार के अर्थ को दर्शाता है' । द्र० भाष्य, कुतूहलवृत्ति ।

व्याख्या—अन्य अर्थ भी इसी अर्थ को दिखाता है—**'अध्वर का पूर्व में अनन्तर अग्नि (=अग्निचयन) का उपक्रमण करता है यह कर्म जो अग्नि का कर्म है'** । यह [वचन] पठित का पश्चात् प्रयोग दर्शाता है ।

विवरण—अध्वरस्य ...... यदग्निकर्म—इस वचन के उपलब्ध न होने से हम इस की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सके । कुतूहलवृत्तिकार ने भाष्यकार द्वारा उद्धृत अर्थ वाला अन्य वचन उद्धृत किया है—**अध्वरस्य पूर्वमथाग्नेरुपाधिह्येतत् कर्म यदाग्निकम्** (अनुपलब्धमूल) कुतूहलवृत्तिकार ने इसे साग्निचित्यकर्म (=अग्निचयन सहित सोमयाग) का वचन कहा है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

[विदेवनादीनामभिषेकपूर्वकालत्वाधिकरणम् ॥१०॥]

राजसूये श्रूयते— **अक्षैर्दीव्यति**[1], **शौनःशेपमाख्यापयति**[2], **अभिषिच्यते**[3] इति । तत्र संदेहः—किं विदेवनादीनामन्ते प्रयोग उताभिषेकात् पूर्वमिति ? किं प्राप्तम् ? **अन्ते तु बादरायणः**[4] इत्यन्ते प्रयोगः कर्तव्य इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

कृतदेशात् तु पूर्वेषां स देशः स्यात् तेन प्रत्यक्षसंयोगान्न्याय-मात्रमितरत् ॥२१॥ (उ०)

इस की व्याख्या इस प्रकार की है—"सोम याग सम्बन्धी दीक्षाहुति आदि कर्मों का और अग्निचयन सम्बन्धी **आकूतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा** इत्यादि दीक्षाहुति आदि कर्मों का सन्निपात (=एक साथ उपस्थिति) होने पर अध्वर=सोम का कर्म पहले करना चाहिये । पश्चात् आग्निक (=अग्निचयन दीक्षा सम्बन्धी) कर्म । 'हि' यतः यह आग्निक कर्म उपाधि=औपाधिक है । अग्नि के निमित्त होने पर पश्चात् पढ़ा गया है । इस वचन से पश्चात् पठित का पश्चात् प्रयोग हेतुत्व की उक्ति से उक्त (सूत्र १९ पठित) न्याय सूचित होता है" । इस व्याख्या से भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन का अभिप्राय समझा जा सकता है ॥२०॥

—:o:—

व्याख्या—राजसूय में सुना जाता है—'अक्षों से खेलता है, शुनःशेप सम्बन्धी आख्यान को कहता है, अभिषिक्त होता है ।' यहाँ सन्देह होता है- क्या दिदेवन (=जुआ खेलना) आदि का अभिषेक के अन्त में प्रयोग होवे अथवा अभिषेक से पूर्व ? क्या प्राप्त होता है ? अन्ते तु वादरायणः (मी० ५।२।१९) नियम से अन्त में प्रयोग करना चाहिये । ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

विवरण—जुआ खेलना, शौनशेप आख्यान का श्रावण ऐसा उपक्रम करके अन्त में अभिषेक कहा है । अभिषेक का **माहेन्द्रस्य स्तोत्रं प्रत्यभिषिच्यते** से माहेन्द्र स्तोत्र के काल में अपकर्ष किया है अतः सन्देह होता है कि दिदेवनादि कर्म अभिषेक सम्बन्धी सकल प्राकृत अङ्गों के पश्चात् होवे अथवा यहां जिस क्रम से पढ़े हैं । उस के अनुसार अभिषेक से पूर्व होवें ।

कृतदेशात् तु पूर्वेषां····· न्यायमात्रमितरत् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द वाक्यालंकार मात्र में है । (कृतदेशात्) निश्चित कर दिया गया है देश जिस का, उस अभिषेक से (पूर्वेषाम्) अभिषेक से पूर्व पठित विदेवनादि का (सः)

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—'पञ्चाक्षान् राज्ञे प्रयच्छति । आप० श्रौत १८।१९।५॥
२. शौनःशेपमाख्यापयते । तै० ब्रा० १।७।१०।६॥ आप० श्रौत १८।१९।१०॥
३. अभिषेकार्थं तै० सं० १।८।१४ द्रष्टव्या । ४. मी० ५।२।१९॥

कृतदेशादभिषेकात् पूर्वं तु प्रयोगः। कृतदेशो ह्यभिषेकः—**माहेन्द्रस्य स्तोत्रं प्रत्यभिषिच्यते**[1] इति। प्रत्यक्षानुग्रहायाभिषेकात् पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। न्यायमात्रमितरत्—**अन्ते तु बादरायण**[2] इति ॥२१॥ **विदेवनादीनामभिषेकपूर्वताधिकरणम्** ॥१०॥

—:o:—

[सावित्रहोमादीनां दीक्षणीयापूर्वकालत्वाधिकरणम् ॥११॥]

अस्ति अग्निः—**य एवं विद्वानग्निं चिनुते**[3] इति। तत्र दीक्षणीयायाः पूर्वं सावित्रहोमाः, उखासंभरणम्, इष्टकाः, पशुश्चेत्येतदाम्नातम्। किं तदेव पूर्वं कर्तव्यमुत दीक्षणीयेति ? किं प्राप्तम् ? वैकृतानामन्ते प्रयोगः—**अन्ते तु बादरायणः**[2] इति। एवं प्राप्त ब्रूमः—

वह (देशः) देश (स्यात्) होवे (तेन) उस अभिषेक के साथ (प्रत्यक्षसंयोगात्) प्रत्यक्ष संयोग होने से। (इतरत्) बादरायण के मतानुसार अन्त में होवे यह (न्यायमात्रम्) न्यायमात्र अर्थात् न्यायगम्य होने से अनुमान मात्र है।

व्याख्या—नियत किया गया है देश जिसका उस अभिषेक से पूर्व प्रयोग होवे। अभिषेक नियत देशवाला है—'माहेन्द्र स्तोत्र के प्रति अभिषेक किया जाता है। प्रत्यक्ष के अनुग्रह के लिये अभिषेक से पूर्व [विदेवनादि] प्रयुक्त किये जावें। न्यायमात्र अन्य है—'अन्त में बादरायण [मानता है]' यह कथन।

विवरण—माहेन्द्र स्तोत्रं प्रति—यहां प्रति कर्मप्रवचनीय लक्षण अर्थ में है (द्र० अष्टा० १।४।९०) माहेन्द्र स्तोत्र को लक्षित करके अर्थात् जब माहेन्द्र स्तोत्र का पाठ हो रहा है उस समय अभिषेक करे ॥२१॥

—:o:—

व्याख्या—अग्नि [चयन का विधान] है—'जो विद्वान् इस प्रकार अग्नि का चयन करता है।' वहां (=अग्निचयन में) दीक्षणीयेष्टि से पूर्व सावित्र होम, उखा सम्भरण[4], इष्टकाएं और पशु याग पढ़े गये हैं। क्या यह ही पूर्व करना चाहिये अथवा दीक्षणीया ? क्या प्राप्त होता है ? वैकृत [विकृति में पठित] कर्मों का अन्त में प्रयोग होता है—अन्ते तु बादरायणः (मी० ५।२।१९ के नियम से)। ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. मी० ५।२।१९॥ ३. तै० सं० ५।५।२।१॥

४. उखा नामक पात्र के निर्माण के लिये उपयोगी द्रव्य का जुटाना=इकट्ठा करना (द्र० कात्या० श्रौत १६।२।१-६) उखा पात्र में अग्नि का स्थापन करके उसे रस्सियों से बांध कर यजमान गले में लटकाता है। जैसे कश्मीर के लोग शीतकाल में काँडी में अग्नि रख कर उसे गले में लटकाते हैं।

प्राकृताच्च पुरस्ताद्यत् ॥२२॥ (उ०)

पूर्वं सावित्रहोमाः, इष्टकाः, पशुरुखासंभरणं च। कुतः ? प्रत्यक्षपाठात् । पुनस्तत्र दीक्षणीयाऽऽम्नाता, तस्याश्च पुरस्तात् सावित्रहोमा इष्टकाः, पशुरुखासंभरणं च। तस्मात् तेषां पूर्वं प्रयोग इति ॥२२॥ **सावित्रहोमादीनां दीक्षणीयापूर्वप्रयोगधिकरणम् ॥११॥**

—:०:—

विवरण—सावित्र होमाः—इन भाष्यकारोक्त कर्मों के वचन कुतूहलवृत्तिकार ने इस प्रकार उद्धृत किये हैं—**सावित्राणि जुहोति** (=सावित्र होम करता है), **उखां सम्भरति** (=उखा की निष्पत्ति के लिये सामग्री जुटाता है), **इष्टकाः करोति** (=चयन के लिये ईंटें बनाता है), **वायव्येन पशुना यजते** (=वायु देवता वाले पशु से यजन करता है), **दीक्षणीयान् निर्वपति** (आग्नावैष्णव एकादशकपाल, अदिति के लिये घृत में चरु और वैश्वानर द्वादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है)। **तदेव.....दीक्षणीया**—यहां सन्देह यह है कि सावित्रेष्टि आदि कर्मों का दीक्षणीयेष्टि से पूर्व पाठ होने से इन कर्मों को पहले करें अथवा प्रकृति (=अग्निष्टोम) से प्राप्त दीक्षणीयेष्टि को पहले करें। **वैकृतानामन्ते**—पूर्व नवम अधिकरण में कहा है कि प्रकृति से प्राप्त कर्मों को करके विकृति में पठित कर्मों को करना चाहिये। इस से अग्निचयन में पठित सावित्रहोमादि का दीक्षणीयेष्टि के पश्चात् प्रयोग होना चाहिये।

प्राकृताच्च पुरस्तात् यत् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(च) 'च' पद **स देशः स्यात्** पदों के अनुकर्षण के लिये है। (यत्) जो वैकृत सावित्र होमादि कर्म (प्राकृतात्) प्रकृति से प्राप्त दीक्षणीयेष्टि से (पुरस्तात्) पहले पठित हैं। उन का [स देशः स्यात्] वही उन का स्थान होवे। अर्थात् सावित्र होमादि कर्म दीक्षणीयेष्टि से पूर्व होवें।

व्याख्या—पहले सावित्र होम, इष्टकाएं, पशुयाग और उखासंभरण करने चाहियें। किस हेतु से ? प्रत्यक्ष पाठ होने से। वहां (=अग्निचयन में) दीक्षणीयेष्टि पुनः पढ़ी गई है और उसके पहले सावित्र होम, इष्टकाएं, पशुयाग और उखासंभरण पढ़े गये हैं। इसलिये उन [सावित्र होमादि] का पूर्व प्रयोग होना चाहिये ॥२२॥

विवरण—पुनस्तत्र दीक्षणीयाऽऽम्नाता—इस का भाव यह है कि अग्निचयन में प्रकृति (=अग्निष्टोम) से दीक्षणीयेष्टि के प्राप्त होने पर उस का पुनः पाठ होने से यहां प्रकृति से चोदकवचन द्वारा दीक्षणीया प्राप्त नहीं होती है। अतः यहां पठित दीक्षणीया भी सावित्र होमादि के समान वैकृत कर्म है। इसलिये इनमें पूर्व उक्त नवमें अधिकरण का **अन्ते तु बादरायणः** न्याय

[दीक्षितसंस्काराणां रुक्मप्रतिमोचनादिपूर्वभाविताधिकरणम् ॥१२॥

अग्नौ दीक्षणीयायाः परतो रुक्मप्रतिमोचनादि, आम्नातम्। तस्मिन्नेव क्रमे चोदकेन दीक्षितसंस्काराः प्राप्ताः। तत्र संदेह—किमनियम उत पूर्वं रुक्मप्रतिमोचनादि, उत दीक्षितसंस्कारा इति? किं प्राप्तम्? अनियमः। अथवा यथा प्रत्यक्षपाठक्रमाद् दीक्षणीयायाः पुरत उखासंभरणादय एवं रुक्मप्रतिमोचनादीनीति। एवं प्राप्ते, ब्रूमः—

संनिपातश्चेद् यथोक्तमन्ते स्यात् ॥२३॥ (उ०)

दीक्षितसंस्काराः पूर्वं कर्तव्या इति। कुतः? दीक्षणीयां प्रति यः पाठक्रमः, यथा च चोदकः, तथोभयेऽपि परस्ताद् दीक्षणीयायाः कार्याः। यस्तेषां परस्परापेक्षः क्रमस्तत्र न कश्चिदुखासंभरणस्येव प्रत्यक्षः पाठक्रमः पूर्वत्वं साधयति। अस्ति तु संस्काराणां प्रकृतौ पूर्वं पाठः विकृतौ रुक्मप्रतिमोचनस्योत्तरः। तेन यथोक्त एव क्रमः

नहीं लगता। इस से यहां सावित्र होमादि को प्रत्यक्षपाठानुसार दीक्षणीयादि से पूर्व ही करना चाहिये ॥२२॥

—:०:—

व्याख्या—अग्नि चयन में दीक्षणीयेष्टि के पश्चात् रुक्मप्रतिमोचन (=सुवर्ण को सूत्र में पिरोकर कानों में लटकाना) आदि कर्म पठित हैं। उसी क्रम में चोदकवचन से दीक्षित के संस्कार प्राप्त होते हैं। इस में सन्देह है—क्या अनियम है अथवा पहले रुक्मप्रतिमोचनादि कर्म होवें अथवा दीक्षित संस्कार [पहले होवें]? क्या प्राप्त होता है? अनियम। अथवा जैसे प्रत्यक्ष पाठक्रम से दीक्षणीयेष्टि से पूर्व उखासंभरणादि कहे हैं वैसे ही रुक्मप्रतिमोचनादि [पाठक्रम से चोदक प्राप्त दीक्षित संस्कारों से पूर्व होवें]। ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

सन्निपातश्चेद् यथोक्तमन्ते स्यात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(सन्निपातश्चेत्) यदि दो कार्यों का सन्निपात=सह उपस्थिति होवे तो (यथोक्तम्) जैसा कहा है वैसे ही वैकृत कर्म रुक्मप्रतिमोचन (अन्ते) अन्त में (स्यात) होवे। [स्पष्टता के लिये भाष्य व्याख्या देखें]।

व्याख्या—दीक्षित संस्कार [रुक्मप्रतिमोचनादि से] पूर्व करने चाहियें। किस हेतु से? दीक्षणीयेष्टि के प्रति जो पाठ क्रम है और जैसे चोदक [वचन से दीक्षित संस्कार प्राप्त होता है] उस प्रकार दोनों ही दीक्षणीयेष्टि के पश्चात् करने चाहियें। जो उन का परस्परापेक्ष क्रम है उस में उखासंभरण के समान कोई प्रत्यक्ष पाठ क्रम पूर्वत्व को सिद्ध नहीं करता प्रकृति

स्यादन्ते वैकृतमिति। अथ किमर्थं संनिपात आशङ्क्यते। [1]न चायं संनिपात एव व्यक्तः। असंदिग्धे संदिग्धवचनमेतत्। यथा—

ईजाना बहुभिर्यज्ञैर्ब्राह्मणा वेदपारगाः।

शास्त्राणि चेत्प्रमाणं स्युः प्राप्तास्ते परमां गतिम्॥ इति।

तस्मान्न दोष इति॥२३॥ **दीक्षितसंस्काराणां रुक्मप्रतिमोचनादिपूर्वभाविताधिकरणम्॥१२॥**

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये पञ्चमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

(=अग्निष्टोम) में [दीक्षित के] संस्कारों का पूर्व पाठ है, विकृति में रुक्म प्रतिमोचन का उत्तर पाठ है। इसलिये जैसा क्रम कहा है, होवे=वैकृत अन्त में होवे। [ऐसी स्थिति अर्थात् पूर्वन्याय से क्रम के सिद्ध होने के] अनन्तर सन्निपात की आशङ्का किसलिये होती है? यह सन्निपात ही व्यक्त नहीं है। असन्दिग्ध में भी यह सन्दिग्धवचन है। जैसे—'बहुत यज्ञों से यज्ञ करने वाले' वेद पारग ब्राह्मण 'यदि शास्त्र प्रमाण होवें तो वे' परम गति को प्राप्त हो गये'। इसलिये दोष नहीं है।

विवरण—शास्त्राणि चेत् प्रमाणं स्युः—आप्त शास्त्र वचन शब्द प्रमाण के अन्तर्गत होने से प्रमाण ही हैं, फिर भी यहां जैसे असन्दिग्ध विषय में भी सन्देह की 'चेत्' पद से अभिव्यक्ति की है वैसे ही सूत्रकार ने भी **सन्निपातश्चेत्** में असन्दिग्ध सन्निपात में भी सन्देह की अभिव्यक्ति करके समाधान किया है।

कुतूहलवृत्तिकार ने तैत्तिरीय शाखा के अनुसार विधिवाक्यों का निर्देश करके लिखा है—'यद्यपि प्रकृति (=अग्निष्टोम) में दीक्षाहुति से प्राक् ही [केशश्मश्रू] वपन आदि संस्कार पढ़े हैं और उखाप्रवृञ्जन (=उखा को प्रज्वलित करना) आदि दीक्षाहुतियों के अनन्तर ही पढ़े हैं। अतः दोनों का सन्निपात ही नहीं है तो यह संशय कैसे होगा? इस का उत्तर दिया है—'उस प्रकार के [अर्थात् दीक्षणीयेष्टि के अनन्तर वपनादि संस्कार के] शाखान्तरवचन के अनुरोध से यह संशय होता है।' पुनः कहा है—'भाष्य में दीक्षणीयेष्टि के अनन्तर प्राकृत वपनादि संस्कारों का और वैकृत उखाप्रवृञ्जनादि का सन्निपात के नित्य होने 'चेत्' यह कथन उपपन्न नहीं होता ऐसी आशङ्का करके ईजाना......परमां गतिम् के समान असन्दिग्ध में सन्दिग्धवचन 'चेत्' शब्द का समाधान किया है। तैत्तिरीयादि शाखाओं में दोनों का सन्निपात के अभाव से इस पर विचार करना चाहिये'।

---

१. 'नन्वयं' इति पाठान्तरम्।

पञ्चमेऽध्याये तृतीयः पादः

[प्रयाजादिगतैकादशत्वादिसंख्यायाः सर्वसंपाद्यत्वाधिकरणम् ॥१॥]

अग्नीषोमीये पशौ श्रूयते—**एकादश प्रयाजान् यजति**[1], **एकादशानुयाजान् यजति**[2] इति। चातुर्मास्येषु—**नव प्रयाजान् यजति, नवानुयाजान् यजति**[3] इति। अग्नौ श्रूयते—**षडुपसद**[4] इति। तत्र संदेहः—किं प्रतिप्रयाजमेकादशसंख्या, प्रत्यनुयाजं च। तथा चातुर्मास्येषु नवसंख्या। तथा अग्नौ चोपसत्सु षट्संख्या, उत सर्वसंपाद्या संख्येति ? किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—अग्नीषोमीय पशु में सुना जाता है—'ग्यारह प्रयाजों का यजन करता है, ग्यारह अनुयाजों का यजन करता है'। चातुर्मास्य में 'नौ प्रयाजों का यजन करता है, नौ अनुयाजों का यजन करता है'। अग्निचयन में सुना जाता है—'छः उपसत् होते हैं'। इन में सन्देह होता है—क्या प्रति प्रयाज ग्यारह संख्या और प्रति अनुयाज ग्यारह संख्या [निर्दिष्ट होती हैं], तथा चातुर्मास्य में [प्रति प्रयाज और प्रति अनुयाज] नौ संख्या तथा अग्निचयन में प्रति उपसत् में छः संख्या अथवा [११,९,६] संख्या सर्वसम्पाद्य (=सब मिलाकर पूर्ण करने योग्य) हैं ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—पञ्चम अध्याय के प्रथम दो पादों में नानापदार्थाश्रित क्रम का विचार किया गया है इस पाद में अभ्यासाश्रित क्रम का विचार किया जाता है।

एकादश प्रयाजान्—प्रकृति दर्शपूर्णमास में पांच प्रयाग और तीन अनुयाज होते हैं। अग्नीषोमीय में श्रुत ११ संख्या, चातुर्मास्य में श्रुत ९ संख्या प्रकृति गत ५ प्रयाजों और तीन अनुयाजों के प्रत्येक प्रयाज और अनुयाज के साथ संबद्ध होती है, अर्थात् अग्नीष्वोमीय पशु में ५×११ =५५ प्रयाज, ३×११=३३ अनुयाज और चातुर्मास्य में ५×९=४५ प्रयाज, ३×९=२७ अनुयाज होते हैं अथवा अग्नीषोमीय पशु में सब मिलाकर ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और चातुर्मास्य में ९ प्रयाज और ९ अनुयाज होते हैं, यह शंका है। इसी प्रकार अग्नीष्टोम में तीन उपसदों का उल्लेख है। तदनुसार अग्निचयन में कही ६ संख्या प्रत्येक के साथ निविष्ट होकर ३×६=१८ उपसत् होते हैं अथवा सब मिलाकर ६ उपसत् होते हैं, यह शंका है।

---

१. तै० सं० ६।३।७।५॥ २. तै० सं० ६।३।११।६॥

३. द्र० तै० ब्रा० १।६।३—नव प्रयाजा इज्यन्ते नवानुयाजाः। नवप्रयाजा नवानुयाजाः मै० सं० १।१०।८॥ आप० श्रौत ८।२०।१६॥

४. आप० श्रौत १६।३५।६॥

विवृद्धिः कर्मभेदात् पृषदाज्यवत् तस्य तस्योपदिश्येत ॥१॥ (पू०)

प्रतिप्रधानं संख्या भिद्यत इति। कुतः? भिन्नानि हि तानि कर्माणि। तानि च प्रधानानि प्रति संख्या श्रूयते। प्रधानसंनिधौ च गुणः शिष्यमाणः प्रतिप्रधानं भिद्यते। यथा—**पृषदाज्येनानुयाजान् यजति**[५] इति प्रत्यनुयाजं पृषत्ता गुणो भिद्यते, एवमिहापीति ॥१॥

अपि वा सर्वसंख्यत्वाद् विकारः प्रतीयेत ॥२॥ (उ०)

विवृद्धिः कर्मभेदात् पृषदाज्यवत् तस्य तस्योपदिश्येत ॥१॥

सूत्रार्थः—प्रयाज अनुयाज और उपसदों की संख्या की (विवृद्धिः) वृद्धि प्रति प्रयाज प्रति अनुयाज प्रति उपसत् के (कर्मभेदात्) भिन्न-भिन्न कर्म होने से (तस्य तस्य) उस-उस की =प्रत्येक की (उपदिश्येत) उपदिष्ट होवे। (पृषदाज्यवत्) जैसे **पृषदाज्येनानुयाजान् यजति** में पृषदाज्य का सम्बन्ध प्रत्येक अनुयाज के साथ होता है।

व्याख्या—प्रति प्रधान संख्या का भेद होता है [अर्थात् प्रति प्रयाज प्रति अनुयाज प्रति उपसत् संख्या का संबन्ध होता है]। किस हेतु से? वे [प्रयाजादि] कर्म भिन्न-भिन्न हैं और उन प्रधानों के प्रति संख्या सुनी जाती है। प्रधान की समीपता में कहा गया गुण प्रतिप्रधान भिन्न होता है। जैसे, 'पृषदाज्य से अनुयाजों का यजन करता है' में प्रति अनुयाज पृषत्ता गुण भिन्न होता है [अर्थात् प्रत्येक अनुयाज का पृषदाज्य से यजन होता है]। इसी प्रकार यहां भी होवे।

विवरण—**भिन्नानि हि तानि कर्माणि**—कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा है—'प्रयाज समिदादि संज्ञा के भेद से भिन्न होते हैं अथवा संख्या से? इस विषय में कहा है संज्ञा भेद से भिन्न होते हैं' (द्र० मी० २।२।२२, भाष्यकार ने अन्य उदाहरण दिये हैं) हमारे विचार में संख्या भेद से भी कर्मों की भिन्नता हो सकती है। **पञ्च प्रयाजा भवन्ति** वाक्य में प्रधान प्रयाजों की सन्निधि में श्रूयमाण पञ्च संख्या प्रयाजों की भेदिका है ॥१॥

अपि वा सर्वसंख्यत्वाद् विकारः प्रतीयेत ॥२॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। एकादश, नव तथा षट् संख्याओं के (सर्वसंख्यत्वात्) समुदाय की संख्या होने से उस समुदाय का (विकारः) विकार=अभ्यास (प्रतीयेत) जाने।

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने **अपि वा सर्वसंख्या तद्विकारः प्रतीयेत** सूत्र पाठ मान कर अर्थ किया है—(अपि वा) अवधारण=निश्चय अर्थ में प्रयुक्त है। सर्वसंख्या ही समुदित

---

५. द्र० तै० सं० ६।३।११।६॥

सर्वसंपाद्या संख्या कल्प्येत। कुतः? पृथक्त्वनिवेशिनी हि संख्याऽसति पृथक्त्वेऽभ्यासेन कल्प्येत, यावत्यसंभवो भेदस्य, तावत्येवाभ्यस्येत। यावति संभवति तावति पृथक्त्वनिवेश एव न्याय्या। तस्मात् सर्वसंपाद्यैव संख्या। यत्तु पृषदाज्यवदिति। न। पृषत्ता एकस्य न संभवति। नासौ पृथक्त्वनिवेशिनी। न चैकस्य क्रियमाणा सर्वेषां तन्त्रेणोपकरोतीति। तस्मादवश्यं भेत्तव्या। तन्त्रेण तूपकरोति संख्या। इतरापेक्षा हि सा भवति। एवं सति सहत्वस्य प्रापकः प्रयोगवचनोऽनुग्रहीष्यत इति ॥२॥ **प्रयाजादीनामेकादशादिसंख्यायाः सर्वसंपाद्यताधिकरणम् ॥१॥**

—:०:—

अन्वयवाली एकादशत्व संख्या होवे। (तद् विकारः प्रतीयेत) प्रयाजों का ही विकार जाना जाये अर्थात् एकादश वार प्रयाज प्रयोज्य हैं। इस प्रकार प्रयोगमुख से एकादश संख्या प्रयाजों के साथ अन्वित होती है।

व्याख्या—सब से सम्पादन करने योग्य संख्या होवे। किस हेतु से? संख्या पृथक्त्व में रहने वाली है, पृथक्त्व न होने पर अभ्यास से कल्पित होवे। जितने में भेद का असंभव होवे उतनी ही अभ्यास की जावे। जितने में सम्भव होवे उतने में [संख्या का] पृथक्त्व निवेश ही न्याय्य है। इसलिये [एकादश आदि] संख्या निष्पाद्य ही है। और जो कहा पृषदाज्य के समान [प्रति अनुयाज पृषत्ता गुण भिन्न होता है। उसी तरह प्रति प्रयाज एकदश संख्या होवे]। यह नहीं है, पृषत्ता एक [अनुयाज] की सम्भव नहीं है और यह (=पृषत्ता) पृथक्त्व में रहने वाली भी नहीं है। और एक [अनुयाज] की हुई सब [अनुयाजों] की एक बार से उपकारक नहीं होती है। इसलिये [पृषत्ता का] अवश्य भेद करना चाहिये [अर्थात् सब अनुयाजों में पृषत्ता गुण का संयोग करना चाहिये]। संख्या तो मिल कर उपकारक होती है क्योंकि वह इतर संख्या की अपेक्षा करती है ऐसा होने पर सहत्व का प्रापक प्रयोगवचन अनुगृहीत होगा।

विवरण—असति पृथक्त्वे अभ्यासेन कल्प्येत— ११ कर्मों में रहने वाली एकादश संख्या यदि उतने कर्मों का पार्थक्य न होने पर कर्मों के अभ्यास से पूर्ण की जायेगी। प्रकृति में पांच प्रयाज हैं उनमें एकादश संख्या की पूर्ति अभ्यास से की जायेगी। जब तक उतने भेद की असंभवता है उतने तक अभ्यास किया जायेगा। **यावति संभवति तावति—**इस का भाव यह है कि जो संख्या जितने प्रयोग भेद में संभव हो सकती है=रह सकती है, उतने प्रयोगों में निवेश करने वाली होती है। प्रकृति में **पञ्चप्रयाजा भवन्ति** में प्रयाज पांच संख्या से परिच्छिन्न हैं उसी प्रकार **एकादश प्रयाजान् यजति** में भी प्रयाज एकादश संख्या से परिच्छिन्न होने चाहियें ॥२॥

—:०:—

[स्वस्थानविवृद्धयोपसत्संख्यासंपत्त्यधिकरणम् ॥२॥]

उपसत्सु संदेहः। किमावृत्तिर्दण्डकलितवदुत स्वस्थानाद् विवर्धन्त इति। किं तावत् प्राप्तम्? आवर्तनीयानामर्थानामेष धर्मो यदुत दण्डकलितवत्। यो ह्युच्यते, त्रिरनुवाकः पठ्यतामिति स आदित आरभ्य परिसमाप्य पुनरादित आरभ्यते। तस्माद् दण्डकलितवदावृत्तिः। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

स्वस्थानात्तु विवृध्येरन् कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥३॥ (उ०)

स्वस्थानाद् विवर्धितुमर्हति। कुतः? कृतानुपूर्व्यत्वात्। कृतमानुपूर्व्यमुपसत्सु—प्रथमां कृत्वा मध्यमा कर्तव्या, तत उत्तमेति। तत्र यदि दण्डकलितवदावृत्तिः स्यात्, उत्तमां कृत्वा पुनराद्याया अभ्यासे क्रियमाणेऽस्थाने सा विवृद्धिः कृता भवति। स्वस्थानविवृद्धौ नैष दोषः। तस्मात् स्वस्थाने विवृद्धिरिति ॥३॥ **प्रथमादीनां तृसृणामुपसदां स्वस्थानावृत्त्यधिकरणम् ॥२॥**

—:o:—

व्याख्या—उपसदों में सन्देह होता है—क्या आवृत्ति दण्डकलित (=दण्डे से गिनती) के समान होवे अथवा स्वस्थान से बढ़ते हैं। आवर्तनीय अर्थों का यह धर्म है जो दण्डकलितवत् है। जो कहा जाता है—'तीन बार अनुवाक पढ़ा जाये' वह [अनुवाक] आदि से आरम्भ करके समाप्त करके पुनः आदि से आरम्भ किया जाता है। इस से दण्डकलित के समान आवृत्ति होगी। ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

विवरण—दण्डकलितवत्—दण्ड से कलित—कल संख्याने=नापा गया। बांस आदि के दण्ड में कई पर्व=पौर होते हैं। जब कहा जाता है—दण्डे से नापो कितने दण्डे वाला क्षेत्र हैं। तब दण्डे की जो पौर हैं, उन से न नाप कर पौर समुदाय जो दण्ड है उससे नापा जाता है। इस प्रकार प्रकृति से प्राप्त तीन उपसदों की षट् संख्या की पूर्ति के लिये तीनों उपसदों को करके पुनः उन्हीं तीन उपसदों को करना होगा।

स्वस्थानात् तु विवृध्येरन् कृतानुपूर्व्यत्वात ॥३॥

सूत्रार्थः—(स्वस्थानात्) अपने स्थान से (तु) ही (विवृध्येरन्) बढ़ें (कृतानुपूर्व्यत्वात्) उपसदों में आनुपूर्व्य के किये होने से। अर्थात् उपसदों के लिये कहा है—**प्रथमां कृत्वा मध्यमा-कर्त्तव्या तत उत्तमा** अर्थात् प्रथम उपसत् को करके मध्यम को करे पश्चात् उत्तम=अन्तिम को। इस प्रकार इनका क्रम नियत है।

व्याख्या—स्वस्थान से (=प्रथम मध्यम उत्तम से) बढ़ना युक्त है। किस हेतु से? आनुपूर्व्य के कृत=नियत होने से। उपसदों में आनुपूर्व्य नियत है—'प्रथम को करके मध्यम को करे पश्चात् उत्तम को'। यदि यहां दण्डकलित के समान आवृत्ति होवे तो उत्तम=अन्तिम=तृतीय उपसत् को करके पुनः प्रथम के अभ्यास करने पर अस्थान में वह वृद्धि की हुई होती है। स्वस्थान में विवृद्धि में यह दोष नहीं है। इसलिये स्वस्थान में विवृद्धि होवे।

[धाय्याशब्दितानामेव समिध्यमानवतीसमिद्धवत्योरन्तरालनिवेशाधिकरणम् ।।३।।]

दर्शपूर्णमासयोः सामिधेन्यः—सामिधेनीरन्वाह[1] इति । तत्र काम्याः सामिधेनीकल्पाः—एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठाकामस्य[2] इत्येवमादयः । तत्राऽऽगमेन संख्यापूरणं वक्ष्यते[3] । तत्र संदेहः—किमागन्तूनामन्ते निवेश उत समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण निवेश इति । किं तावत् प्राप्तम् ? अन्ते निवेशः अन्ते तु बादरायणः[4], इत्यनेन न्यायेनेति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

विवरण—स्वस्थानविवृद्धौ— प्रथम मध्यम और उत्तम जो तीन उपसत् हैं उनमें प्रथम स्थानीय उपसत् की विवृद्धि होवे इसी प्रकार मध्यम स्थानीय और उत्तम स्थानीय की। अर्थात् प्रथम उपसत् दो दिन की जाये पश्चात् मध्यम दो दिन, पश्चात् उत्तम दो दिन। इस प्रकार छ उपसत् सम्पन्न होंगे। यही आपस्तम्ब श्रौत १६।३५।६-७ में लिखा है—षडुपसदः। द्व्यहं द्व्यहमेकैकेनोपसन्मन्त्रेण जुहोति अर्थात् अग्निचयन में ६ उपसत् होती हैं। दो-दो दिन एक-एक उपसत् के मन्त्र से होम करता है ।।३।।

—:०:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में समिधेनियां हैं—'सामिधेनी का अनुवचन करे'। वहां (=सामिधेनियों में) काम्य सामिधेनी कल्प हैं—'एकविंशति बोले प्रतिष्ठा काम वाले को' इत्यादि। इस में सन्देह है—क्या आगन्तुकों (=संख्या वृद्धि के लिये लाई जाने वाली सामिधेनियों) का अन्त में निवेश होवे अथवा समिध्यमानवती (=समिध्यमान शब्द वाली ऋचा) और समिद्धवती (= समिद्ध शब्दवाली ऋचा) के मध्य में निवेश होवे ? क्या प्राप्त होता है ? अन्त में निवेश प्राप्त होता है - अन्ते तु बादरायण (मी० ५।२।१९) इस न्याय से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—समिध्यमानवतीम् 'समिध्यमानोऽध्वर' इत्यादि। **समिद्धवतीम्**—समिद्धो अग्न आहुत=। ये दोनों ऋचाएं दर्शपूर्णमास की १४ सामिधेनियों में प्रथम ऋचा के तीन बार बोलने पर ११ और १२ संख्यावाली हैं। द्र० दर्शपौर्णमास पद्धति, पृष्ठ ६३।

---

१. द्र०—पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह। आप० श्रौत २।१२।२।।

२. तै० सं० २।५।१०।२।।

३. मी० १०।५। अधि० ८।

४. मी० ५।२।१९।।

समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः स्युर्द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्हणात् ॥४॥ (पू०)

समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण निवेश इति । कुतः ? द्यावापृथिव्यो-रन्तराले समर्हणात्—संस्तवादित्यर्थः । **इयं वै समिध्यमानवती द्यौः, असौ समिद्धवती पृथिवी । यदन्तरा, तद्धाय्या**[1] इत्यन्तरिक्षसंस्तुत्या तस्मिन्नन्तराले विधीयन्ते । तस्मान्नान्ते स्युरिति ॥४॥

तच्छब्दो वा ॥५॥ (उ०)

अथवा या धाय्याशब्दिकास्तास्तत्र भवितुमर्हन्ति । तेन हि शब्देन तत्र संस्तवः ।

समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण......समर्हणात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(समिध्यमानवतीम्) समिध्यमान शब्दवाली ऋचा (च) और (समिद्धवतीम्) समिद्धशब्दवाली ऋचा के (अन्तरेण) मध्य में (धाय्याः) आगन्तुक=बढ़ाई जाने वाली सामिधेनियां (स्युः) होवें=पढ़ी जायें (द्यावापृथिव्योः) द्युलोक और पृथिवीलोक के (अन्तराले) मध्य में (समर्हणात्) संस्तुति होने से । [संस्तुतिवचन भाष्य व्याख्यान में देखें] ।

व्याख्या—समिध्यमानवती और समिद्धवती के मध्य में [आगन्तुक सामिधेनियों का] निवेश होवे । किस हेतु से ? द्यावा और पृथिवी के मध्य में समर्हण=संस्तव होने से । 'यह ही समिध्यमानवती द्यु है, यह समिद्धवती पृथिवी है, जो इन के मध्य [पढ़ी जाये] वह धाय्या होती है ।' इस अन्तरिक्ष की स्तुति से समिध्यमानवती और समिद्धवती के मध्य में [आगन्तुक सामिधेनियों का] विधान होता है । इसलिये अन्त में न होवें ॥४॥

तच्छब्दो वा ॥५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (तच्छब्दः) उस शब्द वाला संस्तव होने से अर्थात् धाय्या शब्द घटित सामिधेनियों के प्रति संस्तव होने से सभी आगन्तुक सामिधेनियां समिध्यमानवती और समिद्धवती ऋचाओं के मध्य नहीं पढ़ी जाती हैं ।

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में **'तच्छब्दा वा'** सूत्र पाठ है । इसका अर्थ होगा धाय्या शब्द से कही जाने वाली सामिधेनियां । पूर्वपक्ष में **'धाय्या'** पद को यौगिक मानकर 'धारण की जाने वाली' सामान्य अर्थ किया हैं । इस सूत्र में कहा है—'धाय्या' शब्द रूढ़ है । जिन ऋचाओं का धाय्या पद से कथन किया गया है वे ही धाय्या कहाती हैं ।

व्याख्या—अथवा जो 'धाय्या' शब्द से कही जाने वाली हैं वे वहां (समिध्यमानवती और समिद्धवती ऋचाओं के मध्य में) हो सकती हैं । उसी (=धाय्या) शब्द से ही वहां (उक्त

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

संस्तवाच्च विधानम् । यथा —**पृथुपाजवत्यो धाय्ये**[1], **उष्णिक्ककुभौ धाय्ये**[2] इति । काः पुनरेता धाय्या नाम ? नास्य शब्दस्य प्रसिद्धिमुपलभामहे । उच्यते । सामिधेन्यो धाय्या । कुतः ? एवं हि भगवतः पाणिनेर्वचनम् —**पाय्यसांनाय्यनिकाय्यधाय्या मान-हविर्निवाससामिधेनीषु**[3] इति । अस्माद्वचनाच्छ्रुतिमनुमिमीमहे । कतमासु सामिधेनीषु, इति ? उच्यते । अविशेषात्सर्वास्विति गम्यते । इह तु समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः स्युरिति सर्वासु सामिधेनीषु सतीषु धाय्यावचनाद्विशिष्टानां सामिधेनीनां धाय्याशब्द इति गम्यते । ननु पाणिनिवचनादविशेषेण सर्वा धाय्याः ? नेत्याह । विशिष्टास्वपि वचनमुपपद्यत एव । यदि विशिष्टास्ततः का इति ? उच्यते । यासु धाय्याशब्दः श्रूयते, तास्तावद्धाय्याः । तासु च धाय्यासु सतीषु वचनमर्थवद्भवति । अर्थवति च सति वचने नान्या धाय्याः प्रमाणाभावादिति ।।५।।

वचन में) संस्तव है । और संस्तव के द्वारा ही विधान किया है । जैसे 'पृथु और पाज शब्द वाली धाय्या' 'उष्णिक् छन्द वाली और ककुभ छन्द वाली धाय्या' । (आक्षेप) ये धाय्या नामवाली कौन सी हैं ? इस शब्द की प्रसिद्धि हम उपलब्ध नहीं करते । (समाधान) सामिधेनी धाय्या होती हैं । किस हेतु से ? इस प्रकार ही भगवान् पाणिनि का वचन है —'मान हवि निवास और सामिधेनी में क्रमशः पाय्य सान्नाय्य निकाय्य और धाय्या शब्द [निपातित होते हैं] । इस वचन से तथा श्रुतिवचन से अनुमान करते हैं । किन सामिधेनियों में [धाय्या] शब्द प्रयुक्त होता है ? विशेष कथन न होने से सब सामिधेनियों में [धाय्या शब्द है] ऐसा जाना जाता है । यहाँ तो 'समिध्यमानवती और समिद्धवती के मध्य में धाय्या होवें इस से सब सामिधेनियों में होने पर धाय्या वचन से विशिष्ट सामिधेनियों का धाय्या नाम है यह जाना जाता है । (आक्षेप) पाणिनि के वचन से सामान्य रूप से सभी [सामिधेनियां] धाय्या [शब्द वाच्य] हैं । (समाधान) नहीं, [पाणिनि का] वचन विशिष्ट [सामिधेनियों] में भी उपपन्न होता ही है । (आक्षेप) यदि विशिष्ट [धाय्या] हैं तो कौन सी हैं ? (समाधन) जिन [के विषय] में धाय्या शब्द सुना जाता है वे धाय्या हैं । उन धाय्याओं के होने पर [संस्तव] वचन अर्थवान् होता है । और वचन के अर्थवान् होने पर अन्य धाय्या नहीं हैं, प्रमाण न होने से ।

विवरण—यद्यपि पाणिनि ने अष्टा० ३।१।१२९ में सामिधेनी के विषय में धाय्या शब्द का निपातन किया है पुनरपि धाय्या शब्द का सामिधेनियों से अन्यत्र भी प्रयोग देखा जाता है । यथा —धाय्याः शंसति'''अग्निर्नेता'''''इति त्वं सोमक्रतुभिरिति (ऐ० ब्रा० १२।७) । यद्वा वनेति धाय्या (ऐ० आर० ५।२।२) । इसलिये पाणिनीय सूत्र में सामिधेनी पद उपलक्षणार्थ है अवधारणार्थ नहीं है । यह अर्थ भी निपातन सामर्थ्य से जानना चाहिये । वस्तुतः जिन ऋचाओं के लिये धाय्या पद से निर्देश ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में मिलता है, वे धाय्या हैं ।।५।।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. अनुपलब्धमूलम् ।
३. अष्टा० ३।१।१२९।।

उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात् ॥६॥ (उ०)

उष्णिक्ककुभोश्चान्ते प्रयोगो दृश्यते—**यज्जगत्या परिदध्यादन्तं यज्ञं गच्छेत्। अथ यत्त्रिष्टुभा परिदधाति नान्तं गच्छति**[1] इति। ननु त्रिष्टुबत्रान्ते दृश्यते, नोष्णिक्ककुभाविति ? उच्यते। त्रिष्टुभमेवायमुष्णिक्ककुभाविति ब्रूते। कथम् ? त्रिष्टुभो वीर्यमित्येवं संस्तुतेः। **त्रिष्टुभो वा एतद् वीर्यं यदुष्णिक्ककुभौ**[2] इति कारणे कार्यवदुपचारः कृतः ॥६॥ **सामिधेनीष्वधाय्यानामन्ते निवेशाधिकरणम् ॥३॥**

—:०:—

उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(उणिक्ककुभोः=) उष्णिक् और कुकुप् छन्दों का (अन्ते) अन्त में (दर्शनात्) दर्शन=निर्देशन होने से जो सामिधेनियां धाय्या पदवाच्य नहीं हैं, उन का अन्त में निवेश होता है। [सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिये भाष्यविवरण देखें]।

व्याख्या—उष्णिक् और ककुप् का अन्त में प्रयोग देखा जाता है—**'जो जगती से [सामिधेनियों को] समाप्त करे तो यज्ञ के अन्त=नाश को प्राप्त होवे और जो त्रिष्टुप् से समाप्त करे तो यज्ञ के अन्त को प्राप्त नहीं होता है।'** (आक्षेप) त्रिष्टुप् अन्त में देखी जाती है उष्णिक् ककुप् नहीं देखी जाती। (समाधान) त्रिष्टुप् को ही उष्णिक्-ककुप् कहते हैं। कैसे ? **'त्रिष्टुप् का वीर्य है'** इस प्रकार संस्तुति होने से। **'त्रिष्टुप् का ही यह वीर्य है जो उष्णिक्-ककुप् हैं'**। यहां कारण में कार्यवत् प्रयोग (=कथन) किया है।

विवरण—यज्जगत्या इत्यादि वचन त्रैधातवीयेष्टि के प्रकरण में पढ़ा है। इसमें त्रिष्टुप् छन्दवाली ऋचा से सामिधेनियों की समाप्ति की प्रशंसा की है। **ननु त्रिष्टुबत्रान्ते**—त्रैधातवीयेष्टि की सामधेनियों की परिसमाप्ति में 'अग्ने त्री ते वाजिना त्रि षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ऋतजात पूर्वीः तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्न पाहि गिरो अप्रयुच्छन् (ऋ०३।२०।१) त्रिष्टुप् छन्दवाली ऋचा पढ़ी जाती है (द्र० मै० सं० २।४।४॥ तै० सं० २।४।११ सा० भा०)। इस मन्त्र में ४३ अक्षर हैं। तन्वः में तनुवः इस प्रकार व्यूह से ४४ अक्षर होते हैं। **नोष्णिक्ककुभौ**—उष्णिक् छन्द में ८+८+१२=२८ अक्षर होते हैं, ककुप् छन्द (यह उष्णिक का ही भेद है) में ८+१२+८=२८ अक्षर होते हैं। **त्रिष्टुबेवायमुष्णिक्ककुभौ**—उष्णिक् और ककुप् के २८+२८=५६ अक्षर होते हैं। अतः यह त्रिष्टुप् नहीं हो सकती है। इस लिये यहां त्रिष्टुप् के लिये उष्णिक्-ककुप् का निर्देश लाक्षणिक है। उस लक्षणा का मूल है—**त्रिष्टुभो वा एतद्वीर्यं यदुष्णिक्ककुभौ**। यहां वीर्य का कारण (आधार) है त्रिष्टुप्, उसमें कार्यरूप उष्णिक् ककुप्

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० तै० सं० २।४।११॥ मै० सं० २।४।४॥ का० सं० १२।४॥
२. अनुपलब्धमूलम्।

[बहिष्पवमाने, आगन्तूनां पर्यासोत्तरकालताधिकरणम् ॥४॥]

सन्ति विवृद्धस्तोमकाः क्रतवः—एकविंशेनातिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्, त्रिणवेनौजस्कामं, त्रयस्त्रिंशेन प्रतिष्ठाकामम्[1] इति । तत्राऽऽगमेन संख्यापूरणं वक्ष्यते[2] । अथ वहिष्पवमाने वैकृतेष्वानीयमानेषु भवति संशयः—किं वैकृतानामन्ते निवेश उत प्राक्पर्यासादिति ? किं प्राप्तम् ?

स्तोमविवृद्धौ बहिष्पवमाने पुरस्तात् पर्यासादागन्तवः स्युस्तथा हि दृष्टं द्वादशाहे ॥७॥ (पू०)

पुरस्तात् पर्यासादागन्तवः स्युः । तथा हि दृष्टं द्वादशाहे—स्तोत्रीयानुरूपौ तृचौ

का व्यवहार किया है । तै० सं० २।४।११ में उष्णिक् का वीर्य ककुप् कहा है और जगती का उष्णिक् (द्र० सा० भाष्य) । भाष्यकार द्वारा उदाहृत वचन अन्वेषणीय है ॥६॥

व्याख्या—बढ़े हुए स्तोम वाले क्रतु हैं—'इक्कीस स्तोम वाले अतिरात्र से प्रजा की कामना वाले को यजन कराये, सत्ताईस स्तोम वाले से ओज की कामना वाले को, तैंतीस स्तोम वाले से प्रतिष्ठा की कामना वाले को ।' तथा [इक्कीस आदि] संख्या की पूर्ति आगम से (=अन्य स्तोमों को लाकर) पूर्ति आगे कहेंगे । बहिष्पवमान के विषय में वैकृत क्रतुओं में आनीयमान स्तोमों में संशय होता है—क्या वैकृत स्तोमों का अन्त में निवेश होता है अथवा पर्यास (=अन्त) से पूर्व ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरणः—विवृद्धस्तोमकाः क्रतवः—स्तोम नाम स्तोत्रीय=गाई जाने वाली ऋचाओं का है । उनकी वहिष्पवमान आदि प्रत्येक साम में स्तोमों की संख्या नियत है । जब किन्हीं क्रतुओं में स्तोमों की संख्या अधिक कही जाती है तो बढ़े हुए स्तोमों का निवेश कहां करें ? यह विचार इस अधिकरण में किया है, **प्राक्पर्यासात्**—पर्यास शब्द अन्तवाची है । यथा—**क्षेत्रपर्यासः** (=खेत का अन्त) **नदीपर्यासः** (=नदी का अन्त) [द्र० मी० भाष्य ५।३।८] ।

स्तोमविवृद्धौ बहिष्पवमाने……दृष्टं द्वादशाहे ॥७॥

सूत्रार्थः—(बहिष्पवमाने) वहिष्पवमान स्तोत्र में (स्तोमविवृद्धौ) स्तोमों की वृद्धि होने पर (आगन्तवः) आगन्तुक स्तोम (पर्यासात्) अन्त से (पुरस्तात्) पूर्व (स्युः) होवें । (तथा हि) ऐसा ही (द्वादशाहे) द्वादशाह में (दृष्टम्) देखा गया है ।

व्याख्या—आगन्तुक स्तोम अन्त से पूर्व होवें । ऐसा ही द्वादशाह में देखा गया है—

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. मी० १०।५।२६॥

भवतः[1]। वृषण्वन्तस्तृचा भवन्ति[2]। तृच उत्तमः पर्यास[3] इति। इहापि प्राक्पर्यासादागन्तुभिर्भवितव्यम् ॥७॥

पर्यास इति चान्ताख्या ॥८॥ (पू०)

पर्यासशब्दश्चान्तवचनो लोके दृश्यते। यथा क्षेत्रपर्यासः नदीपर्यास इति। एवं पर्यासोऽन्ते कृतो भविष्यति ॥८॥

अन्ते वा तदुक्तम् ॥९॥ (उ०)

अन्ते वैवंजातीयकं वैकृतं स्यात्। उक्तम्—अन्ते तु बादरायणः[4] इति ॥९॥

'स्तोत्रिय के अनुरूप दो तृच होते हैं। वृषन् शब्द वाले तृच होते हैं। उत्तम तृच अन्त वाला (= अन्त में) होता है।' यहां भी आगन्तुक स्तोमों को अन्त से पूर्व होना चाहिये।

विवरणः—दृष्टं हि द्वादशाहे—भाष्यकारोक्त स्तोत्रियानुरूपौ तृचौ भवतः आदि वचन द्वादशाहान्तर्गत दशरात्र के द्वितीय दिन के बहिष्पवमान के तृचों के विधान में प्रयुक्त है। यह पञ्चदश स्तोम वाला है। इस का प्रथम तृच 'पवस्व वाचो अग्रियः आदि वाला है। वृषा सोमः, वृषा ह्यसि, पवस्वेन्द्रो वृषा सुतः ये तीन वृषन् शब्द वाले तृच हैं। उत्तम=पांचवां तृच प्राकृत 'पवमानस्य ते वयम्' है। इस प्रकार १५ स्तोमों की क्लृप्ति होती है। द्र० तां० ब्रा० ११।६। ६-१० सायणभाष्य ॥७॥

पर्यास इति चान्ताख्या ॥८॥

सूत्रार्थः—(च) और (पर्यासः) पर्यास (इति) यह (अन्ताख्या) अन्त की संज्ञा है अर्थात् अन्तवाची है।

व्याख्या—पर्यास शब्द लोक में 'अन्त' अर्थ को कहने वाला देखा जाता है। जैसे—क्षेत्रपर्यासः=खेत का अन्त, नदीपर्यासः—नदी का अन्त। इस प्रकार पर्यास [शब्द से निर्दिष्ट] अन्त में होगा ॥८॥

अन्ते वा तदुक्तम् ॥९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष भी निवृत्ति के लिये है अर्थात् आगन्तुक स्तोम अन्तिम स्तोत्र से पूर्व होंगे, यह ठीक नहीं है। आगन्तुक स्तोम (अन्ते) अन्त में होवें, (तत्) यह (उक्तम्) 'अन्ते तु बादरायणः' [मी० ५।२।१९] में कह चुके हैं।

व्याख्या—इस प्रकार का विकृति में होने वाला स्तोम अन्त में होवे यह कह चुके—अन्ते तु बादरायणः (—बादरायण के मत में अन्त में होता है) ॥९॥

---

१. द्र० तां ब्रा० ११।६।६॥ २. द्र० तां ब्रा० ११।६।७॥
३. द्र० तां० ब्रा० १०।६।८॥ ४. मी० ५।२।१९॥

वचनात्तु द्वादशाहे ॥१०॥ (उ०)

अथ यदुक्तम्—यथा हि दृष्टं द्वादशाहे इति। तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—वचनाद् द्वादशाहे भवति **स्तोत्रीयानुरूपौ तृचौ भवतः। वृषण्वन्तस्तृचा भवन्ति, तृच उत्तमः पर्यास**[1] इति। न हि वचनस्यातिभारोऽस्ति ॥१०॥

अतद्विकारश्च ॥११॥ (उ०)

न चायं तद्विकारः, यत्ततो धर्मान् गृह्णीयादिति ॥११॥

तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ॥१२॥

योऽपि तद्विकारस्तत्राप्यन्त एव निवेशः। कुतः? अपूर्वत्वात्। वृषण्वतां

वचनात् तु द्वादशाहे ॥१०॥

सूत्रार्थः—(द्वादशहे) द्वादशाह क्रतु में आगन्तुक स्तोम पर्यास=अन्त से पूर्व (तु) तो (वचनात्) वचन सामर्थ्य से होते हैं।

व्याख्या—जो यह कहा—'ऐसा [अन्त से पूर्व] ही द्वादशाह में देखा जाता है' उस का परिहार करो। इस विषय में कहते हैं—द्वादशाह में वचन से [अन्त से पूर्व] होता है। 'स्तोत्रीय के अनुरूप दो तृच होते हैं। 'वृषन्' शब्द वाले तीन तृच होते हैं। [प्रकृति का] उत्तम तृच अन्त वाला होता है।' वचन को [इस अर्थ को कहने में] कोई अतिभार नहीं है [अर्थात् वचन-सामर्थ्य से अन्त से पूर्व आगन्तुक स्तोम होते हैं] ॥१०॥

अतद्विकारश्च ॥११॥

सूत्रार्थः—(च) और प्रकृत विवृद्धस्तोम क्रतु (अतद्विकारः) द्वादशाह का विकार=विकृति भी नहीं है, जिससे यह द्वादशाह से ['अन्त से पूर्व होना' रूप] धर्म को ग्रहण करे।

व्याख्या—और यह उसका विकार नहीं है, जिससे उसके धर्मों को ग्रहण करे ॥११॥

तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(तद्विकारे) उस=द्वादशाह के विकार मानने पर (अपि) भी विवृद्ध स्तोम का (अपूर्वत्वात्) अपूर्व=वैकृत होने से अन्त में निवेश होता है।

व्याख्या—जो भी उस (=द्वादशाह) का विकार रूप क्रतु है उनमें [बढ़े हुए स्तोमों का] अन्त में ही निवेश होता है। किस हेतु से? अपूर्व होने से। वृषन् शब्द वाले ३ तृचों में

---

१. द्र० पूर्व १५१२ पृष्ठ की टि० १-२-३।

तृचानां वृषण्वन्तावेव प्राक्पर्यासात्। यावद्वचनं वाचनिकं, न सदृशमुपसंक्रामति ॥१२॥
बहिष्पवमाने आगन्तूनां पर्यासोत्तरकालताधिकरणम् ॥४॥

—:०:—

[माध्यंदिनार्भवपवमानयोरागन्तूनां साम्नां गायत्र्यादिष्वेव निवेशाधिकरणम् ॥५॥]

इहापि विवृद्धस्तोमकाः क्रतव उदाहरणम्। तत्रोत्तरयोः पवमानयोः साम्नामागम इति वक्ष्यते[1]। तत्राऽऽगम्यमानेषु सामसु संदेहः। किं तेषामन्ते निवेश उत गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्स्विति ? किं प्राप्तम् ?

वृषण्वान् तृच ही अन्त से पूर्व होते हैं। जितना अर्थ वाचनिक है, वह वचनानुसार होता है। वह सादृश्य को प्राप्त नहीं करता ॥

विवरण—वृषण्वतां तृचां वृषणवन्तावेव—इसका भाव यह है कि दशरात्र के द्वितीय दिन में तीन वृषन् शब्द वाले [वृषा सोमः, वृषा ह्यसि, पयस्वेन्द्रो वृषा सुत,] तृच कहे हैं—वृषण्वन्तस्तृचा भवन्ति (तां ब्रा० ११।६।७)। उनमें से दो आदि के प्रकृतिगत अन्त्य तृच से पूर्व होते हैं और तृतीय उस के अन्त में होता है। यह अभिप्राय मीमांसा भाष्यकार ने स्तोत्रीयानुरूपौ तृचौ भवतः (तां ब्रा० ११।६।७) से निकाला है। क्योंकि उसमें उससे पूर्व 'पवस्व वाचो अग्रियः' तृच का निर्देश किया है। मी०भाष्यकार के मतानुसार पञ्चदश बहिष्पवमान के ५ तृचों का क्रम इस प्रकार होगा—१-पवस्व वाचो अग्रियः तृच, २-वृषा सोमः तृच, ३-वृषा ह्यसि तृच, ४-प्राकृत पवमानस्य ते वयम् तृच, ५-पवस्वेन्द्रो वृषा सुतः तृच। इस व्याख्या में तृच उत्तमः पर्यासः (तां० ब्रा० ११।६।८) से कहा गया तृच पर्यास=अन्त रूप नहीं होगा। उस अवस्था में (=अन्त में न होने पर) पर्यास शब्द का निर्देश विपरीत होता है। इसका समाधान कुतूहलवृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—यदि आगन्तुक अन्त में होवें तो 'पर्यास' संज्ञा से कहा गया प्राकृत तृच की बाधा होवे। सत्य है, 'पर्यास' संज्ञा प्रकृति में चरितार्थ होने से न्याय प्राप्तों के अन्त में निवेश को नहीं बाधेगी।

ताण्डब्राह्मण के भाष्यकार सायण ने इस प्रकरण की व्याख्या में पांच तृचों का क्रम-पवस्व वाचो अग्रियः, १-३-४ वृषन् शब्द वाले ३ तृच और ५ वां प्राकृत पवमानस्य ते वयम् तृच कहे हैं। कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है—द्वादशाह के विकार में भी वृषण्वान् ३ तृचों का अतिदेश बल से पर्यास से पूर्व निवेश होता है, अन्य आगन्तुकों का अन्त में ही निदेश जानना चाहिये। शबर स्वामी की व्याख्या और सायण की व्याख्या (उसी के अनुरूप कुतूहलवृत्तिकार की व्याख्या) में जो भिन्नता है, उसका समाधान सम्प्रदायविद् बहुज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं ॥१२॥

—:०:—

व्याख्या—यहां भी विवृद्धस्तोम वाले क्रतु ही उदाहरण हैं। वहां उत्तर दो पवमान स्तोमों में सामों का आगम कहेंगे। वहां आगम्यमान सामों में सन्देह होता है—क्या उनका अन्त में निवेश होवे अथवा गायत्री बृहती और अनुष्टुप् छन्द में ? क्या प्राप्त होता है ?

---

१. मी० १०।५।१६॥

अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात् ॥१३॥ (पू०)

अन्ते उत्तरयोर्दध्यात् । उक्तोऽत्र न्यायः, **अन्ते तु बादरायण** इति । तस्मादन्ते निवेश इति ॥१३॥

अपि वा गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु वचनात् ॥१४॥ (उ०)

गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु निवेशः । कस्मात् ? वचनात् । त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री बृहत्यनुष्टुबिति । अत्र ह्येवाऽऽवपन्ति, अत एवोद्वपन्तीति वचनेनास्त्युपालम्भः । तस्मान्नैषामन्ते निवेश इति ॥१४॥ **गायत्र्यादिनां मध्य आगन्तूनां साम्नां निवेशाधिकरणम् ॥५॥**

—:०:—

अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—विवृद्धस्तोमों को (उत्तरयोः) उत्तर पवमान स्तोमों के (अन्ते) अन्त में (तु) ही (दध्यात्) रखे अर्थात् उच्चारण करे।

व्याख्या—दोनों उत्तर [पवमान सामों] के अन्त में [बढ़े हुए स्तोमों को] रखे। इस विषय में न्याय कह दिया है—अन्ते तु बादरायणः (५।२।१९) [सूत्र से] । इसलिये अन्त में निवेश होगा।

अपि वा गायत्री बृहत्यनुष्टुप्सु वचनात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) पद एव अर्थ में हैं। (गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु) गायत्री बृहती और अनुष्टुप् छन्दस्क ऋचाओं में ही (वचनात्) वचन से आगन्तुक सामों का निवेश होवें [वचन भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—गायत्री बृहती और अनुष्टुप् छन्दों में निवेश होगा । किस हेतु से ? वचन [सामर्थ्य] से। 'तीन ही निश्चय से यज्ञ के उदर हैं गायत्री बृहती और अनुष्टुप्, इन में ही आवाप करते हैं [अर्थात् आगन्तुक को रखते हैं] और यहीं से उद्वाप करते हैं [अर्थात् निकालते हैं] इस वचन से प्राप्ति होती है । इसलिये इन का अन्त में निवेश नहीं होता है।

विवरण—वचनेनास्त्युपालम्भः—यहां 'उपालम्भ' शब्द प्राप्ति अर्थ में प्रयुक्त है। लोक में उपालम्भ शब्द 'स्तुति करके या निन्दा करके कहे गये दुर्वचन' अर्थ में प्रयुक्त होता हैं। शबर स्वामी के भाष्य में कुछ ऐसे प्रयोग अन्यत्र भी मिलते हैं [पूर्वत्र यथास्थान निर्देश किया है और आगे करेंगे] । अथवा वचने नास्त्युपालम्भः विच्छेद कर सकते हैं । इसका अर्थ होगा—'वचन की उपस्थिति में अन्त में प्राप्ति नहीं होगी' अथवा 'वचन की उपस्थिति में उपालम्भ = दोष नहीं होगा ॥१४॥

[अनारभ्याधीतग्रहेष्टकयोः क्रत्वग्निशेषताधिकरणम् ॥६॥]

औपानुवाक्ये काण्डे ग्रहा इष्टकाश्च समाम्नाताः—**एष वै हविषा हविर्यजते, योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते**[1] इति । तथा **परा वा एतस्याऽऽयुः प्राण एति योंऽशुं गृह्णाति**[2] इति । तथेष्टकाः **चित्रिणीरुपदधाति**[3], **वज्रिणीरुपदधाति**[4], **भूतेष्टका उपदधाति**[5] इति । तत्र संदेहः—किं ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनशेषश्चितिशेषश्च, अथ किं क्रतुशेषोऽग्निशेषश्चेति ? किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—औपानुवाक्य काण्ड में ग्रह इष्टकाएं पठित हैं—'यह निश्चय ही हवि से हवि का यजन करता है, जो अदाभ्य [ग्रह] को ग्रहण करके सोम के लिये यजन करता है।' तथा 'इसका आयु वा प्राण नष्ट होता है जो अंशु का ग्रहण करता है।' इसी प्रकार इष्टकाएं—'चित्रिणी इष्टकाओं का उपधान (=चयन) करता हैं, वज्रिणी इष्टकाओं का उपधान करता है, भूतेष्टकाओं का उपधान करता है।' यहां संदेह होता है—क्या औपानुवाक्य ग्रह और इष्टकाएं सवन का शेष और चयन का शेष हैं अथवा क्या क्रतु का शेष और अग्नि का शेष हैं ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—**औपानुवाक्ये काण्डे**—औपानुवाक्य शब्द का अर्थ और शब्द की व्युत्पत्ति पूर्व मी० ३।६।३२ के भाष्य की उत्त्थानिका के विवरण (पृष्ठ १०२८) में दर्शा चुके हैं। वहीं पर यह भी लिख चुके हैं कि तैत्तिरीय संहिता का तृतीय काण्ड औपानुवाक्य कहाता है (द्र० तै० सं० ३ के आरम्भ में भट्टभास्कर-भाष्य तथा सायण-भाष्य) । इस में अनारभ्याधीत विधियों का उल्लेख होने से अनारभ्याधीत-विधि काण्ड औपानुवाक्य कहाता है (कुतू० वृत्ति ५।३।१४) ।

चित्रिणी उपदधाति, वज्रिणी उपदधाति—अग्निचयन में प्रयुक्त होने वाली इष्टकाओं के नाम किस प्रकार रखे जाते हैं, इसके लिये भगवान् पाणिनि ने अष्टा० ४।४।१२५—१२७ तक कुछ नियम बताये हैं । उनके अनुसार 'वर्चस् शब्द जिस मंत्र में हो वह मंत्र वर्चस्वान् होगा, वर्चस्वान् मंत्र जिन इष्टकाओं का उपधान मंत्र है, वे वर्चस्या कहाती हैं । यहाँ वर्चस्वान् शब्द में से मतुप् प्रत्यय का लोप हो जाता है और शेष वर्चस् से यत् प्रत्यय होता है । इसी प्रकार अश्विमान् मंत्र जिन इष्टकाओं का उपधान मंत्र हैं, वे आश्विनी कहाती हैं । यहां मतुप् का लोप, अण् प्रत्यय तथा स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है । इसी प्रकार मूर्धन्वान् शब्द से मतुप् का लोप तथा इष्टका अर्थ में पुनः मतुप् और ङीप् होकर मूर्धन्वती प्रयोग सिद्ध होता है । इन पाणिनीय नियमों से चित्रिणी वज्रिणी प्रयोग उपपन्न नहीं होते । अतः वहाँ चित्र और वज्र

---

१. स्वल्पभेदेन—तै० सं० ३।३।४।२॥

२. तै० सं० ३।३।४।२-३॥

३. अनुपलब्धमूलम् ।

४. तै० सं० ५।७।३।१॥

५. तै० सं० ५।६।३।१॥

ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेषः स्यात् ॥१५॥ (पू०)

सवनचितिशेषः । कुतः ? ग्रहैः सवनान्यारभ्यन्ते, इष्टकाभिश्चितयः । यच्च येनाऽऽरभ्यते तत्तदङ्गम् ॥१५॥

क्रत्वग्निशेषो वा चोदितत्वाद् [1]अचोदनान्न पूर्वस्य ॥१६॥ (उ०)

शब्द है जिस मंत्र में, वह चित्रवान् वज्रवान मंत्र जिन इष्टकाओं का उपधान मंत्र है इस अर्थ में मतुप् का लोप और इनि प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होकर इष्टका वाचका चित्रिणी बज्रिणी प्रयोग उपपन्न होते हैं। अथवा जैसे मूर्द्धन्वान् से मतुप् का लोप और पुनः मतुप् होकर मूर्द्धन्वती प्रयोग बनता है उसी प्रकार चित्र वज्र शब्द से सत्वर्थ में इनि करके चित्री वजी मंत्र उपधान मंत्र है इन इष्टकाओं का, इस अर्थ में मत्वर्थक इनि का लोप और इष्टकार्थ में इनि प्रत्यय तथा ङीप् होगा। उभयथा पाणिनीय शास्त्र में इस प्रकरण में इनि प्रत्यय का उपसंख्यान करना होगा। भूतेष्टका उपदधाति—यहाँ भूत शब्द से पृथिव्यादि भूत अभिप्रेत है। उनकी इष्टकाएं भूतेष्टका कहाती हैं। द्र० भूतानि पृथिव्यादीनि तत्सम्बन्धिन्य इष्टका भूतेष्टकाः 'पृथिव्यै स्वाहा' (तै० सं० ७।५।११) इत्येवं मन्त्रकाराः (तै० सं० ५।६।३।१ भट्ट भास्कर-भाष्य) ।

ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेषः स्यात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(औपानुवाक्यम्) औपानुवाक्यकाण्ड=अनारभ्याधीत प्रकरण में पठित गृहेष्टकम् ग्रह और इष्टकाएं (सवनचितिशेषः) सवन और चिति=चयन का शेष (स्यात्) होवे।

व्याख्या—सवन और चिति (=चयन) के शेष होवें। किस हेतु से ? ग्रहों के द्वारा [प्रातः माध्यन्दिन और तृतीय] सवन आरम्भ किये जाते हैं और इष्टकाओं से चयन कर्म किया जाता है। जो जिसके द्वारा आरम्भ किया जाता है, वह उसका अङ्ग होता है।'

विवरण—ग्रहैः सवनानि—ग्रहों में सोम के ग्रहण से ही प्रत्यक्षरूप में सवनों का आरम्भ देखा जाता है और इष्टकाओं से चयन कर्म प्रत्यक्षतः देखा जाता है। ग्रह सवनों के और इष्टकाएं चयन के प्रति उपकारक होने से ये ग्रह और सोम सवन और चयन के लिये ही हैं ॥१५॥

क्रत्वग्निशेषो वा चोदितत्वाद् अचोदनान्न पूर्वस्य ॥१६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् ग्रह और इष्टकाएं सवन और चिति का अङ्ग नहीं हैं। (क्रत्वग्निशेषः) ग्रह क्रतु=अग्निष्टोम का और इष्टकाएं अग्नि [चयन] का शेष हैं (चोदितत्वात्) सोमयाग और अग्नि [चयन] के चोदित=विहित होने से (पूर्वस्य) पूर्व=सवन और चयन के (अचोदनात्) चोदना=विधान न होने से ग्रह और इष्टकाएं सवन और चयन का अङ्ग (न) नहीं हैं।

---

१. 'अचोदनानु पूर्वस्य' इति पाठा० । 'अचोदना च पूर्वस्य' इति कुतूहलवृत्तौ पाठः ।

क्रत्वग्निशेषः स्यात् । कुतः ? चोदितत्वात् । अग्निश्चेतव्यः श्रूयते—**य एवं विद्वानग्निं चिनुते**[1] इति । न चितिश्चेतव्या । इष्टकाचयनेनाग्निश्चेतव्यः श्रूयते । अग्निमिति द्वितीयानिर्देशात् । तथा **योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते**[2] इति, अदाभ्यस्य यजतिना संबन्धः । तथा अंशोः । तस्मात् सकृद्यागसंबन्धं कृत्वा कृतार्थः शब्दो भवति श्रुतं संबन्धमभिनिर्वर्त्य । तथा सकृदग्निसंबन्धं कृत्वा कृतो मन्येत । अचोदनान्न[3] चितिसवनयोः । न हि ते कर्तव्यतया चोद्येते । परार्थं हि तयोः श्रवणम् ।

किं प्रयोजनम् ? सवनचितिशेषत्वे प्रतिसवनं ग्रहणं, प्रतिचिति चेष्टकोपाधानम् । क्रत्वग्निशेषत्वे सकृद् ग्रहणोपधाने ॥१६॥ **अनारभ्याधीतग्रहेष्टकयोः क्रत्वग्निशेषताधिकरणम् ॥६॥**

—:०:—

विशेष—इस सूत्र में 'अचोदना च पूर्वस्य' और [3]'अचोदना नु पूर्वस्य' पाठान्तर है। प्रथम पाठ का अर्थ होगा—'पूर्व सवन और चिति की चोदना न होने से ग्रह और इष्टकाएं उनके अंग नहीं हैं। द्वितीय पाठ में 'नु' पद या तो भ्रष्ट पाठ है अथवा इसे वाक्यपूर्त्यर्थ जानना चाहिये।

व्याख्या—[ग्रह और इष्टकाएं] क्रतु और अग्नि के शेष होवें। किस हेतु से ? चोदित=विहित होने से। 'अग्नि का चयन करो' [या 'करना चाहिये] ऐसा सुना जाता है—'जो विद्वान् इस प्रकार अग्नि का चयन करता है।' चिति (=चयन) [अपने स्वतन्त्र रूप में] चेतव्य (=चयन योग्य) नहीं है। इष्टका के चयन से अग्नि का चयन करना चाहिये यह सुना जाता है, 'अग्नि' में द्वितीया विभक्ति का निर्देश होने से। तथा 'जो अदाभ्य का ग्रहण करके सोम के लिये यजन करता है' [ऐसा सुना जाता है। यहां] अदाभ्य ग्रह का 'यजति' के साथ सम्बन्ध है। इसी प्रकार अंशु ग्रह का [भी 'यजति' के साथ संबन्ध है]। इसलिये यह [शब्द] एक बार याग का संबन्ध करके कृतार्थ (=प्रयोजनवान्) हो जाता है श्रुत सम्बन्ध को पूर्ण करके। इसी प्रकार [शब्द] एक बार अग्नि के संबन्ध को करके कृतार्थ माना जाये। चोदना न होने से चिति और सवन की। वे (चिति और सवन) कर्त्तव्यरूप से विहित नहीं हैं। उनका परार्थ (क्रमश अग्नि और अग्निष्टोम के लिये) श्रवण है।

[इस विचार का] क्या प्रयोजन है ? [पूर्व निर्दिष्ट] ग्रह और इष्टकाओं का सवन और चिति का शेष मानने पर प्रतिसवन [अदाभ्य और अंशु ग्रह का] ग्रहण और प्रति चिति [चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान प्राप्त होता है। क्रतु और अग्नि का शेष मानने पर एक बार [उक्त इष्टकाओं का] उपधान होगा।

---

१. तै० सं० ५।५।२।१॥ २. स्वरभेदेन तै० सं० ३।३।४।२॥

३. अचोदना चितिसवनयोः इति पाठा०।

[चित्रिण्यादीनां मध्यमचितावुपधानाधिकरणम् ॥७॥]

औपानुवाक्ये श्रूयते—चित्रिणीरुपदधाति[1], वज्रिणीरुपदधाति[2] इति । तत्र संदेहः—किमेताः पञ्चम्यां चितावुपधेया उत मध्यमायामिति ? किं प्राप्तम् ?

विवरण—सवनचितिशेषत्वे—यहां पर द्वन्द्व समास में अल्पाच्तरम् (अष्टा० २।२।३२) के नियम से 'चितिसवनशेषत्वे' प्रयोग होना चाहिये, जैसा कि भाष्यकार ने पूर्व 'अचोदनात् चितिसवनयोः' लिखा है। सूत्र में भी 'क्रत्वग्निशेषः' पद में द्वन्द्वे घ्यजाद्यन्तं विप्रतिषेधेन (महाभाष्य २।२।३३ वा०) नियम से अग्नि का पूर्व प्रयोग होना चाहिये। इन का समाधान यह है कि अग्निष्टोमयाग के पश्चात् ही अग्निचयन के करने का विधान होने से तथा अग्निचयन में सोम का प्रयोग होने से सोमयाग अभ्यर्हित है। अत एव सोमयाग को कहने वाले क्रतु (द्र० महाभाष्य तथा काशिका ४।३।६८) शब्द का सूत्रकार ने पूर्व प्रयोग किया है। सूत्रगत 'क्रत्वग्निशेषः' की आनुपूर्वी के अनुसार यथासंख्य सम्बन्ध को ध्यान में रख कर 'सवनचितिशेषत्वे' में बह्वच् सवन शब्द का पूर्व प्रयोग जानना चाहिये। क्योंकि 'सवन' सोमयाग का अवयव है और चिति अग्नि का। विपर्यय से निर्देश करने पर यथासंख्य नियम से कोई विपरीत सम्बन्ध न जान लेवे, अतः संबंध विशेष-प्रतिपत्यर्थ सामान्य प्रयोग का उल्लङ्घन किया गया है। प्रतिसवनम् सोमयाग में तीन सवन होते हैं—प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन। अदाभ्य और अंशु ग्रह को सवन का शेष मानने पर इनका ग्रहण प्रतिसवन प्राप्त होगा। क्रतु का शेष मानने पर प्रातःसवन में ही इनके ग्रहण से श्रुतिवचन चरितार्थ हो जाता हैं। प्रतिचिति—अग्निचयन प्रथमवार सहस्र इष्टकाओं से, द्वितीय बार द्विसहस्र इष्टकाओं से और तृतीय बार तीन सहस्र इष्टकाओं से किया जाता है (द्र० मी० ४।३, अधि० २। सूत्र ३ के भाष्य में उद्धृत वाक्य, पृष्ठ १३१०) प्रथमवार सहस्र इष्टकाओं के चयन में भी दो दो सौ इष्टकाओं का ऊपरतले पांच बार चिति=चयन होता है। द्वितीय बार में दो दो सौ इष्टकाओं का दस बार और तृतीय बार में १५ बार चयन होता है। इस प्रकार चित्रिणी आदि को चिति का शेष मानने पर प्रतिचिति=प्रतिचयन प्राप्ति होगी। अग्नि का शेष मानने पर चिति के साथ एक बार सम्बन्ध हो जाने से श्रुतिवचत गतार्थ (=प्रयोजनवान्) हो जाता है। चित्रिणी आदि इष्टकाओं का मध्यम चिति (=तृतीय चिति) में उपधान होता है, यह अगले अधिकरण में कहेंगे ॥१६॥

—:०:—

व्याख्या—औपानुवाक्या काण्ड में सुना जाता है—'चित्रिणी इष्टकाओं का उपधान करता है, वज्रिणी इष्टकाओं का उपधान करता है'। इनमें सन्देह होता है—क्या इन इष्टकाओं का पांचवीं चिति में उपधान करें अथवा मध्यम (=तृतीय) चिति में ? क्या प्राप्त होता है ?

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. तै० सं० ५।७।३।१॥

अन्ते स्युरव्यवायात् ॥१७॥ (पू०)

पञ्चम्यामेव । इष्टकाः कृतक्रमा अन्या नैताभिर्व्यवेष्यन्ते ॥१७॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥ (पू०)

आवपनं वोत्तमा चितिर् अन्या इष्टका उपदधाति[1] इति ॥१८॥

मध्यमायां तु वचनाद् ब्राह्मणवत्यः ॥१९॥ (उ०)

नैवैता अन्त्यायां चितौ । कस्यां तर्हि ? मध्यमायाम् । कुतः ? ब्राह्मणवत्य

अन्ते स्युरव्यावायात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान (अन्ते) पञ्चम चिति में (स्युः) होवे, (अव्यवायात्) प्राप्त क्रम अन्य इष्टकाओं का व्यवधान न होने से ।

व्याख्या—**पञ्चम चिति में ही रखी जायें । नियत है क्रम जिनका ऐसी अन्य इष्टकाएं इन (=चित्रिणी वज्रिणी इष्टकाओं) से व्यवहित नहीं होंगी ॥१७॥**

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥

सूत्रार्थः—'अन्य इष्टकाएं रखता है' ऐसे (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी चित्रिणी वज्रिणी इष्टकाएं पञ्चम चिति में रखी जायें ।

व्याख्या—'आवपन (=अन्यतः प्राप्त को जिस में रखा जाये ऐसा स्थान) उत्तम (=अन्त्य=पञ्चम) चिति है । [अन्य] अन्य इष्टकाएं रखता है [ऐसा सुना जाता है]' ।

विवरण—**आवपनम्**—यहां अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय है । **आवपन्त्योप्यन्तेवाऽस्मिन्निति आपवनम्** ॥१८॥

मध्यमायां तु वचनाद् ब्राह्मणवत्यः ॥१९॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् पञ्चम चिति में चित्रिणी इष्टकाओं आदि का उपधान नहीं होता है । (मध्यमायाम्) मध्यम=तृतीय चिति में (वचनात्) वचन सामर्थ्य से रखे । क्योंकि ये इष्टकाएं (ब्राह्मणवत्यः) ब्राह्मणवती हैं । ['ब्राह्मणवती' इष्टकाओं को मध्यमचिति में रखने का विधिवाक्य भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—**ये अन्त्य चिति में नहीं रखी जायें । तो किस में रखी जायें ? मध्यम (तृतीया चिति) में । किस हेतु से ? ये इष्टकाएं ब्राह्मणवती हैं । उन (=ब्राह्मणवती) का**

---

१. मै० सं० ३।३।१॥

एता इष्टकाः । तासां मध्यमा चितिराम्नायते—**यां वै कांचिद् ब्राह्मणवतीमिष्टकामभिजानीयात् तां मध्यमायां चितावुपसंदध्याद्**[1] इति । ननु सर्वा एवेष्टका ब्राह्मणवत्यः? नेत्याह । अपरा लिङ्गक्रमात्, समाख्यानाच्च । तस्मादेता नान्ते स्युरिति ॥१६॥

चित्रिण्यादीनां मध्यमचितावुपधानाधिकरणम् ॥७॥

—:०:—

स्थान मध्यम चिति पढ़ी गई है—'जिस किसी इष्टका को ब्राह्मणवती जाने, उसको मध्यम चिति में रखे ।' (आक्षेप) सभी इष्टकाएं ब्राह्मणवती हैं ? (समाधान) नहीं, अन्य इष्टकाएं लिङ्ग के क्रम से और समाख्या (=संज्ञा) से रखी जाती हैं । इसलिये ये अन्त में नहीं होंगी ।

विवरण—सर्वा एवेष्टका ब्राह्मणवत्यः—'इसका भाव यह है कि ब्राह्मण वचन से विहित इष्टकाओं का मध्यम चिति में रखने का विधान है, परन्तु अग्निचयन में जितनी इष्टकाएं हैं वे सब ब्राह्मण वचन से विहित होने से ब्राह्मणवती हैं । ऐसी स्थिति में यह कैसे जाना जायेगा कि इन इष्टकाओं को मध्यम चिति में रखें, इनका समाधान भाष्यकार ने इस प्रकार किया है—इष्टकाओं के ब्राह्मणवती होने पर भी जिस क्रम से उपधान का लिङ्गवचन और समाख्या सुनी जाती हैं उस क्रम से रखी जायेंगी । चित्रिणी आदि अनारभ्याधीत प्रकरण में है अतः ये लिङ्ग क्रम से गृहीत नहीं होती हैं अतः इनको ही मध्यम चिति में रखा जायेगा ।

कुतूहलवृत्तिकार ने 'ब्राह्मणवत्यः' का विशेष अर्थ किया है—ब्राह्मण शब्द से अतिशायन (=आधिक्य) अर्थ में मतुप् प्रत्यय है । यह अतिशय यहां अनारभ्याधीत प्रतिपद् विधान से प्रवृत्ति विशेष रूप विवक्षित है । अन्य सब इष्टकाएं ब्राह्मण वचन से विहित होने पर भी प्रत्यक्ष लिङ्गादि कल्पित विधि से तथा **इष्टकाभिश्चिनुते** इस सामान्य विधि से चयन का विधान होने से ब्राह्मणवत्व रूप से अर्थापत्ति के असम्भव होने से, तथा अर्थापत्ति के सम्भव होने पर भी [अन्य वचनों से उनको चयन का विधान हो जाने से] अर्थवाद (=यां वै कांचन) अर्थवाद का आश्रयण अनर्थक होने से अनुचित है । अतः अनारभ्याधीत ब्राह्मणवचन से विहित चित्रिणी आदि ही उक्त वचन में ब्राह्मणवती शब्द से अभिप्रेत हैं । कल्प सूत्रों में तो अनारभ्य विहित इष्टकाओं में से भी किन्हीं का अन्यथा उपधान कहा गया है उनमें शाखान्तर के वचन प्रमाण रहे होंगे ।

—:०:—

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

[प्राग्लोकंपृणायाश्चित्रिण्याद्युपधानाधिकरणम् ॥८॥]

औपानुवाक्ये काण्ड इष्टकाः समाम्नाताः—**वज्रिणीरुपदधाति,**[1] **चित्रिणीरुपदधाति**[2], **भूतेष्टका उपदधाति**[3] इति । तत्रेदं समधिगतं, मध्यमायां चितावुपधेया इति । तत्र संदेहः—किं प्राग्लोकंपृणाया उत पश्चादिति ? किं प्राप्तम् ? **अन्ते तु बादरायणः**[4] इति । एवं प्राप्ते, उच्यते—

प्राग्लोकंपृणायास्तस्याः संपूरणार्थत्वात् ॥२०॥ (उ०)

प्राग्लोकंपृणायाः । तस्याः संपूरणार्थत्वात् । संपूरणार्थता तस्याः श्रूयते—**यदेवास्योनं, यच्छिद्रं, तदेतया पूरयति, लोकंपृणच्छिद्रं पृण**[5] इति । अपूर्वत्वाच्चार्थस्य विधिरेवायं, संस्तवो नेति गम्यते । तस्मात् प्राग्लोकंपृणायाः स्यात् ॥२०॥ **प्राग्लोकंपृणायाश्चित्रिण्याद्युपधानाधिकरणम्॥८॥**

—:o:—

व्याख्या—औपानुवाक्या काण्ड में इष्टकाएं पढ़ी हैं—'वज्रिणी इष्टकाओं का उपधान करता है, चित्रिणी इष्टकाओं का उपधान करता है, भूतेष्टकाओं का उपधान करता है।' इस विषय में यह जाना गया कि मध्यमा चिति में इनका उपधान करना चाहिये । इसमें संदेह होता है क्या लोकम्पृणा से पूर्व [उपधान किया जाये] या पश्चात् ? क्या प्राप्त होता है ? अन्त में यह बादरायण का मत है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

प्राग्लोकम्पृणायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान (लोकम्पृणायाः) लोकम्पृणा संज्ञक इष्टका से (प्राक्) पहले करना चाहिये (तस्याः) उसके (सम्पूरणार्थत्वात्) सम्पूर्णता के लिये होने से । [वचन भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—लोकम्पृणा से पूर्व उपधान करना चाहिये । उसके सम्पूर्णता के लिये होने से उसकी सम्पूर्णार्थता सुनी जाती है—'जितनी इस की न्यूनता, जो छिद्र, उसे इससे पूरित करता है—लोक को पूर्ण कर, छिद्र को पूर्ण कर।' अपूर्व अर्थ होने से यह इस अर्थ की (=अन्त में उपधान की) विधि ही है, स्तुति नहीं है, यह जाना जाता है । इस लिये लोकम्पृण से पूर्व [चित्रिणी आदि इष्टकाओं का] उपधान होवे । २०॥

विवरण—कुतूहलवृत्तिकार ने भाष्योद्धृत वचन, जिससे लोकम्पृणा इष्टकाओं से पूर्व

१. तै० सं० ५।७।३।१॥ २. अनुपलब्धमूलम् ।
३. तै० सं० ५।६,३।१॥ ४. मी० ५।२।१९॥
५. तुलना कार्या—'लोकंपृणछिद्रं पृणेति यदेवास्योन यच्छिद्रं तदापूरयति । का० सं० २१।३॥

[पवमानेष्ट्युत्तरकालमग्निहोत्राद्यनुष्ठानाधिकरणम् ॥९॥]

आधाने सन्ति पवमानेष्टयः । सन्ति च नियतानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि, अनियतानि चैन्द्राग्नादीनि । तत्र संदेहः—किं पवमानेष्टीः कृत्वा कर्माणि प्रतिपत्तव्यानि, उताऽऽहितमात्रेष्वग्निष्विति ? किं प्राप्तम् ? आहितमात्रेष्विति । कुतः ?

चित्रिणी आदि इष्टकाओं का विधान सूत्रकार ने दर्शाया हैं ? उस पर लिखा है—'अप्राप्तार्थ होने से यह विधि ही है।' इसमें हेतु दिया है 'प्रकृत (मध्यमाचिति) में लोकम्पृणा इष्टकाओं के न होने से, [विहित इष्टकाओं के] उपधान से क्षेत्र (=निर्मीयमाण स्थण्डिल) के पूर्ण हो जाने से अवकाश (=रिक्त स्थान) न होने से अनारभ्यविहित इष्टकाओं के अन्त में लोकम्पृणा इष्टकाओं का स्थापन होगा ?

इस पर शङ्का की है—'लोकम्पृणा इष्टकाओं के पूरणार्थत्व चित्यन्तर में सावकाश हैं, मध्यमचिति में लोकम्पृणा इष्टकाओं का अभाव होने से वहां (=मध्यमचिति में) लोकम्पृणाओं से पूर्व समावेश का कथन कैसे किया है ? [उत्तर] सामान्य रूप से श्रुत 'यच्छिद्र' वचन का संकोच युक्त नहीं हैं।' इसका भाव यह है कि 'यच्छिद्र' का उल्लेख जहां लोकम्पृणा का विधान है वहां छिद्र पूर्त्यर्थ है। अतः 'यच्छिद्रं' को सामान्य अर्थ में प्रयुक्त मान कर जैसे लोकम्पृणा का छिद्र पूर्त्यर्थ उपधान होता है उसी प्रकार मध्यमचिति में अन्त में 'विहित इष्टकाओं के उपधान के पश्चात् रिक्त स्थान रहता है वहां अनारभ्य विहित इष्टकाओं का उपधान करना चाहिये' यह सामान्य तात्पर्य अभिप्रेत है।

विशेष—सूत्रकार और भाष्यकार ने पूर्व अधिकरण से अनारभ्य विहित चित्रिणी आदि इष्टकाओं को मध्यमचिति में उपधान होवे' निर्णय करके इस अधिकरण से मध्यमचिति में ही लोकम्पृणा से पूर्व उपधान किया जाय यह सिद्धान्त किया है। कुतूहलवृत्तिकार के मतानुसार मध्यमचिति में न लोकम्पृणा इष्टकाएं हैं और विहित इष्टकाओं के स्थापन के पश्चात् न स्थान रिक्त है जहां लोकम्पृणाओं का उपधान होवे। इस प्रक्रियागत विरोध को हम सुलझाने में असमर्थ हैं। हो सकता है सूत्रकार और भाष्यकार का संकेत शाखान्तर की ओर हो। कुतूहलवृत्तिकार बौधायन सूत्रानुयायी हैं अतः उसने अपने सूत्र की दृष्टि से लिखा होगा।

—:o:—

व्याख्या—आधान में पवमान संज्ञक इष्टियां हैं और नियत कर्म अग्निहोत्रादि हैं तथा अनियत ऐन्द्राग्न आदि कर्म। इनमें सन्देह होता है—क्या पवमानेष्टियों को करके कर्म करने चाहिये अथवा अग्नियों के आधानमात्र करने चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ? आधान मात्र करने के पश्चात् करने चाहिये। किस हेतु से ? अग्नियों के आधान मात्र कर लेने पर

आहितमात्रेष्वसावग्निषु कर्माणि कर्तुं समर्थो भवति । यथा **आहिताग्निर्न विलन्नं दार्वभ्यादध्याद्**[1] इत्येवमादीन्याहिताग्निव्रतान्याहितमात्रेष्वेव भवन्तीति दर्शयति । **अग्निं वै सृष्टमग्निहोत्रेणानुद्रवन्ति**[2] इत्याहितमात्रेष्वग्निहोत्रं दर्शयति । तस्मान्न पवमानेष्टयः प्रतीक्षितव्या इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

संस्कृते[3] कर्म संस्काराणां तदर्थत्वात् ॥२१॥ (उ०)

कर्मों के करने के लिये समर्थ हो जाता है। जैसे 'आहिताग्नि [यजमान] गीली लकड़ी को न डाले' इत्यादि आहिताग्निव्रत अग्नियों के आधानमात्र में ही होते हैं' यह दर्शाता है। 'उत्पन्न किये गये अग्नि को अग्निहोत्र से अनुद्रवण (=अनुगमन) करते हैं' वचन आधानमात्र में ही अग्निहोत्र को दर्शाता है। इसलिये पवमानेष्टियों की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। ऐसा होने पर कहते हैं—

विवरण—**सन्ति पवमानेष्टयः**—अग्नियों के आधानमात्र के अनन्तर पवमान पावक और शुचि नाम की अग्नियों के लिये तीन इष्टियां विहित हैं (द्र० आप० श्रौत ५।२१।१-७)। ये इष्टियां उसी दिन की जाती हैं। इस में पक्षान्तर है—बारह दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, आधा महीना, ऋतु वा संवत्सर के अतीत होने पर (आप० श्रौत ५।२।१-२, रुद्रदत्त वृत्ति)। बौधायन ने तो स्पष्ट ही अतीतार्थ का निर्देश किया है—**द्वादशसु व्युष्टासु** (बौधा० २।२०।८)। यहां आद्य=सद्यः पक्ष में संशय होता है ऐसा जानना चाहिये। **अनियतानि चैन्द्राग्नादीनि**—आप० श्रौत ५।२२।१ में कहा है—ऐन्द्राग्न एकादश कपाल का [पवमानेष्टियों के अनन्तर ही] निर्वाप करे, अदिति के लिये घृत में चरु का। तदन्तर आग्नावैष्णव एकादश कपाल, अग्नीसोमीय एकादश कपाल, शिपिविष्ट विष्णु के लिये घृत में चरु का निर्वाप करे (आप० श्रौत ५।२२।६)। **आहिताग्निव्रतानि**—भाष्यकार ने जो वचन उद्धृत किया है वह हमें नहीं मिला। आहिताग्निव्रतों के लिये आप० श्रौत ५।२४।२-१० देखें। इसी प्रकार अन्य याजुष श्रौत सूत्रों में भी निर्दिष्ट हैं।

संस्कृते कर्म संस्काराणां तदर्थत्वात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—पवमानेष्टियों से (संस्कृत) संस्कृत हुई अग्नि में (कर्म) अग्निहोत्रादि कर्म करने चाहियें। (संस्काराणाम्) पवमानेष्टिरूप संस्कारों के (तदर्थत्वात्) अग्नियों के संस्कार के लिये होने से।

विशेष—'संस्कृते कर्म' यहां तीनों अग्नियों की जाति विवक्षा में एकवचन का निर्देश जानना चाहिये। कुतूहलवृत्तिकार ने 'संस्कृतेषु' पाठ स्वीकार किया है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० आहिताग्निव्रतानि—आप० श्रौत ५।२५।२-२०॥

२. तुलना कार्या—का० सं० ८।११॥ का० सं० ७।८॥

३. जातावेकवचनम् 'संस्कृतेष्वाग्निषु' इत्यर्थः कुतूहलवृत्तिकारस्तु 'संस्कृतेषु' इत्येव पाठं स्वीचकार

पवमानेष्टिभिः संस्कृतेष्वग्निषु कर्माणि वर्तेरन् । कुतः ? संस्काराणां तदर्थत्वात् । संस्कारशब्दा एत आहवनीयादयः । संस्कारस्य कस्यचिदभावे नाऽऽहवनीयादिषु प्रतिपत्तिः स्यात् । तस्मात् संस्कृतेष्वग्निषु कर्माणीति ॥२१॥

अनन्तरं व्रतं तद् भूतत्वात् ॥२२॥ (उ०)

यत्तु आहिताग्निर्न क्लिन्नं दार्वभ्यादध्याद्[1] इत्येवमादि । युक्तं तत्र यदाहितमात्रेषु क्रियते, आहिताग्नेस्तद्व्रतमुच्यते । स चाऽऽहितमात्रेष्वाहिताग्निः संवृत्तः । तस्मादनन्तरं व्रतं स्यात् । तद्भूतत्वात् ॥२२॥

पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् ॥२३॥ (पू०)

अथ यदुक्तम्—आहितमात्रेष्वग्निहोत्रं दर्शयति पूर्वमिष्टिभ्य इति । तस्य कः परिहार इत्याभाषान्तं सूत्रम् ॥२३॥

व्याख्या—पवमान इष्टियों से संस्कृत अग्नियों में [अग्निहोत्रदि कर्म] किये जायें। किस हेतु से ? संस्कारों के तदर्थ (=अग्नियों के लिये) होने से। ये आहवनीय आदि शब्द संस्कार शब्द वाले हैं [अर्थात् पवमानेष्टि आदियों से संस्कृत अग्नियों में ही आहवनीय आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं]। किसी भी संस्कार के अभाव में आहवनीय आदि शब्दों में ज्ञान नहीं होगा [अर्थात् संस्कार के अभाव में आहितमात्र अग्नियों में आहवनीय आदि शब्द की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः आहवनीयादि शब्दों से आहितमात्र अग्नियां गृहीत नहीं होंगी]। इसलिये संस्कृत अग्नियों में ही कर्म होवे ॥२१॥

अनन्तरं व्रतं तद् भूतत्वात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(व्रतम्) आहिताग्नि के लिये कहे गये व्रत (अनन्तरम्) अग्नियों के आधानमात्र के अनन्तर होवें। (तद्भूतत्वात्) आधानमात्र से उसके=यजमान के आहिताग्नि हो जाने से। ['व्रतम्' यहां जाति में एकवचन है। व्रत अनेक हैं]।

व्याख्या—जो यह कहा कि आहिताग्नि गीली लकड़ी [अग्नि में] न डाले आदि, [उसके विषय में कहते हैं] वहां (=उस विषय में) युक्त है जो आहितमात्र किया जाता है। वह व्रत आहिताग्नि (=जिसने अग्नियों का आधान कर लिया है उस यजमान) का वह व्रत कहा है। वह (=यजमान) अग्नियों के आधानमात्र कर लेने से आहिताग्नि हो गया इसलिये उसके अनान्तर व्रत होवे उसके सम्पन्न हो जाने से ॥२२॥

पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(पूर्वम्) पवमानेष्टियों से पूर्व (च) ही अग्निहोत्रादि होवें (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से। [लिङ्ग २१ वें सूत्र के भाष्य में पूर्व पक्ष में लिखा है—अग्निर्वैसृष्टम् इत्यादि]।

व्याख्या—और जो कहा कि [श्रुति अग्नियों के] आधानमात्र में इष्टियों से पूर्व अग्निहोत्र का निदर्शन कराती हैं, उसका क्या परिहार है ? यह आशंका रूप सूत्र है ॥२३॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

अर्थवादो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२४॥ (उ०)

अर्थवाद एषः । कुतः ? अर्थस्य विद्यमानत्वात् । विद्यमानो हि तत्रान्य एवाग्निहोत्रहोमः । कथम् ? **होतव्यमग्निहोत्रं न होतव्यमिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः । यद्यजुषा जुहुयादयथापूर्वमाहुतीर्जुहुयात् । यदि न जुहुयादग्निः परापतेत् । तूष्णीमेव होतव्यम्**[1] इति । तस्य तूष्णींहोमस्य प्रशंसार्थोऽयमर्थवादः ॥२४॥

अर्थवादो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व आशंका की निवृत्ति के लिये है । (अर्थवादः,) 'अग्निं वै सृष्टम' इत्यादि अर्थवाद है । (अर्थस्य) अग्निहोत्ररूप अर्थ के (विद्यमानत्वात्) विद्यमान होने से ।

विशेष—यह सूत्रार्थ भाष्यानुसार है । अगला भाष्य विवरण देखें ।

व्याख्या—['अग्निं वै सृष्टम्'] यह अर्थवाद है । **किस हेतु से ? अर्थ के विद्यमान होने से । वहां अन्य ही अग्निहोत्र होम विद्यमान है । कैसे ? 'होम करना चाहिये, होम नहीं करना चाहिये, ऐसा ब्रह्मवादी विचार करते है । जो यजुर्मन्त्र से होम करे तो अयथापूर्व आहुतियां होमे यदि न होमे (=होम न करे) तो अग्नि नष्ट हो जावे । तूष्णीम् ही होम करे' । उस तूष्णीं होम की प्रशंसा के लिये यह अर्थवाद है ॥**

विवरण—विद्यमानो······अन्य एवाग्निहोत्रहोमः—आगे जो उद्धरण प्रस्तुत किया है उसमें 'अग्निहोत्रनामधेय' (द्र० मी० १।४। अधि० ३ सूत्र ४) से अभिप्रेत अग्निहोत्र विवक्षित नहीं है । वस्तुतः यह आधान के अनन्तर किया जाने वाला तूष्णीं होम है । यह तूष्णीं होम भी अग्नि के लिये हैं अतः 'अग्नये होत्रम्' इस दृष्टि से इसे अग्निहोत्र कहा गया है । **होतव्यमग्निहोत्रम्**—इत्यादि यह वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ । **यद् यजुषा जुहुयात्**—सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' (यजु ३।६) इस यजुर्मन्त्र से होम करे तो 'अयथापूर्व आहुतियां देवे' । इसका भाव आप० श्रौत ५।१७।६ की रुद्रदत्त की वृत्ति तथा धूर्तस्वामी के भाष्य और उसी की रामाण्डार की वृत्ति के अनुसार यह है—'अग्निहोत्र का आरम्भ सायंकाल से होता है (वेद में भी सायंकाल के मन्त्र पूर्व में पठित हैं) और प्रातःकाल उसकी पूर्ति होती है । यदि आधान के अनन्तर ही 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः' से आहुति देवें तो 'यथापूर्व' जैसा सायं से प्रारंभ का विधान हैं वैसी आहुतियां न होवें । यदि सायंकाल के याजुष मन्त्र से आहुतियां देवें तो भी अयथाकाल में आहुतियां होवें । **अग्निः परापतेत्**—इस का भाव स्पष्ट है कि आहितमात्र अग्निं में होम न करें तो वह नष्ट हो सकती है । अतः 'अग्निं वै सृष्टम्' वाक्य तूष्णीं होम की

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

न्यायविप्रतिषेधाच्च ॥२५॥ (उ०)

न्यायविप्रतिषेधश्च भवेत्, यद्यनन्तरमग्निहोत्रादयः स्युः । यः पूर्वोक्तो न्यायः, स विप्रतिषिध्येत, **न वा तासां तदर्थत्वाद्**[1] इति । तस्मात् संस्कृते कर्माणि भवेयुरिति ॥२५॥ **पवमानेष्टिसंस्कृताऽग्नावग्निहोत्रानुष्ठानाधिकरणम् ॥६॥**

—:०:—

प्रशंसार्थ अर्थवाद हैं। इस अर्थवाद वाक्य में पठित 'अग्निहोत्र' शब्द 'अग्नये होत्रम्' इस सामान्य अर्थ को लेकर प्रयुक्त हुआ है। अर्थवादवचन विधायक नहीं होते। अतः अग्निहोत्रेणानुद्रवन्ति में संज्ञावाचक अग्निहोत्र का विधान नहीं है। तूष्णीं होम के विधान के लिये आप० श्रौत० ५।१७।६॥ का **ततस्तूष्णीमग्निहोत्रं जुहोति** सूत्र देखें। इस अग्निहोत्र का कितना भाग तूष्णीं होवे, इसमें श्रौतसूत्रकारों के मतभेद इसी सूत्र की पूर्वोक्त वृत्ति और भाष्य में देखें ॥२४॥

न्यायविप्रतिषेधाच्च ॥२५॥

सूत्रार्थः—(न्यायविप्रतिषेधात्) न्याय के विरोध से (च) भी पवमानेष्टियों से संस्कृत अग्नियों में ही अग्निहोत्र आदि कर्म होवें।

विशेष—सूत्र में स्मारित न्याय मी० ३।६।१७ **न वा तासां तदर्थत्वात्** सूत्रोक्त है। इस के लिये अगला विवरण देखें।

व्याख्या—**और न्याय का विरोध भी होवे यदि [आधानमात्र] के अनन्तर अग्निहोत्रादि होवें। जो पूर्व उक्त न्याय है वह विरुद्ध होवे** न वा तासां तदर्थत्वात्, **(मी० ३।६।१७)। इस लिये पवमानेष्टियों से संस्कृत अग्नियों में कर्म होवें ॥**

विवरण—**न वा तासां तदर्थत्वात्** सूत्रोक्त न्याय इस प्रकार है—अग्न्याधान में विहित पवमानेष्टियों में **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** से जिस प्रकार प्रकृति=दर्शपूर्णमास से प्रयाजादि अङ्गों की प्राप्ति होती है उसी प्रकार पवमानेष्टियों से संस्कृत आहवनीयादि अग्नियों की भी प्राप्ति होती है। इस आशंका का समाधान उक्त सूत्र में किया है कि 'पवमानेष्टियों में चोदक वचन से पवमानेष्टियों से संस्कृत आहवनीयादि की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि पवमानेष्टियां स्वयं आहित अग्नियों के संस्कार के लिये हैं। अतः चोदक वचन से इस अंग को छोड़ कर शेष अङ्गों की प्राप्ति होती है ॥२५॥

---

१. मी० ३।६।१७ ॥

[अग्निचिद्व्रतानां क्रत्वन्तेऽनुष्ठानाधिकरणम् ॥१०॥]

अग्निचिद् वर्षति न धावेत्[1], न स्त्रियमुपेयात्[2]। तस्मादग्निचिता पक्षिणो नाशितव्याः[3] इत्येवमादयः पदार्थाः श्रूयन्ते। तेषु संदेहः—किं संचितमात्रे प्रतिपत्तव्या उत क्रत्वन्त इति ? किं प्राप्तम् ?

संचिते त्वग्निचिद् युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य ॥२६॥ (पू०)

सञ्चितमात्र एवेति। अग्निं यश्चितवान् सोऽग्निचिदिति, तस्य श्रूयमाणाश्चितवतोऽनन्तरमेव प्राप्नुवन्ति। प्राप्ते निमित्ते नैमित्तिकं कर्तव्यम्। तस्मादनन्तरमेव ॥२६॥

व्याख्या—'अग्नि का जिसने चयन किया है वह मेघ के बरसते हुए न दौड़े, स्त्री के समीप न जाये (=स्त्री-सम्भोग न करे)'। 'इसलिये अग्निचयन किये हुए को पक्षियों को नहीं खाना चाहिये' इत्यादि पदार्थ सुने जाते हैं। उनमें सन्देह होता है—क्या [अग्नि-स्थण्डिल के] चयनमात्र करने पर [इन्हें] जानना चाहिये अथवा [अग्निचयन] क्रतु के अन्त में जानना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अग्निचिद् वर्षति न धावेत् इत्यादि से अग्निचयन करने हारे यजमान के कुछ नियम (=व्रत) कहे हैं। इन में सन्देह होता है कि ये व्रत केवल स्थण्डिल चयन करने के पश्चात् ही लागू होते हैं अथवा अग्निचयन व्रत कर लेने के पश्चात् लागू होते हैं। सन्देह का कारण यह है कि पूर्व अधिकरण में अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान पवमानेष्टियों से अग्नियों के संस्कृत होने पर करने का विधान किया है और न क्लिन्नं दार्वभ्यादध्यात् आदि व्रतों का आधानमात्र के अनन्तर प्रवृत्ति दर्शाई है।

सञ्चिते त्वग्निचिद् युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य ॥२६॥

सूत्रार्थः—(सञ्चिते) अग्नि के स्थण्डिल के चयनमात्र में (तु) ही यजमान (अग्निचित्) अग्निचित् कहाता है। अतः (निमित्तस्य) अग्निचित् के निमित्त चयन के (प्रापणात्) प्राप्त होने से=सम्पन्न हो जाने से उसी समय से व्रतों का पालन (युक्तम्) युक्त है।

व्याख्या—स्थण्डिल के चयनमात्र कर लेने पर ही [व्रतों का आचरण] जानना चाहिये। जिसने अग्नि का चयन कर लिया वह अग्निचित् कहाता है। उसके श्रूयमाण [व्रत] चयन सम्पन्न होने के अनन्तर ही प्राप्त होते हैं। निमित्त के प्राप्त (=उपस्थित) होने पर नैमित्तिक कर्म करना चाहिये। इसलिये [स्थण्डिलचयन के] अनन्तर ही [व्रतों की प्राप्ति होनी चाहिये]।

---

१. तै० सं० ५।४।६।३॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—मै० सं० ३।३।१ 'तस्यादग्निचिता स्त्री नोपेया'। तै० सं० २।५।५।६॥ इत्यत्र यद्वचनम्—'न स्त्रियमुपेयात्' इति तद्दार्शपौर्णमासिकम्।

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र० मै० सं० ३।४।८॥ 'तस्मादग्निचिता पक्षिणो नाशितव्यम्।'

क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात् ॥२७॥ (उ०)

प्रयोगवचनो ह्यत्र तान्पदार्थान्प्रापयति, येषां क्रत्वर्थत्वम् । न चैषां क्रत्वर्थत्वमस्ति । पुरुषार्था ह्येते । कथम् ? प्रतिषेधे पुरुषः श्रूयते— **वर्षति न धावेत्**[1], **न स्त्रियमुपेयाद्**[2] इत्येवमादि । न च क्रत्वर्था एते प्रसक्ताः, येन प्रतिषेधः क्रतोरुपकुर्यात् ॥२७॥

विवरण—अग्निं यश्चितवान्—अग्निचित् शब्द में **अग्नौ चेः** (अष्टा० ३।२।९१) के नियम से अग्नि कर्म के उपपद होने पर 'चिञ् चयने' धातु से भूतकाल में कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय होता है । 'अग्नि' शब्द यहां आधाराधेय लक्षणा से अग्नि के आधारभूत स्थण्डिल का वाचक है । उसी का इष्टकाओं से चयन होता है । अतः स्थण्डिल के चयनमात्र कर लेने पर यजमान अग्निचित् शब्द का भागी बन जाता है ।

क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है । (क्रत्वन्ते) अग्नि संज्ञक क्रतु के अन्त में ही उक्त व्रतों की प्राप्ति होती है । (प्रयोगवचनाभावात्) प्रयोगवचन के अभाव से ।

विशेष—'प्रयोगवचनाभावात्' का भाव यह है कि किस याग में कौन-कौन से कर्म होते हैं इन की प्राप्ति प्रयोगवचन (='इस याग में ये कर्तव्य हैं और इस के अनन्तर यह कर्म किया जाये' इत्यादि का प्रापक वचन) **अग्निचिद् वर्षति न धावेत्** आदि व्रतों को प्राप्त नहीं करता । इसलिये ये व्रत क्रत्वर्थ=क्रत्वङ्ग नहीं, पुरुषार्थ=पुरुष के लिये हैं । विशेष भाष्य में देखें ।

व्याख्या—प्रयोगवचन ही उन पदार्थों को प्राप्त कराता है, जो क्रतु के लिये होते हैं । इन [व्रतों] की क्रत्वर्थता नहीं है, ये पुरुषार्थ [पुरुष के लिये] हैं । किस हेतु से ? प्रतिषेध में पुरुष सुना जाता है—'बरसते हुए में न दौड़े, स्त्री को प्राप्त न होवे' इत्यादि । ये क्रतु के लिये प्राप्त नहीं हैं, जिससे क्रतु का उपकार करें ।

विवरण—पूर्वपक्षी ने अग्निचयन क्रतु के विधायक **'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते'** में 'चिनुते' क्रिया का अर्थ केवल मात्र इष्टकाओं से स्थण्डिल का चयनमात्र समझ कर इष्टकाचयन के अनन्तर ही 'अग्निचित्' प्रयोग की उपपत्ति समझ कर चयनमात्र में **अग्निचिद् वर्षति न धावेत्** आदि नियमों की प्राप्ति दर्शाई थी । वस्तुतः यहां **अग्निं चिनुते** में श्रुत क्रिया का पर्यवसान इष्टकाचयन से स्थण्डिलमात्र की निर्वृत्ति में नहीं होता है, क्योंकि स्थण्डिलचयन के अनन्तर जब तक याग न होवे चयनमात्र निरर्थक रहता है । इसलिये जैसे **वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रेजाते** (तै० सं० २।२।५।३) आदि में केवल यज्ञीय द्रव्य के चतुर्मुष्टि निर्वाप तक 'निर्वपेत्' का व्यापार मानने पर **किमनेन कुर्यात्** (=इससे क्या करें) आशंका बनी

---

१. तै० सं० ५।४।९।३॥ २. द्र० पृष्ठ १५३१, टि० २ ।

ननु पुरुषार्था अपि चितवतः श्रवणाच्चयनानन्तरं प्राप्ताः। नेति ब्रूमः—

अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात् ॥२८॥ (उ०)

अग्न्यर्थं चयनं तत्। यदग्नेः स्वं कार्यं कुर्वतः साहाय्ये वर्तते, तत्तदर्थम्। कश्च तस्य स्वार्थः? यागसिद्धिः। सिद्धे च यागे चयनेनोपकृतं भवति। तस्मात् सिद्धे यागेऽग्निचित्। तेन ऋत्वन्त इति ॥२८॥ **अग्निचिद्वर्षणादि व्रतानां ऋत्वन्तेऽनुष्ठानाधिकरणम् ॥१०॥**

—:०:—

रहने से और निर्वापमात्र के अनर्थक होने से 'निर्वपेत्' क्रिया की व्याप्ति आहुतिप्रदान (=याग) पर्यन्त मानी जाती है, उसी प्रकार 'चिनुते' क्रिया की व्याप्ति भी याग पर्यन्त है। इससे 'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते' वाक्य से अग्नि नामक याग का विधान होता है। मी० ४।४।१७ के भाष्य में भी कहा है—**योऽग्निं चित्त्वा** में 'चयनरूप पदार्थ के निर्वर्तित=निर्वृत्त (=सम्पन्न) हो जाते पर, अर्थ नहीं है। तो क्या है? वाक्यार्थ के निर्वृत्त होने पर। अतः 'चित्त्वा' का अर्थ है—'अग्नि के चयन से प्रयोजन को सिद्ध करके'। याग कर लेने पर ही चयन से अग्नि का प्रयोजन निर्वर्तित होता है अन्यथा नहीं। अर्थात् स्थण्डिल के चयनमात्र से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यही बात अगले सूत्र के भाष्य में भी कही है ॥२७॥

व्याख्या—**(आक्षेप) पुरुषार्थ होते हुए भी चयन सम्पन्न किये हुए पुरुष के श्रुत होने से [चयनमात्र के] अनन्तर प्राप्त होते हैं? (समाधान) नहीं प्राप्त होते, ऐसा हम कहते हैं—**

अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(अग्नेः) अग्नि का (कर्मत्वनिर्देशात्) कर्मरूप से निर्देश होने से [चयन ऋत्वर्थ है]।

व्याख्या—**वह चयन अग्नि के लिये हैं। जो अग्नि को अपने कार्य को करते हुए के साहाय्य में होता है, वह उस के लिये है [अर्थात् चयन अग्नि के स्वकार्य में सहायक होता हुआ अग्नि के लिये है]। उस (=अग्नि) का स्वप्रयोजन क्या है? याग की सिद्धि। याग के सिद्ध होने पर चयन से [अग्नि] उपकृत होता है। इसलिये याग के सिद्ध हो जाने पर [अर्थात् सम्पन्न हो जाने पर यजमान] अग्निचित् होता है। इसलिये [उक्त व्रत] ऋतु के अन्त में प्राप्त होते हैं।**

—:०:—

[दीक्षणीयान्ते दीक्षितस्य स्वधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥११॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद्[1] दीक्षिष्यमाणः** इति। तथा **दण्डेन दीक्षयति[2], मेखलया दीक्षयति[2], कृष्णाजिनेन दीक्षयति[2]**, इत्येवमादि। तत्र संदेहः—किं सर्वैर्दीक्षितो भवति, अथवा इष्टचन्ते दीक्षित इति? किं तावत् प्राप्तम्?

परेणाऽऽवेदनाद् दीक्षितः स्यात् सर्वैर्दीक्षाभिसंबन्धात् ॥२९॥ (पू०)

सर्वैरिति। कुतः? दीक्षाभिसंबन्धात् दीक्षासंबन्धो भवति—दण्डेन दीक्षयति, दीक्षामस्य करोतीत्यर्थः। यदीष्टचन्ते दीक्षितः स्यात् कथमस्य दण्डेन दीक्षां कुर्यात्?

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—'अग्नि और विष्णु देवता वाले एकादश कपाल का निर्वाप करे दीक्षा लेने वाला'। तथा 'दण्ड से दीक्षित करता है, मेखला से दीक्षित करता है, कृष्णाजिन से दीक्षित करता है' इत्यादि। इन में सन्देह होता है—क्या [पूर्व-निर्दिष्ट सब से दीक्षित होता है अथवा इष्टि के अन्त में दीक्षित होता है? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—दीक्षिष्यमाणः—भविष्यत्कालिक प्रयोग है। दीक्षा प्राप्त करने की इच्छा वाला। यहां आसन्नभविष्यत्कालता जाननी चाहिये। इसीलिये आरम्भ में 'दीक्षा लेने वाला' अनुवाद किया है। तात्पर्य है दीक्षा लेने के लिये उपस्थित।

परेणाऽऽवेदनाद् दीक्षितः स्यात् सर्वैर्दीक्षाभिसंबन्धात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(परेण) अन्य=अध्वर्यु से (आवेदनात्) 'दीक्षितोऽयं यजमानः' इत्यादि रूप आवेदन=ज्ञान कराने से (सर्वैः) सब=इष्टि तथा दण्डादि पदार्थों से (दीक्षितः) दीक्षित (स्यात्) होवे। (दीक्षाभिसम्बन्धात्) इष्टि और दण्डादि का दीक्षाओं के साथ सम्बन्ध होने से।

विशेष—सूत्र का भाव है—इष्टि तथा दण्डादि से दीक्षित करने के पश्चात् अध्वर्यु उच्चैः स्वर से सब को बताता है कि 'यह यजमान दीक्षित हुआ'। इससे ज्ञात होता है कि सभी साधनों से दीक्षित होता है। यदि दीक्षणीयेष्टिमात्र से दीक्षित हो जाता तो दण्डेन दीक्षयति आदि की क्या आवश्यकता थी? तथा दीक्षितोऽयं यजमान यह आवेदन भी इष्टि के अनन्तर ही होना चाहिये। परन्तु विधान है सब के अन्त में।

व्याख्या—सबसे दीक्षित होता है। किस हेतु से? [सबका] दीक्षा के साथ सम्बन्ध होने से। दीक्षा का संबन्ध होता है—दण्डेन दीक्षयति अर्थात् इस का दीक्षा सम्बन्ध करता है [अर्थात दीक्षित करता है]। यदि इष्टि के अन्त में ही दीक्षित हो जाये तो इसकी दण्ड से दीक्षा कैसे करें? इसलिये इष्टि से दीक्षित नहीं होता। और इष्टि के अन्त में इस

---

१. द्र० तै० सं० ५।५।१।४, अत्र 'निर्वपति' पाठः। २. अनुपलब्धमूलम्।

तेनेष्टचा न दीक्षितः। न चास्येष्टचन्ते दीक्षितशब्दं पश्यामः। आवेदने त्वस्य दीक्षितशब्दः। तस्मान्न तावति दीक्षितः स्यात्। न च संभवति समुच्चये विकल्पो न्याय्यः। पक्षे बाधः स्यात्। तत्र प्रयोगवचनो बाध्येत। तस्माद् भिन्नेष्वपि दीक्षा-संबन्धवाक्येषु प्रयोगवचनेन सहैकवाक्यतेत्यावेदनकाले दीक्षितः स्यात् ॥२९॥

इष्टयन्ते वा तदर्था ह्यविशेषार्थसंबन्धात् ॥३०॥ (उ०)

इष्टयन्ते वा दीक्षितः स्यात्। तदर्था हि सा, दीक्षार्था। कथम्? दीक्षिष्य-

---

[यजमान] के लिये दीक्षा शब्द [का व्यवहार] भी नहीं देखते। आवेदन काल में इस के लिये दीक्षित शब्द देखते हैं। इसलिये उसी समय (=इष्टि के अन्त में) दीक्षित न होवे। समुच्चय का सम्भव होने पर विकल्प न्याय्य नहीं है। [विकल्प मानने पर] पक्ष में बाधा होगी। उस अवस्था में प्रयोग वचन बाधित होगा। इस कारण भिन्न भिन्न दीक्षा सम्बन्ध वाले वाक्यों में प्रयोग वचन के साथ एकवाक्यता होती है। अतः आवेदन काल में दीक्षित होवे।

विवरण—न च सम्भवति समुच्चये विकल्पो न्यायः—'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेत' इत्यादि में विकल्प इस लिये होता है कि व्रीहि और यव का सम्मिलित पुरोडाश की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि दोनों द्रव्यों का एक साथ तुषविमोकादि कार्य सम्भव नहीं है। तथा 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' में प्रति द्रव्य श्रूयमाण तृतीया विभक्ति परस्पर निरपेक्ष द्रव्यों को पुरोडाश की प्रकृतित्व का प्रतिपादन करती है। **पक्षे बाधः स्यात्**—समुच्चय के सम्भव होते हुए विकल्प मानें तो एक पक्ष में श्रुति का बोध होगा। **प्रयोगवचनो बाध्येत**—एक याग प्रकरण में पठित भिन्न भिन्न द्रव्य वा क्रम को 'इस के अनन्तर यह, इस के अनन्तर यह' रूप से संगृहीत करने वाला प्रयोगवचन कहाता है। प्रकृत में एक ही दीक्षा प्रकरण में दण्ड मेखला कृष्णाजिन आदि से दीक्षा का निर्देश होने से सत्र से दीक्षा न मानें तो उक्त प्रयोगवचन बाधित होगा ॥२९॥

इष्टयन्ते वा तदर्था ह्यविशेषार्थसंम्बधात् ॥३०॥

सूत्रार्थः— (वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (इष्टयन्ते) दीक्षणीयेष्टि के अन्त में दीक्षित हो जाता है। वह दीक्षणीयेष्टि (तदर्था) दीक्षा के लिये (हि) ही है। (अविशेषार्थ संबन्धात्) 'दण्डेन दीक्षयति' आदि में क्रियाविशेषशून्य अर्थ से अर्थात् द्रव्यरूप अर्थ से संबन्ध होने से।

विशेष—'क्रियाविशेषशून्य अर्थ से' का भाव यह है कि दण्ड मेखला या कृष्णाजिन के साथ कोई विशेष क्रिया श्रुत नहीं है जिससे दीक्षित में किसी संस्कार विशेष का परिज्ञान हो सके। (कुतूहलवृत्तिकार ने **अविशेषाच्चार्थसम्बन्धात्** सूत्रपाठ मान कर अर्थ किया है—(अविशेषात्) विशिष्ट अर्थ न होने से (च) और (अर्थसंबन्धात्) अर्थान्तर के साथ संबन्ध होने से। 'दण्डेन दीक्षयति' आदि में सहार्थ में तृतीया है और 'दीक्षयति' क्रिया सम्पादन अर्थ वाली है। यजमान को दण्ड से सम्पन्न=युक्त करता है।

व्याख्या—इष्टि के अन्त में दीक्षित होवे। वह इष्टि तदर्थ दीक्षार्थ है। किस हेतु से?

माणस्य—अदीक्षितस्य सा भवति। यदि तस्या उत्तरकाले दीक्षित एवं सा दीक्षिष्यमाणस्य। तस्माद् वाक्यादवगम्यते, भवति तदा दीक्षित इति। दीक्षाकारणे पदार्थे निर्वृत्ते किमिति न दीक्षितः स्यात्? वाक्यं हि निरपेक्षं दीक्षित इति ज्ञापयति।

यत्तु दीक्षासंबन्धो दण्डेन दीक्षयतीति, कथं स दीक्षितत्वे स्यादिति। दण्डेनैनं दीक्षितं संपादयतीत्यवगच्छामः। यत्तु, अनन्तरं दीक्षितशब्दो नास्तीति। न शब्दस्याप्रयोगोऽर्थाभावे हेतुः। सत्यप्यर्थे तदवसराभावान्न प्रयुज्यते शब्दः। अन्येन च दीक्षित इत्यवगम्यते वाक्येन—**आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद्दीक्षिष्यमाण** इति। यच्चाऽऽवेदनकाले दीक्षितशब्द इति। इष्ट्यन्तेऽपि दीक्षितस्यासावविरुद्धः। प्रयोगवचनश्चाविरुद्धः। यत एकं दीक्षाकारणमन्यैर्दीक्षितं संपादयतीति गम्यते ॥३०॥

दीक्षा की प्राप्ति की चाहना वाले=अदीक्षित की वह इष्टि है। यदि उस इष्टि के उत्तर काल में दीक्षित होवे तो वह दीक्षिष्यमाण की होवे। इसलिये वाक्य से जाना जाता है कि उस समय [जब इष्टि समाप्त होती है] दीक्षित होता है। दीक्षा के कारण रूप पदार्थ (=इष्टि) के सम्पन्न हो जाने पर क्यों नहीं दीक्षित होवे? किसी की अपेक्षा न रखता हुआ वाक्य 'दीक्षित हो गया' ऐसा ज्ञापन (=बोध) कराता है।

विवरण—तदर्था हि सा दीक्षार्था—इस का भाव यह है कि आग्नावैष्णवमेकादशकपालं **निर्वपेद् दीक्षिष्यमाणः** यहां क्रियार्थ क्रिया उपपद होने पर भविष्यत्काल में लृट् शेषे च (अष्टा० ३।३।१३ से लृट् प्रत्यय होता है और लृटः सद्वा (अष्टा० ३।३।१४) से लृट् के स्थान में सत् संज्ञक शतृ और शानच् प्रत्यय होते हैं। उक्त श्रुति वाक्य में 'निर्वपेत्' क्रिया 'दीक्ष' क्रिया के लिये है। अतएव क्रियार्थ क्रिया 'निर्वपेत्' के उपपद होने पर दीक्ष धातु से लृट् प्रत्यय होता है। इस से स्पष्ट है कि निर्वपेत् से बोधित इष्टि दीक्षा के लिये है। इसलिये अभिप्राय को लेकर अगला भाष्य प्रवृत्त हुआ है।

व्याख्या—(आक्षेप) दण्डेन दीक्षयति से कहा गया जो दीक्षा सम्बन्ध है वह दीक्षित होने पर कैसे होगा? (समाधान) 'दण्ड से इस दीक्षित को सम्पादित (=युक्त) करता है' [अर्थात् दण्डादि प्रदान दीक्षा का प्रयोजक नहीं है, अपितु दीक्षितत्व का ज्ञापक है] ऐसा हम समझते हैं। (आक्षेप) [इष्टि के] अनन्तर दीक्षित शब्द का प्रयोग नहीं है [वह आवेदन काल में प्रयुक्त हुआ है]। (समाधान) शब्द का प्रयोग न होना अर्थ के अभाव में हेतु नहीं होता। अर्थ के विद्यमान होने पर भी उस [शब्द के प्रयोग] का अवसर न होने से प्रयुक्त नहीं होता है। [दण्ड मेखला आदि से] भिन्न से दीक्षित हुआ है, यह आग्नावैष्णवमेकादशकपाल निर्वपेद् दीक्षिष्यमाणः वाक्य से जाना जाता है। और जो 'आवेदन काल में दीक्षित' शब्द [का श्रवण] है, वह इष्टि के अन्त में भी दीक्षित के लिये अविरुद्ध है और प्रयोग वचन भी अविरुद्ध होता है। यतः एक (= इष्टि) दीक्षाकारण है और अन्यों (=दण्डादि) से दीक्षित (=दीक्षा को प्राप्त हुए) को [दण्डादि से] सम्पन्न=युक्त करता है, अथवा उससे दीक्षितत्व का बोध कराता है ऐसा जाना जाता है ॥३०॥

समाख्यानं च तद्वत् ॥३१॥ (उ०)

इतश्च पश्यामः, इष्टिर्दीक्षणार्था, इष्टचन्ते च प्रवृत्तिरिति । कस्मात् ? समाख्यानं च तद्वदिति यद्वन्न्याय उपदिष्टः । कथम् ? दीक्षणीयेति तादर्थ्यकरी समाख्या भवति । यथा, स्नानीयं, भोजनीयं चेति । तस्माच्च पश्याम इष्टिर्दीक्षणार्था, इष्टचन्ते च प्रवृत्तिरिति ॥३१॥ **दीक्षाया इष्टिसिद्धताधिकरणम् ॥११॥**

—:०:—

समाख्यानं च तद्वत् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(समाख्यानम्) 'दीक्षणीयेष्टि' यह नाम (च) भी (तद्वत्) उस अर्थ वाला है अर्थात् दीक्षणीयेष्टि नाम से यही विदित होता है कि यह इष्टि दीक्षा के लिये ही है। 'दीक्षणीया' शब्द में 'अनीयर्' प्रत्यय करण में है ।

विशेष—हमने (तद्वत्) में मतुप् प्रत्यय मान कर अर्थ किया है । (तद्वत्) में सदृश्यार्थक वति प्रत्यय है ऐसा अन्यों का मत है उस के अनुसार सूत्रार्थ होगा—समाख्यान दीक्षणीया संज्ञा भी (तद्वत्) तदिव=उसी के (=पूर्वोक्त अर्थ के) समान अभिप्राय='दीक्षणीयेष्टि से दीक्षित हो जाता है' को कहती है ।

व्याख्या—इसमें भी जानते हैं कि इष्टि दीक्षा के लिये है और इष्टि के अन्त में [दीक्षित शब्द की] प्रवृत्ति होती है । किस हेतु से ? समाख्यान (=दीक्षणीया-नाम) भी वैसा ही है जैसा न्याय कहा है । कैसे ? 'दीक्षणीया' यह उस (=दीक्षित) अर्थ को करने वाली संज्ञा है । जैसे—स्नानीय (जिससे स्नान किया जाये उस जल को कहने वाला नाम) और भोजनीय (भोजन के योग्य पदार्थ को कहने वाला नाम) । इससे यह जानते हैं कि [दीक्षणीया] इष्टि दीक्षण (=दीक्षा) के लिये है और इष्टि के अन्त में [दीक्षित शब्द की] प्रवृत्ति होती है ॥

विवरण—स्नानीयम्—काशिका ३।३।११३ में स्नानीयम् चूर्णम् पाठ है जिस चूर्ण से स्नान किया जाये । वर्तमान में स्नानीय साबुन, वस्त्रप्रक्षालनीय साबुन, का व्यवहार किया जा सकता है । स्नानीय पानीय अर्घ्य पाद्य आचमनीय ये उन उन जलों का बोधन कराते हैं जिन से स्नान पान (पीना) आदि किये जाते हैं ॥३१॥

—:०:—

[काम्यानामनुष्ठाने पाठक्रमस्यानियामकत्वाधिकरणम् ॥१२॥]

इह काम्या इष्टय उदाहरणम्—ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद्[1] इत्येवमादयः, गवादयः सोमाः। सौम्यादयः पशवः। तत्र संदेहः—किं येन क्रमेणाधीतास्तेनैव क्रमेण प्रयोक्तव्या उतानियम इति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

अङ्गवत् क्रतूनामानुपूर्व्यम् ॥३२॥ (पू०)

क्रतूनामानुपूर्व्यं यत्पाठे, तदेव प्रयोगे भवितुमर्हति। एवं पाठक्रमोऽनुगृहीतो भविष्यति। इतरथा पाठक्रमो बाध्येत। तन्मा भूदिति क्रमेणानुष्ठातव्यम् ॥३२॥

न वाऽसंबन्धात् ।३३॥ (उ०)

न चायं क्रमो नियम्येत। कुतः ? असंबन्धात्। पृथक् पृथगेषां कर्मणां प्रयोगवचनानि। तानि स्वपदार्थानामुपसंहारकाणि। यो यस्य नोपकारकः, स तस्य न

व्याख्या—यहां काम्य इष्टियां उदाहरण हैं—'इन्द्र और अग्नि देवता के लिये एकादश कपाल का निर्वाप करे' इत्यादि गौ' आदि सोम 'सौम्य' (=सोम देवता वाले) पशु। इनमें सन्देह होता है—क्या जिस क्रम से अध्ययन किये गये (=पठित) हैं उसी क्रम से प्रयोग करना चाहिये अथवा नियम नहीं है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—गवादयः सोमाः—गौ ज्योति आयु आदि एकाह क्रतु (द्र० आप० श्रौत २३।२।६॥

अङ्गवत् क्रतुनामानुपूर्वचम् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(अङ्गवत्) जैसे अङ्गों में अनुपूर्विता पाठक्रम से होती है उसी प्रकार (क्रतूनाम्) क्रतुओं की (आनुपूर्वचम्) अनुपूर्विता होवे।

व्याख्या—क्रतुओं का आनुपूर्व्य जो पाठ में है, वही प्रयोग में होनी योग्य है। इस प्रकार [इष्टियों का] पाठक्रम अनुगृहीत होगा। अन्यथा पाठक्रम बाधित होवे। वह (पाठक्रम बाधित) न होवे इसलिये पाठक्रम से अनुष्ठान करना चाहिये ॥३२॥

न वाऽसम्बन्धात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। काम्येष्टियों का पाठक्रम से अनुष्ठान (न) नहीं होना चाहिये (असम्बन्धात्) परस्पर सम्बन्ध न होने से।

व्याख्या—यह क्रम नियमित न होवे [अर्थात् काम्येष्टियां जिस क्रम से पढ़ी गई हैं, उसी क्रम से की जाये, यह नियम नहीं हो सकता है]। किस हेतु से ? [काम्येष्टियों का परस्पर] सम्बन्ध न होने से। इन कर्मों के प्रयोग वचन पृथक्-पृथक् हैं, वे [प्रयोग वचन] अपने

---

१. मै० सं० २।१।१॥ अत्र विविधकामेभ्य ऐन्द्राग्न एकादशपाल आदयो विहिताः।

क्रमेण, नोत्क्रमेण। यो यस्योपकरोति कस्यचित्तस्योपकुर्वतः क्रमः साहाय्ये वर्तते। न चैतानि कर्माणि अन्योन्यस्योपकुर्वन्ति। तस्मान्नैषां क्रमः साहाय्ये वर्तते। तस्मादसंवन्ध इति ॥३३॥

काम्यत्वाच्च ॥३४॥ (उ०)

काम्यानि चैतानि कर्माणि। कामाश्च न क्रमेणोत्पद्यन्ते। तेन निमित्तस्याक्रमत्वान्न क्रमवन्त इति ॥३४॥

आनर्थक्यान्नेति चेत् ॥३५॥ (आशङ्का)

इति यदुक्तं पूर्वपक्षे पुनरुच्यते परिहर्तुम्। एवं क्रमेण पाठोऽर्थवान् भविष्यतीति। एतदाभाषान्तं सूत्रम् ॥३५॥

पदार्थों के उपसंहार करने वाले हैं। जो जिसका उपकारक नहीं होता है, वह उसके न क्रम से और नहीं उत्क्रम से (=क्रम को छोड़ कर) [उपसंहारक नहीं होते हैं]। जो जिस किसी का उपकार करता है उस उपकार करते हुए का क्रम सहायक होता है। ये [काम्येष्टियां रूप] कर्म एक दूसरे का उपकारक नहीं होते हैं। इसलिये इनका क्रम सहायक नहीं होता है। इसलिये [इनका परस्पर] संबन्ध नहीं है ॥३३॥

काम्यत्वाच्च ॥३४॥

सूत्रार्थः—(च) और इष्टियों के [काम्यत्वात्] काम्य होने से भी पाठक्रम से प्रयोग नहीं होता हैं।

विशेषः—'इन इष्टियों के काम्य होने से' हेतु का तात्पर्य यह है कि पुरुष की कामनाएं क्रम से उत्पन्न नहीं होती है। इस कारण कामना निमित्तक इष्टियों में पाठक्रम से प्रयोग उपपन्न नहीं होता है। जब जो कामना हुई तदनुसार उस कामना की पूर्ति में साधनभूत इष्टि को पुरुष करता है।

व्याख्या—ये कर्म काम्य हैं। कामनाएं क्रम से उत्पन्न नहीं होती है। इस कारण निमित्त के क्रम रहित होने से ये क्रम भी क्रम वाले नहीं हैं [अर्थात् इनका पाठक्रम विवक्षित नहीं है] ॥३४॥

आनर्थक्यान्नेति चेत् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(आनर्थक्यात्) पाठ क्रम के अनर्थक होने से क्रम की अविवक्षा (न) नहीं हैं अर्थात् क्रम विवक्षित है (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

व्याख्या—जो पूर्व पक्ष में कहा है 'उसे ही परिहार के लिये पुनः कहते हैं। इस प्रकार (=क्रम से) [काम्येष्टियों का] पाठ अर्थवान् हो जायेगा'। यह आशङ्कान्त सूत्र है ॥३५॥

स्याद् विद्यार्थत्वाद् यथा परेषु सर्वस्वारात् ॥३६॥ (उ०)

स्यादर्थवान् क्रमपाठः। असत्यपि प्रयोगे क्रमे, विद्याग्रहणार्थत्वात्। कर्मावबोधनार्थायां विद्यायां क्रमनियमादृष्टं तदाश्रयमेव भविष्यतीति। यथा त्वत्पक्षे, परेषु सर्वस्वारात्[1]। यस्यापि क्रमोऽङ्गमिति पक्षस्तस्यापि सर्वस्वारात् परेषां सर्वस्वारेण यः क्रमस्तस्यादृष्टार्थताऽवश्यं कल्पनीया ॥३६॥ **काम्येष्टीनामनियमेनानुष्ठानाधिकरणम् ॥१२॥**

—:o:—

स्याद् विद्यार्थत्वाद् यथा परेषु सर्वस्वारात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—काम्येष्टियों के विधान में क्रम (विद्यार्थत्वात्) विद्या के ग्रहण के लिये होने से अर्थवान् (स्यात्) होवे। (यथा) जैसे (सर्वस्वारात्) सर्वस्वार नामक यज्ञ से (परेषु) परे पठित यागों का क्रम विद्याग्रहण के लिये है। [सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिये भाष्य विवरण देखें]।

व्याख्या—क्रमपाठ अर्थवान् होवे, प्रयोग क्रम के न होने पर भी। विद्या ग्रहण के लिये होने से। कर्म के अवबोधनार्थ विद्या में क्रम-नियम से अदृष्ट उसी (= क्रम के) आश्रय ही होगा। जैसे तुम्हारे पक्ष में सर्वस्वार से परे पठित यागों में। जिस का क्रम [प्रयोग का] अङ्ग है ऐसा पक्ष है उसके मत में भी सर्वस्वार से परे पठित यागों का जो क्रम है उस की अदृष्टार्थता अवश्य कल्पनीय है।

विवरण—विद्याग्रहणार्थत्वात्—प्रत्येक ग्रन्थ में जो क्रम देखा जाता है वह परस्पर सापेक्ष विषय को ध्यान में रखकर नियत किया हुआ होता है। ग्रन्थ में पूर्व पर कर्म से सापेक्ष होते हुए भी जिस प्रकरण में परस्पर क्रम निरपेक्ष सामान्य रूप से अनेक अवान्तर वचनों का संग्रह होता है वहां उनमें परस्पर क्रम विवक्षित नहीं होता। परस्पर अपेक्षा रहित वचनों को ग्रथित करने में पौर्वापर्य तो स्वीकार करना ही पड़ता है। ऐसे स्थानों में यह पहले क्यों पढ़ा यह पीछे क्यों पढ़ा ऐसी शङ्काएं नहीं उठाई जाती वाणी या लेखनी विना क्रम के न उच्चरित होती है और न लिखती है अतः कोई न कोई क्रम तो आश्रित करना ही पड़ेगा। इसलिये प्रवक्ता वा लेखक द्वारा प्रदत्त क्रम केवल विद्या के ग्रहण= पदार्थ ज्ञान मात्र के लिये होता है। **क्रमनियमादृष्टम्**—भाष्यकार आदि मीमांसक और याज्ञिक लोक ऐसे स्थानों पर बलात् नियमादृष्ट की कल्पना करते हैं जो व्यर्थ कल्पना मात्र है। **सर्वस्वारात्—त्रिवृदाग्निष्टोम स सर्वस्वारो यः कामयेता नामयताऽमुं लोकमियादिति स एतेन यजेत** (ताण्डच ब्रा० १७।१२।१) त्रिवृत् अग्निष्टोम

---

१. द्र०—त्रिवृदग्निष्टोमः स सर्वस्वारो यः कामयेताऽनामयताऽमुं लोकमियाम स एतेन यजेत। तां० ब्रा० १७।१२।१॥

[अग्निष्टोमस्य प्राथम्याधिकरणम् ॥१३॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः, य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत गर्तपत्यमेव तज्जायते प्र वा मीयते**[1] इति। तत्र संदेहः—य एतेनेति कस्यायं वाद इति प्रश्नेनैवोपक्रमः ? उच्यते—

संस्था वाला सर्वस्वार नाम का एकाह है जो चाहे कि रोगरहित ही परलोक को जाऊं वह इस से यजन करे यदि काम्येष्टियों के प्रयोग में भी क्रम मानें तो सर्वस्वार याग के अनन्तर पठित याग निष्प्रयोजन हो जावें। सर्वस्वार से अनन्तर पठित यागों से पूर्व ही यजमान मर जायेगा तो उन्हें कौन करेगा ?

मरणकामो सर्वस्वारेण यजेत—यजुर्वेद (४०।३) के **अन्धंतमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः** के अनुसार आत्महनन पापकर्म है=दुष्टकर्म है। राजकीय नियमों के अनुसार भी आत्मघात अपराध माना गया है। ऐसी अवस्था में इस याग की वेदविरुद्धता स्पष्ट है। अतः इस सूक्ष्मेक्षिका से विचार करना चाहिये। पूर्वोदधृत याजुषमन्त्र में 'आत्महन्' का अर्थ केवल शरीर को नष्ट करना ही नहीं है। वहां तो मन वचन कर्म में विरुद्ध व्यवहार करने वाला व्यक्ति भी 'आत्महन्' है। अतः श्रुति इस प्रकार के 'आत्महन्' के लिये अन्धन्तम का निर्देश करके चरितार्थ हो जाती है। जिन महापुरुषों को इस जन्म में कुछ करना शेष नहीं रहता और वृद्धावस्था में अङ्ग प्रत्यङ्ग काम नहीं करते, उस अवस्था में महापुरुष अपनी परिचर्या के लिये किसी को बाधित न करके उन्हें पीड़ित न करके स्वयं शरीर त्याग की इच्छा करके जल-समाधि अग्नि-समाधि और अनाहार द्वारा शरीर त्याग करते हैं। ऐसा शरीर त्याग किसी भी मत वा सम्प्रदाय में आत्मघात नहीं माना जाता है। आज भी जैन साधुओं में ऐसा नियम देखा जाता है। इतना ही नहीं, हमारी माताएं और बहनें दुष्टजनों से अपने सतीत्व की रक्षा के लिये व्यक्तिगतरूप से और सामूहिकरूप से (जैसे चित्तौड़ के तीन साकाओं में हुआ) शस्त्र वा अग्नि द्वारा प्राणोत्सर्ग सदा से करती आई हैं, उन्हें किसी ने अधर्म नहीं माना। अतः शरीरोत्सर्ग भी वही आत्मघात कहाता है जो किसी के प्रेमपाश में बंधकर या सांसारिक कष्टों से घबराकर या कार्य में असफलता के कारण किया जाता है ॥३६॥

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—'यह ही यज्ञों में प्रथम यज्ञ है जो ज्योतिष्टोम है, जो इस से यजन न करके अन्य से यजन करता है वह गड्ढे में गिरता है अथवा मर जाता है।' इस में सन्देह है कि 'य एतेन' में एतत् शब्द से किसका कथन है ? इस प्रश्न से ही उपक्रम है। इस में कहते हैं—

---

१. द्र०—ताण्ड्य ब्रा० १६।१।२॥ अत्र यज्ज्योतिष्टोम······इत्यंशोनास्ति। भाष्यकारेणोपलब्धांशो योजितः स्यात्।

य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ॥३७॥ (उ०)

य एतेनेत्यग्निष्टोमस्य वादः। कुतः ? प्रकरणात्। तस्य हि प्रकरणे भवत्येतद्वचनम्। प्रकृतवाचीनि च सर्वनामानि भवन्ति ॥३७॥

लिङ्गाच्च ॥३८॥ (उ०)

विवरण—गर्तपत्यमेव तज्जायते—इस भाष्य पाठ का भावार्थ ऊपर व्याख्या में किया है। वस्तुतः यहां **गर्तपत्यमेव तज्जीयते** ब्राह्मण (तां० १६।१।२) का पाठ है। इसका अर्थ सायण ने इस प्रकार किया है—**यजमानः गर्तपत्यं गर्तपतनं यथा भवति तथैव जीयते हीयते, ज्या वयोहानौ धातुः** अर्थात् यजमान जिस प्रकार से गड्ढे में गिरना होता है उसी प्रकार वह आयु से हीन होता है। सायणभाष्य का पाठ भी यहां कुछ भ्रष्ट है—'तत् स्वयजमानः—तथैव जायते हीयते—'। ऋक्सर्वानुक्रमणी में पाठ है—स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते···' (परिभाषा १।५) इस का अर्थ षड्गुरुशिष्य ने किया है—'वृक्षादि जाति को प्राप्त होता है, गर्त =नरक में अथवा कूप कीचड़ और जल में मेंढक कछुआ आदि जाति में गिराया जाता है।' [मी० पूर्व २।४।८ के भाष्य में भी यहां के समान ही भ्रष्ट पाठ है (द्र० शाबर भाष्य व्याख्या भाग २, पृष्ठ ६०४) वहां उसी भ्रष्ट पाठ और उस की व्याख्या के साथ भी इस टिप्पणी को जोड़ लेवें]।

य एतेनत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(य एतेन) 'य एतेन' पद (इति) से (अग्निष्टोमः) अग्निष्टोम का निर्देश है (प्रकरणात्) अग्निष्टोम का प्रकरण होने से।

व्याख्या—'य एतेन' से अग्निष्टोम का कथन है। किस हेतु से ? प्रकरण से। उस (=अग्निष्टोम) के ही प्रकरण में यह वचन है। सर्वनाम प्रकृत (=पूर्व पठित) के वाचक होते हैं।

विवरणः—यज्ज्योतिष्टोमः—ब्राह्मण वचन में ज्योतिष्टोम का उल्लेख है और यह सभी सोमयागों को कहने वाला है। सूत्रकार ने 'एतेन' से अग्निष्टोम का निर्देश माना है। इस का समाधान यह है कि सोमयाग की सात संस्थाएं हैं—**अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, अप्तोर्याम** इन में अग्निष्टोम प्रथम है और विना अग्निष्टोम के अन्य कोई सोमयाग नहीं होता। इसलिये अग्निष्टोम अवश्यभावी है। अन्य उक्थादि संस्थाएं काम्य हैं। इसलिये नित्य होने से तथा प्रथमभावी होने से ज्योतिष्टोम से यहां अग्निष्टोम ही अभिप्रेत है। इस लिये सूत्रकार ने 'एतेन' पद से अग्निष्टोम का कथन माना है। प्रकरण अग्निष्टोम का ही है। इसमें लिङ्ग का निर्देश अगले सूत्र में किया है ॥३७॥

लिङ्गाच्च ॥३८॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गात्) लिङ्ग से (च) भी 'एतेन' पद से अग्निष्टोम का ही कथन जाना जाता है। [लिङ्ग वचन भाष्य में देखें]।

लिङ्गमपि भवति । तत्र श्रूयते—**तस्य नवतिशतं स्तोत्रीयाः**[1] इति । अग्निष्टोमस्य हि भवन्ति नवतिशतं स्तोत्रीयाः । कथम् ? त्रिवृद्बहिष्पवमानं, पञ्चदशान्याज्यानि, तानि चत्वारि । सा एकोनसप्ततिः । पञ्चदशो माध्यंदिनः पवमानः । तेन चतुरशीतिः । सप्तदशानि पृष्ठानि, तानि चत्वारि । साऽष्टषष्ठिः । चतुरशीत्या सह द्विपञ्चाशच्छतम् । सप्तदश आर्भवः पवमानः । षष्ठ्यधिकं शतं नव च । एकविंशं यज्ञायज्ञीयमिति, तदेतन्नवतिशतमग्निष्टोमस्य । तस्मादप्यग्निष्टोमः ॥३८॥ **अग्निष्टोमस्य प्राथम्याधिकरणम् ॥१३॥**

—:o:—

[अग्निष्टोमविकाराणामग्निष्टोमोत्तरकालताधिकरणम् ॥१४॥]

अथान्येनेति किं संस्थानां वादः, अथ ज्योतिष्टोमविकाराणामेवैकाहादीनामिति । किं तावत् प्राप्तम् ?

व्याख्या—लिङ्ग भी होता है । वहां सुना जाता है—'उसके एक सौ नव्वे स्तोत्रिय ऋचाएं होते हैं ।' अग्निष्टोम के ही १९० स्तोत्रिय ऋचाएं होती हैं । किस प्रकार ? त्रिवृत् बहिष्पवमान, पञ्चदश आज्य, ये [आज्य] चार । वह ६९ होते है (बहिष्पवमान त्रिवृत् ३×३=९, आज्य १५×४=६० । ९+६०=६९) । पञ्चदश माध्यन्दिन पवमान । उससे [पूर्व के ६९ मिल कर] ८४ । सप्तदश पृष्ठ, ये चार । वे ६८ होते है (१७×४=६८) । पूर्व के ८४ के साथ मिलकर १५२ । सप्तदश आर्भव पवमान । उस के साथ मिल कर (१५२+१७=) १६९ । एकविंश यज्ञायज्ञीय । यह (१६९+२१) १९० स्तोत्रिया अग्निष्टोम की होती है इससे भी ['एतेन' से] अग्निष्टोम का ही कथन है ।

विवरण—एक साम तीन ऋचाओं में पढ़ा जाता है । प्रातःसवनीय बहिष्पवमान् त्रिवृत् होता है अतः उसकी ९ स्तोत्रिया ऋक् होती हैं । इसी प्रकार आगे कही गई तत् तत् सामों की स्तोत्रिया ऋचाओं की गणना समझनी चाहिए ॥३८॥

—:o:—

व्याख्या—['य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजते' वाक्य में] 'अन्येन' (=अन्य से) पद से क्या [ज्योतिष्टोम की] संस्थाओं का कथन है अथवा ज्योतिष्टोम के विकार ही जो एकाहादि हैं उन का कथन है ? क्या प्राप्त होता है—

विवरण—'य एतेनानिष्ट्वाथान्येन यजते' वाक्य के 'एतेन' पद पर विचार पूर्व १३ वें अधिकरण में किया जा चुका है । इस अधिकरण में इसी वाक्य के 'अन्येन' पद पर विचार कर रहे हैं । 'संस्था' शब्द के अर्थ के लिये देखें भाष्य व्याख्या ३।६।४१; पृष्ठ १०३९ का विवरण । ज्योतिष्टोम की सात संस्थाएं हैं—अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र अत्याग्निष्टोम, वाजपेय और अप्तोर्याम (द्र० गो० ब्रा० पू० ५।२३) ।

---

1. ताण्ड्य ब्रा० १६।१।८॥

अथान्येनेति संस्थानां संनिधाना। ॥३९॥ (पू०)

संस्थानामिति । कुतः? संनिधानात् । संनिहितास्तस्मिन् प्रकरणे संस्था । तासां वादः, प्रकरणानुग्रहाय ।। ३१ ।।

तत्प्रकृतेर्वाऽऽपत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते ॥४०॥ (उ०)

तत्प्रकृतेर्वा गवादेर्वादः स्यात् । आपत्तिविहारौ हि प्रकृतिविकारमात्रेषूपपद्यते, न तुल्यशब्देष्वेव ज्योतिष्टोमशब्दकेषु । नैवमभिसंबन्धः क्रियते—अथान्येन ज्योतिष्टोमशब्दकेनेति । कथं तर्हि ? अन्येनेति प्रकृतादितरद् ब्रवीति । न स ज्योतिष्टोमेन विशिष्यते । न हि शब्दस्यार्थः समीपगतेन कृतप्रयोजनेनैकदेशेऽवस्थापयितव्यो भवति । न हि वाक्येन श्रुतिर्बाध्यते । अथ ज्योतिष्टोमादन्येनेत्यभिसंबध्यते,

---

अथान्येनेति संस्थानां सन्निधानात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(अथान्येनेति) 'अथ अन्येन' में अन्य पद से (संस्थानाम्) उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं का कथन है । (सन्निधानात्) इस प्रकरण की संनिधि में पठित होने से ।

व्याख्या—(उक्थ्यादि) संस्थाओं का कथन है । किस हेतु से ? सन्निहित (=समीप में) होने से । इस प्रकरण में संस्थाएं सन्निहित हैं । उनका कथन है प्रकरण के अनुग्रह के लिये ॥३९॥

तत्प्रकृतेर्वाऽऽपत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते ॥४०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द 'अन्य' शब्द से संस्थाओं का कथन है, इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है । (तत्प्रकृतेः) वह अग्निष्टोम जिनकी प्रकृतियां हैं उनका 'अन्य' शब्द से कथन है । (आपतिविहारौ) त्रिवृत् आदि स्तोमों की आपत्ति = प्राप्ति और विहार=निकलना दोनों (हि) ही (तुल्येषु) ज्योतिष्टोम पद से समान रूप से वाच्य उक्थादि संस्थाओं में (न) नहीं (उपपद्येते) उपपन्न होते हैं । [आपत्ति और विहार की श्रुतियां भाष्य में देखें । 'तत्प्रकृतेः' यहां अग्निष्टोम विकारत्व सामान्य में एकवचन है] ।

व्याख्या—वह अग्निष्टोम जिनकी प्रकृतियां हैं उन 'गौ' आदि का वाद होवे । आपत्ति (=प्राप्ति) और विहार (=निर्गमन=निकलना) दोनों ही प्रकृति के विकार मात्र में उपपन्न होते हैं । तुल्य शब्दों वाले ज्योतिष्टोम शब्द से कहे जाने वालों [उक्थ्यादि संस्थाओं में] उपपन्न नहीं होते । ऐसा सम्बन्ध नहीं किया जाता है—अथ अन्य ज्योतिष्टोम शब्द से कहे जाने वाले से । तो कैसे सम्बन्ध किया जाता है ? 'अन्येन' यह शब्द [संस्थाओं से] भिन्न को कहता है । [अन्य शब्द] ज्योतिष्टोन से विशेषित नहीं किया जाता है [अर्थात् ज्योतिष्टोम अन्य का विशेषण नहीं है] । शब्द का अर्थ समीपगत कृत प्रयोजन (जिस का प्रयोजन सिद्ध हो गया है उस शब्द से एक देश में स्थापित करने योग्य नहीं होता है । वाक्य से श्रुति बाधित नहीं होती है । और यदि 'अन्य' ज्योतिष्टोम से भिन्न से संबद्ध होता है तो संस्था का कथन

संबध्यते, ततो नतरां संस्थावादः। कथं पुनरापत्तिविहारौ। **प्रजापतिर्वाऽग्निष्टोमः, स उत्तरानेकाहानसृजत, ते सृष्टास्तमब्रुवन्। न वै स्वेनाऽऽत्मना प्रभवाम इति। तेभ्यः स्वातन्त्र्यं प्रायच्छत्। तथा च ते प्राभवन् तद्**[1] **यथा इदमग्नेर्जातादन्येऽग्नयो विह्रियन्ते। एवं वा एतस्माद् यज्ञादन्ये यज्ञक्रतवो विह्रियन्ते। यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते, स तं दीपयति, यः पञ्चदशं स तं, यः सप्तदशं स तं, य एकविंश स तमित्येवमाहुरेको यज्ञ इति। एते वै सर्वे ज्योतिष्टोमा भवन्ति**[2] इति। एवं वैकृतानां संकीर्तनात् तेषामेव वाद इति गम्यते। कथम्? अथान्येनेति योऽसावन्यस्तत्र प्राकृतान् धर्मान् विहृतान् दर्शयति। अतो मन्यामहे, यस्य[3] यतो विहृतिः, तेनान्येनेति ॥४०॥

किसी प्रकार उपपन्न नहीं होता है। आपत्ति और विहार कैसे उपपन्न होते हैं? अग्निष्टोम प्रजापति है, उसने उत्तर एकाह क्रतुओं को उत्पन्न किया। वे उत्पन्न हुए [एकाह क्रतु] बोले—हम अपने आत्मा (=स्वरूप) से प्रभावयुक्त (=समर्थ) नहीं होते हैं। उन्हें स्वतन्त्रता दी। उस प्रकार वे प्रभावयुक्त हुए। जिस प्रकार ही इस [अरणि-मन्थन से] उत्पन्न हुई अग्नि से अन्य [आहवनीय आदि] अग्नियां विहृत होती हैं। इसी प्रकार ही इस यज्ञ से अन्य यज्ञक्रतु विहृत होते हैं। जो ही त्रिवृत् स्तोम अन्य यज्ञ क्रतु को प्राप्त वह उसको दीप्त करता है, जो पञ्चदश स्तोम वह उसको, जो सप्तदश स्तोम वह उसको, जो एकविंश स्तोम वह उसको। इस प्रकार कहते हैं एक यज्ञ हैं। ये निश्चय ही सब ज्योतिष्टोम होते है। इन वैकृतों के संकीर्तन से उनका ही कथन है, यह जाना जाता है। किस हेतु से? 'अथान्येन' से जो अन्य है उनमें प्राकृत (=अग्निष्टोम) के विहृत (=गये हुए) धर्मों को दिखाता है। इससे हम मानते हैं—जिसकी जहां से विहृति (=निर्गमन) होता है उस अन्य से।

विवरण—न तुल्यशब्देष्वेव ज्योतिष्टोमशब्दकेषु—इस का भाव यह है कि अग्निष्टोमादि सातों संस्थाएं एक ज्योतिष्टोम शब्द से कही जाती हैं। अतः ज्योतिष्टोम की संस्थाओं से भिन्न क्रतुओं का ही 'अन्येन' से निर्देश है। **समीपगतेन कृतप्रयोजनेन**—इस का तात्पर्य यह है कि **'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्जोतिष्टोमः। य एतेनानिष्ट्वा'** वाक्य में श्रूयमाण ज्योतिष्टोम शब्द समीप में श्रूयमाण 'एतेन' से कृतप्रयोजन वाला (=सप्रयोजन) हो गया तो 'अथान्येन' में श्रूयमाणा अन्य शब्द का अर्थ कृतप्रयोजन ज्योतिष्टोम के एकदेश उक्थ षोडशी आदि से संस्थारूप एकदेश में व्यवस्थापित करने योग्य नहीं हैं अर्थात् अन्य शब्द ज्योतिष्टोम की उक्थ्य आदि संस्थाओं को नहीं कह सकता।

---

१. 'प्रजापतिर्वा' इत्यारभ्य 'प्राभवन् तद्' इत्येतावान् भागो न क्वचिदुपलब्धः (कुतूहलवृत्तौ संक्षिप्तय पठ्यते)। अग्रिमो भागः स्वल्पं भेदेन ताण्ड्यब्राह्मणे १६।१।२-५ स्थान उपलभ्यते।

२. अस्य पृष्ठस्य प्रथमा टिप्पणी द्रष्टव्या।

३. 'यस्य यज्ञस्य यतो' इति क्वचित् पाठान्तरम्।

श्रुतिर्बाध्येत—इसका तात्पर्य यह है कि **'एते वै'** कृतप्रयोजन ज्योतिष्टोम की श्रुति=श्रवण वाक्य = **अथान्येन** से बाधित होवे। **एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानाम्** इत्यादि वचन से पूर्व **ज्योति**=नाम वाले एकाह कर्मान्तर का विधान किया है (द्र० ताण्ड्य ब्रा० १६।१।१ का सायण भाष्य। सायण के अनुसार इसी ज्योतिसंज्ञक कर्मान्तर की स्तुति के लिये सर्वप्रकृति ज्योतिष्टोमों के प्रथमानुष्टान की **एष वाच प्रथमो०** वाक्य से स्तुति की है। **एतेनानिष्ट्वा** में 'एतेन' का अर्थ सायण ने भी 'प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम अग्निष्टोम से' किया है। **अन्येऽग्नयो विह्रियन्ते**—सायण ने इसका अर्थ 'निर्मथन से उत्पन्न एक अग्नि से आहवनीय आदि अग्नियां विभक्त होती हैं अथवा आहवनीय आदि स्थान में लाई जाती हैं' किया है। **एतस्मादन्ये यज्ञा विह्रियन्ते**— इस ज्योतिष्टोम से ऊर्ध्व=उत्तरभावी अन्य विकृतिरूप यज्ञ विस्तारित होते हैं (ता० ब्रा० ६।१।३)। **तमाहुर्वैको यज्ञः**—इसका अर्थ सायण ने किया है, त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश और एकविंश इन स्तोमों में एक-एक यज्ञ का साधन है ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं (तां० ब्रा० भाष्य १६।१।५)। इसी दृष्टि से अर्थात् प्रत्येक स्तोम को ज्योतिष्टोम का साधन मानकर कहा है—**एते वै सर्वे ज्योतिष्टोमा भवन्ति** अर्थात् सभी स्तोम ज्योतिष्टोम के निष्पादक होने से ज्योतिष्टोम शब्दवाच्य होते हैं। **वैकृतानां संकीर्तनात्**—भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन के आरम्भ में **स उत्तरानेकाहानसृजत्** वाक्य ज्योतिष्टोम के विकृतिभूत गौ ज्योति आदि का सकीर्तन होने से। **योऽसावन्यस्तत्र प्राकृतान् धर्मान्**—इस का भाव यह है कि **यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते** आदि वचन प्रकृतिगत त्रिवृत् आदि स्तोमों का, प्रकृति ज्योतिष्टोम से अन्यत्र वैकृत एकाह आदि में गमन ज्ञापित करता है अतः **'अथान्येन'** के अन्य पद से 'जहां (=ज्योतिष्टोम) से स्तोमों का विहरण कहा है उससे अन्य से' यही अभिप्राय जानना चाहिये। इस प्रकार भाष्यकार के मत में 'अन्येन' पद से गौ ज्योति आयु आदि वैकृत एकाहों का ही निर्देश है, ज्योतिष्टोम की अन्य संस्थाओं से नहीं है।

भट्ट कुमारिल का मत है कि **'एतेन'** पद से जब अग्निष्टोम संस्था का निर्देश है तो **'अन्येन'** पद से उक्थ्यादि अन्य संस्थाओं और गौ ज्योति आयु आदि सभी विकृतियों का ग्रहण जानना चाहिये। **य एतेनानिष्ट्वा** से अग्निष्टोम मात्र की पूर्वकर्तव्यता कही है न कि सब संस्थाओं की। तदनन्तर सिद्धान्त किया है कि **एतेनानिष्ट्वा** अग्निष्टोम की पूर्वकर्तव्यता को कहता है और गवादि की पश्चात् कर्त्तव्यता को। इस लिये अग्निष्टोम का प्राथम्य गवादि के अङ्गरूप से वाक्य से कहा जाता है।

कुतूहलवृत्तिकार ने भट्ट कुमारिल का अनुसरण करते हुए विस्तार से लिखा है—**यथावाऽग्नेर्जाता ... एकविंशस्तम्** इस वाक्यशेष में त्रिवृदादि स्तोमों का अग्निष्टोम से निगमन रूप विहरण और त्रिवृदादि का विकृतिभूत सब सोमक्रतुओं की प्राप्तिरूप आपत्ति जानी जाती है। ये आपत्ति और विहार अग्निष्टोम को छोड़कर तुल्यरूप से ज्योतिष्टोम वाच्य उक्थ्यादि संस्थाओं में ही अभिप्रेत हैं। **अन्ये यज्ञक्रतवः** इस उपक्रम के सामान्य होने से। अन्य शब्द से सन्निहित उक्थ्यादि का ग्रहण होता है, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है **प्रथमो यज्ञो यज्ञानाम्** से

प्रशंसा वा विहरणाभावात् ॥४१॥ (पू०)

यद्येवं न तर्हि तद्विकाराणां वादः। तत्र न विहारो नाऽऽपत्तिः। प्रकरणादिभिस्ते धर्मा ज्योतिष्टोमस्य। यदि ते गवादिषु विह्रियेरन् प्रकरणादीनि बाध्येरन्। तदापत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा। प्रशंसा त्वेषा। आपत्तिविहाराभावात् ॥४१॥

सब यज्ञों के सन्निहित होने से 'अन्य' शब्द से सब सोमविकृतियों का ग्रहण है। यहां **एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजेत** सोमविकृतियों का अग्निष्टोमोत्तरत्व अङ्ग का विधान किया है अर्थात् सोमविकृतियां उत्तरभावी होकर अग्निष्टोम के अङ्ग होती हैं। जिसने प्रकृति याग का प्रयोग कर लिया है उसी को विकृतियों के करने में अधिकार होता है; यह भी ठीक नहीं है। विकृति के अनुष्ठान में प्रकृति का अनुष्ठान प्रयोजक नहीं होता है केवल विकृति ज्ञान (यह इसकी विकृति है इतना ज्ञान) ही प्रयोजक होता है। इससे द्वादशाह के विकृतिरूप पौण्डरीक आदि का अनुष्ठान द्वादशाह के विना किये भी विरुद्ध नहीं होता है (यह कुतूहलवृत्तिकार के लेख का सार है)।

प्रशंसा वा विहरणाभावात् ॥४१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वोक्त ज्योतिष्टोम के विकार गौ ज्योतिः आयुः आदि अन्य शब्द से कहे जाते हैं, की निवृत्ति के लिये है। (विहरणाभावात्) त्रिवृत् आदि स्तोमों का विहरण=अन्यत्र गमन न होने से (प्रशंसा) त्रिवृत् आदि की प्रशंसा है।

विशेष—कुतूहलवृत्तिकार ने 'वा' शब्द को एवार्थक माना है—प्रशंसैव 'प्रशंसा ही है अर्थात् प्रशंसामात्र है' ऐसा अर्थ किया है। सूत्र में विहरण शब्द आपत्ति का उपलक्षक है।

व्याख्या—यदि ऐसा है तो ज्योतिष्टोम के विकारों [गवादि] का कथन नहीं है। वहां (गौ ज्योति आदि विकारों में) न [त्रिवृत् आदि का] विहार देखा जाता है और न प्राप्ति। प्रकरण आदि से वे [विहारादि] धर्म ज्योतिष्टोम के हैं। यदि वे गवादि में विहृत होवें प्रकरणादि बाधित होवें। उन (=त्रिवृत् आदि) की प्राप्ति प्रत्यक्षविरुद्ध है। अतः यह प्रशंसा मात्र है प्राप्ति और विहृति के न होने से ॥

विवरण—प्रकरणादिभिस्ते धर्माः—यद्यपि भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन हमें किसी उपलब्ध संहिता ब्राह्मणादि में नहीं मिला, तथापि उद्धृत वचन का जो उत्तरार्ध ताण्ड्य ब्रा० १६।१।३।५ तक स्वल्प भेद से मिलता है उसके अनुसार प्रकरण ज्योतिष्टोम का ही है। **प्रत्यक्षविरुद्धा**—इस का भाव यह है कि किसी वचन से गवादि सोमविकारों में आपत्ति और विहार का निर्देश नहीं है। **प्रकरणादि बाध्येरन्**—प्रकरण ज्योतिष्टोम का है। **प्रशंसा त्वेषा— यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते** आदि वाक्य से अन्य क्रतुओं को दीप्त=प्रकाशित करने का जो निर्देश है वह प्रशंसारूप अर्थवादमात्र है।

विधिप्रत्ययाद् वा न ह्यकस्मात् प्रशंसा स्यात् ॥४२॥ (उ०)

अत्रोच्यते—यद्यप्यापत्तिविहारौ न विधीयेते, तथाऽपि चोदकेन विधीयेते। ये प्रकृतौ कर्तव्यास्ते चोदकवचनाद् विकृतावपि कर्तव्या गम्यन्ते। तदापत्तिविहाराविव यत्र भवतस्तेनान्येनेति गम्यते। न ह्यकस्मात् प्रशंसा स्यात्। योऽसावन्यः स कथमनया प्रशंसया लक्ष्येतेत्येवमर्था प्रशंसा ॥४२॥ **ज्योतिष्टोमविकाराणामग्निष्टोमपूर्वकताधिकरणम् ॥१४॥**

—:०:—

विधिप्रत्ययाद् वा न ह्यकस्मात् प्रशंसा स्यात् ॥४२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व निर्दिष्ट 'विहारादि ज्योतिष्टोम के धर्म हैं, पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (विधिप्रत्ययात्) 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस चोदक विधि के परिज्ञान से आपत्ति और विहार गौ ज्योतिः और आयुः में विधान किये जाते है। (अकस्मात्) विना किसी अवलम्बन =सहारे के (प्रशंसा) प्रशंसा (न हि) नहीं (स्यात्) सम्भव होवे।

व्याख्या—इस (=पूर्व उक्त) विषय में कहते हैं—यद्यपि [गवादि सोमविकारों में प्रत्यक्ष वचन से] आपत्ति और विहार का विधान नहीं किया जाता है, तथापि चोदकवचन (=प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या) से विधान किया जाता है। जो प्रकृति में कर्तव्य हैं वे चोदकवचन से विकृति में भी कर्तव्य जाने जाते हैं। वे आपत्ति और विहार के समान जहां होते है उस 'अन्य से' यह जाना जाता है। अकस्मात् =[निरालम्ब =विना सहारे के] प्रशंसाहोवे। जो वह 'अन्य है' वह कैसे इस प्रशंसा से लक्षित होवे। इसलिये यह प्रशंसा है।

विवरण—तदापत्ति······यत्र भवतः—इसका भाव यह है—यद्यपि अग्निष्टोम से भिन्न ज्योतिष्टोम की संस्थाओं में भी आपत्ति और विहार का साक्षात् उल्लेख नहीं हैं, तथापि **अग्निष्टोम एकाहानां प्रकृतिः** (आप० परि० ३।३) से अग्निष्टोम को एकाह उक्थ्यादि संस्थाओं की प्रकृति कहा है (द्र० हरदत्त व्याख्या)। यही अन्य एकाह गौ ज्योतिः आयुः की भी प्रकृति है। **एवं वा अस्मादन्ये यज्ञक्रतवः** यहां अस्मात् से अग्निष्टोम का निर्देश है। **यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते** वचन से त्रिवृदादि स्तोमों के अन्य क्रतु में जाकर उसे प्रकाशित करना रूप प्रशंसा की है। यहां **एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः** में ज्योतिष्टोम का सामान्यरूप से निर्देश होने से वे अन्य क्रतु उक्थ्यादि संस्थारूप ज्योतिष्टोम ही हैं। इनमें प्रकृतिवत् न्याय से अग्निष्टोम से आपत्ति और विहार प्राप्त होते हैं। यतः उक्थ्यादि संस्थाओं मे आपत्ति और विहार का साक्षात् निर्देश नहीं है अतः **तदापत्ति विहाराविव यत्र भवतः** में 'इव' पद का निर्देश किया है। **तेनान्येन**—यहां 'तेन' पद से उक्थ्यादि संस्थारूप ज्योतिष्टोम का निर्देश है। और **एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजेत** में 'अन्य' शब्द से उक्थ्यादि संस्थारूप ज्योतिष्टोम से अन्य का ग्रहण होता है। **योऽसावन्यः**—में **अन्यं यज्ञक्रतुमुपैति** में पठित अन्य शब्द अभिप्रेत है वह अन्य है अग्निष्टोम से भिन्न ज्योतिष्टोम की उक्थ्यादि संस्थाएं। उनको लक्षित करने के लिये ही यह प्रशंसा अर्थवाद है यह भाष्य का स्वारस्य है ॥४२॥

[अग्निष्टोमविकाराणां सर्वेषामेव तदुत्तरकालताधिकरणम् ॥१५॥

य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत[1] इति श्रूयते। तत्रैषोऽर्थः समधिगतः—तद्विकाराणां वाद इति। अथेदं नीं संदिह्यते— किमेकस्तोमकस्य क्रतोरेष वाद उतैकस्तोमकस्यानेकस्तोमकस्य चेति? किं प्राप्तम्? एकस्तोमकस्य वादः। कुतः?

एकस्तोमे वा क्रतुसंयोगात् ॥४३॥ (पू०)

क्रतुसंयोगात्। एकस्तोमे क्रतुसंयोगो भवति। **यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते स तं दीपयति, यः पञ्चदशः, स तं, यः सप्तदशः, स तं, य एकविंशः, स तम्**[2],। त्रिवृदादय एकस्तोमकाः। तस्मात्तेषां वाद इति ॥४३॥

व्याख्या— 'जो इस से यजन न करके अन्य से यजन करे' ऐसा सुना जाता है। वहां यह अर्थ जाना गया कि अन्येन से उस (=अग्निष्टोम) के विकारों का कथन है। अब यह सन्देह होता है—क्या एक स्तोम वाले क्रतु का यह वाद है अथवा एक स्तोम वाले और अनेक स्तोम वाले का? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—विकृति भूत सोमयाग अनेक प्रकार के हैं। कुछ एक स्तोम वाले हैं। यथा त्रिवृदग्निष्टुत्, पञ्चदशोऽग्निष्टुत्, सप्तदशोऽग्निष्टुत्, एकविंशोऽग्निष्टुत् आदि। इन अग्निष्टुत् नाम के सोमयागों में उल्लिखित 'त्रिवृत' आदि एक एक ही स्तोम होता है। कुछ अनेक स्तोम वाले है। यथा—गोष्टोम आयुष्टोम आदि (द्र० कुतूहलवृत्ति)। एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजेत में अन्य शब्द से एक स्तोम वाले सभी विकृतिभूत सोमयाग विवक्षित हैं, यह इस अधिकरण में विचारणीय वस्तु है। यह संशय क्यों उत्पन्न हुआ इस के लिये आगे व्याख्यात सूत्रभाष्य देखें।

एकस्तोमे वा क्रतुसंयोगात् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द एवार्थ में है। (एकस्तोमे) एक स्तोम वाले क्रतु में (वा) ही (क्रतुसंयोगात) त्रिवृत् आदि एक एक स्तोम का क्रतु के साथ संयोग होने से 'अन्येन' शब्द से एक स्तोम वाले क्रतु का ही कथन है।

विशेष—कुतूहलवृत्ति और सुबोधिनीवृत्ति में 'एकस्तोमः' पाठ है। अर्थ होगा—'एक स्तोम वाला ही 'अन्येन' शब्द से अभिप्रेत है। एक-एक स्तोम का क्रतु के साथ संयोग होने से।

व्याख्या—[अन्येन से] एक स्तोम वाले क्रतु का कथन है। किस हेतु से? क्रतु के संयोग से। एक स्तोम में क्रतु का संयोग होता है— 'जो त्रिवृत् अन्य यज्ञक्रतु को प्राप्त होता है, वह उस को दीप्त करता है; जो पञ्चदश, वह उस को; जो सप्तदश, वह उसको; जो एकविंश, वह उसको'। त्रिवृत् आदि एक स्तोम वाले हैं। इसलिये उन का कथन है।

---

१. ताण्डच ब्रा० १६।१।२॥ २. द्र० पृष्ठ १५४५ टि० १।

सर्वेषां वा चोदनाविशेषात् प्रशंसा स्तोमानाम् ॥४४॥ (उ०)

सर्वेषा वैष वादः, एकस्तोमकानामनेकस्तोमकानां च। कुतः ? अविशेषवचनादन्यशब्दस्य। नन्वेकस्तोमकाः क्रतवः संकीर्त्यन्ते ? सत्यं संकीर्त्यन्ते प्रशंसार्थं, न विशेषार्थम्। कः पुनः प्रशंसार्थः ? यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते स तं दीपयति। चोदकप्राप्ता धर्मा अभ्यस्ताः प्रकृतौ, विकृतौ सुखं प्रतिपद्यन्ते ॥४४॥ सर्वेषामेकानेकस्तोमकानामग्निष्टोमपूर्वताधिकरणम् ॥१५॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये पञ्चमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

—:०:—

विवरण—त्रिवृदादय एकस्तोमकाः—त्रिवृदग्निष्टुत्, पञ्चदशोऽग्निष्टुत्, सप्तदशोऽग्निष्टुत्, एकविंशोऽग्निष्टुत् आदि वचनों से एक एक स्तोम वाले क्रतुओं का विधान है ॥४३॥

सर्वेषां वा चोदनाविशेषात् प्रशंसा स्तोमानम् ॥४४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'अन्येन' शब्द से एक स्तोम वाले क्रतु का अभिप्राय है' की निवृत्ति के लिये है। (सर्वेषाम्) सब=एक स्तोम वालों और अनेक स्तोम वालों का 'अन्येन' से कथन है। (चोदनाविशेषात्) 'अन्येन' रूप चोदना के सामान्य होने से अर्थात् अन्य पद के अविशेष=सामान्य वचन होने से (स्तोमानाम्) स्तोमों की 'अन्यं क्रतु' में (प्रशंसा) प्रशंसामात्र है।

व्याख्या—सब का ही यह कथन है एक स्तोमवालों और अनेक स्तोमवालों का। किस हेतु से ? अन्य शब्द के विशेष वचन न होने से। (आक्षेप) एक स्तोम वालों का संकीर्तन (=कथन) किया जाता है। (समाधान) सत्य है [एक स्तोम वाले] संकीर्तित हैं, प्रशंसा के लिये, विशेष [के विधान] के लिये संकीर्तित नहीं हैं। प्रशंसा का क्या प्रयोजन है ? 'जो त्रिवृत् अन्य यज्ञ क्रतु को प्राप्त होता है, उस को दीप्त करता है'। चोदक प्राप्त [त्रिवृत् स्तोम आदि] धर्म [प्रकृति में] अभ्यस्त हैं, वे विकृति में से जाने जाते हैं।

—:०:—

पञ्चमेऽध्याये चतुर्थः पादः

[पाठक्रमापेक्षया श्रुत्यर्थक्रमोर्बलीयस्त्वाधिकरणम् ॥१॥]

इह पाठक्रमस्य श्रुत्यर्थक्रमाभ्यां सह बाधां प्रति विचारणा। किं पाठक्रमस्ताभ्यां तुल्य उत बाध्यत इति? किं प्राप्तम्? तुल्यबलावेतौ। पाठोऽपि हि कारणं श्रुत्यर्थावपि। न च प्रामाण्ये कश्चिद् विशेषोऽस्ति। तस्मादनियम इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

क्रमकोपोऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्च ॥१॥ (उ०)

व्याख्या—यहां (=इस पाद में) पाठक्रम की श्रुतिक्रम और अर्थक्रम के साथ बाधा पर विचार किया जाता है। क्या पाठक्रम उन (श्रुतिक्रम और अर्थक्रम) के तुल्य है अथवा [पाठक्रम] उन से बाधा जाता है? क्या प्राप्त होता है? दोनों तुल्य बल वाले हैं। पाठक्रम भी [क्रम निर्धारण में] कारण है और श्रुतिक्रम तथा अर्थक्रम भी। [तीनों के] प्रामाण्य में कोई विशेषता नहीं है [अर्थात् सबकी प्रामाणिकता समान है]। इसलिये अनियम जानना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पाठक्रमस्य श्रुत्यर्थक्रमाभ्याम्—पाठक्रम—जिस क्रम से संहिता और ब्राह्मण में विधियों का उल्लेख है उसका आश्रयण करना। श्रुतिक्रम—ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णाति (द्र०—मै० सं० ४।५।८-९।। शाखा० श्रौत० ६।६।६-८-९) तथा आश्विनो दशमो गृह्यते (मै० सं० ४।६।१)। यहां ग्रहों के ग्रहण का क्रम है—ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण और आश्विन, परन्तु श्रुति आश्विन ग्रह के ग्रहण का दशम स्थान में विधान करती है। अर्थक्रम—अग्निहोत्रं जुहोति, ओदनं पचति (मी० भाष्य ५।१।२; पृष्ठ १४२९ में उद्धृत) यहां पाठक्रम से अग्निहोत्र होम पूर्व प्राप्त होता है तत्पश्चात् ओदनपाक। परन्तु ओदनपाक के अग्निहोत्र के लिये होने से अर्थक्रम से ओदन पाक अग्निहोत्र होम से पूर्व जाना जाता है। तुल्य बलावेतौ—'तुल्यबलौ' में द्विवचन पाठक्रम और श्रुतिक्रम तथा पाठक्रम और अर्थक्रम दो दो के बलाबल के विचार से प्रयुक्त है। तुल्य बल होने पर क्रमपाठ से आश्विन ग्रह का ग्रहण तृतीय स्थान पर होगा और दशमो गृह्यते श्रुति से आश्विनग्रह का ध्रुव ग्रहण के उत्तर भी ग्रहण होगा। इसी प्रकार पाठक्रम से ओदन का पाक अग्निहोत्र होम के पश्चात् होगा और अर्थक्रम से अग्निहोत्र से पूर्व भी। दोनों प्रमाणों के प्रामाण्य में विशेष न होने से कहीं भी आश्विन ग्रह का ग्रहण और ओदनपाक कर लिया जाये। इस प्रकार अनियम प्राप्त होता है।

क्रमकोपोऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्च ॥१॥

सूत्रार्थः—(अर्थशब्दाभ्याम) अर्थ=प्रयोजन और शब्द=श्रुति से (क्रमकोपः) क्रम की बाधा होवे अर्थात् क्रम बाधित होवे। (श्रुतिविशेषात्) श्रुति=प्रत्यक्ष श्रवण के विशेष होने से (च) और (अर्थपरत्वात्) अर्थ परक=अन्य के प्रयोजन परक होने से अर्थात् पाक के अग्निहोत्र होम के लिये होने से।

पाठक्रमो हि वाध्यते श्रुत्या, अर्थेन च । कुतः ? श्रुतिविशेषात अर्थपरत्वाच्च । श्रुतिविशेषः कः । यत्र श्रवणं तत्र प्रत्यक्षं कारणम् । पाठक्रमस्त्वानुमानिकः । पाठक्रमेण स्मरणम्, एवमभिनिर्वर्तयितव्यमित्यवगम्यते । तस्यार्थवत्त्वेनैकयोपपत्त्या तथैवानुष्ठानं, श्रुत्या पुनरनुष्ठानमेवैवं भवतीति प्रत्यक्षादवगम्यते । तथाऽर्थेन । कुतः ? अर्थपरत्वात् । अर्थाथ हि सर्वं प्रधानार्थं, प्रधानमभिनिर्वर्तयतीति सर्वं क्रियते । तस्मात् पाठस्ताभ्यां वाध्यते । किमुदादाहरणं प्रयोजनं च ? श्रुतौ—**आश्विनो दशमो गृह्यते, तं तृतीयं जुहोति**[1] । अत्र पाठक्रमस्य वलीयस्त्वे तृतीयस्य ग्रहणम्, सिद्धान्ते तु दशमस्य । अर्थे—अग्निहोत्रहोमः पूर्वमाम्नायते, पश्चाच्छ्रपणम्[2] । एवं कर्तव्यं, यदि पाठो वलवान् । सिद्धान्ते श्रपणं पूर्वं, ततो होमः ।।१।। **पाठक्रमापेक्षयाश्रुत्यर्थयोर्बलवत्त्वाधिकरणम् ।।१।।**

—:०:—

विशेष—'कोप' शब्द का क्रोध वाच्य होता है—कुप कोपे (धातु) । परन्तु सूत्र में इसका प्रयोग बाध=बाधना अर्थ में किया है । यह अर्थ कैसे सम्भव है । इस पर किसी ने कुछ नहीं लिखा । हमारा विचार है—लोक में देखा जाता है कि क्रोध किसी विचार वा कार्य को बाधा पहुंचाता है । अतः यहां लक्षणा से शब्द बाधा पहुचाना अथवा रोकना अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

व्याख्या—पाठक्रम श्रुति से बाधा जाता है, और अर्थ से । किस हेतु से ? श्रुति विशेष से और अर्थ प्रधान होने से । श्रुति विशेष क्या है ? जहां [वचन का विशेष] श्रवण है वहां प्रत्यक्ष कारण है । पाठक्रम तो आनुमानिक है, पाठ के क्रम से स्मृति होती है । 'इस प्रकार निर्वर्तित (=सिद्ध) करना चाहिये' ऐसा जाना जाता है । उस [क्रमपाठ] के प्रयोजनवत्ता रूप उपपत्ति से उसी प्रकार (=क्रमशः) अनुष्ठान प्राप्त होता है, श्रुति से 'अनुष्ठान इसी प्रकार होता है' ऐसा प्रत्यक्ष जाना जाता है । उसी प्रकार अर्थ से । किस हेतु से ? सब अर्थ के लिये ही है [अर्थात्] प्रधान कर्म के लिये है । प्रधान को निर्वर्तित करता है । इसीलिये सब किया जाता है । इसलिये पाठक्रम उन दोनों से बाधा जाता है । इस का क्या उदाहरण और प्रयोजन है ? श्रुति में—'आश्विन ग्रह दसवां (दसवें स्थान पर) गृहीत है, उस का तृतीय स्थान पर होम करता है' । यहां पाठक्रम के बलवान् होने पर तीसरे स्थान पर ग्रहण प्राप्त होता है । सिद्धान्त में दशम स्थान पर ग्रहण होता है । अर्थ में अग्निहोत्र होम पहले पढ़ा जाता है, पीछे [ओदन का] पाक कहा जाना है । इसी प्रकार (=पहले अग्निहोत्र और पीछे ओदन का पाक) करना चाहिये यदि पाठक्रम बलवान् होवे ; सिद्धान्त में [ओदन का] पाक पहले होगा और पीछे होम [क्योंकि पके हुए ओदन से होम करना है] ।

१. द्र० मै० सं० ४।६।१।। २. द्र०—अग्निहोत्रं जुहोति, ओदनं पचति [मी० भाष्य ५।१।२; पृष्ठ १४२६ में उद्धृत वचन ।

[प्रवृत्तिक्रमापेक्षया मुख्यक्रमस्य बलीयस्त्वाधिकरणम् ।।२।।]

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र पूर्वं दध्नो धर्माः समाम्नाताः पश्चादाग्नेयस्य । प्रदानं चाऽऽग्नेयस्य पूर्वम् । तत्र संदेहः । किं प्रावृत्तिकेन क्रमेण पूर्वं दध्नोऽवदानाभिघारणासादनानि, उत मुख्यक्रमेण पूर्वमाग्नेयस्येति ? किं प्राप्तम् ? अनियम इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

विवरण—पाठक्रमस्त्वानुमानिकः— 'पाठक्रम से ही अनुष्ठान करना चाहिये' इसकी सिद्धि का प्रकार आगे भाष्यकार ने बताया है—'पाठक्रम से स्मरण=स्मृति होती है कि 'इसके अनन्तर यह कर्म कर्त्तव्य है' । ऐसा जाना जाता है । **अग्निहोत्रहोमः पूर्वमाम्नायते पश्चात् श्रपणम्—** इनके वाक्य अग्निहोत्रं जुहोति, ओदनं पचति । ये वाक्य हमने मी० भाष्य ५।१।२ से लिये है । अन्य व्याख्याकार ओदनं पचति के स्थान में यवागूं पचति वाक्य उद्धृत करते हैं । ये दोनों ही वाक्य हमें आकर ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हुए ।

—:०:—

व्याख्या—दर्श और पूर्णमास हैं । उनमें दही के धर्म पहले पठित हैं, पश्चात् आग्नेय [पुरोडाश] के । प्रदान आग्नेय पुरोडाश का पहले होता है । उसमें सन्देह है—क्या प्रवृत्ति के क्रम (=पाठक्रम) से पहले दही का अवदान अभिघारण और आसादन किया जाये अथवा मुख्यक्रम (=प्रधानयाग के क्रम) से पहले आग्नेय पुरोडाश के किये जायें ? क्या प्राप्त होता है ? अनियम, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पूर्वं दध्नो धर्मा आम्नाताः—दर्शेष्टि में याग से पूर्व दिन शाखाहरण गोदोहन आतञ्चन (दही जमाना) आदि दधि से सम्बद्ध धर्म समाम्नात हैं । अगले (=याग के) दिन प्रातः आग्नेय पुरोडाश के निर्वाप कण्डन (कूटकर तुषों को हटाना) पेषण आदि धर्म सुने गये हैं । **प्रदानं वाग्नेयस्य पूर्वम्—**यह मी० ५।१ अधि० ७। सू० १४ में उक्त न्याय से सिद्ध है । **अवदानाभिघारणासादनानि—अवदान—**यज्ञीय हवि से आहुति के लिये नियत स्थान से नियत परिमाण में भार का पृथक् करना । **अभिघारण—**जुहू में प्रदीयमान् हवि को रखकर उस पर एक स्रुवा घृत डालना । **आसादन—**हव्य द्रव्य पुरोडाशादि का वेदि के मध्य स्रुचों के पश्चिम में रखना आसादान कहाता है । **मुख्यक्रमेण—**मुख्य प्रधान याग के क्रम से । जहां दर्शपौर्णमास के यागों का विधान किया है, वहां पहले आग्नेय याग का विधान है, पश्चात् दधिभाग का (द्र० मी० २।२। सूत्र ३ के भाष्य की उत्थानिका) । **अनियमः—**प्रवृत्तिक्रम और मुख्यक्रम दोनों का श्रुति से साक्षात् विधान होने और किसी के लिये प्रत्यक्ष वचन न होने से अनियम प्राप्त होता है ।

अवदानाभिघारणासादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या स्यात् ॥२॥ (पू०)

अवदानादिषु प्रावृत्तिकेन पूर्वं दध्न इति। कुत ? एवमनुज्ञातेभ्यो व्यवधायकेभ्यो नाभ्यधिकोऽन्यो वा व्यवधायकः कल्पितो भविष्यति । दर्शयति च दध्नः पूर्वमवदेयम्'[1] इति ॥२॥

यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् ॥३॥ (उ०)

यथाप्रदानं वा कर्तव्यानि। यस्य प्रदानं पूर्वं तस्यावदानानि पूर्वम्। तस्मादाग्नेयस्य। कुतः ? प्रदानचोदनागृहीतत्वादवदानादीनाम्। प्रदानोपक्रमा एते, न पृथक् पदार्था [2]इत्युक्तम्। अविघारणमवदानं च तस्य प्रदानचिकीर्षयैव क्रियते। आसादनमपि प्रदानार्थमेवाऽऽसन्नकरणम्। एवं दृष्टार्थता भवति। तस्मान्मुख्यक्रमेणा-

---

अवदानाभिघारणासादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या स्यात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(अवदानाभिघारणासादनेषु) अवदान अभिघारण और आसादान में (प्रवृत्त्या) जिस क्रम से धर्मों की प्रवृत्ति है उससे (आनुपूर्व्यम्) अनुपूर्वता=पौर्वापर्य (स्यात्) होवे।

व्याख्या—अवदानादि में प्रवृत्ति के क्रम से पहले दही के अवदानादि होवें। किस हेतु से ? इस प्रकार (=प्रवृत्तिक्रम से अवदानादि करने पर) अनुज्ञात (=विदित) व्यवधायकों से अधिक से अथवा अन्य व्यवधायक कल्पित नहीं होता [अर्थात् [इस प्रकार प्रधान की समीपता यथावत् होती है]। 'दही से पूर्व अवदान करना चाहिये' वचन दही के पूर्व को दिखाना भी है।

यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष 'दही का प्रथम अवदानादि करना चाहिये' की निवृत्ति के लिये है। (यथाप्रदानम्) प्रदान=आहुति के आनुपूर्व्य से अवदानादि करने चाहिये (तदर्थत्वात्) अवदानादि के आहुति प्रदान के लिये होने से।

व्याख्या—प्रदान के अनुसार [अवदानादि] करने चाहियें। जिस का पूर्व प्रदान है उसका पूर्व अवदानादि होवे। इसलिये आग्नेय के अवदानादि पहले किये जायें। किस हेतु से ? अवदानादि के प्रदान की चोदना से परिगृहीत होने से। ये अवदानादि प्रदान के उपक्रम हैं, पृथक् पदार्थ नहीं है यह पूर्व कह चुके हैं (द्र० मी० ५।२। अधि० ४। सू० ६)। उस (=हवि) का अभिधारण और अवदान प्रदान करने की इच्छा से ही किया जाता है। और [हवि का वेदि में] आसादन भी प्रदान के लिये समीप करना (रखना) इस प्रकार [आसादन

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. मी० अ० ५ पा० २ अ० ४ सू० ६ इत्यत्रेति शेषः।

ङ्गानां प्रयोग इति । यत्तु दध्नः पूर्वं प्रवृत्तिरिति । अर्थात् पूर्वं प्रवृत्तिः, न पाठात् । प्रावृत्तिकाच्च मुख्यक्रमो बलीयान् । मुख्यक्रमे गृह्यमाणे प्रथम एकः पदार्थो विप्रकृष्टकालः स्यात् । प्रावृत्तिके पुनर्गृह्यमाणे सर्वेषां विप्रकर्षः । तस्मात् मुख्यक्रमो बलीयानिति । अथ यल्लिङ्गमुक्तं, दध्नः पूर्वमवदेयमिति । अत्रोच्यते । शृतांभिप्रायमेतद् भविष्यति । तस्माददोषः ।।३।।

आदि की] दृष्टार्थता होती है । इसलिये मुख्यक्रम से अङ्गों का प्रयोग होता है। यह जो कहा कि दधि की पूर्व प्रवृति है । अर्थ (=प्रयोजन) से पूर्व प्रवृत्ति होती है, पाठ से पूर्व प्रवृत्ति नहीं होती । प्रवृत्तिक्रम से मुख्यक्रम बलवान् होता है । मुख्यक्रम के ग्रहण (=स्वीकार) करने पर एक पदार्थ दूर कालवाला होता है । प्रवृत्तिक्रम को ग्रहण करने पर सभी पदार्थों की दूरी होती है । इसलिये मुख्यक्रम बलवान् है । और जो लिङ्ग कहा—'दही का पूर्व अवदान करना चाहिये । इस विषय में कहते हैं—शृत (गरम किये गये पयोहवि) के अभिप्राय से होगा । इसलिये दोष नहीं है ।

विवरण—प्रदानचोदनागृहीतत्वात्—हवि के प्रदान के लिये ही हवि का अवदान उस का अभिघारण और वेदि में आसादन किया जाता है । अतः ये कर्म प्रदान चोदना से परिगृहीत हैं । भट्ट कुमारिल और तदनुयायी कुतूहलवृत्तिकार ने अवदान से प्रधान याग के लिये जो हवि का अवदान किया जाता है उसे स्वीकार न करके हविप्रदान के अनन्तर स्विष्टकृद् याग के लिये जो अवदान किया जाता है उसका, तथा अभिघारण से प्रयाजमन्त्रों से प्रतिमन्त्र आज्य की आहुति देकर जुहू में अवशिष्ट आज्य से वेदि में स्थापित हवि पर जो दो चार बूंद टपकना होता है उस का ग्रहण किया है । इसमें हेतु दिया हैं कि प्रदान के लिये जो अवदान और अभिघारण है वह आहुति प्रदान कर्म का भाग है ऐसा पूर्व (५।२।अ०४।सू०६) में कह चुके हैं । अतः उसका प्रदान से पृथग्भाव न होने से उन अवदान और अभिघारण के विचार का संबन्ध युक्त नहीं हैं । भाष्यकार के मत में जैसी हमने व्याख्या की है उसी के अनुसार अवदान और अभिघारण यहां अभिप्रेत हैं । क्योंकि भाष्यकार ने **प्रदानचोदनागृहीतत्वादवदानादीनाम्** के लिये हेतु उपस्थित किया है **'प्रदानोपक्रमा एते' न पृथक्पदार्था इत्युक्तम्** । भट्ट कुमारिल ने भाष्य के इस पाठ को **'अग्रन्थोऽयम्** कहकर प्रक्षिप्त कहा है । **यत्तु दध्नः**……न पाठात्—इस का भाव यह है कि दधि के शाखाहरण गोदोहनादि जो धर्म पूर्व दिन में कहे गये हैं वे पाठ से नहीं कहे गये अपितु प्रयोजन से कहे गये है । प्रयोजन यह है कि अगले दिन (याग के दिन) दधिरूप हवि की आवश्यकता है । दधि रूप हवि की निष्पत्ति के लिये दूध को पहले दिन ही जमाना पड़ता है । अतः दधि धर्मो का पूर्व पाठ दधिनिष्पत्ति रूप प्रयोजन के लिये पूर्व प्रवृत्त होते हैं । **प्रथम एकः पदार्थः विप्रकृष्टकालः**—दधि धर्म रूप एक पदार्थ ही प्रधान ऐन्द्रयाग से विप्रकृष्ट होता है । शेष अवदान अभिघारण और हविरासादन धर्मों का आग्नेय और ऐन्द्रयाग के प्रति समानकालता होती है । **सर्वेषां विप्रकर्षः**—प्रवृत्तिक्रम से दधि के अवदानादि पहले करने पर इन सभी का ऐन्द्रयाग से विप्रकर्ष होगा क्योंकि याग तो ऐन्द्र की अपेक्षा आग्नेय का पहले ही

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥ (उ०)

लिङ्गमप्यस्मिन्नर्थे भवति—**स वै ध्रुवामेवाग्रेऽभिघारयति, ततो हि प्रथमावाज्यभागौ यक्ष्यन् भवति**[1] इति । तस्मादपि मुख्यक्रमेण नियम इति ॥४॥ **मुख्यक्रमेणाग्नेयस्य पूर्वावदानाद्यनुष्ठानाधिकरणम् ॥२॥**

—:o:—

होगा (यह कह चुके) शृताभिप्रायस्— शृतं पाके (अ० ६।१।२७) से व्यवस्थित विभाषा होने से 'श्रा को 'शृ' भाव क्षीर और हवि में ही होता है । ऐन्द्रं पयोऽभावस्थायाम् से विहित ऐन्द्रपयः को गरम किया जाता है अतः वह शृत कहाता है ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी मुख्यक्रम से ही तत्तद् हवि के धर्म होते हैं ॥

व्याख्या—इस अर्थ (मुख्यक्रम से नियम) में लिङ्ग भी होता है—**'वह ध्रुवा का ही पहले अभिघारण करता है । उससे ही प्रथम दो आज्यभाग यजन किये जाने वाले होते हैं'** । इस से भी मुख्यक्रम से ही नियम जानना चाहिये ।

विवरण:—अध्वर्यु प्रयाजों का यजन करके जुह्वास्थ आज्यशेष से धुवा और क्रमशः अन्य हवियों का अभिघारण करके उपभृत् का अभिघारण करता है (द्र० श्रौत पदार्थ निर्वचन पदार्थ संख्या २५१, पृष्ठ २१) । प्रयाजों के पश्चात् आज्यभागों का यजन होता है और उन के लिये ध्रुवा से घृत का अवदान किया जाता है । तदनन्तरं पौर्णमासेष्टि में क्रमशः आग्नेय याग, उपांशुयाज और अग्नीषोमीय याग होते हैं । अत, ध्रुवा के अभिघारण के पश्चात् आग्नेय पुरोडाश और अग्नीषोमीय पुरोडाश का अभिघारण किया जाता है । इसी प्रकार दर्शेष्टि में क्रमशः आग्नेय पुरोडाश ऐन्द्रदधि और ऐन्द्रपयः का अभिघारण होता है । अंत में उपभृत् का अभिघारण इसलिये किया जाता है कि उसमें गृहीत आठ स्रुव आज्य प्रयाज और अनुयाज दोनों के लिये होता है द्र०—**'यदष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्'** । अनुयाज होम प्रधान आग्नेयादि होम के पश्चात् होता है । इस प्रकार **स वै ध्रुवामेव** हेतुवन्निगदरूप अर्थवाद मुख्यक्रम से ही अभिघारण आदि धर्मों का निदर्शन कराता है (द्र०—**यस्य पूर्वमवदानं तस्य पूर्वमभिघारणं हेतुवन्निगदार्थवादेन** । भट्ट कुमारिल) । हेतुवन्निगद अर्थवाद के लिये मी० १।२। अधि० ३। सूत्र २६-३० देखें ।

—:o:—

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

[इष्टिपूर्वत्वसोमपूर्वत्वयोर्विकल्पाधिकरणम् ॥३॥]

इष्टिपूर्वत्वं समाम्नातम्। तत्र संदेहः। किमिष्टिपूर्वत्वं, सोमपूर्वत्वं वा विकल्प्यते, अथवेष्टिपूर्वत्वमेवेति? किं प्राप्तम्?

वचनादिष्टिपूर्वत्वम् ॥५॥ (पू०)

इष्टिपूर्वत्वमेव स्यात्। कुतः? वचनात्। वचनमिदं भवति—**एष वै देवरथो यद् दर्शपूर्णमासौ, यो दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजते, रथस्पष्ट एवावसाने वरे देवानामवस्यति'**[1] इति। नास्ति वचनस्यातिभारः। तस्मादिष्टिपूर्वत्वमेवेति ॥५॥

व्याख्या—इष्टि का पूर्वत्व पठित है। उस में सन्देह होता है—क्या इष्टि का पूर्वत्व और सोम के पूर्वत्व का विकल्प होता है अथवा इष्टि का पूर्वत्व ही होता है। क्या प्राप्त होता है?

वचनाद् इष्टिपूर्वत्वम् ॥५॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) 'यो दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजते' वचन से (इष्टिपूर्वत्वम्) दर्शपूर्णमासेष्टि की पूर्वता है।

व्याख्या—इष्टि का पूर्वत्व ही होवे। किस हेतु से? वचन से। यह वचन होता है—यह निश्चय ही देवरथ है। जो दर्श और पूर्णमास हैं जो दर्शपूर्णमास से यजन करके सोम से यजन करता है रथ से स्पष्ट [=मार्गस्थ कण्टकादि बाधित मार्ग चलता हुआ ही अवसान (=यात्रा के अन्त) में दोनों के उत्कृष्ट स्थान (=गृह) में अवस्थित होता है)। वचन को [इस अर्थ के कहने में कोई] अति भार नहीं है। इसलिये इष्टिपूर्वत्व ही जानना चाहिये।

विवरण—एष वै देवरथः वचन पूर्व मी० ४।३।३७ के भाष्य में उद्धृत है। वहां (पृष्ठ १३६२) में हमने इस वचन का भावार्थ लिखा है। यहां शब्दार्थ दे रहे है। इस का भाष्य भट्ट भास्कर ने इस प्रकार किया है—देवरथः देवानां रथस्थानम्। रथ स्पष्टः रथेन प्रकाशितः क्षुण्णः। 'तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। तत्र देवानां वरे उत्कृष्टे अवसाने देवानां स्वभूते देवानां गृहे अवस्यति देवयजनमध्यवस्यति। सायण ने यही तात्पर्य लौकिक दृष्टान्त पूर्वक विस्तार से दर्शाया है। रथस्पष्टः—'स्पश बाधने' से क्त प्रत्यय। रथ से स्पष्ट बाधित =मार्गस्य कण्टक आदि अवरोध जिसके नष्ट हो गये हैं उस मार्ग में सोमयाग से पूर्व दर्श पूर्णमास के करने से विधियों के अभ्यस्त हो जाने से सोमयाग की दीक्षणीयादि इष्टियों के करने में सुगमता होती है, यही इस वचन का तात्पर्य है।

---

१. द्र०—तै० सं० २।५।६।१॥ तत्र 'यो दर्शपूर्णमासा०' इति पाठः।

सोमश्चैकेषामग्न्याधेयस्यर्तुनक्षत्रातिक्रमवचनात् तदन्तेनानर्थकं हि स्यात् ॥६॥ (उ०)

इष्टिपूर्वत्वमित्येतद् गृह्णीमः । किंतु सोमश्चैकेषां पूर्वो दर्शपूर्णमासयोः स्यात् । कुतः ? अग्न्याधेयस्य ऋतुनक्षत्रातिक्रमवचनात् । यः सोमेन **यक्ष्यमाणोऽग्नीनादधीतः नर्तुं प्रतीक्षेत्र नक्षत्रम्**[1] इति । यः सोमयागं कर्तुमादधीत, स न प्रतीक्षेत नक्षत्रं नाप्यृतुम्, तावत्येवाऽऽदधीतेति आनन्तर्यमुच्यते । इतरथा ऋतुनक्षत्रातिक्रमवचनमनर्थकं

सोमश्चैकेषामग्न्याधेयस्यर्तुनक्षत्राति ..... हि स्यात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(सोमः) सोमयाग (च) भी (एकेषाम्) किन्हीं का दर्शपूर्णमास से पूर्व (अग्न्याधेयस्य) अग्न्याधान के (ऋतुनक्षत्रातिक्रमवचनात्) ऋतु नक्षत्र के अतिक्रम=उल्लंघन =परित्याग के वचन से। (तदन्तेन) दर्शपूर्णमास के अन्त व्यवधान से सोमयाग के होने से आधान के ऋतु नक्षत्रादि का अतिक्रम विधायक वचन (अनर्थकम्) अनर्थक (हि) ही (स्यात्) होवे—

विशेष—अग्न्याधेय के ऋतु और नक्षत्र विशेष का विधान है—**वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः**[2]=ब्राह्मण वसन्त में अग्नियों का आधान करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में और वैश्य शरद् में। **कृत्तिकास्वाग्निमादधीत रोहिण्यामग्निमाधीत**[3]=कृत्तिका और रोहिणी नक्षत्रों में अग्नियों का आधान करे। अग्न्याधान के लिये उक्त ऋतु नक्षत्र का अतिक्रमण कहा है—**यस्सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्नीनादधीत नर्तून् सूर्क्षेत्, न नक्षत्रम्**।[4] यह अग्न्याधानविषयक ऋतु और नक्षत्र का अतिक्रमण वा अनादर तभी सम्भव है जब सोमयाग करने की इच्छा वाला सोमयाग के काल में ही अग्नि का आधान करे। इस से स्पष्ट है कि दर्शपूर्णमासेष्टि से पूर्व सोमयाग भी सोमयाग करने की इच्छा वाले के लिये विहित है।

व्याख्या—इष्टि का पूर्वत्व स्वीकार करते हैं, किन्तु सोम भी किन्हीं का दर्शपूर्णमास से पूर्व होवे। किस हेतु से ? अग्न्याधेय के ऋतु और नक्षत्र के अतिक्रमण वचन से—'जो सोम से यज्ञ करने वाला अग्नियों का आधान करे वह ऋतु की प्रतीक्षा न करे न नक्षत्र की'। जो सोमयाग करने के लिये आधान करे वह नक्षत्र की प्रतीक्षा न करे ना ही ऋतु की, उसी समय

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—आप० श्रौत० ५।३।२१—सोमेन यक्ष्यमाणो नर्तुं सूर्क्षेन्न नक्षत्रम्।

२. मी० भाष्य २।२।४ (पृष्ठ ५४३) में उद्धृत। वहां की टि० १ देखें।

३. अग्न्याधान के कृत्तिकादि विविध नक्षत्रों के लिये शत० ब्रा० २।१।२ तथा तै० ब्रा० १।२।२ देखें।

४. द्र०—सोमेन यक्ष्यमाणो नर्तुं सूर्क्षेन्न नक्षत्रम्। आप० श्रौत ५।३।२१॥ 'न सूर्क्षेत्'= नाद्रियेत। रुद्रदत्तवृत्ति। इसी भाव का एकवचन शतपथ के उपाधान प्रकरण में भी पठित है—'तस्माद् यदैवैनं कदा च यज्ञ उपनमेदथाग्नी आदधीत। न श्वःश्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद। शत० २।१।३।६॥

स्यात् । आनन्तर्येऽनपेक्ष्यमाणे यस्यैव ऋतुनक्षत्रे उक्ते तस्यैव तयोरनादरः कीर्तितः स्यात् । तस्मादस्ति सोमाधानयोरानन्तर्यमिति । अपि च विस्पष्टा चाद्यतनी विभक्तिः, सोमेन यक्ष्यमाण इति । यदा सेष्टिपूर्वत्वमनुज्ञाय विवक्ष्यते, न तदाऽद्यतन-कालविवक्षा । तत्रायं शब्दो विप्रतिषिध्येत । तस्मादानन्तर्यविवक्षेत्यवगम्यते ॥६॥

तदर्थवचनाच्च नाविशेषात् तदर्थत्वम् ॥७॥ (उ०)

इतश्च सोमाधानयोरानन्तर्यम् । कुतः ? तदर्थवचनात् । यः[1] सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्निमादधीतेति च, सर्वैरप्यसौ यक्ष्यमाणोऽग्निमाधत्ते सोमेन अग्निहोत्रादिभिश्च । नासति सोमस्य विशेषे सोमार्थता स्यात् । अयमसौ विशेष स्यात् । यदानन्तर्यं सोमाधानयोरिति ॥७॥

(=सोम के काल वसन्त में) ही आधान करे । इस से [आधान से सोम का] आनन्तर्य (=दर्शपूर्णमास से अव्यवधान) कहा जाता है । अन्यथा ऋतु नक्षत्र के अतिक्रमण का वचन अनर्थक होवे । आनन्तर्य की अपेक्षा न करने पर जिस [वर्ण के जो नक्षत्र कहे उसी के उन [ऋतु नक्षत्रों] का अनादर कहा माना जाये । इसलिये सोम और आधान का आनन्तर्य है । और भी, विस्पष्ट ही अद्यतनी (=आज की) विभक्ति है– सोमेन यक्ष्यमाणः । जब वह इष्टि पूर्वत्व स्वीकार करके विवक्षित होवे तब अद्यतन काल की विवक्षा न होवे । वहां यह शब्द (=यक्ष्यमाणः) विरुद्ध होवे । इसलिये [यहां] आनन्तर्य की विवक्षा है ऐसा जाना जाता है ।

विवरण—अग्न्याधेयस्य ऋतुनक्षत्र०—अग्न्याधेय के ऋतु नक्षत्रों के विधायक वचन हम सूत्रार्थ के नीचे 'विशेष' के अन्तर्गत लिख चुके हैं । विस्पष्टा अद्यतनी विभक्ति—'लृट् शेषे च' (अष्टा० ३।३।१३) से भविष्यत् सामान्य में लृट् प्रत्यय होता है । उसका बाधक है–'अनद्यतने लुट्' (अष्टा० ३।३।१५) । इस से अनद्यतन (=जो आज का न हो) भविष्यत् में लुट् प्रत्यय का विधान करने से लृट्-विभक्ति को यहां अद्यतनी कहा है । 'यक्ष्यमाण' में लृट् के स्थान में शानच् प्रत्यय (अष्टा० ३।३।१४) होता है ॥६॥

तदर्थवचनाच्च नाविशेषात् तदर्थत्वम् ॥७॥

सूत्रार्थः—(तदर्थवचनात्) सोमयाग के लिये आधान का कथन होने से (च) भी सोम और आधान का आनन्तर्य जाना जाता है। (अविशेषात्) आधान का सामान्य वचन मानने से (तदर्थत्वम्) सोमार्थता आधान की (न) नहीं होवे ।

व्याख्या—इसलिये भी सोम और आधान का आनन्तर्य है । किस हेतु से ? उस (=सोम) के लिये [आधान का] कथन होने से । 'जो सोम से यजन करने वाला अग्नि का आधान करे' इस से भी । सभी यागों से यजन करने वाला अग्नि का आधान करता है—सोम से और अग्निहोत्रादि से । सोम के विशेष न होने पर [आधान की] सोमार्थता न होवे । यह [आधान] इस प्रकार विशेषित होवे जब सोम और आधान का आनन्तर्य होवे ॥७॥

---

१. यः सोमेन यजेत सोऽग्निमिति पाठान्तरम् ।

अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां कालनिर्देशादानन्तर्याद् विशङ्का स्यात् ॥८॥ (उ०)

सोमेनायक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां कालो निर्दिश्यते—**यः सोमेनायक्ष्यमाणोऽग्निमादधीत, स पुरा संवत्सराद्धवींषि निर्वपेद्**[1] इति । न खलु कश्चिदयक्ष्यमाणः । सर्वस्य विहितत्वात् । तस्मादनन्तरमयक्ष्यमाण इति गम्यते ॥८॥

अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां ····विशङ्का स्यात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(अयक्ष्यमाणस्य) सोम से याग न करने वाले के (पवमानहविषाम्) पवमान हवियों के (कालनिर्देशात्) काल का निर्देश होने से (च) भी (आनन्तर्यात्) आधान और सोमयाग के आनन्तर्य से (विशङ्का) संशय का अभाव (स्यात्) होवे ।

विशेष—आनन्तर्याद् विशङ्का स्यात्—यहां आनन्तर्य शब्द से ल्यप् प्रत्यय के लोप में पञ्चमी विभक्ति है—**पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम्** (महा० २।३।२८ वा०) । अर्थ होगा—सोमयाग न करने वाले की पवमान हवियों के काल के निर्देश से भी आनन्तर्य **प्राप्य**=आनन्तर्य को प्राप्त होकर संशय का अभाव होवे । कुतूहलवृत्तिकार के सूत्रपाठ में 'च' नहीं है, तथा **'कालनिर्देशानन्तर्याद् विशेषः स्यात्'** पाठ है ।

व्याख्या—सोम से याग न करने वाले की पवमान हवियों का काल निर्देश किया जाता है—**'जो सोम से याग न करने वाला अग्नि का आधान करे, वह संवत्सर से पूर्व [पवमान] हवियों का निर्वाप करे ।'** कोई ऐसा नहीं है जो सोम से याग न करने वाला होवे सबके लिये विहित होने से । इस से '[आधान के] अनन्तर सोमयाग न करने वाला' ऐसा अर्थ जाना जाता है ।

विवरण—कुतूहलवृत्तिकार ने श्रुति का पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—**यस्सोमेनायक्ष्यमाण आदधीत न स पुरा संवत्सरात् पवमानहवींषि निर्वपेत् यक्ष्यमाणस्तु द्व्यहे त्र्यहे चतुरहेऽर्धमासे मासि सद्यो वाऽनुनिर्वपेत्** । उत्तरार्ध का भाव है—'सोम से यजन करने वाला दो दिन, तीन दिन, चार दिन, अर्धमास में अथवा तत्काल पवमान हवियों का निर्वाप करे ।' **सर्वस्य विहितत्वात् वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत**—इस वाक्य में 'वसन्ते वसन्ते' यह दो वार उच्चारण वीप्सा=व्याप्ति विषयक प्रयोक्ता की इच्छा अर्थ में हैं—**नित्यवीप्सयोः** (अष्टा० ८।१।२) । तात्पर्य है प्रतिवसन्त में सोम से यजन करे । इस प्रकार सोमयाग नित्य रूप से सब के लिये विहित है । जब प्रत्येक के लिये सोमयाग विहित है तब 'सोम से याग न करने वाला' कोई नहीं होगा । अतः यहां **अयक्ष्यमाण** का तात्पर्य आधान के अनन्तर सोमयाग न करने वाले से है ॥८॥

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् ॥६॥ (उ०)

इदं प्रयोजनसूत्रं वर्ण्यते। क्षीणमधिकरणम्।

किं प्रयोजनं चिन्तायाः? इष्टिरयक्ष्यमाणस्य सोमेन निरभिसंधिके आधाने। तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम्। सोमार्थतायां त्वाधानस्य सोमपूर्वत्वं स्यात्। **इष्टिपूर्वत्वसोमपूर्वत्वयोर्विकल्पाधिकरणम् ॥३॥**

—:०:—

[ब्राह्मणस्यापि सोमपूर्वत्वेष्टिपूर्वत्वरूपकल्पद्वयाधिकरणम् ॥४॥]

अस्त्याधानं, तत्रैषोऽर्थः समधिगतः। इष्टिपूर्वत्वं सोमपूर्वत्वं चेति। इदानीं संदेहः—किं त्रयाणां वर्णानामिष्टिपूर्वत्वं सोमपूर्वत्वं वा, उत ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेव,

---

इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् ॥६॥

सूत्रार्थः—(अयक्ष्यमाणस्य) सोम से यजन न करने वाले की (इष्टिः) दर्शपूर्णमास इष्टि पहले प्रयोज्य होती है, पीछे सोमयाग होता है। (तादर्थ्ये) सोमयाग के लिये आधान होने पर (सोमपूर्वत्वम्) इष्टि का सोम पूर्वत्व जानना चाहिए।

व्याख्या—यह प्रयोजन सूत्र कहा जाता है। **अधिकरण [का विचार] क्षीण (=पूर्ण) हो चुका।**

विचार का प्रयोजन क्या है? सोम से विना सन्धिवाले आधान में [सोम से] याग न करने वाले की इष्टि पूर्व होती है। सोमार्थ आधान में सोमपूर्वत्व होता है। आधान की सोमार्थता होने पर [इष्टि का] सोमपूर्वत्व होवे।

विवरण—कुतूहलवृत्तिकार ने **तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम्** के भाष्यकारोक्त अर्थ—'आधान के सोमार्थ होने पर इष्टि का सोमपूर्वत्व होता है' का खण्डन किया है। उसमें हेतु दिया है—आधान के सब ऋतुओं के लिये होने से यहां केवल कालार्थ संयोग ही विवक्षित है' वृत्तिकार ने स्वयं उक्त पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—'अर्थ शब्द यहां निवृत्ति अर्थ में है। जैसे **मशकार्थो धूमः** (=मच्छरों की निवृत्ति के लिये धूआं) में देखा जाता है। तादर्थ्ये=इष्टि पूर्वकत्व की निवृत्ति=अभाव में सोमपूर्वत्व इष्टि का है। सूत्र में दर्शपूर्णमास के लिये एकवचनान्त इष्टि शब्द का प्रयोग दोनों के फलैकत्व के कारण है। दर्श और पूर्णमास दोनों का एक सम्मिलित स्वर्गादि फल होता है ॥६॥

—:०:—

व्याख्या—[अग्नियों का] का आधान है। उसमें यह अर्थ जाना गया—इष्टिपूर्वत्व और सोमपूर्वत्व होता है। अब सन्देह है—क्या तीनों वर्णों का इष्टिपूर्वत्व वा सोमपूर्वत्व है अथवा ब्राह्मण का सोमपूर्वत्व ही है अथवा केवल पौर्णमासी का उत्कर्ष किया जाता है, ब्राह्मण

उत केवला पौर्णमास्युत्कृष्यते, ब्राह्मणस्योभौ कल्पाविति । अथवा कर्मान्तरमिदं यदूर्ध्वं सोमात् । अथवैकं हविरुत्कृष्यते, ब्राह्मणस्योभावेव कल्पाविति । किं प्राप्तम् ? त्रयाणां वर्णानामिष्टिपूर्वत्वं सोमपूर्वत्वं वा । कुतः ? अविशेषात् । न कंचिद विशेषमवगच्छामः । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

उत्कर्षाद् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् ॥१०॥ (पू०)

ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वं स्यात् । कस्मात् ? उत्कर्षाद् । उत्कर्षो हि श्रूयते—**आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, स सोमेनेष्ट्वाऽग्नीषोमीयो भवति । यदेवादः पौर्णमासं हविस्तत्तर्ह्यनुनिर्वपेत् । तर्ह्युभयदेवत्यो भवति**[1] इति । किमिव हि वचनं न कुर्यात् । तस्माद् ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेवेति ॥१०॥

के दोनों कल्प (=पक्ष) हैं । अथवा यह कर्मान्तर है जो सोम से उत्तर होता है । अथवा एक हवि उत्कृष्ट की जाती है, ब्राह्मण के दोनों ही कल्प हैं । क्या प्राप्त होता है ? तीनों वर्णों का इष्टिपूर्वत्व और सोमपूर्वत्व है । किस हेतु से ? विशेष न होने से । हम कुछ विशेष अर्थ को नहीं जानते । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं ।

विवरण—यहां इष्टिपूर्वत्व और सोमपूर्वत्व में कई पक्ष उपस्थापित किये हैं १—तीनों वर्णों का इष्टिपूर्वत्व और सोमपूर्वत्व २—ब्राह्मण का सोमपूर्वत्व है ३—ब्राह्मण की केवल पौर्णमासी इष्टि का उत्कर्ष होता है, ब्राह्मण के दोनों कल्प हैं; ४—सोम से उत्तर विहित पौर्णमासेष्टि कर्मान्तर है । ५-ब्राह्मण की एक अग्नीषोमीय हवि का उत्कर्ष होता है, ब्राह्मण के दोनों कल्प हैं । इन पर आगे विचार किया जायेगा ।

उत्कर्षाद् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(उत्कर्षाद्) उत्कर्ष होने से=सोमयाग के अनन्तर दर्शपूर्णमास का विधान होने से (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण का (सोमः) सोमपूर्वत्व (स्यात्) होवे । [उत्कर्ष-विधायिका-श्रुति भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—ब्राह्मण का सोमपूर्वत्व होवे । किस हेतु से ? उत्कर्ष कहने से । उत्कर्ष सुना जाता है—'अग्नि देवता वाला है ब्राह्मण देवता से । वह सोम से याग करके अग्नीषोम देवता वाला होता है । जो ही यह पौर्णमास हवि है उसका [सोम के] पीछे निर्वाप करे । उस समय दोनों देवता वाला होता है ।' सम्प्रति वचन क्या नहीं करेगा [अर्थात् वचन से सब कुछ कहा जा सकता है ।] इसलिये ब्राह्मण का सोमपूर्वत्व ही होवे ।

विवरण—अदः पौर्णमासं हविः—इससे केवल पौर्णमासेष्टि की अग्निषोमीय हवि का

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥११॥ (उ०)

यदुक्तम्—ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेवेति । तन्न । तस्याप्युभौ कल्पौ । कुतः ? अविशेषात् । न हि कल्पयोर्ब्राह्मणस्य कश्चिद् विशेष आम्नायते । नन्विदानीमेवोक्तम् ब्राह्मणस्योत्कर्ष इति । नेति ब्रूमः । पौर्णमासीमात्रस्य तत्रोत्कर्षः । श्रुतिसंयोगः पौर्णमास्यास्तत्र—यदेवादः पौर्णमासं हविरिति । यावद्वचनं [तावद्] वाचनिकम् तत्र न न्यायः क्रमते—**'तुल्ययोरेकदेश उत्कृष्टे नूनमपरोऽप्येकदेश उत्कृष्यत' इति ॥११॥**

सर्वस्य वैककर्म्यात् ॥१२॥ (उ०)

ही उत्कर्ष विदित होता है, तथापि अग्नीषोमीय हवि के विना दर्शपौर्णमास के सम्पन्न न हो सकने से दर्शपौर्णमास का उत्कर्ष जाना जाता है। **किमिव हि**—यहां 'इव' शब्द सम्प्रत्यर्थ में है। वेद में सम्प्रति के अर्थ में अनेकत्र प्रयोग उपलब्ध होता है ॥१०॥

पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वनिर्दिष्ट पक्ष=ब्राह्मण का सोमपूर्वत्व ही है दर्शपौर्णमास सोम के पीछे होते हैं' की निवृत्ति के लिये है। (पौर्णमासी) पौर्णमासेष्टि ही उत्कृष्ट होवे (श्रुतिसंयोगात्) 'यदेवादः पौर्णमासं हविः' श्रुति में पौर्णमासी का ही संयोग होने से।

व्याख्या—जो कहा है—ब्राह्मण का सोमपूर्वत्व है, यह नहीं है। उसके भी दोनों कल्प हैं। किस हेतु से ? विशेष कथन न होने से। दोनों कल्पों में ब्राह्मण का (=ब्राह्मण के लिये) कुछ विशेष पठित नहीं हैं। अभी तो कहा था—ब्राह्मण का उत्कर्ष होता है। नहीं होता, ऐसा कहते हैं। केवल पौर्णमासी का वहां उत्कर्ष कहा है [अर्थात् पौर्णमासेष्टि सोमयाग के पीछे होगी। दर्शेष्टि सोम से पूर्व भी होगी]। वहां पौर्णमासी का श्रुति के साथ संयोग है—'जो ही यह पौर्णमास हवि'। जितना वचन है उतना वाचनिक होता है। वहां न्याय प्रवृत्त नहीं होता—दो तुल्यों के एकदेश के उत्कृष्ट होने पर दूसरा भी एक देश उत्कर्षित होवे।

विवरण—**तुल्ययोरेकदेश उत्कृष्टे**—तुलना करो—**एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः**=पाणिनि के एक सूत्र में निर्दिष्ट पदों की साथ-साथ प्रवृत्ति होती है, साथ-साथ निवृत्ति होती है। **क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते**=कहीं कहीं सहनिर्दिष्ट में से एक देश की भी अनुवृत्ति होती है। इन दोनों वैयाकरणीय परिभाषाओं के लिये परिभाषावृत्ति देखें ॥११॥

सर्वस्य वैककर्म्यात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वनिर्दिष्ट पौर्णमासेष्टि के उत्कर्ष की निवृत्ति के लिये है। (सर्वस्य) सब अर्थात् दोनों दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि का उत्कर्ष होवे। (ऐककर्म्यात्) दोनों के एक स्वर्गादि फल के साथ सम्बन्ध होने समुच्चित रूप से एक कर्म होने से।

विशेष—**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** में दोनों के एक स्वर्गरूप के साथ सम्बन्ध होने से दोनों का एककर्मत्व है। एक-एक पृथक् का फल नहीं कहा गया है।

यदुच्यते—केवला पौर्णमास्युत्कृष्यत इति । तन्न । कृत्स्नस्य दर्शपूर्णमासकर्मण उत्कर्षः । एवं फलेन संबन्धः । इतरथा न स्यात् फलम् । एकदेशत्वात् पौर्णमास्याः केवलायामुत्कृष्यमाणायामवशिष्टस्य पूर्वत्र क्रियमाणस्य न फलं स्यात् । एकदेशत्वाद-फलत्वाच्चोक्तमपि न क्रियेत । समुदाये चोत्कृष्यमाणे भवति फलम् । तस्मादर्थात् समुदायस्योत्कर्षः, एवं कृत्स्नोपदेशोऽर्थवान् भविष्यतीति । तस्मात् सर्वस्योत्कर्षः । सोमपूर्वत्वमेव ब्राह्मणस्येति ॥१२॥

स्याद् वा विधिस्तदर्थेन ॥१३॥ (उ०)

नैतदस्ति कृत्स्नोत्कर्ष इति । यदेवं समुदायस्यासति वचन उत्कर्षः परिकल्प्येत । तस्मादन्यदेवैवंनामकं कर्म, ऊर्ध्वं सोमात् स्यात् । एवमेकदेशस्याश्रुतं फलं न कल्पयितव्यं भविष्यति । नामधेयं तु द्वयोः कर्मणोरेकम् । अक्षाः, पादाः, माषा इति यथा । पौर्णमासधर्मकं वा कर्मान्तरं चोद्यत इति । कर्मविधानं श्रुतेरेतद् भवति तद्वाक्यस्य बाधकम् । तस्मात् कर्मान्तरमिति ॥१३॥

व्याख्या—जो यह कहा केवल पौर्णमासी उत्कृष्ट होवे । यह नहीं है । सम्पूर्ण दर्श-पूर्णमास का उत्कर्ष होवे । इसी प्रकार (=दोनों का समुच्चित रूप से) फल के साथ संबन्ध होने से । अन्यथा (=एक के न करने पर) फल न होवे । पौर्णमासी के एकदेश होने से केवल [पौर्णमासी के] उत्कर्ष करने पर अवशिष्ट (=दर्श) के [सोम से] पूर्व किये गये का फल न होवे । एकदेश होने से और अफल (निष्फल) होने से कहा हुआ भी नहीं किया जायेगा । समुदाय के उत्कर्ष करने पर फल होता है । इस लिये अर्थवश (प्रयोजनवश) समुदाय का उत्कर्ष होवे । इस प्रकार कृत्स्न उपदेश अर्थवान् होगा । इसलिये सब (=दर्श-पौर्णमास दोनों) का उत्कर्ष होवे । ब्राह्मण का सोमपूर्वत्व ही है ॥१२॥

स्याद्वा विधिस्तदर्थेन ॥१३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वनिर्दिष्ट 'दोनों का उत्कर्ष होवे' पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (विधिः) पौर्णमास नामक कर्मान्तिर की विधि (स्यात्) होवे (तदर्थेन) उस अर्थवाले= पौर्णमास अर्थवाले शब्द से ।

व्याख्या—कृत्स्न (=दर्शपौर्णमास) का उत्कर्ष होवे यह नहीं है । ऐसा मानने पर वचन न होने पर भी समुदाय के उत्कर्ष की कल्पना होवे । इस लिये इस (=पौर्णमास) नाम वाला अन्य ही कर्म है यह सोम के पश्चात् होवे । ऐसा स्वीकार करने पर एकदेश का अश्रुत (=न कहा गया) फल कल्पनीय नहीं होगा । दोनों कर्मों का नाम एक है । जैसे अक्ष पाद माष । अथवा पौर्णमास धर्मवाला कर्मान्तर कहा जाता है । कर्म का यह विधान श्रुति से होता है, वह वाक्य का बाधक है । इस लिये कर्मान्तर है ।

प्रकरणात् तु कालः स्यात् ॥१४॥ (उ०)

कर्मान्तरस्यैतद् वाचकमिति प्रमाणाभावः। प्रकृतस्य कर्मणो वाचकमिति प्रत्यक्षम्। यच्च सप्रमाणकं, तद् ग्राह्यम्। अन्यायश्चानेकार्थत्वम्[1]। धर्मग्रहणे लक्षणा-शब्दः श्रुतिसंभवे कल्प्यः स्यात्। अपि चास्य रूपं न गम्यते। रूपावचनान्न कर्मा-

---

विवरण—**अक्षाः पादा माषा इति यथा**—'अक्ष' शब्द आंख, जुए के पासे और बहेडा के फल का वाचक है। 'पाद' पैर, चतुर्थभाग तथा भाग मात्र का वाचक है। 'माष' उर्द, तोले का बारहवां भाग (१२ माषा=१ तोला) सुवर्ण वा तांबे का सिक्का का (प्राचीन काल में) वाचक है। यहां महाभाष्य १।२।४५ का **एकश्च शब्दो बह्वर्थः। तद्यथा अक्षाः पादा माषा इति'** पाठ भी द्रष्टव्य है। इसी प्रकार पौर्णमासी शब्द सोमयाग से उत्तर क्रियमाण एतन्नामक कर्मा-न्तर का भी है और दर्शपौर्णमास कर्म के एकदेश का भी। **पौर्णमासधर्मकं कर्मान्तरं वा चोद्यते**—जैसे कुण्डपायियों के अयन में **मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते** में अग्निहोत्र धर्मवाला और दर्शपूर्णमास धर्मवाला ऋत्वन्तर विहित है (द्र० मी० २।३।अधि० ११। सूत्र २४ भाग १, पृष्ठ ५८१—५८३) उसी प्रकार यहां दर्शपौर्णमास एकदेश पौर्ण-मास धर्मवाला ऋत्वन्तर का विधान जानना चाहिये। इस पक्ष का तात्पर्य है—'ब्राह्मण का सोमपूर्वत्व और दर्शपूर्णमासपूर्वत्व दोनों कल्प हैं, फिर भी सोमयाग के पश्चात् पौर्णमास नाम का कर्मान्तर नियत है। क्षत्रिय और वैश्य के दोनों ही कल्प हैं, सोम से ऊर्ध्व पौर्णमास कर्मान्तर विहित नहीं है ॥१३॥

प्रकरणात् तु कालः स्यात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(प्रकरणात्) दर्शपूर्णमास के प्रकरण से (तु) तो (कालः) दर्शपूर्णमास के काल की विधि (स्यात्) होवे।

विशेष—कुतूहलवृत्तिकार ने सूत्र में **प्रकरणात् तुल्यकालः स्यात्** पाठ मान कर अर्थ किया है—'प्रकरण=प्रकृत प्रत्यभिज्ञान के बल से नित्य पूर्णमास का ही 'पौर्णमासं हविः' इस से परामर्श होने पर [दर्शपूर्णमास के] एक फल वाले होने से दर्श के बिना अकेले पूर्णमास के न होने से दोनों का तुल्य सोम से ऊर्ध्व काल होवे।

व्याख्या—[पौर्णमासं हविः] यह कर्मान्तर का वाचक है इसमें प्रमाण नहीं है। प्रकृत कर्म का वाचक है यह प्रत्यक्ष है। और जो सप्रमाण है वह ग्राह्य है। अनेकार्थत्व अन्याय्य हैं। धर्म के ग्रहण में श्रुति के सम्भव होने पर लक्षणा शब्द कल्पनीय होवे। और भी इस (=पूर्ण-मास) का रूप भी नहीं जाना जाता हैं। रूप का बोध न होने से [पूर्णमास] कर्मान्तर नहीं है।

---

१. एतद्वचनविषये मी० १।३।२० सूत्रभाष्यव्याख्यायां २७३ तमे पृष्ठे प्रथमा टिप्पणी द्रष्टव्या।

न्तरम् । तस्मात् प्रसिद्धेन नाम्ना प्रकृतस्य कर्मणो ग्रहणं कालविधानार्थं स्यात् । फलवत्त्वाच्च कृत्स्नस्योत्कर्षः । ब्राह्मणस्य च तथैव । यत्तु, श्रुतिर्वाक्याद् बलीयसीति। अत्रोच्यते । यत्र फलं न श्रूयते, वाक्यार्थोऽपि तावत् तत्र गृह्यते । न चेह फलस्य श्रवणमस्ति । कल्प्यं फलमिति यद्युच्यते, न तत्फलं वचनमन्तरेण । तत्र फलवचनः शब्दः कल्प्येत । तेन च सहैकवाक्यता । कालवचनेन तु सह प्रत्यक्षेणैकवाक्यतेति । तस्मान्न कर्मान्तरम् ॥१४॥

स्थितं तावदपर्यवसितमधिकरणम् । अन्तरा चिन्तान्तरं वक्ष्यते—

इसलिये प्रसिद्ध नाम से प्रकृत कर्म ग्रहण काल के विधान के लिये होवे और फलवान् होने से कृत्स्न [दर्शपूर्णमास] का उत्कर्ष होवे । और जो यह कहा कि 'श्रुति वाक्य से बलवान् होती है ।' इस विषय में कहते हैं—जहां फल नहीं सुना जाता है वहां वाक्यार्थ भी ग्रहण किया जाता है । यहां फल का श्रवण नहीं है । यदि कहो 'फल कल्पनीय होवे ' तो वह फल विना वचन के कल्पनीय न होवे । वहां (=फल वचन के विना) [पहले] फलवाचक शब्द कल्पनीय होवे और फिर उसके साथ एकवाक्यता कल्पनीय होवे । कालवचन के साथ तो प्रत्यक्ष एकवाक्यता है । इसलिये कर्मान्तर नहीं है ।

विवरण—अन्यायश्चानेकार्थत्वम्—इस से अक्ष पाद माष शब्दों की पूर्वसूत्र (१३) के भाष्य में जो अनेकार्थता कही थी उसका खण्डन किया है । मीमांसकों के मत में प्रत्यर्थ भिन्न, भिन्न शब्द माना जाता है । अतः उनके मत में अनेकार्थक कोई शब्द नहीं है । भिन्नार्थ भिन्न भिन्न शब्दों के स्वरूप के समान होने से अनेकार्थता प्रतीत होती है । **धर्मग्रहणे लक्षणाशब्दः** सूत्र के भाष्य में श्रुतिस्थ 'पौर्णमासं' शब्द का अर्थ पौणमासधर्मवाला' किया था, उसकी ओर संकेत करके कहा कि 'पौर्णमास' शब्द का 'पौर्णमास धर्मवाला' अर्थ करने पर वह लक्षणा शब्द होगा अर्थात् लक्षणा से वैसा अर्थ करना पड़ेगा । लक्षणा भी लौकिकी होने से ग्राह्य होती है परन्तु जहां श्रुत्यर्थ सम्भव नहीं होता वहां लक्षणार्थ होता है । जैसे किसी ने किसी से पूछा—गर्गकुल कहां है ? सुनने वाले ने उत्तर में कहा **कूपे गर्गकुलम्** (=कुएं में गर्गकुल हैं) कुएं में गर्गकुल का होना सम्भव नहीं अतः 'कूपे' का अर्थ सामीप्यलक्षणा से कुएं के समीप गर्गकुल है यह अर्थ जाना जाता हैं । श्रुत्यर्थ के सम्भव होने पर लक्षणा नहीं होती अतः कहा—**श्रुत्यर्थसम्भवेकल्प्यः स्यात्** । **फलवत्त्वाच्च कृत्स्नस्योत्कर्षः**—दर्शपूर्णमास यागों का एक सम्मिलित फल है । पृथक् पृथक् का कोई फल नहीं होने से, यद्यपि श्रुति में पौर्णमास का ही निर्देश है, पुनरपि फलसिद्धि के लिये दोनों दर्शपूर्णमास यागों का उत्कर्ष होता हैं ॥१४॥

व्याख्या—यह अपर्यवसित (पूरा न हुआ=अधूरा) ही अधिकरण यहां ठहर गया है । इसके अनन्तर अन्य चिन्ता करेंगे—

विवरण—अधिकरण को बीच में ही स्थगित करके विचारान्तर की उद्भावना स्थगित अधिकरण के अन्तिम विचार को स्थितवत् मान कर की जाती है ।

[सोमपूर्वत्वकल्पे सोमस्य विहितकालबाधाधिकरणम् ॥५॥]

यः सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्निमादधीत, नर्तुं प्रतीक्षेन्न नक्षत्रम्[1] इति । अत्र संदेहः । किमाधानस्यायं कालविशेषबाध उत सोमस्येति ? किं प्राप्तम् ?

स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् ॥१५॥ (पू०)

आधानस्य कालबाधः । स्वकाले स्यात् सोमः । कुतः ? अविप्रतिषेधात् । अङ्गमाधानम् । तस्य कालबाधो न्याय्यः, न प्रधानस्य **अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्याद्**[2] इति वक्ष्यते ॥१५॥

अपनयो वाऽऽधानस्य सर्वकालत्वात् ॥१६॥ (उ०)

अपनयो वा सोमकालस्य स्यात् । कुतः ? आधानस्य सर्वकालत्वात् । नैवाऽऽधाने कश्चित् कालनियमोऽस्ति—**यदहरेवैनं श्रद्धोपनमेत् तदहरादधीत**[3] इति । अप्राप्त-

---

व्याख्या—'जो सोम से यज्ञ करने वाला है वह अग्नि का आधान करे तो ऋतु की प्रतीक्षा न करे और न नक्षत्र की ? इस में सन्देह है—क्या यह आधान के काल विशेष का बाधक है अथवा सोम के काल का बाधक है ? क्या प्राप्त होता है ?

स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—सोमयाग (स्वकाले) उस का जो वसन्त काल कहा है उस में ही (स्यात्) होवे । (अविप्रतिषेधात्) सोमयाग के काल का प्रतिषेध न होने से ।

व्याख्या—आधान के काल का बाधित होता है । सोम स्वविहित काल में होवे । किस हेतु से ? [सोमयाग के काल का] प्रतिषेध न होने से । आधान अङ्ग है । उसके काल की बाधा न्याय्य है, प्रधान की नहीं । 'अङ्ग गुण के विरोध में [अङ्ग के] उस (=प्रधान) के लिये होने से' ऐसा आगे कहेगें ।

अपनयो वाऽऽधानस्य सर्वकालत्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'आधान का काल बाधित होवे' पक्ष की निवृत्ति के लिये है । सोम के काल का (अपनयः) अपनय=बाध होवे (आधानस्य) आधान का (सर्वकालत्वात्) सब काल होने से । [आधान के सर्वकाल में विधायिका श्रुति भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—सोम के काल का अपनय (=बाध) होवे । किस हेतु से ? आधान का सब काल होने से । आधान में कोई काल का नियम नहीं है 'जिस दिन ही उस को श्रद्धा

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १५५८ टि० ४ । २. मी० १२।२।२७॥

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यदैवैन यदाकदा च यज्ञ उपनमेदथाग्नी आदधीत । शत० २।१।३।९॥

मेव तदाधानस्य, यत् प्रतिषिध्यते । तस्मात् सोमस्य कालबाध इति ॥१६॥ नतुं प्रतीक्षेदित्यादिना सोमकालता बाधाधिकरणम् ॥५॥

—:०:—

[अपर्यवसितस्य चतुर्थाधिकरणस्य पुनरारम्भः ॥४॥]

स्थिताद् उत्तरम्—

उत्पन्न होते उसी दिन आधान करे ।' वह आधान का काल प्राप्त ही नहीं है जिस का प्रतिषेध किया जाये । इसलिये सोम के काल का बाध (=प्रतिषेध) है ॥

विवरण—यद् हरेवैनम्—इस सर्वकालता विधायक वचन का समानार्थक 'यदैवैनं यदाकदा च यज्ञ उपनमेत्' इत्यादि वचन हम पूर्व पृष्ठ (१५६७) पर उद्धृत कर चुके हैं ।

विशेष विचार—नतुं प्रतीक्षेन्न नक्षत्रम्—सोमयाग में वसन्त ऋतु का निर्देश तो मिलता है वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत । परन्तु 'अमुक नक्षत्र विशेष में सोमयाग करे' ऐसा नक्षत्र का विधान उपलब्ध नहीं होता । अत: यहां नक्षत्र का अप्राप्त निषेध अकालिक सोमयाग की विधि की प्रशंसा के लिये जानना चाहिये । यथा—न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि (मै० सं० ३।२।६) में हिरण्यं निधाय चेतव्यम् विधि की प्रशंसा के लिये अन्तरिक्ष और द्युलोक में अप्राप्त चयन का प्रतिषेध किया है (द्र० मी० १।२।१८ भाष्य) । इस पर कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है –"य इष्टचा सोमेन वा यजेत स पौर्णमास्याममावास्यां वा यजेत (अनुपलब्धमूल) में वचन से पर्वकालता कही है नक्षत्र काल का अश्रवण होने से नक्षत्र के अनादर का विधान व्यर्थ है, ऐसा नहीं कहना चाहिये । यान्येव देवनक्षत्राणि तेषु कुर्वीत यत्कारी स्यात् (तै० ब्रा० १।५।२।९) वचन के अनुसार तैत्तिरीय शाखा में सोम में नक्षत्र के श्रवण से, ऐसा तन्त्ररत्न नामक ग्रन्थ में कहा है । अनारभ्याधीत नक्षत्र काल के दर्शपूर्णमास की उत्पत्ति शिष्टकाल वाला होने से सोमादि विषयक है, ऐसा भवस्वामी का कथन है ।" भवस्वामी का तात्पर्य यह है कि देवनक्षत्रादि का विधान अनारभ्याधीत प्रकरण में किया है। अनारभ्याधीत विधियां प्रकृतिगामी (=प्रकृति से सम्बद्ध) होती हैं अतः दर्शपूर्णमास के विधायक वचन के साथ ही नक्षत्रविशेषों का कथन जानना चाहिये । अग्निष्टोम भी प्रकृतियाग है उसके उत्पत्ति विधायक वाक्य में भी अनारभ्याधीत नक्षत्र विधि का सम्बन्ध होने से नक्षत्र का भी प्रतिषेध किया है ।

—:०:—

[पूर्व अपर्यवसित (=अधूरे छूटे हुए) चतुर्थ अधिकरण को पुनः आरम्भ करते हैं] ।

व्याख्या—स्थित (=जहां चौथा अधिकरण था) उससे आगे कहते हैं ।

पौर्णमासस्यूर्ध्वं सोमाद् ब्राह्मणस्य वचनात् ॥१७॥ (पू०)

न चैतदस्ति, कृत्स्नौ दर्शपूर्णमासावुत्कृष्येते। ऊर्ध्वं सोमात् केवला पौर्णमास्युत्कृष्यते। कुत: ? वचनात्। वचनमिदम्—**यदेवाद: पौर्णमासं हविस्तत्तह्यनुनिर्वपेद्**[4] इति। नास्ति वचनस्यातिभार:। तस्मात् पौर्णमासीमात्रमुत्कृष्येत। यत्तु फलं नास्तीति, समुदायादेव फलं भविष्यतीति। वचनादेवं विज्ञानात्। तस्माददोष: ॥१७॥

पौर्णमास्यूर्ध्वं सोमाद् ब्राह्मणस्य वचनात् ॥१७॥

सूत्रार्थ:—(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण का (पौर्णमासी) पौर्णमास कर्म (सोमात्) सोमयाग से ऊर्ध्व=पश्चात् होवे (वचनात्) वचन सामर्थ्य से।

व्याख्या—यह नहीं है—कृत्स्न दर्शपूर्णमास उत्कृष्ट होते हैं। सोम से ऊर्ध्व केवल पौर्णमास कर्म उत्कृष्ट होता है। किस हेतु से ? वचन से। यह वचन होता है—'जो ही यह पौर्णमास हवि, उसका अनु (=पश्चात्) निर्वाप करे। वचन को [इस अर्थ को कहने में] कोई भार (=कठिनाई) नहीं है। इसलिये पौर्णमासी मात्र उत्कृष्ट होवे। और जो कहा [इस पौर्णमासी का] फल [श्रुत] नहीं है। समुदाय से ही फल हो जायेगा। वचन से ऐसा ज्ञान होने से। इसलिये कोई दोष नहीं।

विवरण—वचनादेवं विज्ञानात्—इसका तात्पर्य कुतूहलवृत्तिकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'इसी वचन से उत्कृष्ट किये गये पौर्णमास से और [सोम से पूर्व किये गये] दर्श से फल सम्भव होने से। दर्श का [सोम से] प्राथम्य भी वचन से उपपन्न होने से।' इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न कालों में की गई दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि से जैसे मिल कर फल उत्पन्न होता है [दोनों का मध्यवर्तीकाल फल में बाधक नहीं होता उसी प्रकार यहां सोम से पूर्व हुई दर्शेष्टि और सोम से उत्तर हुई पौर्णमासेष्टि दोनों से फल की उत्पत्ति हो जायेगी। बीच में सोमकाल की बाधा नहीं होगी। मीमांसकों के मत में कालभेद से विहित इन कर्मों से एक फल की उत्पत्ति इस प्रकार मानी गई है—साङ्गदर्शेष्टि से उत्पन्न अपूर्व पौर्णमासेष्टि से उत्पन्न अपूर्व तक वर्तमान रहता है। तत्पश्चात् पौर्णमासेष्टि करने पर उसका अपूर्व उत्पन्न होता है। दोनों 'अपूर्व मिलकर एक अपूर्व को उत्पन्न करते हैं। उससे विहित फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार यहां भी सोम से पूर्व की गई दर्शेष्टि का अपूर्व, सोम से ऊर्ध्व होनेवाली पौर्णमासेष्टि से उत्पन्न अपूर्व तक विद्यमान रहता है और उन दोनों से मिलकर फल की प्राप्ति हो जायेगी।

विचारणीय—मीमांसकों तथा सभी याज्ञिकों के मत में पौर्णमासी में यदि अग्न्याधान किया हो तो उत्तर प्राप्त अमावास्या में दर्शेष्टि न करके अगली पौर्णमासी से पूर्णमासेष्टि करे तदनन्तर दर्शेष्टि करे' ऐसा विधान माना गया है। सभी याजुष शाखाओं में दर्श के मन्त्र प्रथम

---

४. द्र०—पूर्व पृष्ठ १५६२ टि० १।

पढ़े हैं। शतपथ ब्राह्मण में संहिता के प्रारम्भ में पठित दर्शेष्टि के मन्त्रों का त्याग करके पौर्णमासेष्टि से ही उपक्रमण किया है और दर्शेष्टि के मन्त्रों का व्याख्यान पूर्णमासेष्टि की विधि के अनन्तर किया है। कृष्ण यजुर्वेद के श्रौतसूत्रों में दर्शेष्टि की विधि का प्रथम निरूपण होने पर भी व्याख्याकारों के मतानुसार कर्म का आरम्भ पौर्णमासेष्टि से ही माना गया है।

मैत्रायणी संहिता १।४।१५ में कहा है—**दर्शो ह वा एतयोः पूर्वः पूर्णमास उत्तरः। अथ पूर्णमासं पूर्वमालभते तद् यथापूर्वं क्रियते। तत्पूर्णमासमालभमानः सरस्वत्यै चरुं निर्वपेत् सरस्वते द्वादशकपालम् अमावास्या वै सरस्वती पूर्णमासः सरस्वान्। उभावेनौ यथापूर्वं कल्पयित्वा लभता ऋध्यचै।**[1]

इसका अभिप्राय यह है कि— इनमें दर्श पूर्व है पूर्णमास उत्तर। पूर्णमास का पूर्व प्रयोग करता है वह यथापूर्व किया जाता है। इसलिये पूर्णमास को पूर्व करने वाला सरस्वती देवता के लिये चरु का निर्वाप करे और सरस्वान् देवता के लिये द्वादशकपाल पुरोडाश का। अमावास्या ही सरस्वती है पूर्णमास सरस्वान् है। ये दोनों इनको यथापूर्व कल्पित करते हैं ऋद्धि के लिये।

यहां यह विचारणीय है कि जैसे प्रातः अग्न्याधान के अनन्तर क्रम प्राप्त सायंकालीन अग्निहोत्र मिलकर एक कर्म माना जाता है। वेद में भी पहले सायंकालीन मंत्रों का पाठ है तत्पश्चात् प्रातःकालीन मन्त्रों का। वेद में तथा अन्य आर्षग्रन्थों में जहां भी सृष्ट्युत्पत्ति का प्रकरण है वहां सर्वत्र प्रथम प्रलय का वर्णन करके सर्ग का उल्लेख किया जाता है। मानुष रात्रि और अह क्रमशः ब्राह्म रात्रि और ब्राह्म अह का प्रतीक है। इसी प्रकार दर्श और पौर्णमास यागों के मन्त्रों में भी प्रथम दर्श के मन्त्रों का पाठ है अनन्तर पौर्णमास के मंत्रों का। कृष्णपक्ष रात्रि स्थानीय है और शुक्लपक्ष अहस्थानीय। अतः उक्त साम्यता से दर्शेष्टि का पूर्व प्रयोग होना चाहिये और पौर्णमासेष्टि का पश्चात्। मै० सं० के पूर्वनिर्दिष्ट वचन में पूर्णमास का प्रथम प्रयोग करने पर उस के अयथानुपूर्व्यरूप दोष का निर्देश करके उसकी निवृत्ति के लिये सरस्वती और सरस्वान् देवता के लिये याग का विधान करना भी यही बताता है कि पूर्वकाल में कभी दर्श का पूर्व प्रयोग होता था। यह परिवर्तन कब और क्यों हुआ, यह अनुसन्धेय है। **शब्दप्रमाणका वयम्** के अनुसार शब्दप्रमाण मानकर भी जिज्ञासा की शान्ति के लिये अनुसन्धान आवश्यक है। यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि समय समय पर यज्ञों की प्रक्रिया में कुछ कुछ परिवर्तन हुआ हैं (द्र० अस्मदीय 'वैदिक सिद्धान्त मीमांसा' अन्तर्गत वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा' शीर्षक निबन्ध)। अतः दर्श के स्थान में पौर्णमास के आरम्भ में प्रयोग के उपक्रम होने की सम्भावना हो सकती है ॥१७॥

१. एतदर्थकमेव वचनं तै० संहितायाम (३।५।१।२-४) अप्युपलभ्यते।

एकं वा शब्दसामर्थ्यात् प्राक्कृत्स्नविधानात् ॥१८॥ (उ०)

एकं वा हविरुत्कृष्येत, न कृत्स्ना पौर्णमासी। कुतः ? शब्दसामर्थ्यात्। एकं हविरुत्क्रष्टुं शब्दः समर्थः। यदेवादः पौर्णमासं हविः इति श्रूयते। यावद्वचनं वाचनिकं, तावद् वचनेनोत्क्रष्टुं शक्यते, नान्यदपि। प्राक्सोमात् कृत्स्नं विधीयते। ततो यद्वचनेनोत्कृष्यते, तदूर्ध्वं सोमात्, यन्नोत्कृष्यते, तत् प्राग्भवितुमर्हति। तस्मादेकं हविरुत्क्रष्टव्यम्। ब्राह्मणस्योभौ कल्पाविति ॥१८॥ **ब्राह्मणस्यापीष्टिसोमयोः पौर्वापर्यानियमताधिकरणम् ॥४॥**

—:०:—

एकं वा शब्दसामर्थ्यात् प्राक्कृत्स्नविधानात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'पौर्णमासी का उत्कर्ष होता है' पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (शब्दसामर्थ्यात्) 'यदेवादः पौर्णमासं हविः' इस शब्द के सामर्थ्य से (एकम्) एक ही हवि उत्कृष्ट होवे। (प्राक्) सोमयाग से पूर्व 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' से (कृत्स्नविधानात्) कृत्स्न दर्शपूर्णमास का विधान होने से।

व्याख्या—एक हवि ही उत्कृष्ट होवे, सम्पूर्ण पौर्णमास का उत्कर्ष न होवे। किस हेतु से ? शब्द के सामर्थ्य से। एक हवि को उत्कर्षित करने के लिये शब्द समर्थ है। 'जो ही यह पौर्णमास हवि' ऐसा सुना जाता है। जितना वचन से उक्त है उतना वचन से उत्कर्षित किया जा सकता है अन्य नहीं। सोम से पूर्व कृत्स्न [पूर्णमास का] विधान किया है। उस से जो वचन से उत्कृष्ट किया जाता है, वह सोम से ऊर्ध्व होवे। जो उत्कृष्ट नहीं होता वह उस (=सोम) से पूर्व हो सकता है। इसलिये एक हवि का उत्कर्ष करना चाहिये। ब्राह्मण के [इष्टिपूर्व और सोमपूर्वत्व] दोनों कल्प हैं।

विवरण—इस चतुर्थ अधिकरण (सूत्र १०-१४ तथा १७-१८) का निष्कर्ष कुतूहलवृत्तिकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'ब्राह्मण का सोमयाग से पूर्व अग्नीषोमीय हवि को छोड़कर दर्शपूर्णमास होता है, उसके पश्चात् सोम अथवा आदि में सोम तदनन्तर दर्शपूर्णमास। दोनों प्रकार ब्राह्मण का सोम के पश्चात् ही अग्नीषोमीय हवि के साथ दर्शपौर्णमास और सोम से पूर्व अग्नीषोमीय हवि छोड़कर दर्शपौर्णमास, तथा इतर (क्षत्रिय वैश्य) वर्णों का सोम से पूर्व वा पश्चात् दोनों ही प्रकार से दर्शपौर्णमास अग्नीषोमीय हवि के साथ होता है यह सिद्ध होता है ॥२८॥

—:०:—

[उपांशुयागस्य सोमोत्तरमनुत्कर्षाधिकरणम् ॥६॥]

पुरोडाशस्त्वनिर्देशे तद्युक्ते देवताभावात् ॥१९॥ (उ०)

इदं श्रूयते=आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, स सोमेनेष्ट्वाऽग्नीषोमीयो भवति। यदेवादः पौर्णमासं हविस्तत्तर्ह्यनुनिर्वपेत्। तर्ह्यु भयदेवत्यो भवति[1] इति। यस्मात् तस्मिन् काले सोऽग्नीषोमीयो भवति, न प्राचीने काले तस्माददो हविरनुनिर्वपेदिति। अग्नीषोमीयत्वं विधाय द्विदेवताकत्वं हेतुत्वेन निर्दिश्यते। तस्मादग्नीषोमीयं हविर्हेतुमत् स्यात्, नान्यदेवताकम्। तदाऽसावग्नीषोमौ यष्टुमर्हति, न प्राक्। 'साऽस्य देवता'[2] इति भवति पुरुषस्यापि यष्टुर्देवताभिसंबन्धः। तस्मात् पुरोडाशोऽग्नीषोमीयो नान्यद्धविरिति सिद्धम् ॥१९॥

पुरोडाशस्त्वनिर्देशे तद्युक्ते देवताभावात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(अनिर्देशे) विशेष हवि के निर्देश न होने पर भी (पुरोडाशः) अग्नीषोमीय पुरोडाश का (तु) ही उत्कर्ष होवे, अन्य हवि का नहीं होवे। (तद्युक्ते) पुरोडाशयुक्त याग में अग्नि और सोम के (देवताभावात्) देवता होने से।

व्याख्या—यह सुना जाता है—'आग्नेय है ब्राह्मण देवता के योग से, वह सोम से यजन करके अग्नीषोमीय होता है। जो ही यह पौर्णमास हवि है उस का [सोम के] पश्चात् निर्वाप करे। तब वह दोनों देवता वाला होता है।' जिस कारण उस काल में (=सोमयाग करने पर) वह अग्निषोम देवता वाला होता है, पूर्वकाल में नहीं, इस लिये इस (=अग्नीषोमीय हवि) का निर्वाप करे। [पुरुष के] अग्नीषोमीयत्व का विधान करके द्विदेवतात्व को हेतुरूप से निर्देश किया है। इसलिये अग्निषोमीय हवि हेतुमान् है अन्य देवता वाली हवि हेतुमान् नहीं है। तब वह अग्नीषोम देवताओं को यजन कर सकता है [जब यजमान स्वयं अग्निषोम देवता वाला होवे] उससे पूर्व नहीं। सास्य देवता (='वह इस की देवता है' इस अर्थ वाले नियम) से याग करने वाले पुरुष का भी देवता सम्बन्ध होता है। इसलिये 'अग्नीषोमीय पुरोडाश [ही उत्कर्षित होवे] अन्य हवि उत्कर्षित न होवे' यह सिद्ध होता है।

विवरण—अग्नीषोमीयत्वं विधाय—ब्राह्मण उत्पन्न हुआ ही आग्नेय है—आग्नेयो वै ब्राह्मणः वचन से। वह जब सोमदेवता के लिये सोमयाग कर लेता है तब वह अग्नि और सोम देवता वाला होता है। यजमान के अग्निषोमीयत्व को हेतु बनाकर अग्निषोम देवता वाली हवि का निर्वाप कहा है। अतः अग्नीषोमीय हवि हेतुमान् है। हेतु के उत्पन्न होने पर हेतुमान् की प्रवृत्ति होती है। उस से पूर्व प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार हेतु से सम्बद्ध हेतुमान् की प्रवृत्ति होती है, अहेतुमान् की नहीं होती। सास्य देवता—यह अष्टा० (४।२।२४) का

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १५६२ टि० १। २. अष्टा० ४।२।२४॥

आज्यमपीति चेत् ॥२०॥ (आशङ्का)

इति चेत्पश्यसि, अग्नीषोमीयत्वात् पुरोडाश इति। आज्यमपि ह्यग्नीषोमीयम्। तस्मात् तदप्युत्कृष्येत ॥२०॥

न मिश्रदेवतत्वादैन्द्राग्नवत् ॥२१॥ (उ०)

सूत्र है। व्याख्याकारों के अनुसार इस प्रकरण से विहित प्रत्यय तत्तद् देवता विशिष्ट हवि में होते हैं। मन्त्र से स्तुत्य को भी देवता मानकर ऐन्द्रो मन्त्र आदि में प्रत्यय माना गया है। शबर स्वामी ने सोमेनेष्ट्वाऽग्नीषोमीयो भवति वचन के अनुसार सारय देवता की सामान्य अर्थ में प्रवृत्ति मानी है। हमारे विचार में वैदिक प्रयोगों के परिप्रेक्ष्य में सामान्य अर्थ में ही इस प्रकरण की प्रवृत्ति मानना उचित है। विशेषार्थ में मानने पर आग्नेयो ब्राह्मणः में जैसे उपमान से प्रवृत्ति मानी है (द्र० काशिका ४।२।२४) उसकी आवश्यकता नहीं रहती अन्यथा सोमेनेष्ट्वाऽग्नीषोमीयो भवति में भी उपमान से प्रवृत्ति माननी होगी। आग्नेयो ब्राह्मणः में तो समाधानान्तर भी है— सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढग्वक्तव्यः (महा० ४।२।७ वा०) से तस्येदम् (अष्टा० ४।३।१२०) से भी ढक् हो सकता है। इसी से 'यदकालयत् तत् कालेयस्य कालेयत्वम्' वचन में साम अर्थ से अन्यत्र भी ढक् जानना चाहिये। विशेष द्रष्टव्य सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढक् (१५४९) सिद्धान्त-कौमुदी (वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९९८) की तत्त्वबोधिनी व्याख्या ॥१९॥

आज्यमपीतिचेत् ॥२०॥

सूत्रार्थः— (आज्यम्) आज्य (अपि) भी पुरोडाश के समान अग्नीषोमीय है उसका भी उत्कर्ष होवे (इति चेत्) ऐसा यदि कहो तो।

विशेष—पूर्णमासस्थ उपांशुयाज का आज्य भी 'तावब्रूतामग्नीषोमावाऽऽज्यस्यैव नौ उपांशु पौर्णमास्यां यजन्' (मी० भाष्य २।२।३ में उद्धृत) वचन से अग्नीषोमीय है अतः उसका भी अग्नीषोमीय पुरोडाश के समान उत्कर्ष होना चाहिये। यह आशंका इस सूत्र में प्रकट की है।

व्याख्या—यदि यह समझते हो कि अग्नीषोमीय होने से पुरोडाश का उत्कर्ष होता है तो आज्य भी अग्नीषोमीय है। इससे वह भी उत्कर्षित होवे ॥२०॥

न मिश्रदेवतत्वादैन्द्राग्नवत् ॥२१॥

सूत्रार्थः— उपांशुयाज के आज्य का उत्कर्ष (न) नहीं होगा। उसके (मिश्रदेवतत्वाद्) मिश्रदेवता वाला होने से। (ऐन्द्राग्नवत्) जैसे आग्नेय पुरोडाश में विहित चतुर्धाकरण मिश्रदेवता होने से ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं होता है।

विशेष—विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय (मी० भाष्य २।२।९ में उद्धृत) वचन से उपांशुयाज के आज्य के विष्णु प्रजापति और अग्नीषोम देवता हैं। अकेला अग्नीषोम नहीं है। तद्धित प्रत्यय की

मिश्रदेवतं ह्याज्यम् अग्नीषोमीयं, प्राजापत्यं, वैष्णवमिति[1] च। पुरोडाशस्त्वग्नीषोमीय एव। न त्वत्र मिश्रदेवतस्य वादः। मिश्रदेवतस्य हि प्रागपि भावोऽवकल्प्यते। यद्यपि तदानीं यजमानो नाग्नीषोमीयदेवतार्हः[2] तथाऽप्याज्यं हविः करिष्यत्येव। प्रजापतिं यक्ष्यति, विष्णुं वा। तस्मात् तस्योर्ध्वभावे न एष हेतुरग्नीषोमीयत्वं नाम। यथा चतुर्धाकरणं मिश्रदेवतत्वादैन्द्राग्ने न भवति, तद्वत्। तत्राऽऽग्नेय इति, ऐन्द्राग्नो न शक्यते वदितुम्, तद्धितः साकाङ्क्षान्नोत्पद्यत इति। एवमिहाग्नीषोमीयशब्देन न शक्यमाज्यं वदितुम्। अनग्नीषोमीयोऽप्यसौ[3]। तस्माच्छक्यं प्राग् यजमानेन कर्तुमिति। तस्मान्न तस्योत्कर्षेऽग्नीषोमीयता यजमानस्य हेतुरिति। मिश्रदेवतस्याग्रहणसामान्यादैन्द्राग्नवदित्युक्तम् ॥२१॥ **अग्नीषोमीयाऽऽज्यस्य सोमादनुत्कर्षाधिकरणम् ॥६॥**

—:०:—

उत्पत्ति समर्थ प्रातिपदिक से होती है (अष्टा० ४।१।८२)। अन्य के साथ अपेक्षा रखने वाला असमर्थ होता है। **सापेक्षमसमर्थं भवति।** इस लिये अग्नीषोमीय में जो तद्धित प्रत्यय है वह विष्णु और प्रजापति की अपेक्षा रखने वाले अग्नीषोम शब्द से नहीं होगा। अर्थात् उपांशुयाज का आज्य अग्नीषोमीय पद्वाच्य नहीं हो सकता। जैसे **आग्नेयं चतुर्धा करोति** वाक्य में निरपेक्ष अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय होता है उस प्रकार अग्नीषोम वा इन्द्राग्निपद से नहीं होगा क्योंकि वहां निरपेक्ष अग्नि नहीं है। अतः इनके पुरोडाशों का चतुर्धाकरण भी नहीं होता है। (द्र०—मी० भाष्य ३।१। अधि० १५, भाग २, पृष्ठ ७०३—७०७)।

व्याख्या—मिश्रदेवतावाला यह आज्य है—अग्नीषोमीय, प्राजापत्य और वैष्णव। पुरोडाश तो अग्नीषोमीय ही है। इसके विषय में मिश्रदेवता का कथन नहीं है। मिश्रदेवता वाले के आज्य का [सोम से] प्राक् भी भाव (=सत्ता=होना) सम्भव है। यद्यपि उस समय यजमान अग्नीषोम देवता योग्य नहीं है तथापि आज्यरूप हवि [का प्रदान] करेगा ही, प्रजापति का यजन करेगा वा विष्णु का यजन करेगा। इसलिये उस (=आज्य हवि) के ऊर्ध्वता में यह अग्नीषोमीयत्व हेतु नहीं है। जैसे चतुर्धाकरण मिश्रदेवता होने से ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं होता है तद्वत्। वहां ऐन्द्राग्न 'आग्नेय' न ही कहा जा सकता है, क्योंकि तद्धित प्रत्यय साकाङ्क्ष से उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार यहां भी अग्नीषोमीय शब्द से आज्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अग्नीषोमीय (=प्राजापत्य वा वैष्णव) भी है। इसलिये [आज्य हवि सोम से] पूर्व भी यजमान द्वारा दी जा सकती है। अतः उसके उत्कर्ष में यजमान की अग्नीषोमीयता हेतु नहीं है। ऐन्द्राग्न के समान मिश्रदेवता वाले के अग्रहण की समानता से यह कह चुके।

---

१. द्र०—विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय। मी० भाष्ये २।२।९ उद्धृतः।

२. 'नाग्नीषोमीयस्तद्देवतर्हिः' इति पा०।

३. 'अग्नीषोमीयो ह्यसौ' इत्यपपाठः क्वचित्।

[विकृतीनामैन्द्राग्नादीनां सद्यस्कालताधिकरणम् ।।७।।]

इह वैकृतानि कर्माण्युदाहरणम् – ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद्[1] इत्येवमादीनि। तत्र संदेहः—किमेता विकृतयः सद्यस्काला उत द्व्यहकाला इति ? किं प्राप्तम् ?

विकृतेः प्रकृतिकालत्वात् सद्यस्कालोत्तरा विकृतिस्तयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।।२२।। (उ०)

विकृतिः प्राकृतान् धर्मांश्चोदकेन गृह्णाति। अतस्ते धर्मा आनुमानिकाः। पौर्णमासी चान्यः कालः। स यदि वा प्रकृत्या गृह्येत, यदि वा विकृत्या, असंभवेऽन्यतरस्याः कालस्त्यक्तव्यः। तत्राऽऽनुमानिको वैकृतस्य त्यज्यताम्, न प्रत्यक्षश्रुतः प्राकृतस्येति न्याय्यम्। तस्मात् सद्यस्काला एता विकृतयो भवेयुरिति ।।२२।।

विवरण—भाष्य में जिन विषयों को विवृत करना था उन्हें हम सूत्रार्थ के नीचे विशेष में विस्तार से लिख चुके हैं ।।२१।।

—:०:—

व्याख्या—यहां विकृतिभूत कर्म उदाहरण हैं—ऐन्द्राग्न एकादशकपाल का निर्वाप करे। उसमें सन्देह होता है—क्या ये विकृतियां सद्यस्काला (=एक दिन में होने वाली) होवें अथवा द्व्यहकाला (=दो दिन साध्य) ? क्या प्राप्त होता है ?

विकृतेः प्रकृतिकालत्वात् सद्यस्कालोत्तरा विकृतिस्तयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।।२२।।

सूत्रार्थः—(विकृतेः) विकृतियों के (प्रकृतिकालत्वात्) प्रकृति के कालवाला होने से (उत्तरा) अगली (विकृतिः) विकृतियां (सद्यस्काल) एक दिन साध्य होवें (तयोः) उन (प्रकृति) और विकृतियों का काल (प्रत्यक्षशिष्टत्वात्) प्रत्यक्ष कहा हुआ होने से।

विशेष—इस सूत्र में पठित विकृतेः में जाति में एक वचन है। इसी प्रकार आगे भी उत्तरा विकृतिः में भी जाने। कुतूहलवृत्तिकार ने इस सूत्र में **उत्तरा विकृतिः** के स्थान में **उत्तरा ततिः** पाठ माना है और 'तति' का अर्थ विकृति किया है।

व्याख्या—विकृति प्राकृत (=प्रकृति के) धर्मों को चोदकवचन से ग्रहण करती है। इसलिये वे (=प्राकृत) धर्म आनुमानिक हैं। पौर्णमासी अन्य काल है। वह प्रकृति से ग्रहण किया जाये यदि वा विकृति से। असम्भव होने पर अन्यतर का काल छोड़ना पड़ेगा। वहां आनुमानिक विकृति का काल छोड़ दिया जाये, प्रत्यक्षश्रुत प्राकृत का नहीं। इसलिये ये विकृतियां सद्यस्काला (=एक दिन साध्य) होवें।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् ।।२३।। (पू०)

विवरण—यद्यपि सभी यागों के लिये यह सामान्य नियम है—य इष्टया पशुना सोमेन वा यजेत स पौर्णमास्याममावास्यायां वा यजेत (द्र० का सं० ८।१।। आप० श्रौत १०।२।८)। इससे इष्टियों का काल पौर्णमासी वा अमावास्या विहित है। परन्तु दर्शपौर्णमास में कहा है—पूर्वेद्युरन्वाधानादि कृत्वा परेद्युर्यजेत[1] अर्थात् पूर्व दिन अमावास्या वा पौर्णमासी के दिन अन्वाधानादि करके अगले दिन (=प्रतिपदा में) याग करे। इस वचन के अनुसार दर्शेष्टि और पूर्णमासेष्टि का अन्वाधानादि कुछ कर्म अमावास्या वा पौर्णमासी को होता हैं और इष्टि=याग प्रतिपदा के दिन किया जाता है। इस प्रकार दर्शपूर्णमासयागों की द्वयहकालता है। यही द्वयहकालता प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या इस चोदकवचन से विकृतियों में भी प्राप्त होती है। विकृति यागों में द्वयहकालताधर्म चोदकवचन से प्राप्त होने से आनुमानिक है। पौर्णमासी चान्यः कालः—पौर्णमासी यहां अमावास्या का भी उपलक्षक है। यह काल भिन्न है जो य इष्टया पशुना आदि वचन से प्राप्त है। वह विकृति याग काल का (=द्वयहकालता) चाहे प्रकृति से ग्रहण किया जाये चाहे विकृति के इष्टि होने से इष्टि के लिये विहित पौर्णमासी वा अमावास्या काल (सद्यस्कालत्व) ग्रहण किया जाये। दोनों कालों का ग्रहण असम्भव होने से एक एक प्रकृति वा विकृति का काल छोड़ना ही पड़ेगा। वैकृतस्य त्यज्यताम्, न ·····प्राकृतस्य—यहां विकृति और प्रकृति शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय जानना चाहिये। अर्थ होगा—विकृता का चोदकवचन से आनुमानिक द्वहकालत्व छोड़ना चाहिये न कि प्रकृति का प्रत्यक्षश्रुत। जिस वचन में प्रकृति का काल प्रत्यक्ष श्रुत है उसे अगले २४ वें सूत्र में पढ़ेंगे।

यहां विकृतियों का द्वयहकालता मानने पर एक असम्भव दोष और प्राप्त होता है। विकृतियों का यजन करते हुए यजमान को नित्य प्राप्त दर्शपूर्णमास याग करने ही होंगे। उनका अतिपात (=त्याग) वह कर नहीं सकता। उस अवस्था में दोनों के द्वयहकालसाध्य होने से साथ साथ प्राप्ति होगी दोनों का पूर्व दिन में अन्वाधान और अगले दिन प्रातः याग सम्भव नहीं है। यदि विकृतियां सद्यस्काल साध्य होवें तो अमावास्या या पौर्णमासी को उन्हें करके अगले दिन प्रातः दर्शेष्टि या पौर्णमासेष्टि हो सकती है।।२२।।

द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् ।।२३।।

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द विकृतियों की सद्यस्कालता पक्ष की निवृत्ति के लिये है। विकृतियों के (द्वैहकाल्ये) द्वयहकाल में करने पर (यथान्याय्यम्) न्यायानुसार (=प्रकृतिवत् अथवा चोदकवचनानुसार) कार्य होवे।

---

१. इस विषय में श्रौतसूत्र तथा आगे २४ वें सूत्र के भाष्य में पठित वचन देखें।

द्वैयहकाल्ये क्रियमाणे यथान्यायं कृतं भवति। तस्माद् द्वैयहकाल्यं स्यात्। चोदकस्तथाऽनुगृहीतो भवति। प्रकृतौ हि श्रूयते—**पूर्वेद्युरग्निं गृह्णाति। उत्तरमहर्देवतां यजति**[1] इति। तस्माद् द्वयहकालमेकमभिनिर्वर्त्य तदहरेवोपक्रम्यापरेद्युः परिसमापयेत् ॥२३॥

वचनाद् वैककाल्यं स्यात् ॥२४॥ (उ०)

नैतदेवं, द्वयहकाला विकृतयो भवेयुरिति। सद्यस्कालाः स्युः। कस्मात्? वचनमिदं भवति—**य इष्टया पशुना सामेन आग्रयणेन वा यक्ष्यमाणः स पौर्णमास्या-**

विशेष—कुतूहलवृत्ति में 'तु' के स्थान में 'वा' शब्द का पाठ है। अर्थ समान है।

व्याख्या—दो दिन काल में [विकृतियों के] करने पर न्यायानुसार किया हुआ कर्म होवे। इसलिये [विकृतियों की] द्वयहकालता होवे। ऐसा करने पर चोदकवचन अनुगृहीत होता है। प्रकृति में सुना जाता है—पूर्वदिन में अग्नि का ग्रहण करता है [अर्थात् अन्वाधान करता है], अगले दिन देवता का यजन करता है। इसलिये द्वयहकाल में एक को करके उसी दिन उपक्रम करके अगले दिन समाप्त करे।

विवरण—विकृतियों की द्वयहकालता में दर्शपौर्णमास इष्टियों की भी द्वयहकालता होने पर दोनों का सन्निवेश कैसे होगा? इसके लिये कहते हैं—**प्रकृतौ हि श्रूयते—अपरेद्युः परिसमापयेत्**। इस का भाव यह है कि इष्टियों की द्वयहकालता सामान्यरूप से इस प्रकार कही है—पूर्वदिन अग्नि का ग्रहण (=अन्वाधान) करे और दूसरे दिन उसे समाप्त करे। इस लिये विकृतियों का आरम्भ (=अन्वाधान) चतुर्दशी में करके अगले दिन अमावास्या वा पौर्णमासी को समाप्त करके उसी दिन दर्शेष्टि अथवा पौर्णमासेष्टि का अन्वाधान करके अगले दिन (=प्रतिपदा में) समाप्त करें। इस प्रकार विकृतियों और इष्टियों की द्वयहकालता उपपन्न हो जायेगी (द्र० कुतूहलवृत्ति) ॥२३॥

वचनाद् वैककाल्यं स्यात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द विकृतियों की द्वयहकालता की निवृति के लिये है। (वचनात्) 'य इष्टया पशुना सोमेन' इत्यादि वचन से अमावास्या तथा पौर्णमासी में साङ्गकर्म का विधान करने से विकृतियों की (ऐककाल्यम्) एककालता=सद्यस्कालता (स्यात्) होवे।

व्याख्या—विकृतियां द्वयहकाला होवें, यह नहीं है। सद्यस्काला होवें। किस हेतु से? यह वचन होता है—'जो इष्टि पशु सोम वा आग्रयण से यजन करने वाला होवे वह पौर्ण-

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

ममावास्यायां वा यजेत' इति। साङ्गस्यैतद्वचनम्। तस्मात् साङ्गं पौर्णमास्याममावास्यायां वा कुर्वीतेति गम्यते। तेन सद्यस्काला विकृतयः ॥२४॥ **वैकृतानामैन्द्राग्नादीनां सद्यस्कालताधिकरणम्** ॥७॥

—:o:—

[सांनाय्याग्नीषोमीयविकाराणां सोमोत्तरकालताधिकरणम् ॥८॥]

इह सांनाय्यविकाराश्च अग्नीषोमीयविकाराश्चोदाहरणम्। सांनाय्यविकारास्तावद् यथा— आमिक्षा पशुरिति। अग्नीषोमीयविकाराः—**अग्नीषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेच्छ्यामाकं ब्राह्मणो वसन्ते ब्रह्मवर्चसकामः**[2] इत्येवमादयः। तत्र संदेहः—किमेते प्रागूर्ध्वं च सोमाद् उतोर्ध्वमिति? किं प्राप्तम्? प्रागूर्ध्वं च, विशेषानवगमात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

मासी में अथवा अमावास्या में यजन करे' यह वचन साङ्गकर्म का है [अर्थात् साङ्गकर्म को पौर्णमासी वा अमावास्या में करने का विधायक है]। इसलिये साङ्गकर्म पौर्णमासी वा अमावास्या में करे यह जाना जाता है। इससे विकृतियां सद्यस्काला हैं।

विवरण—साङ्गस्यैतद् वचनम्—'य इष्टया पशुना' आदि वाक्य में इष्टि आदि का तृतीया से निर्देश होने से साङ्गकर्म का पौर्णमासी वा अमावास्या काल के साथ संबन्ध दर्शाया हैं। इस वचन से दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि में भी सद्यस्कालता के प्राप्त होने पर इनके प्रकरण में **पूर्वेद्युरग्निं गृह्णाति,' उत्तरमहर्देवतां यजति'** वाक्यों से सद्यस्कालता के अपवादरूप द्वयहकालता का विधान किया है। अतः विकृतियों की सद्यस्कालता ही जाननी चाहिये ॥२४॥

—:o:—

व्याख्या—**यहां सान्नाय्य (दूध दधि हवि) के विकार और अग्नीषोमीय याग के विकार उदाहरण हैं। सान्नाय के विकार यथा—आमिक्षा, पशु। अग्नीषोमीय के विकार—ब्रह्मवर्चस की कामना वाला ब्राह्मण श्यामाक व्रीहि के 'अग्नीषोम देवता वाले एकादशकपाल का निर्वाप करे' इत्यादि। इनमें सन्देह होता हैं—क्या ये कर्म सोम से पूर्व और पश्चात् होवें अथवा पश्चात् ही? क्या प्राप्त है? [सोम से] पूर्व और पश्चात् [कभी भी किये जायें] विशेष अर्थ का ज्ञान न होने से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तस्मादिष्टया वाग्रयणेन वा पशुना वा सोमेन वा पूर्णमासे वामावास्यायां वा यजेत। काठ० सं० ८।१ अन्ते॥ यदीष्टया यदि पशुना यदि सोमेन यजेतामावास्यायां वैव पौर्णमास्यां वा यजेत। आप० श्रौत १०।२।८॥

२. अनुपलब्धमूलम्।

सांनाय्याग्नीषोमीयविकारा ऊर्ध्वं सोमात् प्रकृतिवत् ॥२५॥ (उ०)

ऊर्ध्वं सोमात् स्युरिति । प्रकृतिर्ह्येषामूर्ध्वं सोमात् । चोदकेनैभिरप्यूर्ध्वं सोमाद् भवितव्यम् । सांनाय्यस्योर्ध्वं सोमाद् वचनम्—**नासोमयाजी संनयेद्**[1] इति । अग्नीषोमीयस्यापि—**आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, स सोमेनेष्ट्वाऽग्नीषोमीयो भवति, यदेवादः पौर्णमासं हविः, तत्तर्ह्यनुनिर्वपेदिति, तर्हि स उभयदेवत्यो भवति**[2] इति ।

विवरण—**आमिक्षा पशुः**—उबलते हुए दूध में दहि डालने से आमिक्षा=उत्पन्न होती है—**तप्ते पयसि दध्यानयति सा आमिक्षा** (मी० भाष्य २।२।२३ में उद्धृत) । आमिक्षा में दूध और दही दोनों का भाग होने से यह सान्नाय का विकार माना जाता है । दूध की प्राप्ति पशु से होती है इसी प्रकार पशुयाग की हृदयादि अङ्गरूप हवि भी पशु से प्राप्त होती हैं । इस साम्यता से पशुयाग को सान्नाय्य का विकार माना गया है, कपर्दिस्वामी ने आप० परिभाषा के **तत्र सामान्याद् विकारो गम्येत** (३।३९) सूत्र के भाष्य में लिखा है—**पशोः पयोविकारत्वे कुम्भ्यादिदर्शनं हेतुः** । इसका भाव यह है कि दूध को कुम्भी (मटके) में गरम किया जाता है उसी प्रकार पशुयाग में पशु हवि=अङ्गों के पाक के लिये कुम्भी का निर्देश होने से पशुयाग सान्नाय्य का विकार है । वैदिक मन्तव्यानुसार सृष्टि में प्रवर्तमान यज्ञों के दृश्य काव्य स्थानीय (नाटक स्थानीय) होने से पशुयागों में पशु के मारण आदि धर्मों के अनुपपन्न होने से पर्यग्निकरण संस्कार के पश्चात् पशु का उत्सर्ग कर दिया जाता है । पशुयाग की समाप्ति घृत आमिक्षा (यथाविहित) अथवा पुरोडाश से की जाती है (द्र० शाबरभाष्य व्याख्या के प्रथम भाग में 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा' निबन्ध) ।

सांन्नायाग्नीषोमविकारा ऊर्ध्वं सोमात् प्रकृतिवत् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(सांन्नायग्नीषोमविकाराः) सांन्नाय और अग्नीषोमीय के विकार (प्रकृतिवत्) प्रकृति के समान (सोमात्) सोम से (ऊर्ध्वम्) पश्चात् होवें ।

व्याख्या—**[सांन्नाय और अग्नीषोमीय विकार] सोम के पश्चात् होवें । इन की प्रकृति (=सान्नाययाग और अग्नीषोमीययाग) के सोम के पश्चात् [विहित] होने से । चोदकवचन से इन्हें भी सोम के पश्चात् ही होना चाहिये । सांन्नाय के सोम के पश्चात् में वचन है—'असोमयाजी सन्नयन (=सान्नाययाग) न करे' । अग्नीषोमीय का भी वचन है—'ब्राह्मण देवता से आग्नेय है, वह सोम से याग करके अग्नीषोमीय होता है । यह जो पौर्णमास**

---

१. तै० स० २।५।५।१॥
२. द्र०—पूर्व पृष्ठ १५६२ टि० १ ।

तद् विकृतिरपि सोमादूर्ध्वं भवितुमर्हति ॥२५॥ **सान्नायाग्नीषोमीयविकाराणां सोमादुत्कर्षाधिकरणम् ॥८॥**

—:o:—

हवि है उसका [सोम के] पश्चात् निर्वाप करे। तब वह दोनों देवता वाला होता है।' अतः उस (=सांन्नाय्य और अग्नीषोमीय) की विकृति भी सोम के पश्चात् होने योग्य है ॥२५॥

विवरण—भाष्यकार ने सान्नाय्य के विकार में पशु का भी निर्देश किया हैं। इस पर भट्टकुमारिल ने टुप्टीका में लिखा हैं—'अग्नीषोमीय पशु यहां उदाहरण नहीं हो सकता। उस का सोमयाग (सुत्या के दिन) से पूर्वकाल के विधायक वचन से [सोमोत्तर] काल बाधा जाता है। अग्नीषोमीय पशु के जो विकारभूत निरूढ पशु आदि है वे भी उदाहरण नहीं हैं क्योंकि निरूढादि पशुओं की प्रकृति अग्नीषोमीय पशु ने सोम से ऊर्ध्वकाल का अनुभव नहीं किया है अर्थात् प्रकृतिरूप अग्नीषोमीय पशु के सोमयाग से पूर्व होने से उसके विकार भी उदाहरण नहीं हो सकते केवल आमिक्षा ही यहां उदाहरण है।" कुतूहलवृत्तिकार ने भट्टकुमारिल के मतको उद्धृत कर उसकी विस्तार से आलोचना करके लिखा है—**सम्भवत्येव पशुरप्युदाहरणम्** अर्थात् पशु या उदाहरण भी सम्भव है। याज्ञिकों के ग्रन्थों में परस्पर एक दूसरे के मत की इतनी आलोचना प्रत्यालोचना है कि साधारण जिज्ञासु यह समझ ही नहीं पाता कि कौन सा मत युक्तियुक्त है। यदि विभिन्न ग्रन्थकारों के **पक्षान्तररपिपरिहारा भवन्ति** (महाभाष्य प्र० सू० २) के अनुसार उन्हें पक्षान्तरमात्र मानकर विरोध का परिहार स्वीकार कर लिया जाये तो बात कुछ समझ में आसकती है अन्यथा विभिन्न मतों की आलोचना प्रत्यालोचना वितण्डा की कोटि में पहुंच जाती है। सम्भव है याज्ञिकों के इसी वाद-विवाद को ध्यान में रखकर गीता में वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः (२।४२) में वेदवाद की निन्दा की गई है।

इस अधिकरण में एक और बात विचारणीय है—सान्नाय्य हवि के विषय में भी दो पक्ष हैं।—**'सोमयाजी सन्नयेत्'** (=सोमयाजी सान्नाय हवि से याग करे) **'कामादितरः** (=असोमयाजी इच्छा से सान्नाय हवि से याग करे या न करे कात्या० श्रौत ४।२।४४-४५)। जब कात्यायन के मतानुसार सान्नाय्य हवि भी सोम से पूर्व हो सकती है तब उसके विकारों के विषय में जो विचार किया है वह अनुपपन्न सा हो जाता है। हमारे विचार में **आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया** आदि भी अर्थवाद मात्र है अग्नीषोमीय हवि की स्तुति के लिये। इसका अग्नीषोमीय हवि सोमयाग से ऊर्ध्व ही की जाये इसमें तात्पर्य नहीं है।

—:o:—

[सोमविकाराणां दर्शपूर्णमासोत्तरकालताधिकरणम् ।९।।]

सोमविकारा गवादय एकाहाः। तेषु संदेहः—किं दर्शपूर्णमासात् प्रागूर्ध्वं च प्रयोक्तव्या उतोर्ध्वमिति ? किं प्राप्तम् ? अनियमः, अविशेषात् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम् ।।२६।। (उ०)

तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्यामूर्ध्वं स्युः । ज्योतिष्टोमो दर्शपूर्णमासाभ्यामूर्ध्वं भवति—**दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत**[1] इति। चोदकेनैष धर्मो गवादिष्वप्येयाहेषु प्राप्नोति। तस्मात् तेऽपि दर्शपूर्णमासाभ्यामूर्ध्वं कर्तव्या इति ।।२६।।
सोमविकाराणां दर्शपूर्णमासादूर्ध्वकर्तव्यताधिकरणम् ।।९।।

इति श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये पञ्चमाध्यायस्य
चतुर्थः पादः ।।
समाप्तश्च पञ्चमोऽध्यायः ।।

—:०:—

व्याख्या—सोम के विकृति रूप गवादि एकाह हैं। उनमें सन्देह होता है—क्या ये दर्शपूर्णमास से प्राक् और ऊर्ध्व प्रयोग किये जायें ? अथवा ऊर्ध्व ही प्रयोग किये जायें ? क्या प्राप्त होता है ? अनियम। विशेष वचन न होने से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम् ।।२६।।

:सूत्रार्थः—(तथा) उसी प्रकार जैसे सान्नाय और अग्नीषोमीय के विकार सोम पश्चात् किये जाते हैं वैसे ही (सोमविकाराः) सोम के विकार (दर्शपूर्णमासाभ्याम्) दर्श और पूर्णमास के पश्चात् होवें।

व्याख्या—वैसे ही सोम के विकार दर्शपूर्णमास के पश्चात् होवें। ज्योतिष्टोम दर्शपूर्णमास के पश्चात् होता है—'दर्शपूर्णमास से यजन करके सोम से यजन करे चोदक वचन से यही धर्म गवादि एकाहों में भी प्राप्त होता है। इसलिये वे भी दर्शपूर्णमास के पश्चात् कर्त्तव्य (करने योग्य) हैं।

विवरण—इस अधिकरण का भाव यह है कि **दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत** वचन से सामान्य रूप से सोमयाग की प्रकृति अग्निष्टोम का दर्शपूर्णमास से ऊर्ध्वकालता कही

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यो दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमन यजते। तै० सं० २।५।६।१।।

है। यद्यपि यः सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्नीनादधीत वचन से सोम का आधान से आनन्तर्य कहा गया है वह विधि सामर्थ्य से अर्थसिद्ध है। अर्थसिद्ध धर्म को चोदकवचन प्राप्त नहीं कराता। वचन सामर्थ्य से प्रकृति सोम (=अग्निष्टोम) का आनन्तर्य जाना गया है विकृतिभूत सोम का नहीं जाना गया। अतः सोम से याग करने की इच्छा विशेष होने पर जो अग्नियों का आधान किया जाता है उस आधान से केवल प्रतिसोम ही दर्शपूर्णमास से पूर्व होता है अर्थात् सामान्य वचन से दर्शपूर्णमास की पूर्वकालता है वह केवल प्रकृति सोम से ही विशेष वचन से बाधी जाती है अतः प्रकृति सोम के विशेष अवस्था में दर्शपूर्णमास से पूर्व होने पर भी सोम विकृति याग दर्शपूर्णमास के पश्चात् ही होंगे। अर्थात् विधि विशेष से अग्निष्टोम प्रकृति के पूर्व होने पर उसके अनन्तर दर्शपूर्णमास करके ही गवादि एकाह सोम विकार होंगे।

इति 'अजयमेरु' (अजमेर) मण्डलान्तर्गत-विरञ्च्यावासा (विरकच्यावासा)-

ऽभिजनेन सारस्वत-कुलावतंसस्य तत्रभवतः **श्रीसूर्यराजस्य** प्रपौत्रेण

श्रीरघुनाथस्य पौत्रेण **श्रीयमुनादेवी-गौरीलालाचार्ययोः** पुत्रेण

पूर्वोत्तरमीमांसापारदृश्वनां महामहोपाध्यायाद्यनेकविरुद्भाजां

श्रीचिन्नस्वामिशास्त्र्यपरनाम्नां वेङ्कटसुब्रह्मण्यशास्त्रिणाम्

अन्तेवासिना भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण

वाजसनेयचरणेन माध्यन्दिनिना

युधिष्ठिर-मीमांसकेन

विरचितायां

मीमांसाशाबरभाष्यस्य आर्षमत-विमर्शिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां

पञ्चमाध्यायस्यचतुर्थः पादः

पञ्चमाध्यायश्च समाप्तः

चन्द्रवेदव्योमचक्षुरब्दे २०४१ वैक्रमे भाद्रमासे शुक्लपक्षेऽष्टाम्यां रवौ

पञ्चसप्तत्यब्दपूर्त्यहनि

मीमांसाभाष्यव्याख्यायाः पञ्चमाध्यायस्य लेखनं पूर्तिमगात्

शुभं भूयात् लेखकपाठकयोः

❀

❀ ❀

❀ ❀ ❀

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य**—(संस्कृत हिन्दी; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूची। प्रथम भाग ३५-००, द्वितीय भाग ३०-००, तृतीय भाग ३५-००।

२. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण। प्रथम भाग २०×३० अठपेजी आकार के ११०० पृष्ठ सुन्दर पक्की जिल्द। मूल्य १००-००, द्वितीय भाग मूल्य ४०-००।

३. **तैत्तिरीय-संहिता**—मूलमात्र, मन्त्र-सूची-सहित। मूल्य ४०-००

४. **अथर्ववेदभाष्य**—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत। ११-१३ काण्ड ३०-००; १४-१७ काण्ड २४-००; १८-१९ काण्ड २०-००; बीसवां काण्ड २० ००।

५. **ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका**—श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं शतशः टिप्पणियों से युक्त। मूल्य ३०-००

६. **माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ**—शुद्ध संस्करण। मूल्य २५-००

७. **गोपथ ब्राह्मण (मूल)**—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण। ४०-००

८. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कटमाधवकृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार—श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। उत्तम-संस्करण ३०-००; साधारण २०-००

९. **वैदिक-छन्दोमीमांसा**—युधिष्ठिर मीमांसक। नया संस्करण मूल्य १५-००

१०. **उरु-ज्योति**—डा० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याय योग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई पक्की जिल्द १६-००

११. **ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS**—**Swami Bhumananda Sarasvati.** ५०-००

१२. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायण कृत भाष्य सहित (संस्कृत) ५०-००

१३. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित। मूल्य २५-००

१४. **कात्यायनगृह्यसूत्रम्**—(मूलमात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम वार छापा हैं। मूल्य २०-००

१५. **श्रौतपदार्थनिर्वचनम्**—(संस्कृत) श्रौत यज्ञों के पदार्थों का परिचय देने वाला ग्रन्थ। बिना जिल्द ३४-००; बढ़िया जिल्द सहित ४०-००

१६. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त श्रौत यज्ञों का संक्षिप्त परिचय**—लेखक—यु० मी०, डा० विजयपाल विद्यावारिधि। मूल्य १०-००

१७. **संस्कार-विधि**—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र १२-००, राज-संस्करण १५-००।

१८. **निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्**—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित। एक मात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में उपोद्घात रूप में निरुक्त-शास्त्र विषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है (संस्कृत)। सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि। उत्तम कागज, शुद्ध छपाई। १००-००

१९. **निरुक्त-समुच्चय**—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सं०—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य १५-००

२०. **अष्टाध्यायी-भाष्य**—(संस्कृत तथा हिन्दी) श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। प्रथम भाग २४-००, द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग ३०-००।

२१. The Tested Fasiest Method of Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये आधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर। सजिल्द २५-००।

२२. **महाभाष्य**—हिन्दी व्याख्या (द्वितीय अध्याय पर्यन्त) पं० यु० मी०। प्रथम भाग ५०-००, द्वितीय भाग २५-००, तृतीय भाग २५-००।

२३. **काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्**-संस्कृत रूपान्तर। यु०मी० १५-००

२४. **अष्टाध्यायी-शुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**—डा० विजयपाल विरचित पीएच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध (संस्कृत)। मूल्य ५०-००

२५. **विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)**—श्री पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य (४ भाग)। प्रति भाग १५-००।

२६. **संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास**—युधिष्ठिर मीमांसक कृत। नया परिष्कृत परिवर्धित चतुर्थ-संस्करण तीनों भाग। १२५-००

२७. **मीमांसा-शाबर-भाष्य**—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग ४०-००; द्वितीय भाग ३०-००; तृतीय भाग ५०-००; चतुर्थ भाग ४०-००।

